

आचार्य श्री नानेश

श्री शिवशर्मसूरि विरचित

कर्म प्रकृति

(मूल विवेचन-[illegible] परिशिष्ट युक्त)

श्रीमद् शिवशर्मसूरिविरचित

कर्मप्रकृति

(पूर्वार्ध–बंधनकरण)

卐

तत्त्वावधान

आचार्य श्री नानेश

卐

सम्पादक

देवकुमार जैन

卐

प्रकाशक

श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला

(अन्तर्गत–श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ)

बीकानेर (राज.)

प्रकाशक :
मंत्री-श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
रामपुरिया मार्ग
बीकानेर (राजस्थान) ३३४ ००१

○

श्रीमद् शिवशर्मसूरिविरचित
कर्मप्रकृति (पूर्वार्ध-बंधनकरण)

○

तत्त्वावधान
आचार्य श्री नानेश

○

संपादक
देवकुमार जैन

○

संस्करण : प्रथम
जुलाई १९८२

○

मूल्य : [illegible] २५०/-

○

मुद्रक :
नईदुनिया प्रिन्टरी
६०/१, बम्बू लालचन्द छजलानी मार्ग
इन्दौर - ४५२ ००९

प्रकाशकीय

जैनदर्शन और धर्म के अनेक लोक-हितकारी एवं सार्वभौमिक अबाधित सिद्धान्तों में से नामकरण के अनुसार इस ग्रंथ का सम्बन्ध एक अद्वितीय कर्मसिद्धान्त से है। इस ग्रंथ में आत्मा का कर्म के साथ सम्बन्ध कैसे जुड़ता है, आत्मा के किन परिणामों से कर्म किन-किन अवस्थाओं में परिणत होते हैं, किस रूप में बदलते हैं, जीव को किस प्रकार से विपाक वेदन कराते हैं और कर्मक्षय की वह कौनसी विशिष्ट आत्मिक प्रक्रिया है कि अतिशय बलशाली प्रतीत होनेवाले कर्म निःशेष रूप से क्षय हो जाते हैं ? आदि बातों का सारगर्भित शैली में प्रतिपादन किया गया है।

इस ग्रंथ का प्रकाशन श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ की अन्तर्वर्ती 'श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला' के द्वारा किया जा रहा है। संघ का प्रमुख लक्ष्य है व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण और समाज का समृद्धिसंपन्न विकास। व्यक्तित्व निर्माण के लिये आवश्यक है आत्मस्वरूप का बोध करते हुए सदाचारमय आध्यात्मिक जीवन जीने की कला सीखना और समाजविकास पारस्परिक सहयोग, सामूहिक उत्तरदायित्व के द्वारा जनहितकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने पर निर्भर है। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिये संघ द्वारा विविध प्रवृत्तियां संचालित हैं। इनके लिये पृथक्-पृथक् समितियां और विभाग हैं। इनमें से श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला के माध्यम से साहित्य-प्रकाशन का कार्य किया जाता है।

ग्रंथमाला का उद्देश्य जैन संस्कृति, धर्म, दर्शन और आचार के शाश्वत सिद्धांतों का लोकभाषा में प्रचार तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण करना है। उद्देश्यानुसार एवं इसकी पूर्ति हेतु ग्रंथमाला की ओर से सरल, सुबोध भाषा और शैली में जैन आचार-विचार के विवेचक, प्रचारक अनेक ग्रंथों और पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है। अब इसी क्रम में कर्म-सिद्धान्त के विवेचक 'कर्मप्रकृति' जैसे महान् ग्रंथ को प्रकाशित कर रहे हैं। ग्रंथ पृष्ठसंख्या की दृष्टि से विशाल है। अतएव सुविधा के लिये दो खंडों में विभाजित किया है। यह प्रथम खंड है। इसमें 'बंधनकरण' नामक प्रकरण है। शेष प्रकरण द्वितीय खंड में संकलित हैं। यह द्वितीय खंड भी शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

परमपूज्य समताविभूति, जिनशासनप्रद्योतक, धर्मपाल-प्रतिबोधक आचार्य श्री नानालालजी म. [सा. ने कर्मसिद्धांत की अनेक गुत्थियों को अपनी विचक्षण प्रतिभा के द्वारा सहज एवं सरल तरीके से सुलझा कर प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही अनेक स्थलों पर कर्मसिद्धांत के गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करनेवाली व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। आचार्यश्री द्वारा व्याख्यायित होने से ग्रंथ की उपयोगिता में बहुत अधिक निखार आया है। इस उपकृति के लिये संघ आचार्यश्री का ऋणी रहेगा।

ग्रंथ का संपादन श्री देवकुमारजी जैन ने उत्साह के साथ संपन्न किया, तदर्थ श्री जैन धन्यवाद के पात्र हैं।

इस ग्रंथ के प्रकाशन हेतु श्रीमान् स्व. सेठ भीखनचन्दजी सा. भूरा देशनोक के सुपुत्र श्री दीपचन्दजी सा. भूरा से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। श्री भूराजी देश के प्रतिष्ठित उद्योगपति, व्यवसायी एवं श्री अ. भा. साधु-

मार्गी जैन संघ को तन-मन-धन से सहयोग देनेवाले वरिष्ठ और प्रमुख उन्नायकों में हैं एवं परमश्रद्धेय आचार्य-प्रवर पूज्य श्री नानालाल जी म. सा. में आपकी प्रगाढ़ श्रद्धा है। स्थायी कार्यों को करने में अधिक रुचि होने से आपने 'श्री भीखनचन्द दीपचन्द भूरा साहित्य प्रकाशन कोष' की स्थापना की है। जिसकी ओर से उत्तम ग्रंथों के संग्रह एवं प्रकाशन किये जाने की योजना है।

अन्त में हम श्रीमान् दीपचन्दजी सा. भूरा का आभार मानते हैं कि आपके सहयोग और प्रेरणा से इस ग्रंथ को प्रकाशित कर सके हैं। आशा है इसी प्रकार से आपका सहयोग मिलता रहेगा, जिससे संघ के लक्ष्य की पूर्ति होने के साथ समाजसेवा करने की आपकी भावना से समाज लाभान्वित हो। वक्तव्य के उपसंहार में पाठकों से यह अपेक्षा रखते हैं कि वे कर्मसिद्धांत का परिज्ञान करने के लिये ग्रंथ का अध्ययन, मनन और स्वाध्याय करेंगे।

निवेदक

जुगराज सेठिया
अध्यक्ष

पीरदान पारख
मंत्री

चम्पालाल डागा
हस्तीमल नाहटा
सहमंत्री

समीरमल कांठेड़
विनयकुमार कांकरिया
सहमंत्री

अर्थसहयोगी

श्री दीपचंद जी भूरा का संक्षिप्त परिचय

माँ करनी की जगत्प्रसिद्ध नगरी देशनोक की धर्मभूमि में यहाँ के सुप्रतिष्ठित भूरा परिवार में जन्मे श्री दीपचन्दजी सा. भूरा ओसवाल समाज के रत्न हैं। आपके पिता श्रीयुत् भीखनचन्दजी सा. भूरा समाज के अग्रगण्य सुश्रावक थे और माता सोनादेवी में धर्म-सेवा की लगन सदैव बनी रहती थी, वे सुश्राविकाओं के गुणों की धारक थीं। उन्होंने बाल्यकाल से ही कठोर तपस्वी जीवन अपनाया और अन्त समय तक तपःपूत बनी रहीं। श्री भूराजी का जन्म अपने ननिहाल भीनासर में संवत् १९७२ में हुआ। आपके चार भाई हुए। सबसे बड़े भाई स्वर्गीय श्री तोलारामजी भूरा सरल स्वभावी सुश्रावक थे। अन्य तीन भाई सर्वश्री चम्पालालजी भूरा अग्रज तथा डालचन्दजी व बालचन्दजी अनुज हैं। श्री चम्पालालजी देशनोक जैन जवाहर मंडल के अध्यक्ष हैं। सभी भाई कुशल व्यवसायी हैं और सम्पूर्ण परिवार की समताविभूति आचार्यश्री नानालालजी म. सा. के प्रति अनन्य श्रद्धा है।

श्री दीपचन्दजी भूरा हर क्षेत्र में अग्रगण्य व सौभाग्यशाली रहे हैं। आपके सात पुत्र एवं दो पुत्रियां हैं, जो सभी धार्मिक प्रकृति एवं सात्विक विचारों के प्रतीक हैं।

धार्मिक जीवन

माता और पिता के सुसंस्कारों की धरोहर को श्री भूराजी ने अपने जीवन में निरन्तर प्रवर्धमान किया है। धर्म के प्रति एवं परम पूज्य जैनाचार्य श्री नानालालजी म. सा. के प्रति आपकी और आपके पारिवारिक जनों की प्रगाढ़, अविचल, असीम श्रद्धा है। श्री भूराजी धार्मिक कार्यों में दान प्रदान करने में कभी पीछे नहीं रहे। अकाल में संकटग्रस्त गोधन की रक्षा का प्रश्न हो या अन्य राष्ट्रीय-प्राकृतिक आपदाओं का अवसर, श्री दीपचन्दजी भूरा सदैव एक सच्चे धार्मिक की भांति मुक्तहस्त से सहस्रों रुपयों का दान देते हुए दिखाई देते हैं। आपके दान से शताधिक संस्थाएँ व व्यक्ति अपने जीवनोन्नयन में समर्थ हुए हैं।

व्यापारिक जीवन

श्री भूराजी ने केवल १४ वर्ष की अल्पायु में ही व्यापारिक क्षेत्र में प्रवेश किया और जीवन-व्यवहार की प्रत्येक सीख को अपनी कुशाग्रबुद्धि से सूक्ष्मतापूर्वक ग्रहण किया। अपने व्यापार को बहुआयामी बनाते हुए आपने अनाज, कपड़ा, कपास व रुई के क्षेत्रों में विस्तीर्ण किया। आप भारत के प्रमुख रुईनिर्यातकों में से एक हैं। जापान आपके माल का मुख्य आयातकर्ता है। आपने देशनोक जैसे छोटे-से कस्बे में भारतीय खाद्य निगम के भंडारण की व्यवस्था की। भारत के विभिन्न भागों में आपके व्यापारिक प्रतिष्ठान हैं।

सामाजिक क्षेत्र

अपने जीवन के उषाकाल से ही व्यवसायदक्षता प्राप्त करने में जुट जाने पर भी श्री भूरा सामाजिक जीवन में अपनी भागीदारी के प्रति हमेशा जागरूक रहे। समाज-ऋण से उऋण होने के लिए आप संकल्पित रहे और सामाजिक सेवाकार्यों में अग्रणी रहे। सद्य-सम्पन्न देशनोक नगरपालिका के चुनावों में आपका निर्विरोध अध्यक्ष चुना जाना व आप द्वारा किया सदस्यों का मनोनयन १५,००० की आबादी के कस्बे में सर्वसम्मति से व सहर्ष स्वीकार हो जाना सम्पूर्ण भारत में एक आदर्श उदाहरण है। यह आपके वादातीत व्यक्तित्व का प्रतीक है।

अहमदाबाद में होली चातुर्मासी के अवसर पर सम्पन्न श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ की साधारण सभा के विशेष अधिवेशन में आपको सर्वसम्मति से संघ का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया है। संघ-अध्यक्षों की गौरवशाली परम्परा में आपका प्रतिस्थापन निश्चय ही इस गौरव को आगे बढ़ाएगा।

शैक्षणिक रुचि

श्री भूराजी की स्कूली शिक्षा यद्यपि नगण्य रही है, लेकिन इतना होने पर भी आपने हिन्दी, बंगला व अंग्रेजी पर अधिकार प्राप्त किया। आपकी शैक्षणिक अभिरुचि का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि आप वैरागी-वैरागिनी एवं साधु-साध्वियों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करनेवाली भारतप्रसिद्ध संस्था 'श्री सुरेन्द्रकुमार सांड शिक्षा सोसायटी' के वर्षों तक अध्यक्ष रहे। साहित्य को प्रोत्साहन देने के लिए आपने अपने पिताश्री की स्मृति में 'श्री भीखनचन्दजी दीपचन्द भूरा साहित्य प्रकाशन समिति' की स्थापना की, जो विद्वानों को प्रोत्साहित करते हुए नैतिक व चरित्र उत्थानमूलक साहित्य के सृजन में निरत है।

"कम्मे सूरा से धम्मे सूरा' की उक्ति को चरितार्थ करनेवाले श्री दीपचन्दजी भूरा ने जिस कार्य को हाथ में लिया, उसी को निपुणता से निबाहा। संवत् २०३२ में परमपूज्य जिनशासनप्रद्योतक आचार्यश्री नानालालजी म. सा. के देशनोक चातुर्मास में आपने सेवा का भरपूर लाभ लिया। आपके निश्छल चारित्र का प्रकटीकरण भी एक दिन हुआ, जबकि आपने भरी सभा में व्याख्यानस्थल पर खड़े होकर अपने जीवन की आलोयणा की और गुरुदेव से प्रायश्चित्त ग्रहण कर अपनी साहजिक-सरलता का परिचय दिया।

अपने कर्तव्य के प्रति सजग व समाज-समर्पित श्री भूरा का इस अवसर पर हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

मंत्री

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

दो शब्द

अनन्तानन्त आत्माओं की दृश्यमान विचित्र अवस्थाओं का मूल कारण 'कर्म' ही है। कर्म के कारण ही आत्मायें विभिन्न अवस्थाओं में परिलक्षित होती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में कर्मसिद्धान्त की ही विस्तृत विवेचना की गई है।

'कर्मप्रकृति' ग्रन्थ पर संस्कृत में टीकाएं, गुजराती भाषांतर तो प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु वे कर्मसिद्धान्त के जिज्ञासु हिन्दीभाषा के अध्येताओं के लिये विशेष उपयोगी नहीं बन सके। संवत् १९३३ में दीर्घतपस्वी श्री ईश्वरचन्दजी म. सा. के साथ विद्वद्वर्य श्री सेवन्तमुनिजी म. सा. का वर्षावास ब्यावर में था। इस वर्ष मुनिश्रीजी परीक्षाबोर्ड की रत्नाकर परीक्षा के अध्ययन में संलग्न थे। पंडित श्री हीरालालजी शास्त्री के द्वारा जब आप 'कर्मप्रकृति' ग्रन्थ का अध्ययन कर रहे थे तब अध्ययन के साथ ही आपने पंडितजी द्वारा ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी लिख लिया। विद्यार्थियों के लिये उपयोगी समझकर सुज्ञ बंधु नेमचन्दजी खींवसरा ने इस हिन्दी अनुवाद को टाईप करवा लिया।

आचार्यश्री प्राकृतिक चिकित्सा हेतु बीकानेर के समीपस्थ भीनासर में विराजमान थे। इस समय में हिन्दी अनुवाद की टाईप कापी आपश्री के पास पहुँची। आचार्यश्रीजी जब इसका अवलोकन करने लगे तब विद्वद्वर्य श्री संपतमुनिजी म. सा. ने निवेदन किया—आचार्यप्रवर ! आपश्री के सान्निध्य में इसका वाचन कर लिया जाय तो उपयुक्त रहेगा। तदनन्तर आचार्यश्री के सान्निध्य में दोनों संस्कृत टीका आदि ग्रन्थों को सामने रखते हुए संत-सती वर्ग द्वारा इसका अवलोकन होने लगा तब आचार्यप्रवर ने कर्म-सिद्धान्त के अनेकों रहस्यमय विषयों पर सुन्दर प्रकाश डाला, जो एक अभिनव चिन्तन था। मुनिश्री ने उसका लेखन करके ग्रन्थ में यथास्थान सम्बद्ध कर दिया।

संघ के सुज्ञ श्रावकों को जब यह ज्ञात हुआ तो इसे कर्मसिद्धान्त के अध्येताओं के लिये बहूपयोगी समझा गया। जब यह हिन्दी अनुवाद मेरे पास पहुँचा तो मैंने श्री देवकुमारजी को संपादन करने के लिये दिया।

श्री देवकुमारजी ने इसका संपादन कर, जिस किसी ग्राम में आचार्यश्री पधारते वहाँ उपस्थित होकर संपादित कापियों को आचार्यश्री के समक्ष पुनः श्रवण करवाते। आचार्यश्री ने जहाँ पर भी विशेष स्पष्टीकरण करवाया इसे विद्वद्वर्य श्री ज्ञानमुनिजी एवं देवकुमारजी ने लिपिबद्ध करके अनुवाद में यथास्थान संयोजित कर दिया। इन संपादित कापियों को मिलाने एवं संशोधित करने में विशेषकर विद्वद्वर्य श्री रमेशमुनजी, विद्वद्वर्य श्री विजयमुनि जी, विद्वद्वर्य श्री ज्ञानमुनिजी एवं विद्वान श्री राममुनिजी म. सा. ने योगदान दिया। इसके अतिरिक्त अन्य संत-सती वर्ग का भी यथायोग्य योगदान प्राप्त हुआ।

आचार्यश्रीजी के तत्त्वावधान में संपादन और अनुवाद आदि हुआ है। व्यस्त कार्यक्रम होते हुए भी आचार्य-श्रीजी ने ग्रन्थ को अवधानता के साथ श्रवण कर गहन विषयों पर अभिनव एवं सटीक चिन्तन दिया। तदर्थ संघ, समाज आचार्यश्रीजी का ऋणी है।

आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त महत्त्वपूर्ण विषयों को संपादक ने अपनी भाषा में आबद्ध किया है । इस संपादन में यदि आचार्यश्री का चिन्तन यथावत् न आ पाया हो और कोई सैद्धान्तिक त्रुटि रह गयी हो तो वह गलती हमारी है, इसके लिये हम आचार्यश्री से हार्दिक क्षमायाचना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि समय पर त्रुटि का परिमार्जन करने की कृपा करें ।

पाठको ! परम प्रसन्नता का विषय है कि कर्मसिद्धान्त के रहस्यों को उद्घाटित करने वाला महान् ग्रंथ 'कर्मप्रकृति' हिन्दी अनुवाद के रूप में हम लोगों के बीच में आ रहा है । विश्व का प्रत्येक मानव सुखाभिकांक्षी है । सभी सुख चाहते हैं । सभी को जीवन प्रिय है—**"सव्वेसिं जीवयं पियं"**, दुःखी कोई नहीं बनना चाहता, तथापि आश्चर्य है कि मानव दुःखी, संतप्त व पीड़ित ही दिखलाई देता है, इसका क्या कारण है ? मूल रूप में इसका कारण स्वयं के 'कर्म' हैं । इन कर्मों को समझे बिना दुःख से मुक्ति एवं सुख की अवाप्ति नहीं हो सकती। सुख पाने के लिये 'कर्मसिद्धान्त' का ज्ञान आवश्यक है । प्रस्तुत ग्रन्थ का गहनता से अध्ययन करने पर हमें कर्म-सिद्धान्त के समग्र स्वरूप का ज्ञान हो सकेगा, जिसके कारण जगत की आत्माएं दुःखी हो रही हैं । इसका विज्ञान प्राप्त कर अपने आपको इससे विलग करने का प्रयास करेंगे तो अवश्य ही परम सुख को प्राप्त करने में समर्थ हो सकेंगे ।

इसी सद्भावना के साथ—

दस्साणियों का चौक
बीकानेर (राज.) ३३४ ००१

सुन्दरलाल तातेड़

सम्पादकीय

कर्म और कर्मफल का चिन्तन मानवजीवन की साहजिक प्रवृत्ति है । प्रत्येक व्यक्ति यह देखना और जानना चाहता है कि उसकी क्रिया का क्या फल होता है और उससे अर्जित, प्राप्त अनुभव के आधार से यह निर्णय करता है कि किस फल की प्राप्ति के लिये उसे क्या करना उचित है और क्या नहीं करना चाहिये । यही कारण है कि मानवीय संस्कृति, सभ्यता का प्रत्येक आयाम, चिन्तन कर्म और कर्मफल को अपना विषय बनाता आ रहा है ।

विश्व के सभी अध्यात्मवादी दर्शनों का दृष्टिकोण चाहे कुछ भी हो और उनकी मान्यतायें भी पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी हों, परन्तु इतना सुनिश्चित है कि किसी-न-किसी रूप से उनमें कर्म की चर्चा हुई है । उदाहरणार्थ हम अध्यात्मवादी भारतीय दर्शनों के साहित्य पर दृष्टिपात करें तो प्रत्यक्ष या परोक्ष, साक्षात या प्रकारान्तर से उन्होंने कर्म और कर्मफल को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाया है । लेकिन वैदिक और बौद्ध दर्शन के साहित्य में जिस रीति से कर्म सम्बन्धी विचार किया है, वह इतना अल्प एवं असंबद्ध है कि उससे कर्म से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न का समाधान नहीं हो पाता है । इसीलिये उन दर्शनों में कर्म विषयक सर्वांगीण विचार करने वाला कोई ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता है । इसके विपरीत जैनदर्शन में विस्तृत रूप से कर्म के सम्बन्ध में विचार किया गया है । यह विचार गंभीर एवं व्यवस्थित है । यों तो जैन वाङ्मय के सभी विभागों में न्यूनाधिक रूप में कर्म की चर्चा पाई जाती है, लेकिन कर्म और कर्मफल की ही जिनमें विस्तृत चर्चा हुई है, ऐसे अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं ।

इन ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त को मानने के कारणों की मीमांसा करने से लेकर उसके विषय में उठने वाले प्रत्येक प्रश्न का समाधान किया है । जैसे कि कर्म के साथ आत्मा का बंध कैसे होता है ? उस बंध होने के कारण क्या हैं ? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति उत्पन्न होती है ? कर्म आत्मा के साथ कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितने समय तक संश्लिष्ट रहता है ? आत्मा के साथ संश्लिष्ट कर्म कितने समय तक फल देने में असमर्थ रहता है । इस स्थिति में उसका क्या रूप रहता है । कर्म का विपाकसमय बदला भी जा सकता है या नहीं और यदि बदला भी जा सकता है तो उसके लिये आत्मा के कैसे परिणाम आवश्यक हैं । कर्म की तीव्र शक्ति को मंद शक्ति में और मंद शक्ति को तीव्र शक्ति में रूपान्तरित करने वाले कौन से आत्मपरिणाम होते हैं । किस कर्म का विपाक किस दशा में नियत और किस दशा में अनियत है । कर्ममुक्त आत्मा का अवस्थान कहाँ है और उसकी परिणति कैसी होती है, आदि-आदि ।

कर्मतत्त्व सम्बन्धी उक्त विशेषताओं का वर्णन करना जैन कर्मग्रन्थों का साध्य है । जैनसाहित्य में कर्म-सिद्धान्त का सबसे प्राचीन प्रतिपादन पूर्वों में किया गया था । श्रमण भगवान महावीर ने जो उपदेश दिया, उसको उनके गणधरों ने बारह अंगों में विभक्त एवं निबद्ध किया । जिन्हें द्वादशांगश्रुत या जैनागम कहा जाता है । बारहवें श्रुतांग का नाम दृष्टिवाद है और उसी के भीतर चौदह विभागों का पूर्व नामक एक विशिष्ट खंड था । पूर्व इस

नामकरण के सम्बन्ध में किन्हीं-किन्हीं का मत है कि ये पूर्व इस कारण कहलाये कि श्रमण भगवान महावीर ने सर्वप्रथम इन्हीं का उपदेश दिया था और नाना उल्लेखों से यह भी अनुमान किया जाता है कि इनमें भगवान महावीर से भी पूर्व में हुए तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों का समावेश किया गया था, इसी कारण इनको पूर्व कहा जाता है । इन पूर्वों में से आठवां पूर्व कर्मप्रवाद तो मुख्यरूप से कर्मविषयक ही था और उसके सिवाय दूसरे आग्रायणीय पूर्व में भी कर्म का विचार करने के लिये कर्मप्राभृत नामक एक उपविभाग था । दुर्भाग्यवश वे पूर्व कालक्रम से विनष्ट हो गये । अतः वर्तमान में उक्त पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का मूल अंश तो विद्यमान नहीं है, लेकिन उसी का आधार लेकर उत्तरवर्ती काल के महान आचार्यों ने षटखंडागम, कषायप्राभृत, गोम्मटसार, कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि अर्थगंभीर विशाल कर्मग्रन्थों की रचना की । ये ग्रन्थ पूर्वों की तुलना में काफी छोटे हैं, परन्तु इनका अध्ययन भी अभ्यासियों के लिये कर्मसिद्धान्त का तलस्पर्शी ज्ञान कराने के लिये पर्याप्त है । इनमें पूर्वों से उद्धृत कुछ-न-कुछ अंश सुरक्षित है ।

श्रीमद् शिवशर्मसूरिविरचित 'कर्मप्रकृति' नामक यह कृति कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाली एक विशिष्ट रचना है । ग्रंथकार आचार्यश्री ने पूर्वगत वर्णन का आधार लेकर इस महान ग्रंथ का अंकन किया है । ग्रंथ इतना सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध है कि उत्तरवर्ती काल के अनेक आचार्यों ने अपने कथन के समर्थन में बारंबार इस कर्मप्रकृति ग्रंथ का उल्लेख किया है एवं इस ग्रंथ के आशय को विस्तार से स्पष्ट करने के लिये कई आचार्यों ने चूर्णि, संस्कृत टीका आदि व्याख्या ग्रन्थ भी लिखे हैं ।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरिविरचित कर्मग्रन्थों का संपादन करते समय मुझे यथाप्रसंग विवेचन को स्पष्ट करने के लिये कर्मसिद्धान्त के अनेक ग्रन्थों को देखने का अवसर मिला । उनमें यह कर्मप्रकृति ग्रन्थ भी एक था । ग्रन्थ की विवेचनशैली को देखकर उस समय यह विचार हुआ कि आचार्य मलयगिरिसूरि एवं उपाध्याय यशोविजयजी की संस्कृत टीकाओं को माध्यम बनाकर इसकी हिन्दी में विस्तृत व्याख्या की जाये और तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये विभिन्न ग्रन्थों के संदर्भों को भी समायोजित किया जाये ।

किन्तु कर्मग्रन्थों के संपादन में व्यस्त होने के कारण मैं इस कार्य को तत्क्षण संपन्न नहीं कर सका कि इसी बीच श्री सुन्दरलाल जी सा. तातेड़ ने मुनि श्री सेवन्तमुनि जी म. सा. द्वारा लिखी गई हिन्दी अनुवाद की एक प्रतिलिपि मुझे देकर शीघ्र ही संपादन कार्य करने की प्रेरणा दी । उनकी प्रेरणा को लक्ष्य में रखते हुए परम-श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. के सान्निध्य में मैंने इस ग्रन्थ का संपादन कार्य प्रारम्भ किया । कर्म-सिद्धान्त का गहनतम ग्रन्थ होने से इस पर अगाध प्रज्ञानिधि आचार्यश्री द्वारा मौलिक, सैद्धान्तिक विश्लेषणात्मक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई । अथवा मैं यों कहूँ तो अधिक संगत होगा कि आचार्यप्रवर के द्वारा ही ग्रन्थ को पूर्णता प्राप्त हुई है ।

संपादन करते समय मैंने ग्रन्थ के आशय को यथारूप में प्रगट करने की पूरी सावधानी रखी है । फिर भी कहीं कोई चूक हो गई हो, अस्पष्टता अथवा मुद्रण आदि में अशुद्धि रही हो तो उसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ । विज्ञजनों से निवेदन है कि वे उसको संशोधित करके मुझे सूचित करने की कृपा करें ।

प्रूफ संशोधन में श्री सुन्दरलाल जी तातेड़ का पूर्ण सहयोग रहा है । इसके लिये उनका आभारी हूँ । प्रूफ संशोधन करते समय अशुद्धि न रहने का ध्यान रखा है, फिर भी अनजान में कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञपाठक उसको गौण मानकर यथास्थान उसी आशय को ग्रहण करेंगे जो वहाँ अपेक्षित, शुद्ध एवं संगत है ।

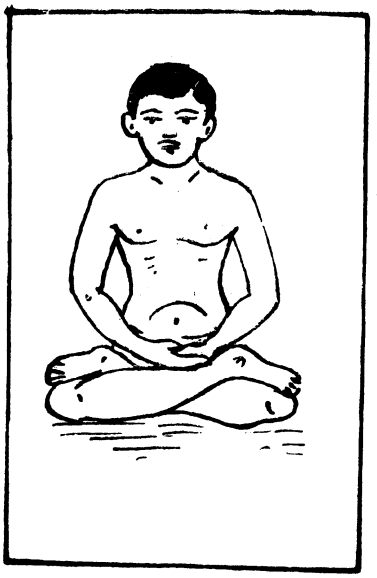
अंत में परमश्रद्धेय आचार्यप्रवर एवं कार्य को यथाशीघ्र संपन्न करने के लिये यथोचित योग देनेवाले प्रमुख विद्वान मुनिश्री सेवन्तमुनिजी म., श्री शांतिमुनिजी म., श्री विजयमुनिजी म., श्री ज्ञानमुनिजी म., श्री वीरेन्द्रमुनिजी म., श्री राममुनिजी म. एवं श्री सुन्दरलाल जी तातेड़ तथा परोक्ष रूप में सहयोग देने वाले अन्य सज्जनों का आभारी हूँ कि उनकी सद्-भावनाओं, कामनाओं से मैं 'कर्मप्रकृति' जैसे महान ग्रंथ के संपादन करने की आकांक्षा को सफल करने में सक्षम हो सका हूँ ।

साहित्य के मूल्यांकन के सही निर्णायक पाठक होते हैं । अतएव उनकी प्रतिक्रिया से ज्ञात हो सकेगा कि वे मेरे श्रम को किस रूप में परखते हैं । मैं तो इतना ही कहने का अधिकारी हूँ कि जिज्ञासु पाठकों की ज्ञानवृद्धि में यह ग्रन्थ सहायक होगा और कर्मसिद्धान्त का अध्ययन करने की प्रेरणा मिलेगी। विज्ञेषु किं बहुना ।

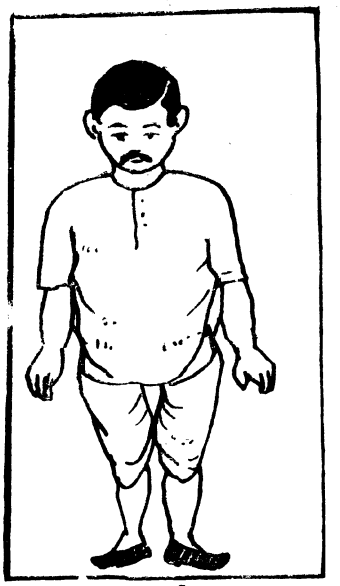
खजांची मोहल्ला, बीकानेर
सं. २०३८, चैत्र कृष्णा ३,
दि. १२-३-८२

देवकुमार जैन
संपादक

संस्थान के चित्र



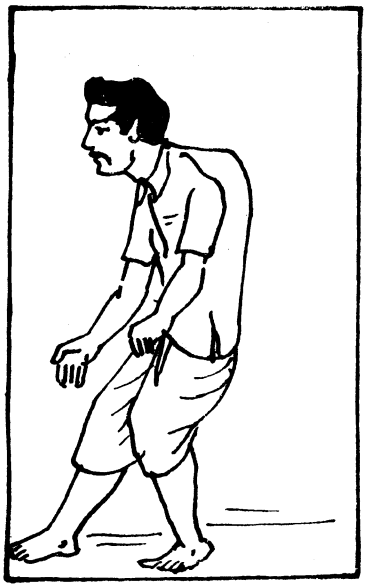
समचतुरस्रसंस्थान



न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान



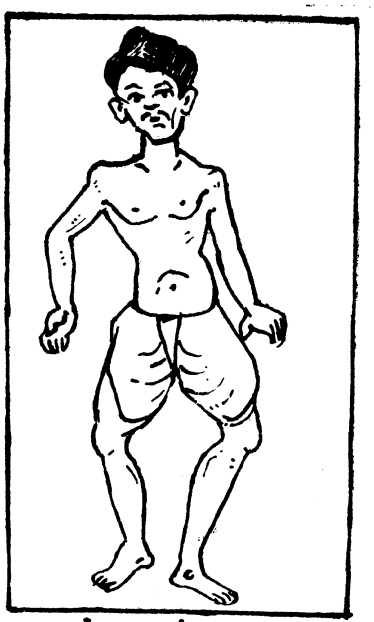
सादि - संस्थान



कुब्ज संस्थान



वामन - संस्थान



हुंड - संस्थान

संहनन के चित्र पृष्ठ २१० पर देखिये

कर्मसिद्धान्त : एक विश्लेषण

— आचार्य श्री नानेश

विश्व के विचित्र दृश्यों की ओर दृष्टिपात करने पर चिन्तकवर्ग के मस्तिष्क में विविध विचारतरंगें परिस्फुरित होती हैं। चिन्तन चलता है विचित्र दृश्यों के वैविध्य पर। जब विभिन्न प्राणियों में विविधता दृष्टिगोचर होती है तब चिन्तन चलता है कि इसका कारण क्या है? एक ही माता की कुक्षि से जन्म लेने वाली सन्तानों में एकरूपता क्यों नहीं है? एक की वर्णाकृति किसी अन्य प्रकार की है तो दूसरे की किसी और ही प्रकार की। एक का शरीर सुडौल है तो दूसरे का इससे भिन्न रूप में। एक धनवान है तो दूसरा निर्धन। एक बुद्धिमान है तो दूसरा निर्बुद्धि। एक सौम्य-स्वभावी है तो दूसरा आक्रोश-स्वभावी। एक अनेकों का नेतृत्व कर रहा है तो दूसरा अनेकों की गुलामी। एक स्वस्थ है तो दूसरा रोगग्रस्त। एक ही शारीरिक उपादानकारण की अवस्था से जन्म लेने वालों में कार्य रूप परिणति विभिन्न रूपों में परिलक्षित होती है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि एक ही माता की कुक्षि से जुड़वां रूप में जन्म लेने वाली सन्तान में भी उपर्युक्त विभिन्नता पाई जाती है। वैसे ही समग्र दृश्यमान सृष्टि पर दृष्टिपात करने पर एक जैसी सदृशता, एकस्वभावता प्रायः दृष्टिगत नहीं होती। चिन्तनशील व्यक्ति जगत् की इन विचित्र विधाओं को जानने हेतु विविध कल्पनाएं करता रहता है, परन्तु सम्यग् हेतु को सही तरीके से अन्वेषित नहीं करने के कारण मन-कल्पित किं वा अनुमानित अपूर्ण कल्पनाएं करता रहता है। यही कारण है कि मानव ने जब से चिन्तन करना प्रारम्भ किया तब से पूर्वात्य, पाश्चात्य किसी भी क्षेत्र में रहने वाले चिन्तक ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार इस वैचित्र्य पर विचार किया, किन्तु वे जिन संस्कारों से अनुरंजित थे उसी रूप में उन्होंने विभिन्न विचित्रताओं के कारण को खोजने का प्रयास किया।

किसी ने पानी को सर्वोपरि स्थान दिया तो किसी ने अग्नि को, किसी ने क्रियाकलापों को तो किसी ने काल को विचित्र दृश्यों का कारण माना। किसी ने स्वभाव को, किसी ने नियति को तो किसी ने पुरुषार्थ एवं ईश्वर को कार्यों का कारण माना। किसी ने ग्रह–गोचर को कारण माना तो किसी ने अज्ञात को। परन्तु इस प्रकार के एकांगी चिन्तन विचित्रता के कारण का सही तथ्य उजागर नहीं कर सके।

इस धरा पर उत्कृष्ट पुण्यप्रकृति—तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर जो दिव्य महापुरुष प्रादुर्भूत हुए, जिन्होंने परीषहों और उपसर्गों को सहन कर राग-द्वेष की ग्रन्थियों का सर्वथा उन्मूलन कर ज्ञान का दिव्य आलोक प्राप्त किया, जिनके ज्ञान में दृश्य एवं अदृश्य जगत के सारे पदार्थ हस्तामलकवत् स्पष्ट झलकते थे, उन तीर्थंकर महापुरुषों ने इन विचित्रताओं को देखा, जाना तथा इनके मूल कारण को जनता के समक्ष विवेचित किया। वह विवेचन वीतरागी देवों द्वारा प्ररूपित होने से अविसंवादी तथा अनेकान्त-दृष्टि से संपन्न था।

प्रखर प्रज्ञासंपन्न व्यक्तियों ने इस विषय को गहराई से समझा तथा यथासमय लिपिबद्ध करके इसे जनता के समक्ष रखा, वही कर्मसिद्धान्त के रूप में स्थिरीभूत हुआ। कर्मसिद्धान्त का वर्णन इतना विस्तृत हुआ कि इसका समावेश आग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के कर्मप्रवाद में किया गया है। मूलतः कर्मसिद्धान्त के उपस्कर्ता दिव्यपुरुष केवलज्ञान और केवलदर्शन तथा यथाख्यातचारित्र के धारक अनंत शक्तिसंपन्न तीर्थंकर देव ही हैं।

नोट–आचार्यश्री द्वारा कर्मसिद्धान्त की गई विवेचना से संकलित।

इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव हुए, जो कि समग्र मानव जाति में दिव्य पुरुष के रूप में प्रख्यात हुए थे। जिनका उल्लेख वेदों और उपनिषदों में भी हुआ है। पाश्चात्य देशों में इन्हें 'बाबा आदम' के नाम से आज भी संबोधित किया जाता है। उन्हें जिनदेव या वीतरागदेव भी कहा जाता है। इन वीतराग देवों ने समग्र विश्व के रहस्य को प्रतिपादित किया, किन्तु इस रहस्य को समझने वाली प्रज्ञा विरल ही रही।

अधिकांश मानव समुदाय बौद्धिक विकास की कमी के कारण इन तथ्यों को समझने में प्रायः अक्षम रहा। प्रभु ऋषभदेव ने आध्यात्मिक शासन को जिस वर्ग से विशेष रूप से संबंधित किया, इस वर्गविशेष को तीर्थ के नाम से संबोधित किया गया। इसी तीर्थ का वर्गीकरण चार विभागों में किया गया, यथा—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका।

चारों वर्ग गुण एवं कर्म की निष्पन्नता के साथ विश्व के सामने आये। तीर्थंकर देवों पर परिपूर्ण श्रद्धा रखने वाले ऐसे वर्गों ने अपने सभी दुःखों की समाप्ति के लिये यथाशक्ति प्रयत्न किया। कुछ साधक तो परिपूर्णता को प्राप्त कर आन्तरिक शक्तियों से परिपूर्ण हो ईश्वर बन गये और कुछ पुण्यकर्म के संयोग से देवलोकादि को प्राप्त हुए हो, कालान्तर में पुनः वैसी ही शक्ति को लिये हुए दूसरे तीर्थंकर हुए। वे पूर्व तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का अध्ययन किये बिना ही स्वतः साधना के क्षेत्र में उतरे और पूर्व तीर्थंकर की तरह शरीर को प्रयोगशाला बनाकर उन्होंने आध्यात्मिक सिद्धि में परिपूर्णता प्राप्त की एवं विराट विश्व के रहस्य को इसी रूप में जाना, देखा एवं प्रतिपादित किया। इस प्रकार एक के बाद एक २४ तीर्थंकर हुए। इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में मूलतः कोई अन्तर नहीं था। परन्तु समय-समय पर सभी ने स्वयं के परिपूर्ण ज्ञानालोक में जो देखा, वही प्रतिपादन किया। चतुर्विध संघ की स्थापना की।

इन परिपूर्ण अवस्थाओं को वरने वाले एवं तदनुरूप कथन करने वाले एक के बाद एक तीर्थंकर होते रहने से उनके अनुयायी वर्ग में मौलिक तत्त्वों में प्रायः एकरूपता रही और वह अद्यावधि तक चली आ रही है। परन्तु जिन मानवों का प्रारंभ में तो ध्यान ऋषभदेव के सन्मुख रहा परन्तु तत्त्वों की गहनता इनकी समझ से परे रही, उन मानवों के बीच सिद्धान्तों का सही सम्बन्ध यथावत् नहीं रह सका। तब उन्होंने नाममात्र की स्थिति को लेकर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सिद्धान्तों का निर्माण कर दिया। यही कारण है कि समग्र मानव जाति के साथ ऋषभदेव भगवान् का सम्बन्ध तो किसी-न-किसी रूप में जुड़ा हुआ है, परन्तु सृष्टि के रहस्य सम्बन्धी कारण एवं सिद्धान्तों में एकरूपता नहीं रह सकी। ऋषभदेव के पश्चात् आने वाले अन्य तीर्थंकरों के साथ भी क्षेत्रीय परिधि के कारण सम्बन्ध नहीं जुड़ सका तथा जिनके क्षेत्रीय परिधि नहीं थी, तथापि वे परिपूर्णतः पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं बन सके।

जिन बुद्धिवादियों ने जो संस्कार जनसाधारण को दिये थे, इन संस्कारों में वह सिद्धान्त रूढ़-सा बन गया और इसी रूढ़ता के कारण वे एक क्षेत्र में विचरण करने वाले तीर्थंकरों की समीपता भी नहीं पा सके। अतः संस्कारों का परिवर्तन, परिमार्जन नहीं हो सका। इसलिये इस विराट विश्व की रहस्यमयी पहेली का कारण उनसे अज्ञात ही रहा। परन्तु मानव की बुद्धि ने कभी विराम नहीं लिया। विचित्र दृश्यों की खोज में विभिन्न कारण ढूंढ़ती ही रही। इसीलिये विश्व में जितने भी मत, पंथ विद्यमान हैं वे सृष्टि के विषय में एवं उसके हेतु में विभिन्न कल्पनाएं करते रहे हैं।

जब वैदिक युग आया, तब वैदिक ऋषि, महर्षियों ने ऋषभदेव के गुणगान तो किये हैं।[1] परन्तु

---

१ ॐ नमो अर्हन्तो ऋषभो.... (यजुर्वेद)
ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाह.... (,, अ. २६)
ॐ त्रैलोक्य प्रतिष्ठितानां चतुर्विंशति तीर्थंकराणां ऋषभादि वर्द्धमानान्तानां, सिद्धान्तशरणं प्रपद्ये... (ऋग्वेद)
तीन लोक के प्रतिष्ठाता ऋषभदेव से लेकर श्री वर्द्धमान स्वामी तक चौबीस तीर्थंकरों की शरण प्राप्त हो।
मरुदेवी च नाभिश्च भरतेः कल सत्तम। अष्टभी मरुदेव्या तु नाभेजति उरूक्रमः॥
दर्शयन् वर्त्म वीराणं सुरासुर नमस्कृतः। नो किं त्रितयकर्त्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः॥ (मनुस्मृति)
अयमवतारो रजसोपप्युत कैवल्योपशिक्षणार्थं (श्रीमद् भागवत)
ऋषभ का अवतार रजोगुण व्याप्त मनुष्यों को मोक्षमार्ग की शिक्षा देने के लिए हुआ।

सिद्धान्तों की दृष्टि से वे अपने-अपने अनुभवों के आधार पर ही सोचने लगे । किसी ने ब्रह्म और माया को सृष्टि का कारण माना तो किसी ने प्रकृति और पुरुष को और किसी ने बाह्य क्रियाकलापों को। इसी प्रकार कालादि मत भी इसी युग की परम्परागत देन रही। परन्तु वीतराग देव के सिद्धान्तों की वैज्ञानिक एवं अकाट्य प्रक्रिया ने जब जनमानस को अत्यधिक प्रभावित करना प्रारंभ किया तब उस समय के विभिन्न धर्मों के अग्रगण्यों ने अपने-अपने पक्ष की जनता को अपने-अपने मत में स्थिर रखने के लिये क्रियाकलापों को, यज्ञ–याग आदि को कर्म शब्द से संबोधित कर स्व-अनुयायियों को बतलाया कि अपने मत में भी कर्म की स्थिति का प्रावधान है, जिसको प्रारब्ध आदि शब्दों से भी अभिव्यंजित किया गया था । वही सिलसिला विभिन्न पक्षों, संप्रदायों में दार्शनिकता के रूप में अभी भी चला आ रहा है। परन्तु विभिन्नता के वास्तविक मूलभूत कारण कर्मसिद्धान्त का सूक्ष्मता-गहनता के साथ व्यवस्थित रूप में विस्तृत विवेचन जितना जैनदर्शन में मिलता है, उतना किसी भी दर्शन में उपलब्ध नहीं होता है। पं. सुखलालजी का कथन है कि 'यद्यपि वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्य में कर्म सम्बन्धी विचार है पर वह इतना अल्प है कि इसका कोई खास ग्रन्थ इस साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत जैनदर्शन में कर्मसम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अति विस्तृत है ।'

उन्हीं वीतराग सिद्धान्तों को ऐतिहासिक एवं प्रागेतिहासिक दृष्टि से भी सुनिश्चित रूप से प्रतिपादित किया जा सकता है। इतिहास की पृष्ठभूमि पर श्री महावीर, श्री पार्श्वनाथ एवं श्री अरिष्टनेमि तक का तो तीर्थंकर के रूप में उल्लेख मिलता है । भगवान महावीर एवं पार्श्वनाथ का तो स्पष्ट रूप से विवेचन इतिहास से प्रमाणित होता है ।

इतिहास द्वारा प्रमाणित तीर्थंकर देवों ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उन सिद्धान्तों में तथा पूर्व तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में मूलतः कोई भेद नहीं है। अतः भगवान ऋषभदेव आदि की ऐतिहासिक प्रामाणिकता भी स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार अन्य महाविदेह आदि क्षेत्रों में विद्यमान तीर्थंकरों (विहरमानों) का प्रतिपादन लोकालोकप्रकाशक केवलज्ञानी भगवान महावीर द्वारा होने से उनका प्रामाणीकरण तथा ऐतिहासिक मूल्यांकन भी भलीभांति वैज्ञानिक तथ्यों की तरह उजागर हो जाता है।

उपर्युक्त संदर्भों से यह निर्णयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि जिनदेव द्वारा बतलाया हुआ मार्ग जैनधर्म के नाम से जो विश्रुत है, समग्र क्षेत्रों की अपेक्षा अनादि काल से चला आ रहा है । प्रवाह की दृष्टि से उसकी आदि नहीं कही जा सकती । उन सिद्धान्तों की विशेषता वर्तमान युग में भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी अधिक स्पष्ट होती हुई दृष्टिगत हो रही है । भौतिक विज्ञान के अनुसंधानकर्ता भौतिक प्रयोगशाला में जिन तथ्यों को उभार रहे हैं वे तथ्य कई स्थलों पर यद्यपि अन्तिम सत्य के रूप में नहीं हैं, किन्तु इनमें दुराग्रह नहीं होने से अपने अनुसन्धान से पूर्व उद्घाटित तथ्यों को अपूर्ण बताने में भी संकोच नहीं करते। उन्हीं वैज्ञानिकों की अनेक पीढ़ियों के समाप्त होने के बाद कुछ एक तथ्य विश्व के समक्ष आये हैं, जो कि जैनदर्शन के सिद्धान्तों के अनुरूप हैं अर्थात् जिनका वर्णन जैनदर्शन में पूर्व में ही किया जा चुका है । इससे सहज ही जाना जा सकता है कि जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त शाश्वत सत्य हैं । सत्य की जिज्ञासा रखने वाले व्यक्ति एक-न-एक दिन असंदिग्ध रूप से इसी स्वीकारोक्ति में आएंगे, ऐसा कह देना भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा। यह सिद्धान्त तो असंदिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाता है कि दृश्यमान जगत की प्रतीत होने वाली विचित्रताओं का मूलभूत कारण कर्म है। जिसका वर्णन अर्हतसिद्धान्तों में अनादिकाल से चला आ रहा है।

विभिन्न दर्शनों में कर्मसिद्धान्त

कर्मसिद्धान्त के विषय में विभिन्न विचारधाराएं दार्शनिक जगत में प्रचलित हैं। भारतीय दर्शनों में से जैन, बौद्ध और वैदिक दर्शनों में विशेषतः कर्मसिद्धान्तों पर चर्चा की गयी है। किन्तु जितनी सूक्ष्म और विशुद्ध चर्चा जैनदर्शन में उपलब्ध होती है, वैसी स्थिति अन्य दर्शनों की नहीं है।

वैदिकदर्शन की प्रारंभिक अवस्था से लेकर औपनिषदिक काल तक तो कर्मसिद्धान्त का क्रमबद्ध व्यवस्थित विवेचन वैदिकदर्शन में उपलब्ध नहीं था, जैसा कि प्रोफे. मालवणिया का कथन है—

आधुनिक विद्वानों को इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि उपनिषदों के पूर्वकालीन वैदिकसाहित्य में संसार और कर्म की कल्पना का कोई स्पष्ट रूप दिखलाई नहीं देता था। जहाँ वैदिक एवं पूर्ववर्ती ऋषियों ने जगत्-वैचित्र्य के कारण की खोज बाहरी तत्त्वों में, ब्रह्म और माया, प्रकृति और पुरुष के रूप में की तो औपनिषदिक ऋषियों ने इस विविधता का आंतरिक कारण जानने का प्रयास किया। फलस्वरूप काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, पुरुष आदि कारण सामने आए।

कालवाद—कालवादियों का कहना है—जगत के समस्त भाव और अभाव तथा सुख और दुःख का मूल काल ही है। काल ही समस्त भूतों की सृष्टि करता है, संहार करता है, प्रलय को प्राप्त प्रजा का शमन भी करता है। संसार के समस्त शुभाशुभ विचारों का उत्पादक काल ही है। काल ही प्रजा का संकोच-विस्तार करता है। सब के निद्रामग्न होने पर भी काल ही जागृत रहता है। अतीत, अनागत एवं प्रत्युत्पन्न भावों का काल ही कारण है। उसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है।

स्वभाववाद—स्वभाववादियों का कहना है कि कांटों का नुकीलापन, मृग, पक्षियों के चित्र-विचित्र रंग, हंस का शुक्ल वर्ण शुकों का हरापन, मोर के रंगबिरंगे वर्ण होना, यह संसार का सारा कार्य स्वभाव से ही प्रवृत्त होता है। बिना स्वभाव कोई कार्य नहीं हो सकता।

नियतिवाद—नियतिवादियों का सिद्धान्त है कि जो कुछ होता है वह भवितव्यतावश होता है। जिस पदार्थ की निष्पत्ति जिस रूप में होने वाली है, वह उसी रूप में होती है। जो कार्य नहीं होने वाला है, वह लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं होगा। जिस व्यक्ति की मृत्यु नहीं होने वाली है, उसे विष, (पौइजन) भी दे दिया जाये तो उसकी मृत्यु नहीं हो सकती। जो कुछ भी होता है वह सब नियति से ही होता है।

यदृच्छावाद—यदृच्छावादियों का कहना है—कुछ भी कार्य होता है, वह यदृच्छा, अपने आप होता है। यदृच्छा का अर्थ है अपने आप कार्य की सिद्धि हो जाना। इस वाद में नियत कार्यकारण की स्थिति नहीं रहती। मनकल्पित रूप से किसी भी कार्य का कोई भी कारण मान लिया जाता है।

भूतवाद—भूतवादियों का कथन है कि जगत के संपूर्ण कार्य भूतों से निर्मित हैं। भूतपंचक ही इस लोक की उत्पत्ति के मूल कारण हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश ये पंच भूत कहलाते हैं।

पुरुषवाद—पुरुषवादियों का यह मानना है कि सृष्टि का कर्ता, भोक्ता, नियन्ता सब कुछ पुरुष ही है। इसके दो वाद प्रचलित हैं—ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद। ब्रह्मवादी सारे जगत के चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि पदार्थों का उपादानकारण ब्रह्म को ही मानते हैं—

सर्वं वै खलु इदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन।

ईश्वरवादी ईश्वर को ही अखिल जगत का कर्ता मानते हैं। ईश्वर के हिलाये बिना संसार का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। जड़ एवं चेतन तत्त्वों का संयोजक स्वयं ईश्वर ही है।

लोकवैचित्र्य का मूलकारण जानने के लिये उपर्युक्त वादों में कुछ प्रयत्न तो किया गया है, किन्तु यह प्रयत्न सत्य तथ्य को स्पष्ट नहीं कर सका। प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख के रूप भिन्न-भिन्न हैं। एकसमान पुरुषार्थ करने पर भी एक को लाभ होता है, दूसरे को हानि। एक सुखी बनता है, दूसरा दुःखी। एक को बिना प्रयत्न किये अकस्मात् धन की प्राप्ति हो जाती है तो दूसरे को लक्षाधिक प्रयत्न करने पर कार्षापण भी प्राप्त नहीं होता।

इसके कारण की अन्वेषणा जैन और बौद्ध दर्शन में उपलब्ध होती है। बुद्ध और महावीर ने ईश्वर आदि के स्थान पर कर्म को ही प्रतिष्ठित किया। जगत्वैचित्र्य का मूल कारण 'कर्म' है, यह उद्घोषणा की। ईश्वरवादियों ने जो स्थान ईश्वर को दिया वही स्थान जैन या बौद्ध दर्शन में कर्म को दिया गया है।

गौतम बुद्ध का सिद्धान्त है कि सारा संसार कर्म से चलता है। प्रजा कर्म से चलती है। चलते हुए रथ का चक्र जिस प्रकार धुरी से बंधा रहता है, इसी प्रकार प्राणी भी कर्म से संबंधित है । यद्यपि बौद्धदर्शन ने जगतवैचित्र्य के कारण की खोज में स्वभाव को भी स्वीकार किया है, तथापि बुद्ध के विचारों में कर्मसिद्धान्त की ही प्रमुखता रही है।

बुद्ध से जब शुभ माणवक ने प्रश्न किया—हे गौतम ! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है कि मनुष्य होते हुए भी मनुष्य रूप वाले में हीनता या उत्तमता दिखलाई देती है ।

हे गौतम ! यहाँ मनुष्य अल्पायु-दीर्घायु, बहुरोगी-अल्परोगी, कुरूप-रूपवान, दरिद्र-धनवान, निर्बुद्धि-प्रज्ञावान क्यों दिखलाई देते हैं ? हे गौतम इसका क्या कारण है ?

उत्तर में गौतम बुद्ध ने कहा हे माणवक ! कर्मस्वक, कर्मदायक कर्मयोनि, कर्मबन्धु, कर्मप्रतिशरण है । कर्म ही प्राणियों की हीनता और उत्तमता करता है।

इस प्रकार बौद्ध विचारणा में कर्मसिद्धान्त को स्वीकार तो किया है, लेकिन वैचारिक प्रत्यय के रूप में ही। बौद्धदर्शन में प्राणी हीन और उत्तम क्यों होता है, इसका उत्तर तो कर्मसिद्धान्त के रूप में मिलता है, किन्तु कैसे होता है, इस विषय में कोई समाधान नहीं मिलता ।

जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त की प्रक्रिया का सूक्ष्म, गहन एवं व्यवस्थित विश्लेषण मिलता है। क्यों और कैसे का स्पष्ट समाधान प्राप्त होता है, जिसका संक्षिप्त वर्णन यहां प्रस्तुत है।

'कर्म' शब्द के विभिन्न अर्थ

कर्म शब्द विभिन्न अर्थों में ग्रहण किया जाता है । सामान्यतः कर्म शब्द का अर्थ 'क्रिया' के रूप में लिया जाता है। प्रत्येक प्रकार का स्पंदन–चाहे वह मानसिक हो या कायिक, 'क्रिया' कहा जाता है। जैनदर्शन में इसे त्रियोग मन-वचन-काय के रूप में लिया जाता है। कर्म का यह क्रियात्मक अर्थ कर्म की आंशिक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

मीमांसादर्शन में कर्म का अर्थ यज्ञ-याग के रूप में लिया गया है । गीता में कर्म शब्द के अर्थ में यज्ञ-याग के साथ आश्रम तथा वर्णानुसार किये गये स्मार्त कर्मों को भी ग्रहण किया है। बौद्ध विचारकों ने भी कर्म शब्द से शारीरिक, मानसिक, वाचिक क्रियाओं को लिया है, जो अपनी नैतिक शुभाशुभ प्रकृति के अनुसार कुशल या अकुशल कर्म कहे जाते हैं । यद्यपि 'कर्म' शब्द से बौद्धदर्शन में क्रिया अर्थ लिया जाता है, तथापि वहाँ पर कर्म शब्द से 'चेतना' की ही प्रमुखता है।

निकाय में बुद्ध ने कहा है—चेतन ही भिक्षुओं का कर्म है, ऐसा मैं कहता हूँ। चेतना के द्वारा ही कर्म को करता है काया से, वाणी से, मन से। तात्पर्यार्थ यह है कि चेतना के रहने पर ही समस्त क्रियाएं संभवित हैं।

उपर्युक्त कथनानुसार कर्म का अर्थ क्रियात्मक ही लिया गया है, किन्तु कर्मसिद्धान्त में कर्म शब्द का अर्थ क्रिया से कुछ विस्तृत है । वहाँ पर शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाओं का चेतना पर पड़ने वाला प्रभाव तथा तत्फलस्वरूप भावी क्रियाओं का निर्धारण और उनसे होने वाली अनुभूति का 'कर्म' शब्द में ही समावेश किया गया है ।

संक्षेपतः कर्म शब्द से दो अर्थ लिये जाते हैं—क्रिया और उसका फल (विपाक) । अर्थात् कर्म शब्द में प्रक्रिया से लेकर फल तक के सारे अर्थ सन्निहित हैं।

जैनदर्शन में कर्म से उन परमाणुओं को भी ग्रहण किया है जो प्राणी की क्रियाविशेष से चेतन की ओर आकर्षित होकर उससे सम्बद्ध हो जाते हैं तथा समय की परिपक्वता के अनुसार अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं ।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कर्म शब्द का अर्थ लिया जाय तो कर्म एक ऐसी शक्ति है, जो एक क्रिया के कारण संचित होती है व दूसरी क्रिया से निर्जरित हो जाती है। अपने उदयकाल में अपर क्रिया को जन्म देकर स्वयं भी अपर रूप में पुनः संचित हो जाती है।

वैचित्र्य के कारण

संसार के सभी आस्तिक दार्शनिकों ने आत्मशक्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्व की अपने-अपने दृष्टिकोणों से खोज की है । वेदान्तदर्शन में माया या अविद्या, सांख्य में प्रकृति, वैशेषिकदर्शन में अदृष्ट, मीमांसा में अपूर्व, बौद्ध दर्शन में कर्म, अविद्या, वासना, नैयायिक दर्शन में अदृष्ट, संस्कार और धर्माधर्म के रूप में उस तत्त्व का कथन किया है। जैनदर्शन में उस तत्त्व को 'कर्म' के रूप में प्रतिपादित किया गया है। सामान्यतया सभी कारण समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु गहनता में प्रवेश किया जाये तो अन्य दर्शनों की विचारणा और जैनदर्शन की विचारणा में बहुत बड़ा अन्तर है । जैनदर्शन में कर्म शब्द का जो व्यापक विश्लेषण किया गया है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता ।

द्रव्यकर्म और भावकर्म

प्रत्येक कार्य के लिये निमित्त और उपादान दोनों ही कारणों की आवश्यकता होती है । जैनदर्शन में जीव की प्रत्येक क्रिया के लिये उपादान के रूप में भावकर्म (परिणाम) और निमित्त के रूप में द्रव्यकर्म (कर्म-परमाणु) प्रतिपादित हैं । जीव के शुभाशुभ परिणामों को भावकर्म तथा भावकर्म से आकर्षित होने वाले कर्म-वर्गणा के पुद्गल, जो चेतना के साथ संयुक्त होकर कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं, अपेक्षाकृत चेतना की संज्ञा को पा लेते हैं, द्रव्यकर्म कहलाते हैं । भावकर्म को उत्तेजित करने वाला द्रव्यकर्म, नोकर्म तथा तत्संबंधित बाह्यपदार्थ भी होता है ।

जब तक आत्मा में भावकर्म की उपस्थिति नहीं होती है तब तक कर्मपरमाणु (द्रव्यकर्म) बंधन के रूप में परिणत नहीं होते। इसलिये द्रव्य और भावकर्म परस्पर एक दूसरे के कारण कहे जाते हैं।

पं. सुखलालजी ने कर्म शब्द की परिभाषा करते हुए कहा है—'मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वही कर्म कहलाता है।'

मिथ्यात्व (अज्ञान), कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ आदि) भावकर्म हैं । यह भावकर्म आत्मा की वैभाविक दशा हैं। आत्मा इनका उपादान रूप में कर्ता है। जिस प्रकार घृत का अन्तरंग कारण दुग्ध है, इसी प्रकार भावकर्म का आन्तरिक कारण आत्मा है । द्रव्यकर्म, जो सूक्ष्म कार्मण परमाणु है, इसका आत्मा निमित्त रूप में कर्ता है । जिस प्रकार दुग्ध को दधि रूप में, दधि को नवनीत और घृत में परिवर्तित करने में जिन अन्य वस्तुओं की अपेक्षा होती है वे निमित्त कारण कहे जाते हैं।

इन द्रव्य और भाव कर्म में मुख्यतया क्रमशः जड़ और चेतन की प्रमुखता होती है। इन दोनों में परस्पर कार्यकारणभाव है । जिस प्रकार मुर्गी से अंडा और अंडे से मुर्गी होती है, इनमें किसी को भी प्राथमिकता नहीं दी जा सकती, उसी प्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्म में किसी की भी प्राथमिकता का निश्चय नहीं किया जा सकता । प्रत्येक द्रव्यकर्म तत्संबंधित भावकर्म का पूरक और प्रत्येक भावकर्म तत्संबंधित द्रव्यकर्म का पूरक है। अतः प्रवाह की अपेक्षा से इनका कार्यकारणभाव अनादिकालीन है ।

केवल चेतन पक्ष या केवल जड़ पक्ष कर्म की समुचित व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर सकता । द्रव्य और भाव कर्म से ही कर्म की पूर्ण व्याख्या बनती है ।

कर्मपरमाणुओं का आत्मा से सम्बन्ध

प्रत्येक संसारी आत्मा प्रति समय सात-आठ कर्मों का बंध करती है। आयुष्य कर्म के बंध के समय आठ कर्मों का बंध अन्यथा सात कर्मों का बन्ध करती है। सजातीयता की दृष्टि से तो कर्म एक ही है, किन्तु जब जीव के मन-वचन-काया के योगों में परिस्पन्दन होता है, तब कर्मयोग्य परमाणु आत्मा के साथ कर्मरूप में संबद्ध हो जाते हैं। तदनन्तर इनका विभागीकरण होता है। जिस प्रकार व्यक्ति दुग्धपान करता है, दुग्ध जब उदरस्थ हो जाता

है और रस के रूप में परिवर्तित हो जाता है तब उसका विभागीकरण होता है । उसकी शक्ति का कुछ-कुछ भाग आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियों को प्राप्त होता है। मुख्यतया तो दुग्ध उदरस्थ ही होता है। इसी प्रकार मन, वचन व काया के योगों का परिस्पन्दन जिस कर्म के परिणामों की मुख्यता से हुआ है, उस कर्म को कर्म-परमाणुओं का उसके अनुपात से भाग प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अवशेष कर्मों को भी यथास्थान यथायोग्य भाग मिलता है। इसीलिये प्रतिसमय आत्मा के साथ सप्त-अष्ट कर्मों के बन्धन का विधान किया गया है।

कर्म का विभागीकरण

मूल में तो कर्म एक ही प्रकार का होता है, तथापि जिस रूप में वह आत्मिक विकास का अवरोधक बनता है, तदनुरूप उसका विभाग कर दिया जाता है। कर्म के मुख्य विभाग आठ किये गये हैं--

१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ अन्तराय ।

उपर्युक्त आठ कर्मों में मोहनीय कर्म प्रमुख है। आत्मस्वरूप को आवृत करने की क्षमता, प्रभावशीलता, स्थितिकाल आदि अन्य कर्मों की अपेक्षा मोहनीय कर्म का अधिक है । मोहनीय कर्म पूरे कर्मवृक्ष का मूल कहा जाता है। जिस प्रकार मूल को उखाड़ देने से वृक्ष टिक नहीं सकता, उसी प्रकार मोहनीय कर्म का क्षय (नाश) कर देने पर अन्य कर्म भी नहीं टिक सकते । मोहनीय कर्म पर विजय प्राप्त करने पर अन्य कर्मों का क्षय सरलता से किया जा सकता है।

अष्ट कर्मों में चार कर्म घातिक और चार कर्म अघातिक हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायकर्म घातिक तथा वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र कर्म अघातिक हैं। जो आत्मा के मूल गुणों का घात (आच्छादित) करते हैं वे घातिक और जो आत्मा के मूल गुणों का घात नहीं करते वे अघातिक कर्म कहलाते हैं।

घातिक कर्म भी दो प्रकार के होते हैं--देशघाती और सर्वघाती। सर्वघाती पूर्णतया आत्मगुणों को आवरित कर देते हैं। जबकि देशघाती किसी एक भाग को आवरित करते हैं। सर्वघाती से तात्पर्य मात्र गुणों के प्राकट्य को रोकना है, नाश नहीं। आत्मिक गुण कितने ही आवृत किये जायें तथापि चैतन्य का ज्ञापक अंश सदा अनावृत रहता है।

घाती कर्म को उस बीज के समान कहा जा सकता है, जिसमें अंकुरण की शक्ति है। जिन कर्मों के कारण नवीन कर्मों का बंध होता रहता है, कर्मपरंपरा विच्छिन्न नहीं होती। अघातिक कर्म भुने हुए बीज के समान हैं, जिनमें नवीन अंकुरण की शक्ति नहीं है । उसी प्रकार अघातिक कर्म (दीर्घ स्थिति वाले) नवीन कर्मों को उत्पन्न नहीं करते, स्थिति के परिपाक के अनुसार अपना फल देकर आत्मा से विलग हो जाते हैं ।

ज्ञानावरणीय--जिस प्रकार बादल सूर्य को आवरित करता है उसी प्रकार जो कर्म आत्मा की ज्ञान-शक्ति को आवरित करता है, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं । बादल का आवरण सूर्य को कितना ही आवरित कर दे, तथापि इतना प्रकाश तो अवशेष रहता ही है, जिससे दिन और रात का ज्ञान हो सके। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म से आत्मा की ज्ञान शक्ति कितनी ही आच्छादित कर दी जाये तथापि ज्ञान का अनंतवां भाग तो उद्घाटित ही रहता है, जिससे जीवत्व का ज्ञान हो सके । अन्यथा आत्मा अनात्मा हो जाएगी ।

दर्शनावरणीय--जिस प्रकार द्वारपाल राजा के दर्शन में बाधक बनता है, दर्शन नहीं करने देता। उसी प्रकार जो कर्म आत्मा की दर्शनशक्ति को आच्छादित करता है। अर्थात् ज्ञान से पूर्व होने वाले वस्तु के सामान्य बोध को, दर्शन शक्ति को आवरित करने वाला कर्म दर्शनावरणीय है।

वेदनीय--जिस कर्म के द्वारा आत्मा सुख और दुःख का अनुभव करे, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं । वह सुख भी मधुलिप्त तलवार को चाटने के समान अन्ततः दुःखप्रद ही है।

मोहनीय--जिस प्रकार मादक वस्तुओं के सेवन से व्यक्ति बेभान बन जाता है, हिताहित को भूल जाता है, विवेकशक्ति खो बैठता है । इसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से प्राणी बेभान हो जाता है ।

हिताहित के विवेक से विकल हो जाता है । अकरणीय भी कर डालता है । ऐसा मोहनीय कर्म दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार का है--

दर्शनमोहनीय--दर्शन शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं--१. निर्विशेष दर्शन, २. दृष्टिकोण, ३. श्रद्धा । प्रथम अर्थ का सम्बन्ध तो दर्शनावरणीय कर्म से है। अवशेष दो अर्थों का सम्बन्ध दर्शनमोहनीय कर्म से है । दर्शनमोहनीय कर्म से जीवन में सम्यक् दृष्टिकोण और सम्यक् श्रद्धा का अभाव हो जाता है, गलत धारणाएँ जम जाती हैं विवेकबुद्धि विलुप्त हो जाती है । इसके तीन भेद हैं--

(१) **मिथ्यात्वमोहनीय**--जिससे प्राणी सत्यासत्य के विवेक से विकल हो जाता है। वह सत्य को असत्य, असत्य को सत्य मान बैठता है।

(२) **सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय**--जिससे प्राणी सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर पाता । कौनसा सत्य है और कौनसा असत्य, यह निर्णय नहीं होता।

(३) **सम्यक्त्वमोहनीय**--मिथ्यात्वमोहनीय के शुद्ध दलिकों को सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं । इन शुद्ध दलिकों के उदय रहने पर सम्यक्त्व बोध में कोई बाधा नहीं आती अर्थात् शुद्ध श्रद्धा अभिव्यक्त हो जाती है । हां उपशम एवं क्षायिक जितनी शुद्धता नहीं रहती, पर तत्त्वबोध होने में रुकावट नहीं आती। जैसे कि आलमारी के स्वच्छ कांच अन्तर्गत वस्तु के ज्ञान में बाधक नहीं होते, किन्तु उनकी प्राप्ति में बाधक होते हैं, इसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय, सम्यग् बोध में बाधक नहीं होता।

चारित्रमोहनीय--जिसके द्वारा अनेक प्रकार के विकारों की उत्पत्ति हो तथा आचरण में अशुभता आती हो, जो व्रतादि की प्राप्ति का बाधक हो, इसे चारित्रमोहनीय कर्म कहते हैं ।

आयुष्यकर्म--जिस प्रकार बंदीगृह, कैदी की स्वतन्त्रता में बाधक है इसी प्रकार जो कर्म आत्मा को नियत समय तक विभिन्न शरीरों में कैद रखता है, उसे आयुष्यकर्म कहते हैं । जीव प्रतिक्षण आयुष्यकर्म के पर-माणुओं का भोग कर रहा है। ज्यों-ज्यों परमाणुओं का भोग होता रहता है, त्यों-त्यों वे आत्मा से पृथक् होते जाते हैं। जब पूर्वबद्ध संपूर्ण कर्म परमाणु आत्मा से पृथक् हो जाते हैं तब जीव वर्तमान शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण कर लेता है।

आयुष्यकर्म का भोग क्रमिक और आकस्मिक दो प्रकार से होता है । आयुष्य कर्म का क्रमिक भोग तो धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप में होता रहता है। आकस्मिक आयुष्यकर्म का भोग किसी कारण के उपस्थित होने पर एक ही साथ हो जाता है।

नामकर्म--जिस कर्म से जीव के गति, जाति, शरीर, अङ्गोपांग, वर्ण आदि का निर्माण हो, उसे नामकर्म कहते हैं। आधुनिक परिभाषा में इस कर्म को व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्धारक तत्त्व भी कहा जा सकता है।

गोत्रकर्म--जिसके कारण लोक में प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित कुल में उत्पत्ति हो, उसे गोत्रकर्म कहते हैं ।

अन्तरायकर्म--अभीष्ट अर्थ की उपलब्धि में बाधक कर्म को अन्तरायकर्म कहते हैं। जिस प्रकार राजा की आज्ञा दान देने की होने पर भी भंडारी बीच में ही बाधक बन जाता है, इसी प्रकार यह कर्म भी अवरोधक बन जाता है ।

उपर्युक्त अष्ट कर्मों के उत्तर भेद १४८ होते हैं। यथा-ज्ञानावरणीय के ५, दर्शनावरणीय के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयुष्य के ४, नामकर्म के ९३, गोत्र के २ और अन्तराय के ५ भेद हैं । कुल १४८ भेद होते हैं।

कर्म और ईश्वर

प्रायः सभी धार्मिक विचारधाराएं शुभाशुभ कृत्यों का प्रतिफल किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करती हैं, लेकिन कुछ विचारधाराएं इन शुभाशुभ कृत्यों का प्रतिफल स्वतः और कुछ परतः स्वीकार करती हैं । सांख्य, योग, बौद्ध, मीमांसक और जैन कर्मों को अपना फल देने में स्वतः समर्थ मानते हैं । न्याय-वैशेषिक, वेदान्त दर्शन में कर्मों को फल देने में स्वतः समर्थ नहीं माना है, अपितु फलप्रदाता के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया है ।

जैनदर्शन में ईश्वर के त्रिरूप प्रतिपादित किये गए हैं––बद्धईश्वर, मुक्तईश्वर और सिद्धईश्वर । जो आत्माएं कर्मों से आबद्ध हैं, वे बद्धईश्वर हैं । जिन आत्माओं ने घनघातिक कर्मचतुष्टय क्षय कर दिया, वे मुक्त-ईश्वर हैं। जिन आत्माओं ने संपूर्ण कर्मक्षय करके निरंजन, निराकार अवस्था प्राप्त कर ली, वे सिद्धईश्वर हैं। सिद्ध-ईश्वर किसी भी जीव के किसी भी कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते । मुक्तईश्वर अपने अघातिक कर्मों का क्षय करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य प्राणियों के कर्मों में किसी प्रकार कोई भी विघ्न नहीं करते हैं। अपने ज्ञान में उपयुक्त समझें तो यथायोग्य उपदेश दे देते हैं। बद्धईश्वर के रूप में स्थित आत्माएं अपने कर्मों का फल परिभोग स्वयं करती हैं एवं नवीन कर्मों का बंधन भी स्वयं करती हैं, किन्तु अन्य आत्मा के कर्म बन्धन एवं निर्जरण में उनका किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं होता।

जीव स्वयं ही अपने कर्मों का कर्ता––भोक्ता है। इसका फल परिभोग कराने के लिए कोई दूसरा व्यक्ति किंवा ईश्वर नहीं आता । सृष्टि का अधिष्ठाता भी कोई ईश्वर नहीं है। सृष्टि अनादि–अनंतकाल से चली आ रही है। बद्धईश्वर आत्माएं अपने कर्मों का फल परिभोग स्वयं करती हैं।

ईश्वर को फलप्रदाता मानने वाले व्यक्तियों ने जो आक्षेप प्रस्तुत किये हैं, निराकरण के साथ उन आक्षेपों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

आक्षेप

१. सूई, कैंची, घड़ी आदि लघु-से-लघु वस्तु से लेकर गगनचुम्बी भवनों तक का निर्माता कोई पुरुष विशेष है, तो इसी प्रकार संपूर्ण जगत का निर्माता कोई व्यक्ति अवश्य होना चाहिये। वह व्यक्ति ईश्वर के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता ।

२. अखिल जगत के समस्त प्राणी शुभाशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म करते हैं। किन्तु अशुभ कर्मों का फल-भोग कोई नहीं करना चाहता। कर्म स्वयं जड़ होने से बिना चेतन की प्रेरणा के फल देने में समर्थ नहीं होते। अतः कर्मवादियों के लिए भी ईश्वर को मानना आवश्यक हो जाता है।

३. वह फलप्रदाता ईश्वर इस प्रकार का होना चाहिये कि सदा से मुक्त हो और अन्य मुक्त आत्माओं की अपेक्षा इसमें कुछ विशेषता हो । कर्मवादियों का यह मानना भी असंगत है कि कर्म से सर्वथा छूट जाने पर सभी जीव मुक्त हो जाते हैं।

आक्षेपपरिहार

१. यह जगत अनादि-अनन्तकाल से चला आ रहा है, इसकी कोई नव–निर्मिति नहीं हुई है। उतार–चढ़ाव जरूर आते रहे हैं। परिवर्तन और परिवर्धन भी होते हैं। इन परिवर्तनों में कुछ ऐसे परिवर्तन होते हैं जो किसी पुरुष द्वारा किये जाते हैं और बहुत से परिवर्तन बिना किसी की सहायता से स्वतः जड़ तत्त्वों के सहयोग से हो जाते हैं। मिट्टी–पत्थर आदि एकत्रित हो जाने पर छोटे-मोटे टीले या पहाड़ बन जाते हैं। इधर-उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से नदी बन जाती है। उष्णता से पानी भाप बनकर बादल के रूप में बरसने लगता है, ये सब कार्य स्वतः होते हैं । इसमें ईश्वर को कर्ता मानने की कोई जरूरत नहीं है ।

२. जिस प्रकार जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है उसी प्रकार उसका फल भोगने में भी स्वतन्त्र है, अर्थात् जिस प्रकार का कर्म करता है उसी प्रकार फल परिभोग भी करना पड़ता है । कर्म का फल भुगताने के लिये कोई ईश्वर नहीं आता। यद्यपि कर्म जड़ है किन्तु चैतन्य, जीव के संयोग से उसमें ऐसी शक्ति प्रादुर्भूत हो जाती है कि जिससे वह अपने शुभाशुभ विपाकों को नियत समय पर जीव पर प्रकट कर देता है । कर्मवाद का यह सिद्धान्त नहीं है कि चैतन्य के सिवाय कर्म स्वयं फल देने में सामर्थ्यवान हो जाता है। उसका तो

यह कहना है कि जीवों को कर्मों का फल देने के लिये ईश्वर की प्रेरणा की कोई आवश्यकता नहीं है । मिर्च व्यक्ति स्वयं खाता है तो मुँह जलाने के लिये कोई दूसरा नहीं आता। मदिरा स्वयं पीता है तो मादकता उत्पन्न करने के लिये कोई दूसरा नहीं आता। यद्यपि व्यक्ति मुँह जलाना या मादकता उत्पन्न करना नहीं चाहता, किन्तु मिर्च या मदिरा पीने से उन पदार्थों में चेतना के संयोग से वैसी शक्ति आ जाती है और व्यक्ति की अनिच्छा होते हुए भी वे अपना फल दे देते हैं। इसी प्रकार आत्मा जिस प्रकार का कर्म करती है, उसी रूप में कर्म उसी आत्मा का संयोग पाकर जीवों की इच्छा न होते हुए भी अपना फल दे देते हैं । इसके बीच में ईश्वर आदि को डालने की कोई आवश्यकता नहीं रहती ।

३. ईश्वर भी चेतनावान है, जीव भी चैतन्ययुक्त है । फिर इनमें अन्तर क्या है? अन्तर केवल इतना ही है कि ईश्वर की चैतन्यशक्तियां अनावृत हो चुकी हैं, किन्तु जीव की शक्तियां अभी कर्मों के कारण आच्छादित हैं । जिस दिन कर्मों का विलय हो जायेगा उस दिन उसका स्वरूप भी ईश्वर के रूप में निखर जाएगा। ततश्च जीव और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं रहेगा। जीव के मोक्ष पा लेने पर भी उसे ईश्वर तुल्य नहीं मानें तो मुक्ति पाने का महत्त्व ही क्या रहेगा? सिद्धावस्था में ऐसी कोई विषमता नहीं है । सारी सिद्धात्माएं एक समान शक्तिसंपन्न हैं । मूलतः तो जगत की आत्माएं ईश्वर ही हैं। कर्मों के कारण उनका विभिन्न रूप दिखलाई देता है । जिस प्रकार, समान पावर वाले बल्बों को अनेक छोटे, बड़े डिब्बों से ढक देने पर उनका प्रकाश भी इन्हीं डिब्बों में समाहित हो जाता है। उसी प्रकार समान शक्ति संपन्न आत्माओं पर भी कर्मों के विभिन्न डिब्बों का आच्छादन, बंधन होने से आत्माओं की विभिन्न अवस्थाएं दिखाई देती हैं। किन्तु सिद्धावस्था में सब की आत्माएं कर्मों के विभिन्न आवरणों से अनावृत हो जाने से एक समान हो जाती हैं । वहाँ पर एक ही ईश्वर को मानना दूसरे को तत्सम न मानना, युक्तिसंगत नहीं है।

कर्मफलसंविभाग

जिस व्यक्ति ने जो कर्म किया है, उसका फल परिभोग भी वही करेगा। यह नहीं होता कि कर्म कोई दूसरा व्यक्ति करे और उसका फल परिभोग कोई दूसरा कर ले। जैसा कि आचार्य अमितगति ने कहा है--

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ।।

जो कर्म आत्मा ने पूर्व में स्वयं ने किया है, उसका शुभाशुभ फल वह स्वयं ही भोगती है। यदि दूसरे का दिया हुआ फल भी प्राप्त होने लग जाये तो स्वयं द्वारा कृत कर्म निरर्थक हो जाएगा।

यदि कर्मफल का संविभाग होने लगे तो कोई भी व्यक्ति कर्मों से छूट ही नहीं पायेगा या फिर सभी व्यक्ति एक साथ कर्ममुक्त हो जायेंगे।

अतः जैनदर्शन का यह सिद्धान्त युक्तियुक्त है कि स्वयं द्वारा कृत कर्मों का फल परिभोग भी स्वयं को ही करना पड़ता है।

व्यावहारिकदृष्टि से यह माना जा सकता है कि व्यक्ति के शुभाशुभ कार्यों का प्रभाव परिवार पर नहीं अपितु समाज एवं राष्ट्र पर भी पड़ता है। एक व्यक्ति की गलत नीति का परिणाम समूचे समाज एवं राष्ट्र तक को ही नहीं भावी पीढ़ी को भी भुगतना पड़ता है। जैसा कि लौकिक भाषा में कहा जाता है--'एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है ।' अतः व्यावहारिक दृष्टिकोण से कर्मफल के विभाग को कुछ अंशों में माना जा सकता है।

किन्तु ये सब कारण निमित्त के रूप में होते हैं । उपादान तो स्वयं का ही अशुद्ध होता है, तभी ऐसी परिस्थितियों का निर्माण होता है ।

जो कुछ भी सुख-दुःख, ज्ञानावस्था या अज्ञानावस्था की स्थिति बनती है, उसमें उपादानकारण तो स्वयं का ही होता है, निमित्तकारण के रूप में अन्य व्यक्ति हो सकता है । उदाहरण के रूप में--किसी व्यक्ति को पत्थर की चोट लगी और रक्त प्रवाहित होने लगा । इस दुःख का मूल उपादानकारण तो व्यक्ति के अपने कर्म हैं, पत्थर तो एक निमित्तकारण के रूप में है । इस पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि हम दूसरों के हिताहित करने में मात्र निमित्त होते हैं तो हम उन क्रियाओं के पुण्य-पाप के भागी भी नहीं बन सकते । इसका समाधान यह है कि जब निमित्त बनने वाला व्यक्ति स्वयं को कर्ता के रूप में मान लेता है और उसके प्रति स्वयं की रागद्वेष की वृत्ति प्रकट करता है तो वह उन कर्मों के पुण्य-पाप के फल में भी सहभागी बन जाता है । अतः यह स्पष्ट है कि कृतकर्मों का फल भी कर्ता को ही भोगना पड़ता है ।

अध्यात्मशास्त्र की भूमिका--कर्मशास्त्र

अध्यात्मशास्त्र का मूल लक्ष्य होता है--आत्मा सम्बन्धी विषयों पर विचार प्रस्तुत करना तथा उसके पारमार्थिक रूप--परमात्मा आदि विषयों पर भी गहरा मंथन करना । इन विषयों पर चर्चा करने के पहले आत्मा के व्यावहारिक रूप पर चिन्तन अपेक्षित है । आत्मा की व्यावहारिकता पर चिन्तन किये बिना परमात्मरूप पर स्पष्टतया यथातथ्य चिन्तन नहीं किया जा सकता । एक प्राणी सुखी है, दूसरा दुःखी, एक विद्वान्, दूसरा मूर्ख, एक मानव, दूसरा पशु, आदि-आदि आत्मा के व्यावहारिक रूप को समझे बिना उनका अन्तरंग रूप नहीं समझा जा सकता । दूसरी बात यह है कि दृश्यमान अवस्थाएं आत्मा का स्वभाव क्यों नहीं हैं ? अतः अध्यात्मशास्त्र के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह आत्मा के दृश्यमान रूप को पहले स्पष्ट करे । यह कार्य कर्मशास्त्र ने संपादित किया है । वह दृश्यमान जगत की सारी अवस्थाओं को वैभाविक बतलाकर आत्मिक जगत की सारी अवस्थाओं को इन सब से विलग, शुद्ध चैतन्य के रूप में विज्ञापित करता है ।

जब तक आत्मा के वैभाविक रूप का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक आत्मा का स्वाभाविक रूप भी नहीं जाना जा सकता । वैभाविक रूप ज्ञात होने पर ही जिज्ञासा प्रादुर्भूत होती है कि आत्मा का स्वाभाविक--अंतरंग रूप क्या है ? उस समय आत्मा का मौलिक स्वरूप उपस्थित किया जाता है । आत्मा से परमात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति बतलाई जाती है, जो कि अध्यात्मशास्त्र प्रस्तुत करता है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मशास्त्र अध्यात्मशास्त्र की पृष्ठभूमिका के रूप में है । कर्मशास्त्र के बिना अध्यात्म अवस्था का विज्ञान नहीं हो सकता है । डिब्बे के अन्दर स्थित वस्तु तभी प्राप्त हो सकती है जब कि डिब्बे के रूप को समझकर उसे उद्घाटित किया जाये--खोला जाये । इसी प्रकार अध्यात्म का ज्ञान तभी हो सकता है, जब कर्मकृत बाह्य अवस्थाओं को समझा जाये--हटाया जाये और अन्तरंग ज्ञान को उजागर किया जाये ।

बाह्य वस्तुओं के प्रति अहंभाव को, शरीर-आत्मा के प्रति अभेद भ्रम को हटाकर भेदज्ञान की शिक्षा कर्मशास्त्र ही देता है । जिससे अन्तर्दृष्टि खुले, अध्यात्म का ज्ञान हो, परमात्मा के दर्शन हो जायें ।

यह कर्मशास्त्र अभेदभ्रम से आत्मा को हटाकर, भेदज्ञान की तरफ आकर्षित करता हुआ पुनः परमात्म-स्वरूप के अभेदज्ञान रूप अध्यात्म की उच्च भूमिका पर उपस्थित करता है ।

योगशास्त्र की बीज रूप अवस्था भी कर्मश.स्त्र में समाविष्ट है । परन्तु बहुत से अध्येता कर्म-प्रकृतियों की संख्या तथा उसके अवान्तर अनेक भेद-प्रभेदों तथा उसके सविस्तृत विवेचन को देखते हुए इसमें रुचि नहीं

रखते । लेकिन यह दोष कर्मशास्त्र का नहीं है । जिस प्रकार गणित, भूगोल, खगोल विज्ञान के प्रति जन-मानस की रुचि कम होती है तो इसका दोष उन विषयों का नहीं अपितु उनके अध्येताओं का ही है । इसी प्रकार कर्मशास्त्र की गहनता का ज्ञान स्थूलदर्शी लोग न कर सकें तो यह दोष उन्हीं का है, कर्मशास्त्र का नहीं ।

जैनदर्शन में कर्मतत्त्व

जैनदर्शन में कर्म की बध्यमान, सत् और उदयमान, मुख्य रूप से तीन अवस्थाएं प्रतिपादित की गई हैं । जिन्हें क्रमशः बन्ध सत्ता, उदय के नाम से संबोधित किया जाता है । जैनेतर दर्शनों में भी सामान्यतया इन्हीं को क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध के नाम से माना गया है । पातञ्जलदर्शन में कर्म, जाति और भोग ये तीन अवस्थाएं बताई हैं, किन्तु जैन वाङमय में कर्म का ज्ञानावरणादि रूप से ८ एवं अवान्तर १४८ भेदों के रूप में जो विश्लेषण प्राप्त होता है, उतना किसी भी दर्शन में नहीं मिलता ।

आत्मा के साथ कर्मों का बन्धन किस रूप में होता है, कैसे होता है ? कर्म में कैसे शक्ति पैदा होती है ? कर्म का जघन्य-उत्कृष्ट कितना अवस्थान होता है, उनका विपाक कितने समय बाद हो सकता है ? या नहीं भी होता है ? तीव्र-मंदादि शक्तियों का परिवर्तन कैसे होता है या नहीं भी होता है ? बाद में उदय में आने वाले कर्मों का पूर्व में उदय कैसे आ सकता है ? कभी-कभी आत्मा के कितने ही प्रयत्न करने पर भी कर्म अपना फल भोगवाए बिना क्यों नहीं छूटता ? संक्लेश परिणाम अपने आकर्षण से कर्मों की सूक्ष्म रज आत्मा पर किस तरह डाल देते हैं ? आत्मा अपनी शक्ति से कर्म के सूक्ष्म रजपटल को किस प्रकार हटा देती है ? इससे आत्मा का क्या स्वरूप उजागर होता है ? कुन्दन की तरह शुद्ध आत्मा भी कर्म के कारण कितनी मलीमस प्रतीत होती है ? कर्मों का घना आवरण होने पर भी आत्मा अपने मौलिक स्वरूप से च्युत क्यों नहीं होती है ? जब वह परमात्मरूप देखने की जिज्ञासु बनती है, तब उसका अन्तरायकर्म के साथ कैसा द्वन्द होता है ? और वह अपने पथ को किस प्रकार निष्कंटक बनाती है ? आत्मज्ञान में सहायक परिणामविशेष–अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण का और उसमें बाधक मिथ्यात्व का क्या स्वरूप है ? जीव अपने शुद्ध परिणामों की अपूर्व शक्ति–करंट से कर्मों की पर्वतमाला को किस प्रकार चूर-चूर कर डालता है ? और कभी-कभी कर्म की दबी अवस्था उछाल खाकर किस प्रकार प्रगतिशील आत्मा के पथ को अवरूद्ध कर उसका अधःपतन कर देती है ? कौन-कौन से कर्म बंधोदय की अपेक्षा परस्पर विरोधी हैं ? किस कर्म का बंध किस अवस्था में अवश्यंभावी है ? किस कर्म का विपाक किस अवस्था तक नियत और किस अवस्था तक अनियत होता है ? आत्मसंबद्ध कर्म किस प्रकार बाह्य पुद्गलों को आकर्षित करते हैं ? और उन पुद्गलों से शरीरादि निर्माण किस प्रकार होता है ? सर्वथा कर्मविलय होने पर आत्मा का मौलिक स्वरूप किस प्रकार पूर्णतया उजागर होता है ? उससे आत्मा की क्या अवस्था होती है ? और कर्मबद्ध आत्मा की कैसी विचित्र परिणति होती है ? आदि संख्यातीत प्रश्न जो कर्मसिद्धान्त से संबंधित हैं; उन सब का सयुक्तिक एवं सटीक समाधान जैनदर्शन किंवा जैन वाङमय प्रस्तुत करता है । जैनदर्शन के अतिरिक्त वैसा विवेचन पाश्चात्य, पूर्वात्य किसी भी दर्शन में उपलब्ध नहीं होता । कर्म विषयक उत्कृष्ट विषय का गहनता के साथ प्रतिपादन करने वाला प्रस्तुत ग्रन्थ (कर्मप्रकृति) है ।

कर्मवाद की व्यावहारिक उपयोगिता

किसी भी कार्य में जब मानव प्रवृत्ति करता है तो किसी-न-किसी प्रकार की विघ्नबाधाएं उपस्थित होती रहती हैं । उन बाधाओं को देखकर बहुत से व्यक्ति घबरा उठते हैं । घबरा कर दूसरों को दोषी ठहराते हैं । एक दूसरे के दुश्मन तक बन जाते हैं । कभी-कभी इतने चंचल हो जाते हैं कि प्रारम्भ किये हुए कार्यों को भी छोड़ बैठते हैं । शक्ति और संतुलन को खो देते हैं ।

इस बिगड़ती हुई स्थिति को सुलझाने के लिये एक ऐसे गुरु–नायक की आवश्यकता होती है जो उनकी प्रज्ञा पर आये हुए आवरण को अनावृत कर उपस्थित होने वाले विघ्न का मूल कारण क्या है ? इसका यथार्थ समाधान प्रस्तुत कर सके ।

उस स्थिति को सुलझाने वाला गुरुस्थानीय कर्मसिद्धान्त के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता । वह मानव में यह सोचने की क्षमता उत्पन्न करता है कि मेरे विघ्न का कारण बाह्य नहीं हो सकता । कुछ-न-कुछ अन्तरंग कारण ही है ।

जिस स्थान पर वृक्ष लहलहाया है, वहीं उसका बीज भी होना चाहिये। बिना बीज वपन किये वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसी प्रकार विघ्न का भी मूल कारण बाह्य नहीं, अपितु मेरे ही कार्यों की परिणति है। व्यक्ति जिस प्रकार के बीज का वपन करेगा, फल भी तदनुरूप ही प्राप्त होगा। अफीम का बीज बोने से अफीम ही पैदा होगी तथा गन्ने का बीज बोने से गन्ना ही मिलेगा। अफीम के वपन से गन्ना या गन्ने के वपन से अफीम नहीं मिल सकता। उसी प्रकार व्यक्ति जिस प्रकार का कार्य करेगा, उसका फल भी तदनुरूप ही प्राप्त होगा । पुण्य कर्म से शुभ फल एवं पाप कर्म से अशुभ फल ही प्राप्त होगा । जो कुछ भी सुख-दुःख की अनुभूति मानव को होती है, वह स्वकृत शुभाशुभ कर्मों से ही होती है । उपादानकारण स्वयं का होता है, निमित्त के रूप में दूसरा कोई भी हो सकता है । यह शिक्षा कर्मसिद्धान्त से मानव को मिल सकती है, बशर्ते कि कर्मसिद्धान्त का मार्मिक विज्ञाता परम योगी कोई गुरु हो । जो मानव को बड़ी-बड़ी आपत्तियों का भी हँस-हँसकर झेलना सिखाता है। व्यावहारिक स्तर पर नैतिकता का क्या मूल्यांकन है, कर्मसिद्धान्त उसकी महत्त्वपूर्ण शिक्षा देता है। विघ्न और संघर्ष के अंकुर को ही उखाड़ फैंकता है। आंधी और तूफान में हिमालय की तरह मानव को हर परिस्थितियों में स्थिर रहना सिखा देता है । अतीत के जीवन को स्मृति पर उभार कर अनागत के जीवन को परिष्कृत करने की प्रेरणा देता है ।

यह महत्वपूर्ण शिक्षा मानव को कर्मसिद्धान्त के बिना नहीं मिल सकती। आज मानव में नैतिकता, धीरता, पापभीरुता की यत्किंचित भी झलक मिल रही है, वह सब कर्मवाद का ही सुफल है।

कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता के विषय में डॉक्टर मेक्समूलर का दृष्टिकोण भी जानने योग्य है—"यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मनुष्य जीवन में बेहद हुआ है, यदि किसी मनुष्य को मालूम पड़े कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्तभाव से इस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्य के लिये नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है, तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप-ही-आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थशास्त्र का बल–संरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है । दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नहीं होता । किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तित्व के संबंध में कितनी ही शंका क्यों न हो पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सब से अधिक जगह माना गया है । उससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं और उसी मत से मनुष्य को वर्तमान संकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्य जीवन को सुधारने में उत्तेजन मिला है।"

कर्ममुक्ति का उपाय

संसारी आत्माएं अनादि काल से कर्म से संबद्ध ही चली आ रही हैं। कर्म आत्मा का वैभाविक रूप है। प्रयत्नविशेष से उन कर्मों को विलग भी किया जा सकता है।

वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में कर्म से मुक्ति पाने के लिये तीन उपाय बतलाये हैं—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्ष का मार्ग है अर्थात् इनकी पूर्ण आराधना करने वाला जीव कर्मों से पूर्ण मुक्त हो जाता है । जैन वाङमय में इन्हीं को रत्नत्रय के नाम से प्रतिपादित किया जाता है।

संक्षिप्त रूप में कर्ममुक्ति के दो उपाय बतलाए जा सकते हैं। यथा--

ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।

ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है। स्थूलदृष्टि से दर्शन को ज्ञान-स्वरूप मानकर सम्यग्दर्शन का ज्ञान में समावेश कर दिया जाता है।

जैनदर्शन में प्रतिपादित कर्ममुक्ति के दो अथवा तीन मार्गों को जैनेतर दर्शनों में प्रकारान्तर से स्वीकार किया गया है। यथा--

वैदिकदर्शन में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारों को कर्ममुक्ति का साधन माना है। सम्यक्चारित्र में कर्म और योग दोनों ही मार्गों का समावेश हो जाता है। क्योंकि सम्यक् चारित्र में मनोनिग्रह, इन्द्रियजय, चित्तशुद्धि, समभाव आदि का समावेश हो जाता है। कर्ममार्ग में मनोनिग्रह, इन्द्रियजय आदि सात्विक यज्ञ आते हैं तथा योगमार्ग में चित्तशुद्धि के लिये की जाने वाली सत् प्रवृत्ति आती है। अतः कर्ममार्ग और योगमार्ग का समावेश सम्यक्चारित्र में हो जाता है। भक्ति में श्रद्धा की प्रधानता होने से भक्तिमार्ग का सम्यग्दर्शन में समावेश होता है। ज्ञानमार्ग का सम्यग्ज्ञान में समावेश हो जाता है।

इस प्रकार जैनदर्शन में प्रतिपादित मुक्ति के उपायों में अन्य दर्शनों द्वारा प्रतिपादित मुक्तिप्रापक साधनों का भी समावेश हो जाता है।

कर्मसिद्धान्त और श्वेताम्बर, दिगम्बर परंपरा

भगवान महावीर की शासनपरंपरा प्रभु के निर्वाण होने के बाद ६०९ वर्ष तक तो व्यवस्थित रूप से चलती रही। तदनन्तर वह शासनपरंपरा दिगम्बर और श्वेताम्बर दो परंपराओं के रूप में विभाजित हो गई। इस प्रकार शासन का विभागीकरण हो जाने से सिद्धान्तों में भी अनेकों स्थलों पर परिवर्तन हुआ। कुछ मनकल्पित सिद्धान्त भी बना लिये गये। यद्यपि कर्मसिद्धान्त में मौलिक रूप से कोई विशेष मतभेद दिखलाई नहीं देता है। विशेषतः पारिभाषिक शब्दों में तथा इनकी व्याख्याओं में मतभेद मिलता है।

यदि दोनों ही परम्पराओं के कर्मसिद्धान्त के अधिकृत विद्वान् मिलकर चर्चा करते तो संभव है कर्मवाद विषयक मतभेद तो समाप्त हो जाता, किन्तु परंपरा का व्यामोह समझिये या और कुछ कारण, वैसा नहीं हो सका। मतभेद इसी रूप में बना रहा।

यद्यपि आग्रायणीय पूर्व से कर्मसिद्धान्त का उद्भव हुआ, यह बात दोनों ही परंपराएं समान रूप से स्वीकार करती हैं, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि एवं कुछएक मध्यस्थ दिगम्बर विद्वानों के विचारानुसार यही कहा जाता है कि श्वेताम्बर वाङमय वीतराग देव की वाणी से अति निकट है। इतिहासपुरुष पं. सुखलालजी ने भी एक स्थल पर ऐसा ही लिखा है "सचेल दल का श्रुत अचेल दल के श्रुत की अपेक्षा इस मूल अंगश्रुत से अति निकट है।"[1]

१-प्रभु महावीर के निर्वाण होने के लगभग ६०९ वर्ष बाद आर्यकृष्ण के शिवभूति नामक शिष्य हुए थे। कुछ बातों पर इनका मतभेद हो गया था, वे वस्त्र रखने मात्र को भी परिग्रह मान बैठे थे। जबकि ग्रहण करना मात्र परिग्रह नहीं है। उभय परंपरा को मान्य तत्त्वार्थसूत्र में परिग्रह की व्याख्या मूर्च्छा की गई है। मात्र वस्त्रादि ग्रहण करने को परिग्रह नहीं कहा है। किन्तु आग्रह की प्रबलता के कारण गुरु के बहुत समझाने पर भी नहीं माने और निर्वस्त्र होकर निकल पड़े। अपनी आग्रह-वृत्ति के अनुरूप नवीन सिद्धान्तों का प्रणयन किया। इनके कोन्डिय और कोट्टवीर दो शिष्य हुए थे। इसके बाद इनकी परंपरा चल पड़ी। दिशा ही इनका अम्बर होने से इन्हें 'दिगम्बर' नाम से पुकारा जाने लगा। भगवान महावीर से जो परंपरा चली आ रही थी, इनके श्वेत वस्त्र होने से वह परंपरा 'श्वेताम्बर' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

भगवान महावीर से लेकर अब तक कर्मसिद्धान्त विषयक विपुल साहित्य संकलित हुआ है । इस संकलन का भाव और भाषा की दृष्टि से विभाग किया जाये तो स्थूलदृष्टि से तीन विभाग हो सकते हैं--

१. पूर्वात्मक कर्मशास्त्र,
२. पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र (आकररूप कर्मग्रन्थ),
३. प्राकरणिक कर्मशास्त्र ।

पूर्वात्मक कर्मशास्त्र--यह विभाग कर्मशास्त्र का बहुत विस्तृत, गहन, व्यापक एवं सबसे पहला है । क्योंकि इसका सम्बन्ध दृष्टिवाद के अन्तर्गत १४ पूर्वों में से आठवें कर्मप्रवाद नामक पूर्व से तथा आग्रायणीय पूर्व के कर्म-प्राभृत से रहा है । पूर्वविद्या का अस्तित्व भगवान महावीर के निर्वाण होने के बाद ९०० या १००० वर्ष तक क्रमिक ह्रास के रूप में चलता रहा । इस समय में पूर्वात्मक कर्मशास्त्र मूलरूप में विलुप्त हो चुका है । दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परंपरा के पास में पूर्वात्मक कर्मशास्त्र की मूलतः स्थिति विद्यमान नहीं है ।

पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र--यह विभाग पूर्व विभाग से बहुत लघु है, तथापि वर्तमान अध्यगनार्थियों के लिये तो इतना बड़ा है कि इसे आकर कर्मशास्त्र कहा जाता है । इसका संबंध साक्षात पूर्वों से है, ऐसा कथन दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परंपराओं में मिलता है । यह पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र आंशिक रूप में दोनों ही परंपराओं के पास मिलता है । किन्तु उद्धार के समय साम्प्रदायिक भेद के कारण नामकरण में कुछ भिन्नता आ गई है । श्वेताम्बर परंपरा में १ कर्मप्रकृति, २ शतक, ३ पंचसंग्रह, ४ सप्ततिका, मुख्यतः ये चार ग्रन्थ और दिगम्बर परंपरा में मुख्यतः महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, कषायप्राभृत, ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं ।

प्राकरणिक कर्मशास्त्र--इस विभाग में कर्मसिद्धान्त के छोटे-बड़े अनेक प्रकरण संकलित किये गए हैं । इस समय इन्हीं प्रकरण ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन विशेष रूप से प्रचलित है । इन प्राकरणिक कर्मशास्त्रों की रचना विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में हुई थी । कर्मसिद्धान्त के अध्येता को सर्वप्रथम प्राकरणिक कर्मशास्त्रों का अध्ययन करना होता है । प्राकरणिक कर्मशास्त्रों का अध्ययन करने के बाद मेधावी अध्ययनार्थी आकर ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं ।

भाषा--कर्मशास्त्र की व्याख्या मुख्यतः तीन भाषाओं में हुई है--१ प्राकृत, २ संस्कृत और ३ प्रादेशिक ।

प्राकृतभाषा--पूर्वात्मक तथा पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र का प्रणयन प्राकृतभाषा में ही हुआ है । प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी बहुल भाग इस भाषा में रचित है । कई मूलग्रन्थों की टीका, टिप्पणी भी प्राकृत भाषा में मिलती है ।

संस्कृतभाषा--प्राचीन युग के कर्मशास्त्र तो प्राकृतभाषा में बनाये गये थे, किन्तु बाद में जब संस्कृतभाषा का प्रचार-प्रसार बहुत अधिक होने लगा, जनमानस की रुचि भी जब संस्कृत की ओर बढ़ने लगी, उस समय जनता के सुखावबोध के लिये कर्मशास्त्रों के टीका-टिप्पण आदि विद्वानों द्वारा संस्कृत में लिखे गये । कई मूल प्राकरणिक कर्मशास्त्र भी दोनों संप्रदायों में संस्कृत भाषा में लिखे हुए मिलते हैं ।

प्रादेशिकभाषा--जिस प्रदेश में जो भाषा प्रचलित होती है, इस प्रदेश की जनता को कर्मशास्त्र का ज्ञान कराने के लिये कर्मशास्त्रज्ञों ने इन भाषाओं का भी यथास्थान उपयोग किया है । मुख्यतया--१ कर्नाटकी, २ गुजराती और ३ राजस्थानी-हिन्दी । इन तीन भाषाओं में कर्मसिद्धान्त का लेखन हुआ है । इन भाषाओं का अधिकतर उपयोग मूल और टीका के अनुवाद में किया गया है । विशेषकर प्राकरणिक कर्मशास्त्र के मूल टीका-टिप्पण के अनुवाद में इन भाषाओं का प्रयोग किया गया है । प्रायः कर्णाटकी और हिन्दी भाषा का उपयोग दिगम्बर साहित्य में और गुजराती भाषा का उपयोग श्वेताम्बर साहित्य में हुआ है ।

जैन कर्मसाहित्य और साहित्यकार

कर्मसिद्धान्त पर पर्याप्त साहित्य उपलब्ध होता है। दोनों ही परंपराओं में कर्मसिद्धान्त में निष्णात अनेक आचार्य हुए हैं। उन्होंने अपनी विचक्षण प्रज्ञा से कर्मसिद्धान्त के रहस्यों को समुद्घाटित करने का प्रयास किया है। संस्कृत, प्राकृत एवं लोक भाषाओं में अनेक ग्रन्थ तथा इन पर टीका, टब्बा, चूर्णि आदि का प्रणयन किया है। दोनों ही परंपरा के आचार्यों ने निष्पक्ष भाव से कई सैद्धान्तिक स्थलों पर एक दूसरे के भावों को समझकर अपने ग्रन्थों में उन विचारों को स्थान भी दिया है। इसलिये दोनों ही परंपराओं में कई ग्रन्थ ऐसे भी विद्यमान हैं, जो नाम और वर्ण्य विषय की दृष्टि से समान स्तर के हैं।

श्वेताम्बर परंपरा के कर्म साहित्य को समृद्ध करने वाले साहित्यकारों के कुछ एक नाम निम्न हैं--

१. शिवशर्मसूरि, २. चूर्णिकार आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर, ३. श्री गर्गर्षि, ४. नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि ५. श्री चन्द्रसूरि, ६. मलधारी हेमचन्द्राचार्य, ७, श्री चक्रेश्वरसूरि ८. श्री परमानन्दसूरि, ९. श्री धनेश्वराचार्य १०. श्री जिनवल्लभसूरि, ११. आचार्य मलयगिरि, १२. श्री यशोदेवसूरि, १३. श्री हरिभद्रसूरि, १४. रामदेवसूरि, १५. आचार्य देवेन्द्रसूरि, १६. श्री उदयप्रभसूरि १७. श्री गुणरत्नसूरि, १८. श्री मुनिशेखर, १९. श्री जयतिलकसूरि, २०. उपाध्याय यशोविजयजी आदि।

दिगम्बर परम्परा में कर्मसाहित्य को गौरवशाली बनाने वाले आचार्य निम्न थे--- १. श्री पुष्पदंताचार्य २. आचार्य भूतबलि, ३. कुन्दकुन्दाचार्य, ४. स्वामी समन्तभद्र, ५. गुणधराचार्य, ६. वृषभाचार्य, ७. वीरसेनाचार्य, ८. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती।

वर्तमान में विद्यमान कर्मग्रन्थों का और जो विद्यमान नहीं हैं, तथापि जिनके अस्तित्व का अन्य ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है, उन सबका रचनाकाल विक्रम की २री, ३री शताब्दी से लेकर २०वीं शताब्दी तक का है। इस समय रचित मूल ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं---

कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह, प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ, सार्द्धशतक, नवीन पंच कर्मग्रन्थ, मनःस्थिरीकरण प्रकरण, संस्कृत कर्मग्रन्थ (चार), कर्मप्रकृति द्वात्रिंशिका, भावकरण, बंधहेतूदयत्रिभंगी, बंधोदयसत्ताप्रकरण, कर्म-संवेधअंगप्रकरण, भूयस्कारादिविचार, संक्रमकरण, महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, कषायप्राभृत, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, पंचसंग्रह आदि।

इन ग्रन्थों पर भाष्य, वृत्ति, टिप्पण, अवचूरि, बालावबोध आदि व्याख्या साहित्य भी रचा गया है। इन सब ग्रन्थों का ग्रन्थमान लगभग सात लाख श्लोक प्रमाण होता है।

कर्मसाहित्य का आंशिक परिचय

रचनाकाल की प्राचीनता के क्रम से कर्मसाहित्य का आंशिक परिचय इस प्रकार है--

महाकर्मप्रकृतिप्राभृत--इस ग्रन्थ का रचना काल संभवत विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी है। इसके रचयिता पुष्पदन्त और भूतबलि हैं। ग्रन्थ ३६,००० श्लोक प्रमाण है। शौरसैनी प्राकृत भाषा में इसकी रचना हुई है। इसे कर्मप्राभृत भी कहा जाता है।

श्वेताम्बर साहित्य में जिस प्रकार आचारांग सूत्र आदि आगम रूप में मान्य हैं इसी प्रकार दिगम्बर साहित्य में कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत को आगम रूप में माना गया है। इस ग्रन्थ में कर्म विषयक चर्चा होने से इसे कर्मप्राभृत किंवा महाकर्मप्रकृति कहा गया है। कर्मतत्त्व की विमर्शना के साथ ही इस ग्रन्थ में सैद्धान्तिक विवेचन होने से आगम, सिद्धान्त एवं परमागमखंड के नाम से भी इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि है। ग्रन्थ में षट् खण्ड होने से इस ग्रन्थ को षट्खंडागम और षटखण्डसिद्धान्त भी कहा जाता है।

षट खण्डों के नाम--- १. जीवस्थान, २. क्षुद्रकबंध, ३. बंधस्वामित्व, ४. वेदना, ५. वर्गणा, ६. महाबंध। इन षट खण्डों के भी अनेक उपखण्ड हैं। महाबंध नामक खण्ड सब से बड़ा ३०,००० श्लोक प्रमाण है। इसमें प्रकृत्यादि चतुष्टय का सविस्तृत विवेचन मिलता है। इसकी प्रसिद्धि "महाधवल" नाम से भी है।

इस ग्रन्थ पर अनेक व्याख्याग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। उनमें वीरसेनाचार्य विरचित प्राकृत-संस्कृतसंयुक्त विशालकाय टीका महत्त्वपूर्ण है, जिसे धवला टीका कहा जाता है। अनेक अनुपलब्ध व्याख्या ग्रंथों के नाम इन्द्र-नन्द्रिकृत श्रुतावतार में मिलते हैं, जो निम्न प्रकार हैं---

१. कुन्दकुन्दकृत परिकर्म, २. शामकुण्डकृत पद्धति, ३. तुम्बुलूरकृत चूड़ामणिपंजिका, ४. समन्तभद्रकृत टीका, ५. बप्पदेवकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति।

इस ग्रन्थ का उद्गमस्थान दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगान्तर्गत चौदह पूर्वों में से आग्रायणीय पूर्व माना जाता है।

आचार्य पुष्पदन्त ने १७७ सूत्रों में सत्प्ररूपणा अंश तक और आचार्य भूतबलि ने ६००० सूत्रों में अवशेष ग्रन्थ की समाप्ति की है

कषायप्राभृत---इसके रचयिता आचार्य गुणधर हैं। इसका अपरनाम पेज्जदोषपाहुड और पेज्जदोष प्राभृत भी है। पेज्ज-प्रेम (राग) दोस-दोष (द्वेष)।

प्रस्तुत ग्रंथ में राग-द्वेष अर्थात् क्रोधादिक चार कषायों का विश्लेषण किया गया है। अतः दोनों अपर नाम भी सार्थक हैं। प्रतिपादन शैली अति गूढ़, संक्षिप्त तथा सूत्रात्मक है। रचना-काल संभवतः विक्रम की तीसरी शताब्दी है। ग्रन्थ में २७७ गाथाएं हैं। इसका उद्गमस्थान दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगान्तर्गत ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्व की दसवीं वस्तु का 'पेज्जदोष' नामक तीसरा प्राभृत माना गया है।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार ग्रन्थ द्वारा कषायप्राभृत ग्रन्थ पर निम्न टीकाएं लिखी गई हैं, ऐसा जाना जाता है---

१. आचार्य यतिवृषभकृत चूर्णि सूत्र,
२. उच्चारणाचार्यकृत उच्चारणावृत्ति या मूल उच्चारणा,
३. आचार्य शामकुण्डकृत पद्धति टीका,
४. तुम्बुलूराचार्यकृत चूड़ामणि व्याख्या,
५. बप्पदेवकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति वृति,
६. आचार्य वीरसेन-जिनसेनकृत जयधवला टीका।

उपर्युक्त व्याख्या ग्रन्थों में से प्रथम और अन्तिम व्याख्या ग्रन्थ विद्यमान हैं। यतिवृषभकृत चूर्णि का ग्रन्थ-मान ७००० श्लोक प्रमाण है। आचार्य वीरसेन-जिनसेनकृत जयधवला टीका कषायप्राभृत की मूल और चूर्णि पर लिखी गई है। इसका प्रमाण ६०००० (साठ हजार) श्लोक है। २०००० श्लोकप्रमाण व्याख्या आचार्य जिनसेन कृत है, उनके दिवंगत हो जाने से अवशेष ४०००० चालीस हजार श्लोकप्रमाण व्याख्या इन्हीं के शिष्य वीरसेन कृत है। इसकी रचना शक संवत् ७७५, फाल्गुन मास, शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को वाटग्रामपुर में राजा अमोघवर्ष के राज्यकाल में हुई थी।

कर्मप्रकृति---इस ग्रन्थ का परिचय स्वतन्त्र अभिलेख में दिया जाएगा।

इसका रचनाकाल विक्रम की पांचवीं शताब्दी संभावित है। पांचवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी पर्यन्त---पांच सौ वर्षों में कोई नया आकर ग्रन्थ या प्राकरणिक विभागों में नये ग्रन्थों का लेखन हुआ हो, ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। टीका ग्रन्थों के रूप में अनेक आचार्यों ने व्याख्या ग्रंथ का प्रणयन इस काल में किया

है, ऐसा प्रमाण मिलता है। तदनन्तर नये ग्रन्थों का आविष्करण हुआ, जिन का समावेश प्राकरणिक ग्रन्थों में होता है।

पंचसंग्रह—इस ग्रन्थ के प्रणयनकर्ता आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर थे। इनके गच्छ आदि का विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं होता। इस ग्रन्थ में आचार्य मलयगिरि विरचित वृत्ति के अनुसार पाँच द्वारों का वर्णन मिलता है, जिनके निम्न नाम हैं—

१. शतक, २. सप्ततिका, ३. कषायप्राभृत, ४. सत्कर्म और ५. कर्मप्रकृति। इनका समय नौवीं या दसवीं शताब्दी संभवित है।

इस ग्रन्थ में लगभग १००० गाथाएं हैं। जिनमें योग, उपयोग, गुणस्थान, कर्मबन्ध, बंधहेतु, उदय, सत्ता, बंधनादि आठ करणों का विवेचन किया गया है। स्वोपज्ञ वृत्ति के अतिरिक्त आचार्य मलयगिरि ने १८८५० (अठारह हजार आठ सौ पचास) श्लोक प्रमाण एवं आचार्य वामदेव ने २५०० श्लोक प्रमाण दीपक नामक टीका ग्रन्थों की भी रचना की है।

दिगम्बराचार्य अमितगति ने पंचसंग्रह नामक संस्कृत में गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थ की रचना की है। जिसका समय वि. सं. १०७३ का है। यह ग्रन्थ गोम्मटसार का संस्कृत रूपान्तरण जैसा प्रतीत होता है। इसमें पाँच प्रकरण हैं। जिनकी श्लोक संख्या कुल १४५६ प्रमाण है। १००० श्लोक प्रमाण गद्यभाग है।

प्राकृत में भी पंचसंग्रह का प्रणयन हुआ है। ग्रन्थकार का नाम, भाष्यकार का नाम, समय आदि अज्ञात है। इसमें गाथाएं १३२४ हैं। गद्यभाग ५०० श्लोक प्रमाण है।

प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ—देवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रन्थ नवीन संज्ञा में अभिव्यंजित किये जाते हैं, क्योंकि इनके आधारभूत प्राचीन कर्मग्रन्थ हैं। जिनकी रचना भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा हुई है। समय भी भिन्न-भिन्न है। इन प्राचीन कर्मग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

१. कर्मविपाक, २. कर्मस्तव, ३. बंधस्वामित्व, ४. षडशीति, ५. शतक, ६. सप्ततिका।

कर्मविपाक—इसके कर्ता गर्गर्षि हैं। इनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी संभवित है। १६८ गाथाएं ग्रन्थ में हैं। इस पर ३ [तीन] टीकाएं लिखी गई हैं। परमानन्दसूरिकृत वृत्ति, उदयप्रभसूरिकृत टिप्पण, एक अज्ञातकर्तृक व्याख्या। इन टीका ग्रन्थों का प्रमाण क्रमशः १२२, १००० तथा ५२० श्लोक है। इनका रचना काल विक्रम की बारहवीं, तेरहवीं शताब्दी संभवित है।

कर्मस्तव—इस ग्रन्थ के कर्ता अज्ञात हैं, ५७ गाथाएं हैं। इस पर एक भाष्य और दो टीकाएं लिखी गई हैं। भाष्यकारों के नाम भी अज्ञात हैं। भाष्यप्रमाण क्रमशः २४ और ३२ गाथा प्रमाण है। टीकाएं—एक टीका तो गोविन्दाचार्यकृत १०९० श्लोकप्रमाण है। दूसरी टीका उदयप्रभसूरि कृत टिप्पण के रूप में २९२ श्लोक-प्रमाण है।

बंधस्वामित्व—इसके कर्ता भी अज्ञात हैं। यह ग्रन्थ ५४ श्लोकप्रमाण है। हरिभद्रसूरिकृत वृति ५६० श्लोक-प्रमाण है। जिसका रचना काल संवत् ११७२ का है।

षडशीति—इसके निर्माता जिनवल्लभगणि हैं। रचनाकाल विक्रम की बारहवीं शताब्दी है। गाथा संख्या ८६ है। इस पर दो अज्ञातकर्तृक भाष्य तथा अनेक टीकाओं का प्रणयन हुआ है। टीकाकारों के रूप में हरिभद्रसूरि और मलयगिरि की प्रसिद्धि है। इनकी टीकाएं क्रमशः ८५० और २१४० श्लोकप्रमाण हैं।

शतक––इस ग्रन्थ के कर्ता शिवशर्मसूरि हैं। इस पर तीन भाष्य, एक चूर्णि और तीन टीकाएं रचित हैं। दो भाष्य तो लघु हैं, बृहद् भाष्य के कर्ता चक्रेश्वरसूरि हैं। चूर्णिकार का नाम अज्ञात है। तीन टीकाएं मलधारी हेमचन्द्र, उदयप्रभसूरि एवं गुणरत्नसूरि द्वारा रची गई हैं।

सप्ततिका––इस ग्रन्थ के कर्ता अज्ञात हैं। प्रचलित परम्परानुसार चन्द्रर्षिमहत्तर माने जाते हैं। शिवशर्मसूरि को भी इसके रचयिता मानने की संभावना भी अभिव्यक्त होती है। मूल ग्रन्थ में ७५ गाथाएं हैं। इस पर अभयदेवसूरि कृत भाष्य, अज्ञातकर्तृक चूर्णि, चन्द्रर्षिमहत्तर कृत प्राकृतवृत्ति, मलयगिरिकृत टीका, मेरुतुंगसूरिकृत भाष्यवृत्ति, कामदेवकृत टिप्पण और गुणरत्नसूरिकृत अवचूरि है। प्रकाशित भाष्यमान क्रमशः १९१, ३७८० श्लोकप्रमाण है।

गोम्मटसार––इसके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। इसका जीवकांड और कर्मकांड के रूप में विभक्तिकरण है। जीवकांड में ७३३ और कर्मकांड में ९७२ गाथायें हैं। कुल १७०५ गाथाएं हैं। इसका रचनाकाल विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी है।

जीवकांड में जीवस्थान, क्षुद्रबंध, बंधस्वामी, वेदनाखंड और वर्गणाखंड, इन पांच विषयों पर विवेचन किया गया है। जीवस्थान, गुणस्थान, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा, उपयोग, इन बीस अधिकारों के द्वारा जीव की विविध अवस्थाओं का विवेचन किया गया है।

कर्मकाण्ड में कर्म सम्बन्धी निम्नांकित ९ (नौ) प्रकरण प्रतिपादित हैं–– १. प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २. बंधोदयसत्व, ३. सत्वस्थानभंग, ४. त्रिचूलिका, ५. स्थानसमुत्कीर्तन, ६. भावचूलिका, ८. त्रिकरणचूलिका, ९. कर्मस्थितिरचना।

इस पर चामुण्डरायकृत कन्नड़ टीका है। इसी के आधार पर केशववर्णी द्वारा संस्कृत टीका का प्रणयन किया गया है। मंदप्रबोधिनी नामक टीका अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकृत है। उपर्युक्त दोनों टीकाओं के आधार पर पं. टोडरमल्ल द्वारा सम्यक्ज्ञानचन्द्रिका नामक हिन्दी व्याख्या लिखी गई।

लब्धिसार––इसके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। गोम्मटसार में जीव और कर्म पर विवेचन लिखा गया है। अतः इसमें कर्ममुक्ति के उपायों को (अपने दृष्टिकोण से) बतलाया है। इसमें ६४९ गाथाएं है। जिसमें २६१ गाथाएं क्षपणासार की हैं। दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि और क्षायिकचारित्र––इन तीन प्रकरणों द्वारा इसका विवेचन किया गया है। दर्शनलब्धि प्रकरण में १. क्षयोपशमलब्धि २. विशुद्धलब्धि ३. देशनालब्धि ४. प्रायोग्यलब्धि ५. करणलब्धि, इन पांचों लब्धियों का तथा चारित्रलब्धि प्रकरण में देशचारित्र और सकलचारित्र का विवेचन किया गया है। क्षायिकचारित्र (क्षपणासार) में चारित्रमोह की क्षपणा का सविस्तृत विवेचन किया है। तत्सम्बन्धित अन्य विषयों पर भी विवेचन मिलता है।

इस पर केशववर्णी ने संस्कृत में और पं. टोडरमल्ल द्वारा हिन्दी में व्याख्या की गई है। पं. टोडरमल्ल की व्याख्या चारित्रलब्धि प्रकरण तक संस्कृत टीकानुसार एवं क्षायिकचारित्र (क्षपणासार) की व्याख्या माधवचन्द्र-कृत गद्यात्मक व्याख्यानुसार मिलती है।

सार्धशतक––इसके रचयिता अभयदेवसूरि के शिष्य जिनवल्लभसूरि हैं। इसमें १५५ गाथाएं हैं। इस पर अज्ञात-कर्तृक भाष्य, चन्द्रसूरिकृत चूर्णि, चक्रेश्वरसूरिकृत प्राकृत वृत्ति, धनेश्वरसूरिकृत टीका, अज्ञातकर्तृक वृत्ति, टिप्पण आदि का प्रणयन हुआ है।

नवीन कर्मग्रन्थ

प्राचीन पंच कर्मग्रन्थों के आधार पर देवेन्द्रसूरि ने नवीन पंच कर्मग्रन्थों का प्रणयन किया है। प्राचीन कर्मग्रन्थों का सार देते हुए किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर नवीन विषय भी विवेचित किये हैं। नामकरण एवं भाषा में भी प्राचीन कर्मग्रन्थों का अनुसरण किया गया है। गाथाओं की रचना आर्या छन्द में हुई है।

१. **कर्मविपाक**—इस ग्रन्थ में मुख्यतया कर्म की मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों के भेद, लक्षण एवं कर्मों के बंधने के हेतु आदि पर विचार किया गया है। इसमें ६० गाथाएं हैं।

२. **कर्मस्तव**—इसमें कर्म की चार अवस्थाओं—बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता का गुणस्थानों की दृष्टि से विवेचन किया गया है। किस गुणस्थान में कितनी कर्म प्रकृतियों का बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता है? उन्हें बतलाया गया है। इसमें ३४ गाथाएं हैं।

३. **बंधस्वामित्व**—मार्गणाओं के आधार पर गुणस्थानों का विवेचन किया गया है। किस मार्गणा में स्थित जीव की कर्मसम्बन्धी कितनी योग्यता है? गुणस्थान विभागानुसार कर्मबंध सम्बन्धी जीव की कितनी योग्यता है? इन विषयों पर विचार किया गया है। इसमें गाथाएं २५ हैं।

४. **षडशीति**—इसका अपर नाम 'सूक्ष्मार्थविचार' है। इसमें मुख्यतः तीन विषयों पर चर्चा की गई है—

१. जीवस्थान, २. मार्गणास्थान, ३. गुणस्थान। जीवस्थान में गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या और अल्प-बहुत्व, इन छह विषयों पर विवेचन किया गया है। गुणस्थान में जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बंधहेतु, बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता, अल्पबहुत्व, इन दस अधिकारों पर विचार किया गया है। जीवस्थान से प्राणियों के संसार-परिभ्रमण की विभिन्न अवस्थाओं का, मार्गणास्थान से जीवों के कर्मकृत स्वाभाविक भेदों का, गुणस्थान से आत्मा के उर्ध्वारोहण का क्रम बतलाया गया है। अन्ततः भाव और संख्या का विवेचन किया गया है। इसमें ८६ गाथाएं हैं।

५. **शतक**—इस ग्रन्थ के प्रारंभ में कर्म प्रकृतियों का वर्गीकरण करके ध्रुवबंधिनी आदि प्रकृतियां बतलाई गई हैं। तदनन्तर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बंध का सविस्तृत वर्णन दिया गया है। अन्त में उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि से जीव की आरोहण विधि बतलाई गई है।

इन पांच कर्मग्रन्थ पर ग्रन्थकार ने स्वोपज्ञटीका का प्रणयन किया है। तृतीय कर्मग्रन्थ की टीका नष्ट हो जाने से किसी आचार्य द्वारा अवचूरिटीका लिखकर इसकी पूर्ति की गई है।

कमलसंयम उपाध्याय द्वारा इन कर्मग्रन्थों पर लघु टीकाओं का भी प्रणयन हुआ है। हिन्दी और गुजराती में इन कर्मग्रन्थों के अनुवाद एवं विवेचन भी मिलते हैं।

भावप्रकरण—इसके रचयिता विजयवल्लभगणि हैं। ग्रन्थ में औपशमिक आदि भावों का वर्णन है। इसमें ३० गाथाएं एवं ३२५ श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञवृत्ति है।

बंधहेतूदयत्रिभंगी—यह हर्षकुलगणि कृत है, इसमें ६५ गाथाएं हैं। इस पर विक्रम संवत् १६०२ में वानरर्षि द्वारा ११५० श्लोक प्रमाण टीका लिखी गई है।

बंधोदयसत्ताप्रकरण—इसके रचयिता विजयविमलगणि हैं। इसमें २४ गाथाएं हैं। ३०० श्लोकप्रमाण स्वोपज्ञ अवचूरि है।

उपर्युक्त कर्मसाहित्य के अतिरिक्त आचार्य प्रेमसूरि एवं इनके शिष्यसमुदाय द्वारा कर्म-सम्बन्धी निम्न ग्रन्थों की स्वोपज्ञ टीकायुक्त रचना की गई है—

रसबंधो, ठियबंधो, पएसबंधो, खवगसेढी, उत्तरपयडीरसबंधो, उत्तरपयडीठियबंधो, उत्तरपयडीबंधो, उत्तर-पयडीपएसबंधो।

कर्मप्रकृति का सिंहावलोकन

प्रस्तुत ग्रंथ में जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त कर्मवाद की सविस्तृत विवेचना की गई है ।

ग्रन्थ का नामोल्लेख ग्रन्थकार द्वारा सत्ताप्रकरण की ५६ वीं गाथा में हुआ है । यथा—'इयकम्मपगडीओ ·····' इस कर्मप्रकृति ····· । इस ग्रन्थ का संकलन आग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के कर्मप्रकृति नामक प्राभृत से हुआ है । इसलिये इसका नामांकन भी कर्मप्रकृति प्रकरण रखा गया है । इसमें ४७५ गाथाएं हैं । यहाँ पर ग्रन्थ के विषयवर्णनक्रम और कर्ता आदि के विषय में कुछ विचार प्रस्तुत हैं ।

ग्रन्थकार ने मंगलाचरण के रूप में 'सिद्धं सिद्धत्थ सुयं ·····' गाथा के द्वारा अनन्त सिद्धों को तथा सिद्धार्थ-सुत (पुत्र) चरम तीर्थंकर भगवान महावीर आदि को नमस्कार किया है । तदनन्तर कर्म-सम्बंधी करणाष्टक और उदय, सत्ता के वर्णन करने का संकल्प लिया है ।

करणाष्टक—(१) बंधनकरण, (२) संक्रमणकरण, (३) उद्वर्तनाकरण, (४) अपवर्तनाकरण, (५) उदीरणाकरण, (६) उपशमनाकरण, (७) निधत्तिकरण, (८) निकाचनाकरण ।

बंधनकरण—आत्मा में योग और कषाय द्वारा सबसे पहले कर्मों का बंधन होता है, तदनन्तर बंधे हुए कर्मों में संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तना आदि प्रक्रियाएं होती हैं। इसलिये सर्वप्रथम बंधनकरण पर विचार किया गया है। कर्मपुद्गलों का जीवप्रदेश के साथ अग्नि एवं अयोगोलक (लोहपिण्ड) की तरह अन्योन्यानुगम-परस्पर संबंधित हो जाना या क्षीर-नीर की तरह मिल जाना बंध है ।[1]

अष्ट कर्मों का जिस वीर्यविशेष के द्वारा बंधन होता है, उसे बंधनकरण कहते हैं ।[2]

आत्मप्रदेशों के साथ कर्म वर्गणाओं का संबंध योग के द्वारा होता है । सलेश्यजीव की प्रवृत्तिविशेष को योग कहते हैं । ग्रन्थकार ने निम्नलिखित दस द्वारों से योग की विवेचना की है—१ अविभाग, २. वर्गणा, ३ स्पर्धक, ४ अन्तर, ५ स्थान, ६ अनन्तरोपनिधा, ७ परंपरोपनिधा, ८ वृद्धि, ९ समय, १० जीवाल्पबहुत्वप्ररूपणा ।

जीव के द्वारा योगशक्ति से ग्रहीत कर्मदलिकों में प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, प्रदेशबंध का बंधन एक साथ होता है, किन्तु उनका युगपद् वर्णन संभवित नहीं है, क्योंकि वाचाप्रवृति क्रमशः होती है। अतः सर्वप्रथम योग की प्रमुखता से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध का, ततश्च योगसहकारी लेश्याजनित अध्यवसाय से उत्पन्न रसबंध का और काषायिक अध्यवसायजनित स्थितिबंध का विवेचन किया गया है ।

प्रकृतिबंध प्रदेशबंध—के अन्तर्गत २६ वर्गणाओं का स्वरूप, स्नेहप्रत्ययस्पर्धक, नामप्रत्ययस्पर्धक, प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक का विवेचन, मूलोत्तर प्रकृतियों में दलिकविभाग, प्रदेशाल्पबहुत्व, साद्यादिप्ररूपणा का मुख्यतया विवेचन किया गया है ।

अनुभागबंध—अविभागादि प्ररूपणा, षटस्थानप्ररूपणा एवं उसके २४ अनुयोगद्वार, अनुभागस्थानों में जीवों को आश्रित करके अध्यवसायस्थानों में अनुभागस्थान आदि का विवेचन किया गया है ।

स्थितिबंध—स्थितिस्थान, संक्लेश-विशुद्धिस्थान, जघन्य-उत्कृष्ट कर्मप्रकृतियों की स्थिति, अबाधा आदि, निषेकप्ररूपणा, अबाधाकंडक आदि प्ररूपणा, स्थितिबंध-अध्यवसायस्थान प्ररूपणा में परंपरोपनिधादिप्ररूपणा, समुदाहारादि तथा स्थितिबंध में साद्यादिप्ररूपणा आदि का विवेचन किया गया है । इस प्रकार बंधनकरण में

---

(१) बंधो नाम कर्मपुद्गलानां जीवप्रदेशैः सह वह्नयःपिंडवदन्योऽन्यानुगमः ।

(२) बध्यतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तद्बन्धनं ।

प्रकृत्यादि चार विभागों के द्वारा जीव के साथ कर्मबंध की सूक्ष्म, गहन तथा सविस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस करण में १०२ गाथाएं हैं। करणाष्टक में सबसे बड़ा करण यही है।

संक्रमणकरण---कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ बंधन होने पर ही संक्रमण हो सकता है, अतः बंधनकरण के बाद संक्रमणकरण पर विचार किया गया है।

अन्य कर्म रूप में स्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशों का अन्य कर्म रूप से व्यवस्थापित कर देना संक्रम है।[१]

जिसके द्वारा अन्य प्रकृत्यादि रूप से कर्म पुद्गलों को व्यवस्थापित किया जाता है, उसे संक्रमणकरण कहते हैं।[२] यथा बध्यमान सातावेदनीय में अबध्यमान असातावेदनीय का, बध्यमान उच्चगोत्र में अबध्यमान नीचगोत्र का संक्रमण होना। बध्यमान मतिज्ञानावरणीय में बध्यमान श्रुतज्ञानावरणीय का संक्रमण होना।[३]

संक्रमणकरण की व्याख्या भी प्रकृतिसंक्रम, स्थितिसंक्रम, अनुभागसंक्रम और प्रदेशसंक्रम के द्वारा की गई है।

प्रकृतिसंक्रम के अन्दर संक्रम का लक्षण, तत्संबंधी अपवाद और नियम, पतद्ग्रह, साद्यनादिप्ररूपणा तथा उत्तरप्रकृतिसंक्रम एवं पतद्ग्रहस्थानों का वर्णन किया गया है।

स्थितिसंक्रम में स्थितिसंक्रम का भेद, विशेष लक्षण, उत्कृष्ट स्थितिसंक्रमपरिमाण, जघन्य स्थितिसंक्रम-परिमाण, साद्यनादिप्ररूपणा, जघन्योत्कृष्ट स्थितिसंक्रमस्वामित्वप्ररूपणा, इन छः अधिकारों पर विचार किया गया है।

अनुभागसंक्रम में अनुभागसंक्रम का भेद, विशेष लक्षण, स्पर्धक, उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम, जघन्य अनुभागसंक्रम, साद्यादि और स्वामित्व प्ररूपणा आदि का विवेचन किया गया है।

प्रदेशसंक्रम में प्रदेशसंक्रम का सामान्य लक्षण, भेद, साद्यादिप्ररूपणा, उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम, जघन्य प्रदेशसंक्रम, इन पांच द्वारों से वर्णन किया गया है।

उद्वर्तना-अपवर्तनाकरण---स्थिति और अनुभाग को बढ़ाना, उद्वर्तना है[४] और स्थिति और अनुभाग को कम करना अपवर्तना है।[५] जीव के वीर्यविशेष की जिस परिणति से स्थिति और अनुभाग बढ़ाये जाते हैं, उसे उद्वर्तनाकरण और जीव के वीर्यविशेष की जिस परिणति से स्थिति, अनुभाग कम किये जाते हैं, उसे अपवर्तनाकरण कहते हैं।[६]

प्रकृति और प्रदेश में उद्वर्तना-अपवर्तना न होने से इन दो करणों में स्थिति और अनुभाग ही होते हैं। इन दोनों करणों के व्याघात और निर्व्याघात रूप से दो भेद होते हैं।

उदीरणाकरण---अकालप्राप्त कर्मपुद्गलों का उदयावलिका में प्रवेश करना उदीरणा है।[७] जिस वीर्य-विशेष की परिणति से अकालप्राप्त कर्मदलिकों का उदयावलिका में प्रवेश होता है उसे उदीरणाकरण कहते हैं।[८]

---

१. संक्रमः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानामन्यकर्मरूपतया स्थितानामन्यकर्मस्वरूपेण व्यवस्थापनम्।

२. संक्रम्यतेऽन्यप्रकृत्यादिरूपतया व्यवस्थाप्यते येन तत्संक्रमणम्।

३- यथा---सातवेदनीये बध्यमाने असातवेदनीयस्य, उच्चैर्गोत्रे वा नीचैर्गोत्रस्य इत्यादि। बध्यमाने मतिज्ञानावरणीये बध्यमानमेव श्रुतज्ञानावरणं संक्रमयति।

४. स्थित्यनुभागयोर्बृहत्करणमुद्वर्तना।

५. तयोरेव ह्रस्वीकरणमपवर्तना।

६. उद्वर्त्यते प्राबल्येन प्रभूतीक्रियते स्थित्यादि यया जीववीर्यविशेषपरिणत्या सोद्वर्तना, अपवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते स्थित्यादि यया सा अपवर्तना।

७. कर्मपुद्गलानामकालप्राप्तानामुदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा।

८. अनुदयप्राप्तं सत्कर्मदलिकमुदीर्यत उदयावलिकायां प्रवेश्यते यया सा उदीरणा।

इसकी व्याख्या प्रकृतिउदीरणा, स्थितिउदीरणा, अनुभागउदीरणा और प्रदेशउदीरणा— इन चार प्रकार से की गई है ।

प्रकृतिउदीरणा की लक्षण, भेद, साद्यनादिप्ररूपणा, स्वामित्व, उदीरणास्थान और उसके स्वामित्व इन छः प्रकार से व्याख्या की गई है ।

स्थितिउदीरणा की लक्षण, भेद, साद्यनादि प्ररूपणा, अद्धाच्छेद, स्वामित्व, इन पाँच द्वारों से व्याख्या की गई है ।

अनुभागउदीरणा की संज्ञा, शुभाशुभप्ररूपणा, विपाकप्ररूपणा, प्रत्ययप्ररूपणा, साद्यनादिप्ररूपणा इन पांच द्वारों से विवेचना की गई है ।

प्रदेशउदीरणा की साद्यनादिप्ररूपणा और स्वामित्वप्ररूपणा से व्याख्या की गई है ।

उपशमनाकरण—कर्म पुद्गलों को उदय, उदीरणा, निधत्ति, निकाचनाकरण के अयोग्य रूप से व्यवस्थापित कर देना अर्थात् सर्वथा शांत कर देना उपशमना है ।[1]

जीव के जिस वीर्यविशेष की परिणति से कर्मपुद्गलों को उदय, उदीरणा, निधत्ति, निकाचना के अयोग्यरूप से व्यवस्थापित किया जाता है, उसे उपशमनाकरण कहते हैं ।[2]

इस करण की मुख्य रूप से आठ द्वारों द्वारा व्याख्या की गई है। आठ द्वारों के नाम इस प्रकार हैं—

१. सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा,	२. देशविरतिलाभप्ररूपणा,
३. सर्वविरतिलाभप्ररूपणा,	४. अनन्तानुबंधीविसंयोजना,
५. दर्शनमोहनीयक्षपणा,	६. दर्शनमोहनीयोपशमना,
७. चारित्रमोहनीयोपशमना,	८. देशोपशमना ।

निधत्तिकरण—कर्म पुद्गलों का उद्वर्तना, अपवर्तना करण को छोड़कर शेष करणों के अयोग्यरूप से व्यवस्थापित होना निधत्ति है ।[3]

जीव की जिस परिणति विशेष से कर्म पुद्गलों को उद्वर्तना–अपवर्तनाकरण से अतिरिक्त शेष करणों के अयोग्य रूप से व्यवस्थापित किया जाता है, उसे निधत्तिकरण कहते हैं ।[4]

निकाचनाकरण—कर्मपुद्गलों का सभी करणों के अयोग्य रूप से व्यवस्थापित होना निकाचना है ।[5]

जीव की जिस वीर्यविशेष की परिणति से कर्मपुद्गलों को अवश्य रूप से वेद्यमान-भोगने के रूप में निबंधित किया जाता है उसे निकाचनाकरण कहते हैं ।[6]

भेद और स्वामी की दृष्टि से तो निधत्ति और निकाचनाकरण देशोपशमना के समान हैं। किन्तु विशेषता यह है कि निधत्ति में संक्रमण नहीं होता और निकाचना में संक्रमण के साथ उद्वर्तना अपवर्तनादिकरण भी नहीं होते हैं ।

इस प्रकार से करणाष्टक की व्याख्या करने के बाद ग्रन्थ में उदय और सत्ता पर विचार किया गया है। उदय और सत्ता को करण नहीं कहा है, क्योंकि उदय स्वाभाविक रूप से बंधे हुए कर्मों की अबाधा पूर्ण होने पर प्रवृत्त होता है, उसमें करण की आवश्यकता नहीं रहती है । सत्ता भी बंधन और संक्रमण से स्वाभाविक होती है, अतः इसमें भी करण की आवश्यकता नहीं होती है ।

---

१. कर्मपुद्गलानामुदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापनमुपशमना ।
२. उपशम्यते उदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते कर्म यया सोपशमना ।
३. उद्वर्तनापवर्तनावर्ज शेषकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापनं निधत्ति ।
४. निधीयत उद्वर्तनापवर्तनावर्जकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते यया सा निधत्ति ।
५. समस्तकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापनं निकाचना ।
६. निकाच्यतेऽवश्यवेद्यतया व्यवस्थाप्यते कर्म जीवेन यया सा निकाचना ।

उदयावस्था—यथास्थितिबद्ध कर्मपुद्गलों का अबाधाकाल की पूर्णता से या अपवर्तनादिकरणविशेष से उदय-समय में प्राप्त का अनुभवन करना उदय है।[1]

उदय और उदीरणा में प्रकृतियों की अपेक्षा से अन्तर है। उदय की व्याख्या भी प्रकृत्युदय, स्थित्युदय, अनुभागोदय, प्रदेशोदय के द्वारा की गई है।

मुख्यतया इसमें मूलोत्तर प्रकृतियों की साद्यनादिप्ररूपणा गुणश्रेणिस्वरूप, जघन्योत्कृष्टप्रदेशोदय तथा उनके स्वामित्व पर विचार किया गया है।

सत्तावस्था—जिन कर्मपुद्गलों का अवस्थान जिस रूप में आत्मा के साथ है, उनका उसी रूप में जब तक अवस्थान रहता है, उसे सत्ता कहते हैं।[2]

सत्ता का भेद, साद्यादिप्ररूपणा और स्वामित्व द्वारा विचार किया गया है।

इस प्रकार कर्मप्रकृति में ग्रन्थकार ने करणाष्टक और उदय, सत्ता की व्याख्या करके अन्त में उपसंहार करते हुए इसका फल बतलाया है—

'कर्मप्रकृति का ज्ञान करने के साथ तदनुरूप कर्मक्षय की पद्धति को अपनाने से अलौकिक सुख की प्राप्ति होती है।'

प्रस्तुत ग्रन्थ पर एक प्राकृत चूर्णि और दो टीकाओं का प्रणयन हुआ है। चूर्णिकार का नाम अज्ञात है। चूर्णि का परिमाण सात हजार (७ हजार) श्लोक है। टीकाओं में एक सुप्रसिद्ध ख्यातिप्राप्त टीकाकार आचार्य मलयगिरि की है। उनकी टीका का प्रमाण आठ हजार (८ हजार) श्लोक प्रमाण है। दूसरे टीकाकार उपाध्याय यशोविजयजी हैं, इनकी टीका का प्रमाण (१३ हजार) तेरह हजार श्लोक प्रमाण है।

कर्मविषयक विभिन्न ग्रंथों का पूर्व में दिग्दर्शन करा चुके हैं। उन सब ग्रन्थों के साथ कर्मप्रकृति ग्रन्थ का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो ज्ञात होगा कि जिस सुन्दर तरीके से कर्मसिद्धान्त की गहन विवेचना इस ग्रन्थ में की गई है, उस तरह की विवेचना अन्य ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलती है। इसमें कर्म विषयक समग्र स्वरूप का आद्योपान्त विवेचन किया गया है। एक दृष्टि से इसे कर्मसिद्धान्त के ग्रन्थों का चूड़ामणि भी कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। महान् रत्नाकर की तरह इस ग्रन्थ में सुगमता से प्रवेश करने के लिये पूर्व में षटकर्मग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है।

---

१. कर्मपुद्गलानां यथास्थितिबद्धानामबाधाकालक्षयेणापवर्तानादिकरणविशेषतो वा उदयसमयप्राप्तानामनुभवनमुदयः।

२. निर्जरणसंक्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सति सद्भावः सत्ता।

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

अखिल विश्व में दो ही तत्त्व प्रधान हैं--जड़ एवं चेतन । इन दो तत्त्वों के संयोग से ही सृष्टि का निर्माण हुआ है । सांख्यदर्शन में जिन्हें प्रकृति और पुरुष के नाम से कहा जाता है, वेदान्तदर्शन में ब्रह्म और माया के नाम से कहा गया है तो जैनदर्शन में उन्हें जीव और अजीव के नाम से संबोधित किया जाता है । अजीव कर्मवर्गणा के पुद्गल जीवात्माओं द्वारा आकर्षित होकर कर्म के रूप में परिणत होते हैं । उन कर्मों के संयोग से ही अनन्तानन्त आत्माएं विभिन्न योनियों में विभिन्न रूपों में परिभ्रमण कर रही हैं ।

भगवान महावीर के 'एगे आया' (आत्मा एक है) सिद्धान्तानुसार तो चराचर विश्व की अनन्त-अनन्त आत्माएं एक समान हैं । उनके मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है । एकेन्द्रिय अवस्था में रहने वाली आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप पंचेन्द्रिय अवस्था में रहने वाली आत्मा का है । मौलिक स्वरूप में समानता होते हुए भी दृश्यमान विचित्र अवस्थाओं का मूल कारण कर्म ही है । कर्म के संयोग से ही आत्मायें विभिन्न रूपों में परिलक्षित हो रही हैं । संसारी आत्माएं कर्मों के विभिन्न संयोगों से विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करती रहती हैं । जैसे बाह्य रूप में मानव के वेश परिवर्तन करने मात्र से उसके अपने रूप में कोई अन्तर नहीं आता, उसी प्रकार कर्मों के संयोग से आत्मा के द्वारा विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करने मात्र से उसकी मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आता । अर्थात् कर्मों के साथ आत्मा का प्रगाढ़ संयोग होने पर भी आत्मा अनात्मा के रूप में परिवर्तित नहीं होती ।

जीवात्माओं की इन विविध भिन्नताओं में कर्म की अनादिता ही मूल कारण है । कर्म और आत्मा में यह बतलाना असंभव है कि कर्म पहले है या आत्मा । कर्म और आत्मा में से किसी को भी प्रथम कौन, नहीं कहा जा सकता है । स्वर्ण और मिट्टी के अनादि सम्बन्ध की तरह कर्म और आत्मा का सम्बन्ध भी अनादि काल से चला आ रहा है ।

जीव अपने पूर्वकृत कर्मों का परिभोग करता रहता है और नवीन कर्मों का बन्धन भी करता जाता है । कर्मबन्धन की यह प्रक्रिया अनादिकालीन होते हुए भी चैतन्यवान जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों को विलग कर अपने अमूर्त, निरंजन, निराकार, अनन्त सुख स्वरूप को प्रकट कर सकता है ।

आत्मा के इस अनन्त स्वरूप को प्रकट करने के लिये कर्मसिद्धान्त का ज्ञान करना आवश्यक है । कर्मों के विलगीकरण के बिना आत्मा की मुक्ति नहीं हो सकती । कहा है--'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि ।'

कर्मसिद्धान्त का सूक्ष्म एवं गहन ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ (कर्मप्रकृति) का चिन्तन, मनन के साथ अध्ययन अपेक्षित है ।

कर्मप्रकृति ग्रन्थ में करणाष्टक तथा उदय, सत्ता पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है । जिस वीर्य-विशेष के द्वारा आत्मा के साथ कर्मों का बन्धन हो, उसे करण कहते हैं ।

श्री शिवशर्मसूरि द्वारा प्रणीत इस कर्मप्रकृति नामक ग्रन्थ पर आचार्य मलयगिरि एवं उपा. यशोविजयजी ने अलग-अलग टीकाओं का प्रणयन किया है । इससे कर्मसिद्धान्त को समझने में कुछ सुविधा जरूर हुई, तथापि हिन्दी पाठकों के लिये ग्रन्थ दुर्बोध रहा । इसे सुबोध बनाने के लिये ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद एवं संपादन समताविभूति महामनीषी आचार्यप्रवर के सान्निध्य में किया गया । इससे ग्रन्थ की उपादेयता में और अधिक निखार आया है ।

आचार्यश्री की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा ने कई उलझन भरे जटिल एवं गहन विषयों को तर्कसंगत सहज एवं सरल तरीके से प्रस्तुत किया है । कुछ विषय तो ऐसे सामने आए जिनका प्रस्तुतीकरण आज तक नहीं बन पड़ा था ।

अगले पृष्ठों पर ग्रन्थकार एवं उभय टीकाकारों के साथ आचार्यश्री के जीवन पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है ।

ग्रन्थकार शिवशर्मसूरि

'कर्मप्रकृति' के रचयिता महान् आचार्य शिवशर्मसूरि हैं । आप जैनागमों में पारंगत तथा कर्मसिद्धान्त के विज्ञाता पूर्वधर आचार्य थे । कर्मसाहित्य को आपकी अपूर्व देन रही है। उत्तरवर्ती साहित्य प्रणेता विद्वान् महाशयों के विचारों से यह जाना जाता है कि आपने आग्रायणीय पूर्व से कर्मप्रकृति के अतिरिक्त शतक नामक कर्मग्रन्थ का भी प्रणयन किया है। जिसका नवीनता के परिप्रेक्ष्य में प्रणयन देवेन्द्रसूरि ने किया तथा उनका स्मरण करते हुए स्वोपज्ञटीका में आभार प्रदर्शित भी किया है। यथा—

आग्रायणीय पूर्वादुधृत्य परोपकार सारधिया, येनाभ्यधायि शतकः स जयति शिवशर्मसूरिश्वरः ।

इस प्रकार के उल्लेख से सूरिप्रवर की विद्वत्ता, प्रौढ़ता तथा पूर्वधर अवस्था का तो परिज्ञान होता है, किन्तु जन्म, दीक्षा, सूरिपद आदि के विषयों में कुछ भी जानकारी नहीं मिलती है।

साहित्य–अनुसन्धानकारों के द्वारा बहुत कुछ खोज करने पर भी अभी तक कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है।

प्रथम टीकाकार—मलयगिरि

आगम साहित्य के प्रमुख व्याख्याकार आचार्य मलयगिरि कर्मप्रकृति के प्रथम टीकाकार हैं। यद्यपि इन्होंने 'शब्दानुशासन' नामक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना भी की है, तथापि इनकी प्रसिद्धि टीकाकार के रूप में ही है, न कि ग्रन्थकार के रूप में। इन्होंने जैनागमों के अतिरिक्त अन्य जैन ग्रन्थों पर भी टीकाएं लिखी हैं।

आपश्री की टीकाएं विषय के रहस्य को विशदता से स्पष्ट करने वाली, भाषा की प्रासादिकता, शैली की प्रौढ़ता. निरूपण की स्पष्टता आदि विभिन्न दृष्टियों से समृद्ध हैं।

आपके द्वारा कितने ग्रन्थों का आलेखन हुआ, इसका स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता; फिर भी जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं और जिनका नामोल्लेख मिलता है, उन सब की संख्या २६ है। उनमें से २० ग्रन्थ उपलब्ध हैं। कुछएक ग्रन्थों के नाम निम्न हैं, जिन पर आपके द्वारा टीकाएं लिखी गई हैं—

व्यवहारसूत्र, भगवतीसूत्र, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, नन्दीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, जीवाभिगमसूत्र, आवश्यकसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र, राजप्रश्नीयसूत्र आदि आगम तथा पंचसंग्रह, कर्मप्रकृति, धर्मसंग्रहणी, सप्ततिका आदि सिद्धान्त ग्रन्थ।

सभी का ग्रन्थमान लगभग २ लाख श्लोकप्रमाण होता है । आचार्य मलयगिरि ने अपनी विद्वत्ता का ऐसा समीचीन उपयोग किया है कि जिससे अध्येता को ग्रन्थ का बोध सहजता से हो जाता है। सर्वप्रथम मूलसूत्र, गाथा या श्लोक के शब्दार्थ की व्याख्या, तदनन्तर समग्र अर्थ का स्पष्ट निर्देश किया है। इतना करने के बाद भी किन्हीं विषयों का "अयं भावः" "किमुक्तं भवति" आदि लिखकर विशद विवेचन भी किया है।

आपश्री के जन्म, दीक्षा आदि के बारे में विशेष उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, परन्तु जिस समय कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल भूपाल को प्रतिबोधित किया था, उस समय में आचार्य मलयगिरि विद्यमान थे, ऐसा जिनमंडनगणिकृत कुमारभूपालचरित्र में आचार्य हेमचन्द्राचार्य की विद्यासाधना के साथ आचार्य मलयगिरि का भी उल्लेख मिलता है। उसका कुछ वर्णन इस प्रकार है—

एक समय हेमचन्द्राचार्य ने गुरोराज्ञा प्राप्त कर कला–कुशलता प्राप्त करने के लिये अन्य आचार्य देवेन्द्रसूरि एवं मलयगिरि के साथ गौड़ देश की ओर विहार किया। इसी विहार परिक्रमा में खिल्लूस नामक ग्राम में पहुँचे । वहां पर एक साधु रोगग्रस्त था। उसकी आप तीनों ने तन्मयता से सेवा की। उसके मन में रैवतक तीर्थ की यात्रा करने की आतुरता थी । उसको पूर्ण करने के लिये स्थानीय लोगों को समझाकर डोली का प्रबन्ध किया। कल विहार होने से आज रात्रि वहीं शयन किया। प्रातःकाल जब जागृत हुए तो अपने आपको रैवतक पर्वत पर पाया। शासनदेवी प्रकट हुई और उसने कहा कि आपको कला-कुशलता पाने के लिये गौड़ देश में जाने की आवश्यकता नहीं है। देवी उन्हें अनेकविध विद्याएं प्रदान कर अन्तर्धान हो गई।

यहाँ पर तीनों आचार्यों ने सिद्धचक्र की आराधना की। फलस्वरूप विमलेश्वर देव ने प्रकट होकर यथेप्सित वर माँगने के लिये कहा, तब हेमचन्द्राचार्य ने राजाओं को प्रतिबोधित करने का वर मांगा। देवेन्द्रसूरि ने कांतिनगर से प्रतिमा लाने का और आचार्य मलयगिरि ने यथाशक्ति आगम ग्रन्थों पर टीका लिखने का वर मांगा था। देव तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गया।

आचार्य मलयगिरि उसी दिन के बाद विशेषकर साहित्यसंघटना में लगे और समर्थ टीकाकार के रूप में युग के सामने आए।

उपर्युक्त प्रसंग से स्पष्ट होता है कि आचार्य मलयगिरि हेमचन्द्राचार्य के समकालीन थे। अतः आचार्य मलयगिरि का समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या १३ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

द्वितीय टीकाकार--उपाध्याय यशोविजयजी

कर्मप्रकृति के द्वितीय टीकाकार न्यायविशारद उपाध्याय यशोविजयजी हैं। उनके भी जन्मस्थान आदि के विषय में स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं होती। फिर भी उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर आपका समय विक्रम की १६ वीं शताब्दी माना गया है। न्याय के अन्दर आपकी अविरलगति होने से ऐसा कहा जाता है कि आपने न्यायसम्बन्धी १०८ ग्रन्थों का प्रणयन किया था। इसमें "ज्ञानबिन्दु" ग्रन्थ तो आपकी विद्वत्ता का मुकुटमणि जैसा प्रतीत होता है।

महामनीषी समताविभूति आचार्यश्री नानेश

गौर वर्ण, सौम्य चेहरा, उन्नत ललाट, प्रलम्ब बाहु, दृढ़ एवं विशाल वक्षस्थल, निर्विकार लोचन, मुखवस्त्रिका से शोभित मुखमण्डल, श्वेत परिधान में ब्रह्मतेज से दमकती देह, श्री से संपन्न, श्रुत-शास्त्रपारंगत महामनीषी समताविभूति आचार्यश्री नानेश का जन्म वीर वसुन्धरा मेवाड़ के ग्रामीण अंचलों में विशालता को प्रकट करने वाले छोटे से गांव 'दांता' में विक्रम संवत् १९७७, ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया के दिन हुआ था।

द्वितीया के चन्द्र की तरह आपके शरीर की अभिवृद्धि होने के साथ ही ज्ञानकला में भी अहर्निश प्रगति होने लगी। माता शृंगारा ने बाल्यकाल में ही आपको नैतिकता, धीरता, वीरता स्पष्टता आदि अनेकों गुणों से शृंगारित कर दिया था। शैशवावस्था से ही आप में उन्मुक्त चिन्तन करने की क्षमता जागृत हो चुकी थी। अगणित प्राणियों की आधार विशाल पृथ्वी को देखकर सभी का आधारभूत बनने की और अनन्त आकाश को देखकर जीवन की अनन्तता को विकसित करने की उत्कट आकांक्षा उठने लगी। रंग-बिरंगे पुष्पों की प्रसरित सुवास ने आपके मन में विभिन्न गुणों की सौरभ भरने की भावना उत्पन्न कर दी।

जीवन के चरम सत्य को जानने की प्रबल जिज्ञासा से आप अनेकों संत-महात्माओं के सान्निध्य में पहुँचने लगे। किन्तु कहीं पर भी सत्य का शुद्ध नवनीत नहीं मिल सकने से आप हताश हो गये। संयोगवश एक सुज्ञ महानुभाव ने आपकी उन्नत भावना एवं प्रबल जिज्ञासा को समझ कर आपको शान्तक्रान्ति के जन्मदाता, हुक्मगच्छ के सप्तम आचार्य श्री गणेशलालजी म.सा. के सान्निध्य में पहुंचा दिया।

आपने जब उन दिव्य महापुरुष के दर्शन किये और उनके विचारों को समझा, तब मन में यह दृढ़ विश्वास हो गया कि इनके सान्निध्य में रहने पर जीवन के चरम सत्य को पाने की जिज्ञासा शांत हो जाएगी। लगभग ३ वर्ष पर्यन्त विरक्ति की साधना की। उसमें अग्नि से निष्तप्त स्वर्ण की भांति खरे उतरे। इंगलिश शब्दों में एक पाश्चात्य दार्शनिक ने सत्य ही कहा है--

Pure Gold does not fear the flame.

विक्रम संवत् १९९६ में पौष शुक्ला अष्टमी को विरक्ति के महापथ पर जीवन के चरम सत्य को उद्घाटित करने के लिये आपने प्रयाण कर दिया अर्थात् श्री गणेशाचार्य के चरणों में सर्वतोभावेन समर्पित होकर भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली।

जब मिट्टी कुंभकार के हाथों में आ जाती है, तब कुंभकार उसे पानी में मिलाकर रौंदता है, चाक पर चढ़ाकर घुमाता है, हाथ के द्वारा घट का आकार बना देता है। तदनन्तर अग्नि में तपाकर पूर्ण परिपक्व बना देता है। वही मिट्टी, मिट्टी की पर्याय को छोड़कर घट के रूप में आ जाती है और महिलाओं के मस्तक पर चढ़ जाती है।

इसी प्रकार आपश्री ने जब अपना जीवन योग्य गुरु के हाथों में समर्पित कर दिया तो गुरु ने उसे इस तरीके से घड़ा कि ज्ञान में विशुद्धता, आचरण में सतर्कता, जीवन में पवित्रता, प्रतिभा में प्रखरता निरन्तर निखरती ही चली गई। शास्त्रों के गूढ़ अध्ययन के साथ ही आपश्री ने जैनेतर धर्मों के सिद्धान्तों का भी ज्ञान किया। संस्कृत, प्राकृत, न्याय, व्याकरण, दर्शन आदि पर भी अधिकार प्राप्त किया।

नाम ही 'नाना' है, अतः नाना गुणों का आप में समावेश होने लगा। गुरु ने शिष्य की योग्यता को परखा और वीरों की नगरी उदयपुर में वि. सं. २०१९, आश्विन शुक्ला द्वितीया को अपनी धवल चादर प्रदान कर संघ का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। आप हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य के रूप में युग के सामने आए।

विश्वशांति का उपाय—समतादर्शन

विश्व में सर्वत्र विषमता की आग धू-धू करके जल रही है। भौतिकता के सुनहले जाल में फंसकर मानव अपने जीवन को क्षत-विक्षत कर रहा है। सुख व शान्ति के स्थान पर और अधिक दुःखित हो रहा है। विश्व की इस दयनीय अवस्था को देखकर आपश्री का मन दयार्द्र हो उठा। विश्व में व्याप्त विषमता को हटाकर शांति का प्रसार करने के लिये आपश्री चिन्तन की अतल गहराइयों में उतरे। परिणामस्वरूप विश्वशान्ति का अमोघ उपाय 'समता-दर्शन' जनता के समक्ष रखा। इसे चार विभागों में विभक्त किया—सिद्धान्तदर्शन, जीवनदर्शन, आत्मदर्शन और परमात्मदर्शन। समतावादी, समताधारी, समतादर्शी के रूप में आचरण की विधि प्रस्तुत की। प्रारंभिक भूमिका के रूप में जीवन-निर्माणकारी २१ सूत्र, ५ सूत्र भी प्रस्तुत किये।[1]

इन विचारों का जनमानस पर गहरा असर हुआ। सामान्य जनता ही नहीं अपितु विद्वद्वर्ग ने भी इसे अपनाया और यह माना कि समतासिद्धान्त के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवस्था की जाये तो विश्व में सुख और शान्ति का प्रसार होने में देरी नहीं लगेगी।

प्रखरप्रतिभा—आपश्री की प्रतिभा का बहुमुखी विकास हुआ है। जयपुर वर्षावास में एक भाई ने आपश्री से प्रश्न किया—'किं जीवनम्' जीवन क्या है?।

आपश्री ने सूत्ररचना के नियमों को लक्ष्य में रखते हुए जीवन का समग्र रूप अल्प शब्दों में व्यक्त कर दिया। यथा—"सम्यक्निर्णायकं समतामयञ्च यत् तज्जीवनम्" अर्थात् जो सम्यक् निर्णायक और समतामय है, वही जीवन है।

जीवन क्या है? इस प्रश्न पर अनेक विद्वानों ने चिन्तन किया था। अपने-अपने दृष्टिकोण के साथ उसका समाधान भी प्रस्तुत किया। पूर्ववर्ती एक महान् आचार्य ने 'किं जीवनम्' की परिभाषा "दोषवर्जितं यत् तज्जीवनम्" के रूप में प्रस्तुत की थी। किन्तु यह परिभाषा निषेधपरक है, इससे जीवन का समग्ररूप स्पष्ट नहीं होता। जीवन वही हो सकता है जो सम्यक् निर्णायक और समतामय हो।[2]

योग की परिभाषा

पातंजल योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने योग की परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के रूप में की है। जैनदर्शन के एक महान् आचार्य ने उसकी परिभाषा "योगश्दुश्चित्तवृत्तिनिरोधः" के रूप में प्रस्तुत की है। आचार्य-

---

१. 'समता : दर्शन और व्यवहार' नामक पुस्तक में एतद् विषयक सविस्तृत विवेचन मिलता है।

२. जयपुर वर्षावास के सारे प्रवचन इसी सूत्र पर हुए थे। जो 'पावस प्रवचन' के कई भागों में प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रीजी के चिन्तन ने भी इस विषय में प्रवेश किया। आपश्री ने योग की परिभाषा---"योगश्चित्तवृत्तिसंशोधः" के रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत की । वास्तव में चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं किया जा सकता, उन्हें संशोधित ही किया जा सकता है।

ध्यान-साधना के क्षेत्र में भी आपश्री की प्रखर प्रतिभा ने अभिनव ध्यानप्रक्रिया 'समीक्षणध्यान' के रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत की है ।

उपर्युक्त कुछएक दृष्टिकोणों से ही जाना जा सकता है कि आचार्यश्री की प्रतिभा का विकास किस रूप में विकसित हुआ है ।

एक महान कार्य---दलितोद्धार

आचार्यपद को सुशोभित करते हुए आपश्री का मालवक्षेत्र में विचरण हो रहा था। वहां का दलितवर्ग जो समाज से तिरस्कृत था, जो लोग अछूत समझे जाते थे। वे गौरक्षक के स्थान पर गौभक्षक बन रहे थे। उनके जीवन की यह दयनीय अवस्था आचार्यश्रीजी से देखी नहीं गई, आप उनके बीच में पहुँचे । स्थान-स्थान पर दुर्लभ मानवजीवन की उपादेयता पर मार्मिक प्रवचन दिया। आचार्यश्री के एक-एक प्रवचन से पीढ़ियों से व्यसनग्रस्त हजारों लोगों ने सदा-सदा के लिये सप्त कुव्यसनों का त्याग कर दिया। सदाचारी एवं नैतिकता के साथ अपना जीवन निर्वहन करने के लिये कटिबद्ध हो गये । जिन्हें आचार्यश्री ने 'धर्मपाल' की संज्ञा से संबोधित किया । आज उनकी संख्या लगभग एक लाख तक पहुँच गई है । जिन लोगों को व्यसनमुक्त करने के लिये आर्यसमाज की एक विशाल संस्था काम कर रही थी, सरकार भी व्यसनमुक्ति के लिये अनेकों अध्यादेश निकाल चुकी है, फिर भी जनमानस में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आ पाया, जबकि आचार्यश्री के प्रवचनों से लोगों का आमूलचूल जीवन ही परिवर्तित हो गया ।

सत्य है महायोगी, तप-तेजपुंज का प्रभाव अवश्य पड़ता है ।

भागवती दीक्षाएं---आपश्री के सान्निध्य में चतुर्विधसंघ अहर्निश विकास कर रहा है । अभी तक लगभग १७१ भव्य आत्माओं ने इस बढ़ते हुए भौतिक युग में धन-दौलत, परिवार, सगे-संबंधी सब का परित्याग कर सर्वतोभावेन आपश्री के चरणों में समर्पित होकर भागवती दीक्षा अंगीकार की है।

संकोचवश आचार्यश्री के जीवन की आंशिक झलक ही प्रस्तुत कर रहा हूँ । क्योंकि कोई व्यक्ति यह न मान बैठे कि गुरू की प्रशंसा शिष्य ही कर रहा है । यह प्रशंसा नहीं अपितु यथार्थता की एक झलक मात्र है ।

मैंने भी 'कर्मप्रकृति' का एक नहीं अनेक बार चिन्तन-मनन के साथ अध्ययन-अध्यापन किया है किन्तु यह लिखने में संकोच नहीं होता कि आचार्यश्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन विषयों का मार्मिक विश्लेषण किया है, उसकी उपलब्धि नहीं हो पाई ।

मैं यह विश्वास के साथ लिख रहा हूँ कि कर्मसिद्धान्त के अध्येताओं को आचार्यश्री के तत्त्वावधान में किया गया प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद व संपादन बहु-उपयोगी सिद्ध होगा।

अपने परमात्मस्वरूप को उजागर करने वाली भव्यात्माएं कर्मसिद्धान्त का ज्ञानार्जन करें। कर्म ही आत्मा के परमात्मभाव के अवरोधक हैं। उनका ज्ञान होने पर आचरण की विशुद्धता के द्वारा उन्हें हटाकर आत्मा का परमात्मस्वरूप उजागर किया जा सकता है।

भगवान महावीर का यही संदेश है---

"अप्पा सो परमप्पा" ---आत्मा ही परमात्मा है ।

उदयपुर
(हिरणमगरी, सेक्टर नं. ११)
सोमवार, दिनांक ३०-११-८१

--- ज्ञानमुनि

कर्मप्रकृति : बंधनकरण : विषयानुक्रमणिका

गाथा वर्ण्यविषय

	पृष्ठ
	३–४७
गाथा–१	३
मंगलाचरणात्मक पदों की व्याख्या	७
आठ कर्मों के नाम और उनके लक्षण	८
ज्ञानावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियां व उनके लक्षण	८
दर्शनावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियां व उनके लक्षण	१०
वेदनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियां और उनके लक्षण	१०
मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियां और उनके लक्षण	११
नोकषायों को कषायों का सहचारी मानने का कारण	१२
रति-अरति मोहनीय को वेदनीयकर्म से पृथक् मानने का कारण	१३
आयुकर्म की उत्तरप्रकृतियां	१३
नामकर्म की उत्तरप्रकृतियां	१४
गति नामकर्म के भेद व उनके लक्षण	१४
जाति नामकर्म का लक्षण	१४
जाति नामकर्म को पृथक् मानने का कारण	१४
गति नामकर्म को पृथक् मानने का कारण	१५
शरीर नामकर्म के भेद व उनके लक्षण	१५
अंगोपांग नामकर्म के भेद व उनके लक्षण	१६
बंधन नामकर्म के भेद व उनके लक्षण	१६
संघातन नामकर्म के भेद व उनके लक्षण	१६
संघातन नामकर्म को पृथक् मानने का कारण	१६
संहनन नामकर्म के भेद व उनके लक्षण	१७
संस्थान नामकर्म के भेद व उनके लक्षण	१८
वर्णचतुष्क नामकर्म के भेद व उनके लक्षण	१९
आनुपूर्वी नामकर्म के भेद व उनके लक्षण	१९
विहायोगति नामकर्म के भेद व उनके लक्षण	१९
अप्रतिपक्षा आठ प्रत्येकप्रकृतियों के नाम और उनके लक्षण	२१
सप्रतिपक्षा प्रत्येकप्रकृतियों के नाम और उनके लक्षण	२२
साधारण और प्रत्येक नामकर्म को पृथक् मानने का कारण	२३
गोत्रकर्म की उत्तरप्रकृतियां और उनके लक्षण	२४
अन्तरायकर्म की उत्तरप्रकृतियां और उनके लक्षण	२४
बंध, उदय और सत्ता की अपेक्षा उत्तर प्रकृतियों की संख्या	२५
बंधन नामकर्म के पन्द्रह भेद और उनके लक्षण	२६
संघातन नामकर्म के पांच भेद मानने का स्पष्टीकरण	२६
कर्मप्रकृतियों का वर्गीकरण व वर्गों के नाम	

ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां २७
अध्रुवबंधिनी प्रकृतियां २७
ध्रुवोदया प्रकृतियां २८
अध्रुवोदया प्रकृतियां २९
मिथ्यात्वमोहनीय को अध्रुवोदया प्रकृति न मानने का कारण २९
मिश्रमोहनीय को ध्रुवोदया प्रकृति न मानने का कारण २९
ध्रुवसत्ताका प्रकृतियां २९
अध्रुवसत्ताका प्रकृतियां ३०
अनन्तानुबंधी कषायों को ध्रुवसत्ताका प्रकृतियां मानने का हेतु ३१
घाति, अघाति प्रकृतियां ३१
अप्रत्याख्यानावरण कषायों को सर्वघाती मानने में हेतु ३३
सर्वघातिनी, देशघातिनी प्रकृतियों का स्वरूप ३३
परावर्तमान, अपरावर्तमान प्रकृतियां ३४
शुभ, अशुभ प्रकृतियां ३४
पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियां ३५
रति-अरति मोहनीय को पुद्गलविपाकिनी प्रकृति न मानने का हेतु ३५
भवविपाकिनी प्रकृतियां ३५
क्षेत्रविपाकिनी प्रकृतियां ३५
जीवविपाकिनी प्रकृतियां ३६
प्रकृतियों के विपाक में हेतु को प्रधान मानने का कारण ३६
रसविपाकापेक्षा प्रकृतियों के भेद में हेतु ३७
मतिज्ञानावरणादि सत्रह प्रकृतियों में एकादि चतुःस्थान पर्यन्त रसबंध होने में हेतु ३७
शेष शुभ-अशुभ प्रकृतियों में एकस्थानक रसबंध न होने में हेतु ३७
घाति प्रकृतियों में प्राप्त भाव ३९
सर्वघाति प्रकृतियों के प्रदेशोदय में क्षायोपशमिक भाव की संभावना ३९
स्वानुदयबंधिनी प्रकृतियां ४०
स्वोदयबंधिनी प्रकृतियां ४०
उभयबंधिनी प्रकृतियां ४०
समकव्यवच्छिद्यमानबंधोदया प्रकृतियां ४१
क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदया प्रकृतियां ४१
उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदया प्रकृतियां ४२
सांतरबंधिनी प्रकृतियां ४३
सांतरनिरंतरबंधिनी प्रकृतियां ४३
निरन्तरबंधिनी प्रकृतियां ४४
उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियां ४४
अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियां ४४
उदयबंधोत्कृष्टा, अनुदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियां ४५
अनुदयवती, उदयवती प्रकृतियां ४५

अभिधेय व प्रयोजन आदि ४७
गाथा–२ ४७–४८
आठ करणों के नाम और उनके लक्षण ४८
गाथा–३ ४९–५०
वीर्य का स्वरूप ४९
वीर्य के दो प्रकार ४९
वीर्य के नामान्तर ५०
गाथा–४ ५०–५३
वीर्य के भेद और उनके नामकरण ५०
वीर्यशक्ति में विषमता का कारण ५१
गाथा–५ ५३
वीर्यप्ररूपणा के अधिकारों के नाम ५३
गाथा–६ ५३–५४
अविभागप्ररूपणा ५४
गाथा–७ ५४–५५
वर्गणाप्ररूपणा ५४
गाथा–८ ५५–५६
स्पर्धकप्ररूपणा ५६
अन्तरप्ररूपणा ५६
गाथा–९ ५६–५८
स्थानप्ररूपणा ५७
असंख्यात योगस्थान मानने का कारण ५७
अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा ५८
गाथा–१० ५८–५९
परंपरोपनिधाप्ररूपणा ५९
द्विगुणवृद्धि-हानि होने का स्पष्टीकरण ५९
गाथा–११ ५९–६०
वृद्धिप्ररूपणा ६०
वृद्धि और हानि के प्रकार ६०
वृद्धि और हानियों का समयप्रमाण ६०
गाथा–१२ ६०–६१
उत्कृष्ट अवस्थानकाल ६१
गाथा–१३ ६१–६२
जघन्य अवस्थानकाल ६२
उत्कर्ष से भी जघन्य अवस्थानकाल एक समय होने का कारण ६२
योगस्थानों का अल्पबहुत्व ६२
गाथा–१४, १५, १६ ६३–६५
जीवभेदापेक्षा योगविषयक अल्पबहुत्व ६३

गाथा–१७ ६५–६६
जीव द्वारा योगों से किया जाने वाला कार्य ६५
गाथा–१८, १९, २० ६६–७८
परमाणुवर्गणा मानने का हेतु ६७
वर्गणा का लक्षण ६७
जीव द्वारा ग्राह्यवर्गणा का परिमाण ६८
जीव-ग्रहणप्रायोग्य वर्गणाओं के नाम ६८
औदारिकशरीरवर्गणा ६८
वैक्रियशरीरवर्गणा ६९
आहारकशरीरवर्गणा ६९
तैजसशरीरवर्गणा ७०
भाषावर्गणा ७०
श्वासोच्छ्वासवर्गणा ७०
मनोवर्गणा ७०
कार्मणशरीरवर्गणा ७१
औदारिक आदि वर्गणाओं के वर्णादि ७१
औदारिक आदि वर्गणाओं के प्रदेशों का परिमाण ७२
ध्रुवादि अग्रहण वर्गणाओं के नाम और उनके लक्षण ७२
वर्गणाओं के वर्णन का सारांशदर्शक प्रारूप ७७
गाथा–२१ ७८–८०
सलेश्य जीव की योग द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने की प्रक्रिया ७८
स्नेहप्ररूपणा के प्रकारों के नाम और उनके लक्षण ७९
गाथा–२२ ८०–८५
स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा ८०
स्नेहप्रत्ययस्पर्धक में वर्गणाओं का प्रमाण ८०
स्नेहाविभाग का लक्षण ८१
स्नेहप्रत्ययस्पर्धकों की वर्गणाओं की प्ररूपणा के प्रकार ८१
अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा द्वारा स्नेहप्रत्ययस्पर्धकों की वर्गणाओं का निरूपण ८१
परंपरोपनिधाप्ररूपणा द्वारा स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की वर्गणाओं के निरूपण का प्रथम प्रकार ८२
परंपरोपनिधाप्ररूपणा द्वारा उक्त वर्गणाओं के निरूपण का द्वितीय प्रकार ८३
पांच हानियों में वर्गणाओं का अल्पबहुत्व ८४
पांच हानियों में परमाणुओं का अल्पबहुत्व ८४
गाथा–२३ ८५–९०
नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा के अनुयोगों के नाम और उनका निरूपण ८५
बंधनयोग्य परमाणुओं का अल्पबहुत्व ८७
प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा ८९
स्नेहप्रत्ययस्पर्धक आदि तीनों प्ररूपणाओं के परमाणुओं का अल्पबहुत्व ९०

गाथा–२४ ९१–९२
बंधनकरण की सामर्थ्य से होने वाले कर्मपुद्गलों के विभाग का कारण ९१
प्रकृतिबंध आदि विभागों के लक्षण ९१
मूल प्रकृतियों को प्राप्त कर्मदलिकों के विभाजन की प्रक्रिया ९२
गाथा–२५ ९२–९३
ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मों की उत्तरप्रकृतियों को प्राप्त दलिकों के विभाजन की प्रक्रिया ९३
सर्वघाति प्रकृतियों को अत्यल्प भाग मिलने का कारण ९३
ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय की देशघाति प्रकृतियों में प्राप्त दलिकों के विभाजन का नियम ९३
गाथा–२६ ९४
मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियों में दलिकों के विभाजन का नियम ९४
वेदनीय, आयु, गोत्र कर्मों की उत्तरप्रकृतियों में दलिकों का विभाजन ९४
गाथा–२७ ९४–९५
नामकर्म की पिंडप्रकृतियों में दलिकों का विभाजन ९५
गाथा–२८ ९५–१०५
बंधननामकर्म की उत्तर प्रकृतियों में दलिकों के विभाजन का विशेष नियम ९५
मूल प्रकृतियों में प्राप्त दलिकों का विभाजन ९६
उत्कृष्टपद में ज्ञानावरणकर्म के भेदों में प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९७
,, दर्शनावरणकर्म के भेदों में प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९७
,, वेदनीयकर्म के भेदों में प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९७
,, मोहनीयकर्म के भेदों में प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९७
,, आयुकर्म के भेदों में प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९८
,, गति नामकर्म के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९८
,, जाति नामकर्म के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९८
,, शरीर व संघातन नामकर्म के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९८
,, बंधन नामकर्म के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९८
,, संस्थान नामकर्म के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९८
,, अंगोपांग नामकर्म के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९९
,, संहनन नामकर्म के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९९
,, वर्णचतुष्क नामकर्मों के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९९
, आनुपूर्वी नामकर्म के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व ९९
,, सप्रतिपक्ष प्रत्येक प्रकृतियों के प्रदेशों का अल्पबहुत्व ९९
,, अप्रतिपक्ष निर्माण आदि छह प्रकृतियों के प्रदेशाग्रों में अल्पबहुत्व नहीं होने का कारण १००
,, गोत्रकर्म के भेदों के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व १००
,, अन्तरायकर्म के भेदों के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व १००
जघन्यपद में ज्ञानावरण की प्रकृतियों के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व १००
,, दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतियों के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व १००
,, मोहनीय की उत्तर प्रकृतियों के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व १०१
,, आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियों के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व १०१

जघन्यपद में नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व १०१
,, वेदनीय और गोत्रकर्म की प्रकृतियों के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व १०२
,, अन्तरायकर्म की प्रकृतियों के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व १०२
उत्कृष्ट जघन्य प्रदेशाग्र कब संभव हैं ? १०२
अनुभागबंधप्ररूपणा के अनुयोगों के नाम १०२
गाथा–२९ १०२–१०४
रसाविभागों की उत्पत्ति में हेतु १०३
शुभ और अशुभ अध्यवसायों का परिणाम १०३
रसाविभागों की उत्पत्ति में विषमता का कारण १०४
गाथा–३० १०४–१०५
अनुभाग–वर्गणाओं की प्ररूपणा १०५
गाथा–३१ १०५–१०६
अनुभाग–स्पर्धकप्ररूपणा १०६
अन्तरप्ररूपणा १०६
स्थानप्ररूपणा १०६
गाथा–३२ १०७–१०८
कंडकप्ररूपणा १०७
षटस्थानप्ररूपणा १०८
गाथा–३३, ३४, ३५, ३६ १०९–१११
षटस्थानप्ररूपणा का विस्तार से वर्णन ११०
गाथा–३७ १११–११७
अनन्तभागवृद्धि आदि में भागाकार और गुणाकार का प्रमाण ११२
भागाकार और गुणाकार सम्बन्धी प्रमाणविषयक शंका-समाधान ११३
अधस्तनस्थानप्ररूपणा ११६
गाथा–३८ ११७–११८
वृद्धि, हानि प्ररूपणा ११७
गाथा–३९ ११८–११९
उत्कृष्ट और जघन्य अवस्थानकालप्ररूपणा ११९
गाथा–४० ११९–१२१
अनुभागबंधस्थानों की यवमध्यप्ररूपणा ११९
अनुभागबंधस्थानों का अल्पबहुत्व १२०
गाथा–४१ १२१–१२२
अनुभागबंधस्थानों की विशेष संख्या का निरूपण १२१
ओजोयुग्मप्ररूपणा १२२
गाथा–४२ १२३
पर्यवसानप्ररूपणा १२३
गाथा–४३ १२३–१२७
अनन्तरोपनिधा से अल्पबहुत्वप्ररूपणा १२४

परंपरोपनिधा से अल्पबहुत्वप्ररूपणा १२५
अनुभागबंधस्थानों के निष्पादक जीवों की प्ररूपणा के अनुयोगद्वारों के नाम १२७
गाथा–४४ **१२७–१२८**
प्रत्येकस्थान में जीवप्रमाणप्ररूपणा १२८
अन्तरस्थानप्ररूपणा १२८
गाथा–४५ **१२८–१३०**
निरंतरस्थानप्ररूपणा १२९
नानाजीवकालप्ररूपणा १२९
गाथा–४६ **१३०**
अनन्तरोपनिधा से अनुभागबंधस्थानों के बंधक जीवों की वृद्धिप्ररूपणा १३०
गाथा–४७ **१३०–१३१**
परंपरोपनिधा से अनुभागबंधस्थानों के बंधक जीवों की वृद्धि प्ररूपणा १३१
गाथा–४८ **१३१–१३३**
द्विगुण वृद्धि-हानिरूप स्थानों का परिमाण १३१
अनुभागबंधस्थानों की यवमध्यप्ररूपणा १३२
गाथा–४९, ५०, ५१ **१३३–१३५**
स्पर्शनाकालप्ररूपणा १३४
स्पर्शनाकालप्ररूपणा का प्रारूप १३४
अनुभागबंधस्थानों का अल्पबहुत्व १३४
गाथा–५२ **१३५–१३६**
एक-एक स्थितिबंधस्थान में नाना जीवों की अपेक्षा प्राप्त अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों का प्रमाण १३६
गाथा–५३ **१३६**
अनन्तरोपनिधा से अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की प्ररूपणा १३६
गाथा–५४ **१३७**
परंपरोपनिधा से अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की प्ररूपणा १३७
गाथा–५५, ५६ **१३७–१४०**
वृद्धिप्ररूपणा के आशय का प्रकृतियों में निरूपण १३८
स्थितिबंधस्थानों में अनुभागबंध की प्ररूपणा १३९
गाथा–५७, ५८ **१४०–१४३**
अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि प्रारंभ होने का स्थान १४१
सातावेदनीय आदि नीचगोत्र पर्यन्त की अनुकृष्टि प्रारंभ होने के स्थान की विशेषता १४१
ज्ञानावरणपंचक आदि ५४ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का विवेचन १४२
अनुकृष्टि का लक्षण १४३
गाथा–५९, ६० **१४३–१४५**
पराघात आदि पैंतालीस शुभप्रकृतियों की अनुकृष्टि का विवेचन १४४
सातावेदनीय आदि परावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का विवेचन १४५
गाथा–६१ **१४५–१४७**
असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का विवेचन १४५

गाथा–६२, ६३ १४७–१४८
तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि का विवेचन १४७
गाथा–६४ १४९–१५०
त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का विवेचन १४९
गाथा–६५ १५०–१५१
तीर्थंकर नामकर्म की अनुकृष्टि विषयक संकेत १५०
अनुभाग की तीव्रता-मंदता विषयक सामान्य नियम १५०
घातिकर्म और अप्रशस्त वर्णचतुष्क, उपघात की तीव्रता-मंदता का विवेचन १५०
निवर्तनकंडक का लक्षण १५१
गाथा–६६ १५१–१५२
शुभ प्रकृतियों के अनुभाग की तीव्रता-मंदता १५१
परावर्तमान प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता की विशेषता का निर्देश १५२
गाथा–६७ १५३–१५९
सातावेदनीय के अनुभाग की तीव्रता-मंदता १५४
असातावेदनीय के अनुभाग की तीव्रता-मंदता १५५
तिर्यंचगति के अनुभाग की तीव्रता-मंदता १५६
त्रसनामकर्म के अनुभाग की तीव्रता-मंदता १५७
स्थितिबंधविचार के अनुयोगद्वार १५९
गाथा–६८, ६९ १५९–१६२
चौदह जीवभेदों में स्थितिस्थानों का विवेचन १६०
जीवभेदों में संक्लेशस्थान १६०
जीवभेदों में संक्लेशस्थानों के असंख्यात होने का कारण १६१
जीवभेदों में स्थिति, संक्लेश और विशुद्धि स्थानों का प्रारूप १६२
गाथा–७० १६२–१६४
ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, अंतरायपंचक, असातावेदनीय की उत्कृष्टस्थिति १६३
स्थिति के दो प्रकार १६३
अबाधाकाल का नियम १६३
स्त्रीवेद, मनुष्यद्विक, सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति १६४
गाथा–७१ १६४
दर्शनमोहनीय, कषायमोहनीय, नोकषायमोहनीय प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति और अवाधाकाल १६४
गाथा–७२, ७३ १६५–१६७
स्थिर शुभपंचक, उच्चगोत्र, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन की उत्कृष्टस्थिति और अबाधाकाल १६५
मध्य के संस्थानों और संहननों की उत्कृष्ट स्थिति और अबाधाकाल १६५
सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति और अबाधाकाल १६६
नीचगोत्र और पूर्वोक्त से शेष रही नरकगति आदि नामकर्म की प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति और अबाधाकाल १६६
देवायु, नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति १६७
मनुष्यायु, तिर्यंचायु की उत्कृष्ट स्थिति १६७

गाथा–७४ १६७–१६८
बंधक जीवों की अपेक्षा आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति १६७
गाथा–७५ १६८–१६९
आयुकर्म के अतिरिक्त शेष कर्मों के उत्कृष्ट अबाधाकाल का परिमाण १६८
अनपवर्तनीय आयु वालों के उत्कृष्ट अबाधाकाल का परिमाण १६८
युगलिक और भोगभूमिज जीवों का आयु संबन्धी अबाधाकाल विषयक मतान्तर १६९
गाथा–७६, ७७ १६९–१७१
ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, संज्वलन लोभ की जघन्य स्थिति और अबाधाकाल १७०
सातावेदनीय की जघन्यस्थिति और अबाधाकाल १७०
यश:कीर्ति और उच्चगोत्र की जघन्य स्थिति और अबाधाकाल १७०
संज्वलनत्रिक और पुरुषवेद की जघन्य स्थिति और अबाधाकाल १७०
गाथा–७८ १७१–१७३
मनुष्यायु और तिर्यंचायु की जघन्यस्थिति और अबाधाकाल १७१
क्षुल्लकभव का परिमाण १७१
देवायु और नरकायु की जघन्यस्थिति और अबाधाकाल १७२
तीर्थंकर और आहारकद्विक नामकर्म की जघन्यस्थिति १७२
तीर्थंकर प्रकृति की जघन्यस्थिति विषयक शंका-समाधान १७२
गाथा–७९ १७३–१७५
पूर्वोक्त से शेष रही प्रकृतियों की जघन्यस्थिति प्राप्त करने सम्बन्धी नियम १७४
नियमानुसार प्रकृतियों की जघन्यस्थिति और अबाधाकाल १७४
वैक्रियषट्क की जघन्यस्थिति १७५
गाथा–८०, ८१, ८२ १७५–१८१
एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा प्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति १७६
द्वीन्द्रिय आदि जीवों की अपेक्षा प्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का परिमाणबोधक नियम १७७
जीवभेदों में उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति का अल्पबहुत्व १७७
जीवभेदों में स्थितिबंध का प्रमाण और अल्पबहुत्वदर्शकप्रारूप और तत्सम्बन्धी स्पष्टीकरण १७९
गाथा–८३ १८१–१८२
अनन्तरोपनिधा से निषेकप्ररूपणा १८१
गाथा–८४ १८२–१८३
परंपरोनिधा से निषेकप्ररूपणा १८२
आयुकर्म की उत्कृष्टस्थिति में भी द्विगुणहानियां संभव हैं १८३
गाथा–८५ १८३–१८४
अबाधाकंडकप्ररूपणा १८३
गाथा–८६ १८४–१८९
उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति आदि के अल्पबहुत्व कथन की प्रतिज्ञा १८४
अर्थकंडक का लक्षण १८४
संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्त अपर्याप्त का आयुकर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मों में स्थितिबंधादि स्थानों का अल्पबहुत्व १८५
उक्त अल्पबहुत्वकथन का प्रारूप १८६

संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय का आयुकर्म में उत्कृष्टस्थितिबंध आदि स्थानों का अल्पबहुत्व व तत्संबन्धी प्रारूप १८६
संज्ञीद्विकहीन शेष बारह जीवभेदों में आयुव्यतिरिक्त शेष सात कर्मों में स्थितिबंधादि का अल्पबहुत्व व तत्संबन्धी प्रारूप १८७
स्थितिबंध के अध्यवसायस्थानों की प्ररूपणा के अनुयोगद्वार १८८
गाथा–८७ १८९
स्थितिसमुदाहार में अनन्तरोपनिधा से प्रगणनाप्ररूपणा १९०
गाथा–८८ १९०
परंपरोपनिधा से प्रगणनाप्ररूपणा १९१
अनुकृष्टि नहीं होने का कारण १९१
प्रकृतिसमुदाहार के अनुयोगद्वार १९१
गाथा–८९ १९२–१९३
प्रकृतिसमुदाहार का निरूपण १९२
स्थितिसमुदाहार में तीव्रता-मंदता का निरूपण १९३
गाथा–९० १९३–१९५
जीवसमुदाहार का विवेचन १९४
तत्संबन्धी प्रारूप १९५
गाथा–९१, ९२ १९५–१९७
शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानक आदि के रसबन्ध का विचार १९६
तत्संबन्धी प्रारूप १९७
गाथा–९३, ९४ १९७–१९९
अनन्तरोपनिधा से शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानक आदि रसबंधक जीवों का अल्पबहुत्व १९८
अनन्तरोपनिधा से परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानक आदि रसबंधक जीवों का अल्पबहुत्व १९८
गाथा–९५ १९९–२००
परंपरोपनिधा से उक्त प्रकार की प्रकृतियों के रसबंधक जीवों के अल्पबहुत्व का कथन १९९
गाथा–९६, ९७, ९८, ९९, १०० २००–२०५
रसयवमध्य से प्रकृतियों के स्थितिस्थानादिकों का अल्पबहुत्व २०१
अल्पबहुत्वदर्शक प्रारूप २०४
गाथा–१०१ २०५–२०६
रसबंध में जीवों का अल्पबहुत्व २०५
तत्संबन्धी प्रारूप २०६
गाथा–१०२ २०६
बंधनकरण का उपसंहार २०६

परिशिष्ट

१. नोकषायों में कषायसहचारिता का कारण २०९
२. संहनन के दर्शक चित्र २१०
३. बादर और सूक्ष्म नामकर्म का स्पष्टीकरण २११
४. पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्म का स्पष्टीकरण २११
५. प्रत्येक-साधारण नामकर्म विषयक स्पष्टीकरण २१२

६.	सम्यक्त्व, हास्य, रति, पुरुषवेद को शुभ प्रकृति मानने का अभिमत	२१३
७.	कर्मों के रसविपाक का स्पष्टीकरण	२१४
८.	गुणस्थानों में बंधयोग्य प्रकृतियों का विवरण	२१५
	(अ) सम्यक्त्वी के आयुबंध का स्पष्टीकरण	२१८
९.	शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होने पर भी एकस्थानक रसबंध न होने का कारण	२२१
१०.	गुणस्थानों में उदययोग्य प्रकृतियों का विवरण	२२२
११.	ध्रुवबंधी आदि इकतीस द्वार यंत्र	२२४
१२.	जीव की वीर्यशक्ति का स्पष्टीकरण	२२५
१३.	लोक का घनाकार समीकरण करने की विधि	२२७
१४.	असत्कल्पना द्वारा योगस्थानों का स्पष्टीकरण दर्शक प्रारूप	२२९
१५.	योगसंबन्धी प्ररूपणाओं का विवेचन	२३७
१६.	वर्गणाओं के वर्णन का सारांश एवं विशेषावश्यकभाष्यगत व्याख्या का स्पष्टीकरण	२४३
१७.	नामप्रत्ययस्पर्धक और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणाओं का सारांश	२४५
१८.	मोदक के दृष्टान्त द्वारा प्रकृतिबंध आदि चारों अंशों का स्पष्टीकरण	२४६
१९.	मूल और उत्तर प्रकृतियों में प्रदेशाग्राल्पबहुत्व दर्शक सारिणी	२४६
२०.	रसाविभाग और स्नेहाविभाग के अंतर का स्पष्टीकरण	२५२
२१.	असत्कल्पना द्वारा षट्स्थानक प्ररूपणा का स्पष्टीकरण	२५२
२२.	षट्स्थानक में अधस्तनस्थानप्ररूपणा का स्पष्टीकरण	२५८
२३.	अनुभागबंध-विवेचन संबन्धी १४ अनुयोगद्वारों का सारांश	२५९
२४.	असत्कल्पना द्वारा अनुकृष्टिप्ररूपणा का स्पष्टीकरण	२६२
	(१) अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप	२६३
	(२) अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप	२६४
	(३) परावर्तमान २८ अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप	२६५
	(४) परावर्तमान १६ शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप	२६६
	(५) तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि का प्रारूप	२६७
	(६) त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का प्रारूप	२६८
२५.	असत्कल्पना द्वारा तीव्रता-मंदता की स्थापना का प्रारूप	२६८
	(१) अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता	२६९
	(२) अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता	२७०
	(३) परावर्तमान १६ शुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता	२७१
	(४) परावर्तमान २८ अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता	२७५
	(५) त्रसचतुष्क की तीव्रता-मंदता	२७८
	(६) तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की तीव्रता-मंदता	२८३
२६.	पल्योपम और सागरोपम का स्वरूप	२८७
२७.	आयुबंध और उसकी अबाधा संबन्धी पंचसंग्रह में आगत चर्चा का सारांश	२८९
२८.	मूल एवं उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबंध एवं अबाधाकाल का प्रारूप	२९०
२९.	स्थितिबंध अबाधा और निषेकरचना का स्पष्टीकरण	२९४
३०.	गाथाओं की अकारादि-अनुक्रमणिका	२९७
३१.	बंधनकरण : विशिष्ट एवं पारिभाषिक शब्दसूची	२९९
*	बंधनकरण : कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रश्न	३०७

बंधनकरण

णमो सिद्धाणं

श्रीमद् शिवशर्मसूरि प्रणीत--

कम्मपयडी (कर्मप्रकृति)

मंगलाचरण

सिद्धं सिद्धत्थसुयं, वंदिय निद्धोयसव्वकम्ममलं ।
कम्मट्ठगस्स करणट्ठमुदयसंताणि वोच्छामि ।।१।।

शब्दार्थ--**सिद्धं**-सिद्ध, सिद्धावस्था को प्राप्त, **सिद्धत्थसुयं**-सिद्धार्थ राजा के पुत्र--श्रमण भगवान महावीर को, **वंदिय**-वंदना करके, **निद्धोयसव्वकम्ममलं**-निःशेष रूप से जिन्होंने समस्त कर्ममल को धो डाला है, **कम्मट्ठगस्स**-आठ कर्मों के, **करणट्ठं**-आठ करणों को, **उदयसंताणि**-उदय और सत्ता को, **वोच्छामि**-कहूंगा ।

गाथार्थ--निःशेष रूप से जिन्होंने समस्त कर्ममल को धो डाला है और सिद्धावस्था को प्राप्त, ऐसे सिद्धार्थ राजा के सुपुत्र-श्रमण भगवान महावीर को वंदन करके आठ कर्मों के आठ करणों और उदय एवं सत्ता को कहूंगा ।

विशेषार्थ--सफलता प्राप्त करने एवं निर्विघ्न रूप से कार्य के सम्पन्न होने की आकांक्षा से प्रारम्भ में व्यक्त--शब्दात्मक और अव्यक्त--भावात्मक रूप से मंगलकारी महापुरुषों का स्मरण करना और उसके बाद अपने अभिधेय--वाच्य आदि की रूपरेखा बतलाना भारतीय साहित्य की परम्परा है। तदनुसार ग्रंथकार ने गाथा के पूर्वार्द्ध में अभीष्ट प्रयोजन में सफलता प्राप्त करने के लिये मंगलरूप महापुरुषों का स्मरण किया है और उत्तरार्द्ध में ग्रंथ के वर्ण्यविषय, प्रयोजन आदि को बताया है।[1]

मंगलाचरणात्मक पदों की व्याख्या

'सिद्धं ..... सव्वकम्ममलं' गाथा का पूर्वार्ध मंगलाचरणात्मक है । इसमें श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार करने के साथ-साथ सिद्ध भगवन्तों आदि की भी वंदना की है ।

श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार करने रूप व्याख्या इस प्रकार है--

'सिद्धत्थसुयं' यह पद श्रमण भगवान महावीर जिनेन्द्र के नाम एवं उनकी विशेषताओं का बोध कराने वाला होने से विशेष्य और विशेषण पद है तथा 'सिद्धं' और 'निद्धोयसव्वकम्ममलं' यह दोनों विशेषण पद हैं । जिनसे यह अर्थ फलित होता है कि--

---

१. इह पूर्वार्धेनेष्टदेवतानमस्कारस्याभिधानं, उत्तरार्धेन तु प्रयोजनादीनां । --कर्मप्रकृति, मलय. टी., पृ. १

'सिद्धं'–सिद्ध, सिद्धदशा को प्राप्त यानी अनादि काल से बद्ध संसार के कारणभूत ज्ञानावरण आदि अष्ट प्रकार के कर्मों का क्षय करके 'सिद्धावस्था'–पूर्ण कृतकृत्यता को प्राप्त ।[1]

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये पुनः दूसरा विशेषण दिया है–निर्धौतसर्वकर्ममलं–अर्थात् जिन्होंने नि-नितराम्-निःशेष रूप से, पूर्णतया यानी पुनः प्रादुर्भाव न हो सके, इस तरह सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप जल के द्वारा समस्त कर्ममल को धो डाला है, उसका प्रक्षालन कर दिया है[2] ऐसे सिद्धार्थसुतं–सिद्धार्थ राजा के सुपुत्र–श्रमण भगवान महावीर, वर्धमान स्वामी को[3] वंदिय-वंदन करके ।

यदि यहाँ तर्क प्रस्तुत किया जाये कि 'सिद्धं' और 'निर्धौतसर्वकर्ममलं' यह दोनों तो समानार्थक पद हैं । दोनों से एक ही आशय ध्वनित होता है। अतः इन दोनों पदों में से किसी एक पद का प्रयोग करना चाहिये था। तो इसका समाधान यह है कि भले ही उक्त दोनों पद समानार्थक समझे जायें, फिर भी सिद्धं पद का प्रयोग करने के बाद 'निर्धौतसर्वकर्ममलं' पद का प्रयोग विशिष्ट अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये किया है। जैसे कि––

१. कोषकारों ने सिद्ध शब्द के अनेक अर्थ बतलाये हैं, यथा–अच्छी तरह तैयार किया हुआ, विधिपूर्वक सम्पन्न, सफलता प्राप्त, निश्चित, प्रमाणित, निष्णात, दक्ष, विशेषज्ञ, जिसने सिद्धि प्राप्त की हो, मुक्त इत्यादि । जिनका यथाप्रसग अभिप्रायानुसार लोकव्यवहार और शास्त्र में प्रयोग किया जाता है । लेकिन प्रस्तुत प्रसंग में उन अनेक अर्थों में से सिद्ध शब्द का वास्तविक अर्थ स्पष्ट करने एवं भावतः सिद्ध कौन हो सकता है ? बतलाने के लिये ही सिद्ध पद के अनन्तर पुनः 'निर्धौतसर्वकर्ममलं' पद का प्रयोग किया गया है कि संपूर्ण कर्मावरण का क्षय होने पर ही सिद्धावस्था प्राप्त होती है।

२. सिद्ध नामक किसी व्यक्ति अथवा लौकिक विद्याओं में दक्षता प्राप्त करने वाले व्यक्ति-विशेष का व्यवच्छेद करने के लिये सिद्धं के अतिरिक्त 'निर्धौतसर्वकर्ममलं' विशेषण दिया है[4] कि यहां उन्हीं सिद्धों को नमस्कार किया गया है जो निःशेष रूप से कर्ममल को धोकर अपुनर्भव अवस्था प्राप्त कर चुके हैं, जिनका जन्म-मरण रूप संसार सदा सर्वदा के लिये नष्ट हो चुका है।

३. सिद्धं पद के अतिरिक्त निर्धौतसर्वकर्ममलं पद देकर जैनदशन की मान्यता का मंडन और एकान्तवादी अन्य दार्शनिकों की दृष्टि का निरसन किया गया है ।[5] जैसे कि वेदान्त व सांख्य दर्शन ब्रह्म, पुरुष को अनादि शुद्ध मानने वाले एवं नैयायिक-वैशेषिक शुद्ध आत्मा का पुनर्जन्म मानने वाले दार्शनिक हैं । लेकिन जैनदर्शन का यह मंतव्य है कि अनादि से कोई भी जीव शुद्ध नहीं है,

---

१. सितं बद्धं ध्मातं भस्मीकृतमष्टप्रकारं कर्म येन स सिद्धः । —कर्मप्र. मलय. टी., पृ. १

२. नि–नितरामपुनर्भावेन धौतः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपःसलिलप्रभावेणापगमितः सर्व एव कर्मवाष्टप्रकारं जीवमालिन्यहेतुत्वात् मल इव मलो येन स तथा तं । —कर्मप्रकृति, मलय. टीका, पृ.१

३. सिद्धार्थसुतं सिद्धार्थस्य सिद्धार्थनरेन्द्रस्य, सुतमपत्यं वर्धमानस्वामिनमित्यर्थः । —कर्मप्र., मलय. टी., पृ. १

४. स च नामतोऽपि कश्चिद्भवति, विद्यासिद्धादिर्वा सिद्ध इति लोके प्रतीतस्ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं यथोक्तान्वर्थसूचकमेव विशेषणमाह—निर्धौतसर्वकर्ममलं । —कर्मप्र., मलय. टी., पृ. १

५. अनेनानादिशुद्धपुरुषप्रवादप्रतिक्षेप आवेदितो द्रष्टव्यः । —कर्मप्र., मलय. टी., पृ. १

किन्तु निःशेष रूप से कर्मक्षय करने के बाद ही शुद्ध सिद्धावस्था प्राप्त होती है और इस अवस्था की प्राप्ति के पश्चात् न तो शुद्ध आत्मा का संसार में अवतरण होता है और न जन्म-मरण ही। इन्हीं सब बातों को स्पष्ट करने के लिये सिद्धं के अतिरिक्त 'निर्धौतसर्वकर्ममलं' विशेषण दिया है।

इस प्रकार गाथा के पूर्वार्ध की भगवान महावीर को नमस्कार करने रूप व्याख्या करने और पदों का सार्थक्य बतलाने के बाद अब प्रकारान्तर से गाथा के पूर्वार्ध की व्याख्या करते हैं। जिसमें भगवान महावीर के कतिपय अतिशयों का दिग्दर्शन कराया है।

'सिद्धं' यह विशेष्य पद है और 'सिद्धार्थसुतं' विशेषण पद है। तब इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार करना चाहिये--

संसार से निस्तारण कराने में कारण रूप होने से जिनका श्रुत अर्थात् प्रवचन सिद्धार्थ--इष्ट प्रयोजन की सिद्धि कराने वाला है। इस प्रकार 'सिद्धार्थसुतं' पद द्वारा भगवान का वचनातिशय प्रगट किया गया है[1] तथा संसार से निस्तारण कराने रूप अविकल सामर्थ्य बतलाई है।[2] अथवा अपने ज्ञान से समस्त पदार्थों को जान लेने के कारण सिद्धार्थ अर्थात् मोक्षप्राप्त करने रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले हैं सुत (पुत्र) के समान 'सुत' यानी गणधरादिक शिष्य जिनके, इस प्रकार की अर्थावृत्ति के द्वारा भगवान का ज्ञानातिशय प्रगट किया है।[3] साथ ही भगवान की शिष्यपरम्परा की भी विशिष्ट फलातिशयता ज्ञात होती है।[4] अथवा सिद्धार्थ यह भावप्रधान निर्देश है। देव, देवेन्द्र, नरेन्द्र आदि के द्वारा वंदना, माहात्म्य प्रदर्शन आदि किये जाने के कारण सिद्धार्थ रूप से श्रुत अर्थात् विश्रुत, प्रसिद्ध हैं, इस प्रकार की आवृत्ति से भगवान का माहात्म्य-अतिशय-पूजातिशय (वदनीयता) प्रगट होता है[5] और निर्धौतसर्वकर्ममलं इस पद से भगवान का अपायापगम अतिशय प्रगट किया ही गया है।[6]

इस प्रकार ग्रंथकार ने तीर्थंकरों के अनेक अतिशयों में से मुख्य चार अतिशयों को प्रगट करते हुए भगवान महावीर की वंदना की है।[7]

इसके साथ ही ग्रंथकार ने पूर्वोक्त पदों के द्वारा भगवान महावीर को वंदना करने की जिज्ञासा का भी समाधान किया है कि--'सिद्धं' सिद्ध रूपी परम पद में विराजमान हैं, सिद्धार्थश्रुतं केवलज्ञान-दर्शन रूप उत्कृष्ट अनन्त ज्योति द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्यत् में होने वाली अनन्त

---

१. तत्र सिद्धार्थं सिद्धप्रयोजनं संसारान्निस्तारकरणेन श्रुतं प्रवचनं यस्येत्यर्थाद् वचनातिशयो लभ्यते। —कर्मप्र., यशो. टी., पृ. १

२. अनेन श्रुतस्य संसारनिस्तारणं प्रत्यविकलं सामर्थ्यमावेद्यते। —कर्मप्र., मलय टी., पृ. १

३. स्वकीयानन्तज्ञानाकलित भावावबोधात् सिद्धार्थाः सिद्धप्रयोजनाः सुता इव सुताः शिष्या गणधरादयो यस्य स तथा तमित्यर्थादावृत्या ज्ञानातिशयो लभ्यते। —कर्मप्र., यशो. टी., पृ. १

४. अनेन भगवतः संततेरपि विशिष्टफलातिशयभाक्त्वमावेदयति। —कर्मप्र., मलय. टी., पृ. १

५. सिद्धार्थ इति भावप्रधान निर्देशादमरनरेन्द्रादि पूजार्हत्व गुणेन सिद्धार्थतया श्रुतं प्रसिद्धमित्यर्थाच्चावृत्या पूजातिशयो लभ्यते। —कर्मप्र., यशो. टी., पृ १.

६. अपायापगमातिशयस्तुनिर्धौतसर्वकर्ममलमित्यनेनावेदति। —कर्मप्र., यशो. टी., पृ.१

७. इति भगवतोऽतिशयचतुष्टयं निष्टंकितं भवति। —कर्मप्र., यशो. टी., पृ. १

पर्यायों सहित त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों के ज्ञाता-दृष्टा-सर्वज्ञ हैं तथा 'निर्धौतसर्वकर्ममलं' सम्पूर्ण कर्ममल का क्षय कर देने वाले होने से संसारातीत हैं—कर्ममल से रहित हैं, इसीलिये वे भगवान वंदनीय हैं ।[1]

सिद्ध भगवन्तों व श्रुत को नमस्कार

ग्रंथकार ने पूर्वोक्त पदों के द्वारा भगवान महावीर को नमस्कार करने के साथ-साथ सिद्ध-भगवन्तों को भी नमस्कार किया है । सिद्धों को वंदना करने के प्रसंग में सिद्धं यह विशेष्य पद है और 'सिद्धार्थश्रुतं' एवं 'निर्धौतसर्वकर्ममलं' यह दोनों विशेषण पद हैं । जिनका निरुक्त्यर्थ इस प्रकार है कि–सम्पूर्ण कर्ममल को पूर्णतया क्षय करने रूप अभीप्सित अर्थ को सिद्ध कर लेना जिनके लिये श्रुत–प्रसिद्ध है । अर्थात् उन्होंने जीवमात्र के इष्ट, अभीप्सित अर्थ—मोक्ष की प्राप्ति के लिये सम्पूर्ण कर्ममल का निःशेष रूप से क्षय कर दिया है, ऐसे सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके ।

इन पदों के द्वारा श्रुत को भी नमस्कार किया है—श्रुतं यह विशेष्य और सिद्धं, सिद्धार्थ विशेषण-पद हैं । तब उनका यह अर्थ होगा कि सिद्धं–अनादिकाल से जिसका अस्तित्व सिद्ध है तथा सिद्धार्थ–जिसका अभिधेय प्रमाणसिद्ध है और वह अभिधेय है निर्धौतसर्वकर्ममलं–सम्पूर्ण कर्ममल को निःशेष रूप से धोना । इसका अर्थ यह हुआ कि सम्पूर्ण कर्ममल को क्षय करने के उपायों का विधिवत् विज्ञान जिसमें समुपलब्ध है, ऐसे अनादि विशुद्ध आत्मीय शक्तिविशेष ज्ञानमय श्रुत को नमस्कार करके ।

सारांश यह है कि ग्रंथकार ने श्रमण भगवान महावीर की वंदना करने के साथ ही प्रकारान्तर से सिद्ध भगवन्तों एवं ज्ञानमय श्रुत को भी नमस्कार किया है । इसके साथ ही इन्हीं पदों के द्वारा ग्रंथ की प्रमाणता और अपनी लघुता का भी संकेत कर दिया है कि मैं अपनी बौद्धिक कल्पना का आधार लेकर नहीं, किन्तु सम्पूर्ण कर्ममल को क्षय करने वाले श्रमण भगवान महावीर के श्रुत–प्रवचन के आशय के अनुसार ग्रंथरचना के लिये उद्यत हुआ हूँ तथा इसके वर्णनीय विषय का साक्षात् सम्बन्ध भगवान महावीर की वाणी से और परम्परागत सम्बन्ध पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा रचित इस वाणी से अविरुद्ध ग्रंथों से है ।

गाथा के उत्तरार्ध का विवेचन

इस प्रकार से गाथा के पूर्वार्ध में मंगलमय प्रभु महावीर आदि को वंदना करके ग्रंथकार ने उत्तरार्ध में ग्रंथ के वर्ण्यविषय आदि का उल्लेख किया है कि ग्रंथ में ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के बंध, संक्रम आदि के कारणभूत बंधन आदि आठ करणों (आत्मपरिणामों) एवं कर्मों की उदय और सत्ता अवस्थाओं का वर्णन करूंगा ।[2]

आठ करणों के नाम, उदय और सत्ता के लक्षण आदि का वर्णन यथाप्रसंग आगे किया जायेगा । लेकिन उसके पूर्व आठ कर्मों का स्वरूप जानना उपयोगी होने से भेद-प्रभेद सहित उनकी व्याख्या करते हैं ।

---

१. अतएव च भगवान् प्रेक्षावतां प्रणामार्हः । —कर्मप्र., मलय. टी., पृ. १

२. प्रतिपादयिष्यामि कर्माष्टकस्य बन्धसंक्रमादिहेतुभूतं करणाष्टकं उदयसत्ते च । —कर्मप्र., मलय. टी., पृ. १

आठ कर्मों के नाम और उनके लक्षण

१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र ८. और अन्तराय नाम वाली कर्म की ये आठ मूल-प्रकृतियां हैं।[1] जिनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं–

१. ज्ञानावरण––सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधो ज्ञानं, तदावियते आच्छाद्यतेऽनेनेति ज्ञानावरणं––सामान्यविशेषधर्मात्मक वस्तु के विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला बोध ज्ञान कहलाता है, वह जिसके द्वारा आवृत्त-आच्छादित किया जाता है, उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

२. दर्शनावरण––सामान्यग्रहणात्मको बोधो दर्शनं, तदावियतेऽनेनेति दर्शनावरणं––वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाला बोध दर्शन कहलाता है, वह जिसके द्वारा आवृत्त किया जाये, उसे दर्शनावरण कहते हैं।

३. वेदनीय––वेद्यते आह्लादादिरूपेण यत्तद्वेदनीयं––आह्लाद आदि (सुख-दुःख आदि) रूप से जो वेदन किया जाये, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

यद्यपि सभी कर्म वेदन किये जाते हैं, तथापि पंकजादि पदों के समान 'वेदनीय' यह पद रूढ़िविषयक है। अतः साता और असाता रूप ही कर्म वेदनीय कहा जाता है, शेष कर्म नहीं।

४. मोहनीय[2]––मोहयति सदसद्विवेकविकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीयं––जो आत्मा को मोहित करे अर्थात् सत्-असत् के विवेक से रहित कर दे, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।

५. आयु[3]––एत्यागच्छति प्रतिबन्धकतां गतिनिर्गियासोर्जन्तोरित्यायुः, यद्वा समन्तादेति गच्छति भवान्तरसंक्रान्तौ जन्तूनां विपाकोदयमित्यायुः––जो गति से निकलने के इच्छुक जन्तु को प्रतिबन्धकपने (रुकावटपने) को प्राप्त होता है, अर्थात् गति में से नहीं निकलने देता है, उसे आयु-कर्म कहते हैं। अथवा भवान्तर में संक्रमण करने पर भी जो जीवों को सब ओर से विपाकोदय को प्राप्त हो, उसे आयुकर्म कहते हैं।

६. नाम––नामयति गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम––जो गति, जाति आदि पर्यायों के अनुभव कराने के प्रति जीव को नमावे अर्थात् अनुकूल करे, उसे नामकर्म कहते हैं।

७. गोत्र––गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत्तद्गोत्रं उच्चनीचकुलोत्पत्त्यभिव्यंग्यः पर्यायविशेषः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्रं––जो उच्च-नीच शब्दों के द्वारा उच्च और नीच कुल में उत्पत्ति रूप पर्याय विशेष को व्यक्त करे, उसे गोत्र कहते हैं। इस प्रकार के विपाक को वेदन कराने वाला कर्म भी गोत्र कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा आत्मा उच्च और नीच शब्दों से कहा जाये, उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

---

१. (क) प्रथम कर्मग्रंथ गा. ३, (ख) प्रज्ञापना पद २१/१/२२८ (ग) उत्तरा. ३३/२-३, (घ) पंचसंग्रह ११९।

२. मुह् मोहे धातु से 'कृद्बहुल' (सिद्ध. हेम. ५/१/१०/२) इस सूत्र द्वारा कर्ता के अर्थ में अनीय प्रत्यय लगाने से मोहनीय शब्द बना है।

३. गत्यर्थक इण् धातु से औणादिक उस् प्रत्यय किया गया है।

८. **अन्तराय--जीवं दानादिकं चान्तरा व्यवधानापादनायैति गच्छतीत्यन्तरायं**--जो जीव को ज्ञानादिक की प्राप्ति में अन्तर अर्थात् व्यवधान प्राप्त (आपादन) करने के लिये आता है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं ।

इन आठों कर्मों की यथाक्रम से पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पांच उत्तर प्रकृतियां हैं ।[1]

ज्ञानावरण कर्म की उत्तरप्रकृतियां

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञानावरण के भेद से ज्ञानावरण कर्म की पांच प्रकृतियां हैं । मति, श्रुत आदि का स्वरूप सुव्यक्त (अति स्पष्ट) है ।[2]

दर्शनावरण कर्म की उत्तरप्रकृतियां

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि के भेद से दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तरप्रकृतियां हैं ।[3]

१. **चक्षुषा दर्शनं चक्षुर्दर्शनं, तदावरणं चक्षुर्दर्शनावरणं**--चक्षु के द्वारा होने वाले दर्शन को चक्षुदर्शन कहते हैं और उसका आवरण करने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण है ।

२. **शेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं, तदावरणमचक्षुर्दर्शनावरणं**--चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रियों और मन के द्वारा होनेवाला दर्शन अचक्षुदर्शन कहलाता है और उसका आवरण करने वाला कर्म अचक्षुदर्शनावरण है ।

---

१. (क) पंचसंग्रह १२०, (ख) तत्वार्थसूत्र ८/६ । यद्यपि नामकर्म की समस्त उत्तर प्रकृतियों की संख्या तेरानवै या एक सौ तीन है। लेकिन यहां १४ पिंडप्रकृति, ८ प्रत्येकप्रकृति, १० त्रसदशक, १० स्थावरदशक प्रकृतियों को मिलाकर बयालीस प्रकृतियों का संकेत किया है । पिंडप्रकृतियों के अवान्तर भेदों का ग्रहण नहीं किया है। तेरानवै या एक सौ तीन प्रकृति होने का स्पष्टीकरण यथास्थान आगे किया जा रहा है।

२. मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान, ये ज्ञान के पांच भेद हैं । जिनके लक्षण इस प्रकार हैं—मन और इन्द्रियों की सहायता से होने वाले पदार्थ के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते हैं । (२) शब्द को सुनकर जो अर्थ का ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। अथवा मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमें हो, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। (३) मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी अर्थात् मूर्त द्रव्य का जो ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। (४) मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए मन के चिन्तनीय पर्यायों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, उसे मनःपर्यायज्ञान कहते हैं । जब मन किसी भी वस्तु का चिन्तन करता है तब चिन्तनीय वस्तु के भेदानुसार चिन्तन कार्य में प्रवृत्त मन भी तरह-तरह की आकृतियां धारण करता है, वे ही आकृतियां मन की पर्याय हैं। (५) सम्पूर्ण द्रव्यों को उनकी त्रिकाल में होने वाली समस्त पर्यायों सहित इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा के द्वारा जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान रूपी-अरूपी, मूर्त-अमूर्त सभी ज्ञेयों को हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष करने की शक्ति वाला है ।

इन ज्ञानों को आच्छादित करने वाले कर्मों के क्रमशः मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्याय-ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, ये पांच भेद हैं । मतिज्ञान को आच्छादित करने वाले कर्म को मतिज्ञानावरण कहते हैं । इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण आदि शेष ज्ञानावरणों के लक्षण भी समझ लेना चाहिये ।

३. पंचसंग्रह १२२

३. **अवधिरेव दर्शनमवधिदर्शनं, तदावरणमवधिदर्शनावरणं**––अवधिज्ञान के पूर्व होने वाला दर्शन अवधिदर्शन कहलाता है और उसका आवरण करने वाला कर्म अवधिदर्शनावरण है ।

४. **केवलमेव दर्शनं केवलदर्शनं, तदावरणं केवलदर्शनावरणं**––केवलज्ञान के साथ होने वाले दर्शन (सामान्यबोध) को केवलदर्शन कहते हैं और उसका आवरण करने वाला कर्म केवल-दर्शनावरण कहलाता है ।

५. **नियतं द्राति अविस्पष्टतया गच्छति चैतन्यं यस्यां स्वापावस्थायां सा निद्रा**––शयन की जिस अवस्था में चैतन्य अविस्पष्ट रूप को प्राप्त हो, उसे निद्रा कहते हैं । इस निद्रा वाले जीवों को चुटकी वजाने मात्र से जगाया जा सकता है ।

६. **निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा**––निद्रा से भी अतिशायिनी (अधिक गहरी नींद सुलाने वाली) निद्रा को निद्रा-निद्रा कहते हैं । यहाँ मध्यमपदलोपी समास है ।[1] इस निद्रा में चैतन्य अत्यन्त अस्फुटीभूत हो जाता है । इस निद्रा वाला जीव वहुत प्रयत्नों के वाद प्रबोध को प्राप्त होता है ।

७. **उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति घूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां सा प्रचला**––जिस निद्रा-दशा में बैठा या खड़ा हुआ जीव झूमने लगता है, उसे प्रचला कहते हैं ।

८. **प्रचलातोऽतिशायिनी (प्रचला) प्रचलाप्रचला**––प्रचला से भी अतिशायिनी प्रचला को प्रचला-प्रचला कहते हैं । यह निद्रा गमन आदि करते हुए भी जीव के उदय में आ जाती है, इसीलिए इसे प्रचला से भी अधिक अतिशायिनी वाला कहा है ।

९. **स्त्याना पिण्डीभूता ऋद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानर्द्धि**:––जिस शयनावस्था में आत्मा की शक्ति रूप ऋद्धि स्त्यान अर्थात् पिंडीभूत (एकत्रित) हो जाये, उसे स्त्यानर्द्धि[2] कहते हैं । यदि प्रथम संहनन (वज्रऋषभनाराच संहनन) वाले को इसका उदय हो तो अर्ध-चक्री (वासुदेव) के वल से आधे वल के वरावर शक्ति उत्पन्न हो जाती है ।

दर्शनावरण कर्म की ये नौ ही प्रकृतियां प्राप्त हुई दर्शनलब्धि की नाशक होने से और अप्राप्त दर्शनलब्धि की प्रतिबंधक होने से दर्शनावरण कही जाती हैं ।

---

१. निद्रा-निद्रा में 'अतिशायिनी' इस मध्यम पद का लोप होने से यह मध्यम पदलोपी समासपद है । इसी प्रकार प्रचला-प्रचला में भी 'अतिशायिनी' इस मध्यम पद का लोप समझना चाहिये ।

२. स्त्यानर्द्धि का दूसरा नाम स्त्यानगृद्धि भी है। जिसका निरुक्त्यर्थ इस प्रकार है––
जिस निद्रा के उदय से निद्रित अवस्था में विशेष वल प्रगट हो जाये । (स्त्याने स्वप्ने यया वीर्यविशेषप्रादुर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः) अथवा जिस निद्रा में दिन में चिन्तित अर्थ और साधन विषयक आकांक्षा का एकत्रीकरण हो जाये, उसे स्त्यानगृद्धि निद्रा (स्त्याना संघातीभूतागृद्धिर्दिनचिन्तितार्थसाधनविषयाऽभिकांक्षा यस्यां सा स्त्यानगद्धिः) कहते हैं । अथवा जिसके उदय से आत्मा स्वप्न (शयनावस्था) में रौद्र बहु कर्म करती है, उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं । स्त्यायति धातु के अनेक अर्थ हैं, उनमें से यहां स्त्यान का अर्थ स्वप्न और गृद्धि का दीप्ति अर्थ लिया है (स्त्याने स्वप्ने गृद्धयति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्रं बहुकर्म करोति सा स्त्यानगृद्धिः) ।

वेदनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियां

वेदनीय कर्म की दो उत्तर प्रकृति हैं–सात और असात ।

यदुदयादारोग्यविषयोपभोगादिजनितमाह्लादलक्षणं सातं वेद्यते तत्सातवेदनीयं, तद्विपरीतमसातवेदनीयं––जिसके उदय से आरोग्य, विषयोपभोग आदि से उत्पन्न आह्लादादि रूप साता का वेदन हो, वह सातवेदनीय है और इसके विपरीत असातवेदनीय कहलाता है ।

मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियां

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सोलह कषाय, नव नोकषाय, ये अट्ठाईस मोहनीय कर्म की प्रकृतियां हैं ।[1]

मिथ्यात्व––यदुदयाज्जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धानं तन्मिथ्यात्वं––जिसक उदय से जिनप्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धान नहीं होता है, वह मिथ्यात्व है ।

सम्यग्मिथ्यात्व––यदुदयाज्जिनप्रणीततत्त्वं न सम्यक् श्रद्धत्ते नापि निन्दति तत्सम्यग्मिथ्यात्वं–– जिसके उदय से जीव जिनप्रणीत तत्त्वों का सम्यक् प्रकार श्रद्धान नहीं करता है और न ही निन्दा करता है, वैसे ही अन्य मतों को समझता है, अर्थात् वीतरागी और सरागी एवं उनके कथन को समान रूप से ग्राह्य मानता है, वह सम्यग्मिथ्यात्व कर्म है ।

सम्यक्त्व––यदुदयवशाज्जिनप्रणीततत्त्वं सम्यक् श्रद्धत्ते तत्सम्यक्त्वं––जिसके उदय से जिनप्रणीत तत्त्व का जीव सम्यक् प्रकार श्रद्धान करता है, वह सम्यक्त्वमोहनीय कर्म है ।[2]

इन तीनों प्रकृतियों को दर्शनमोहनीय कहते हैं ।

कषाय––कषस्य संसारस्यायो लाभो येभ्यस्ते कषायाः––कष् अर्थात् ससार की आय यानी लाभ जिनसे हो, वे कषाय कहलाती हैं ।[3]

कषाय चार प्रकार की हैं––क्रोध, मान, माया और लोभ । ये प्रत्येक कषाय अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से चार-चार प्रकार की हैं । इस प्रकार

---

१. पंचसंग्रह १२३
कर्मविचारणा के प्रसंग में मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां मानने का विधान उदय और सत्ता की अपेक्षा समझना चाहिये, किन्तु बंधापेक्षा छब्बीस भेद होते हैं। क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मबंध की अपेक्षा मिथ्यात्व रूप ही है, किन्तु उदय और सत्ता की अपेक्षा से आत्मपरिणामों के द्वारा उसके शुद्ध और अर्धशुद्ध और अशुद्ध, यह तीन रूप हो जाते हैं। जो क्रमशः सम्यक्त्व मोहनीय, सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय कहलाते हैं और इन्हीं रूपों में अपना फल वेदन कराते हैं।

२. यद्यपि यह कर्म शुद्ध होने के कारण तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व में तो बाधा नहीं पहुंचाता है, परन्तु इसके उदय रहने पर औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो पाता है ।

३. शास्त्रों में कषाय शब्द की अनेक प्रकार से व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या की है, जैसे––

कम्मं कसं भवो वा कसमाओ सि जओ कसाया ते ।
कसमाययंति व जओ गमयंति कसं कसायत्ति ।।

कष् अर्थात् कर्म अथवा भव, उनकी आय यानी लाभ जिससे हो, उसे कषाय कहते हैं। अथवा कर्म या संसार जिससे आये, वह कषाय अथवा जिसके होने पर जीव कर्म अथवा संसार प्राप्त करे, उसे कषाय कहते हैं ।
––विशेषा. भा., गा. १२२७

कषायों के सोलह भेद होते हैं । इनमें **अनन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबंधिन**:--जो कषाय अनन्त संसार को बांधने के स्वभाव वाली हैं, उन्हें अनन्तानुबंधी कहते हैं । इनका 'संयोजना' यह दूसरा भी नाम है । जिनके द्वारा जीव अनन्त भवों के साथ संयुक्त अर्थात् संबद्ध किये जाते हैं, उन्हें संयोजना कहते हैं । यह संयोजना शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है--**संयोज्यन्ते संबध्यन्तेऽनन्तैर्भवैर्जन्तवो यैस्ते संयोजना इति व्युत्पत्ते**: । जिनके उदय से स्वल्प भी प्रत्याख्यान न हो सके, वे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाती हैं । **न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयात्तेऽप्रत्याख्याना**: । सर्वविरतिरूप प्रत्याख्यान (त्याग, संयम) जिनके द्वारा आवृत्त किया जाये, वे प्रत्याख्यानावरण कषाय हैं--**प्रत्याख्यानं सर्वविरतिरूपमाव्रियते यैस्ते प्रत्याख्यानावरणा**: । परीषहों और उपसर्गों के आने पर जो चारित्रधारक साधु को भी 'सं' अर्थात् कुछ जलाती रहती हैं (वीतरागदशा में बाधा डालती हैं), वे संज्वलन कषाय कहलाती हैं--**परीषहोपसर्गनिपाते सति चारित्रिणमपि सं ईषज्ज्वलयन्तीति संज्वलना**: ।[1]

नोकषाय--इस पद में 'नो' शब्द साहचर्य के अर्थ में है । इसलिये इस पद का यह अर्थ होता है कि जो कषायों के साथ सहचारी रूप से, सहवर्ती रूप से रहें, वे नोकषाय कहलाती हैं--**नोकषाया इत्यत्र नोशब्द: साहचर्ये, ततः कषायैः सहचारिणः सहवर्तिनो ये ते नोकषाया**: ।

प्रश्न--नोकषायें किन कषायों के साथ सहचारी रूप से रहती हैं ?

उत्तर--आदि की बारह कषायों (अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्कों) के साथ सहचारी रूप से रहती हैं । क्योंकि आदि की बारह कषायों के क्षय हो जाने पर फिर नोकषायें नहीं रहती हैं । क्षपकश्रेणी पर आरोहण करने वाले क्षपक **जीव की उन** बारह कषायों के क्षय होने के अनन्तर ही इन हास्यादि **नोकषायों का क्षपण** करने के लिये प्रवृत्ति होती है । अथवा सम्यक् प्रकार अर्थात् प्रबल रूप से उदय को प्राप्त ये नोकषायें अवश्य ही अनन्तानुबंधी क्रोधादि बारह कषायों को प्रदीप्त करती हैं । इसलिये ये कषायसहचारी कहलाती हैं ।[2] कहा भी है--

कषायसहवर्त्तित्वात्कषायप्रेरणादपि ।
हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता ।।

---

१. मूल रूप में क्रोध, मान, माया और लोभ, ये कषाय के चार भेद हैं । स्वभाव को भूलकर आक्रोश से भर जाना, दूसरे पर रोष करना क्रोध है । गर्व, अभिमान, झूठे आत्मप्रदर्शन को मान कहते हैं । कपट भाव अर्थात् विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता का अभाव माया और ममता परिणामों को लोभ कहते हैं ।

इन कषायों के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मंद स्थिति के कारण चार-चार प्रकार हो जाते हैं जो क्रमशः अनन्तानुबंधी (तीव्रतम स्थिति), अप्रत्याख्यानावरण (तीव्रतर स्थिति), प्रत्याख्यानावरण (तीव्र स्थिति) और संज्वलन (मंद स्थिति) कहलाते हैं ।

अनन्तानुबंधी कषायें सम्यग्दर्शन का उपघात करती हैं । इनके उदय में सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता है और पूर्वोत्पन्न भी नष्ट हो जाता है । अप्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय से आंशिक त्यागरूप परिणाम ही नहीं होते हैं । प्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय रहने पर एकदेश त्यागरूप श्रावकाचार के पालन करने में बाधा नहीं आती है, किन्तु सर्वत्याग रूप श्रमणधर्म का पालन नहीं हो पाता है । संज्वलन कषाय के उदय से यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति नहीं होती है । अर्थात् यथातथ्यरूप से सर्वविरति चारित्र पालन करने में रुकावट आती रहती है ।

२. इसका विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये ।

अर्थात् कषायों के साथ रहने से अथवा कषायों को प्रेरणा देने स भी हास्यादि नौ प्रकृतियों को नोकषाय कहा गया है ।

इन नव नोकषायों के नाम हैं[1]--वेदत्रिक और हास्यादिषट्क । इनमें से वेदत्रिक-स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद हैं । वेदत्रिक के लक्षण इस प्रकार हैं--

१. **यदुदये स्त्रियाः पुंस्यभिलाषः पित्तोदये मधुराभिलाषवत्स स्त्रीवेदः**--जिसके उदय होने पर स्त्री की पुरुष में अभिलाषा उत्पन्न हो, वह स्त्रीवेद है । जैसे पित्त के उदय होने पर मधुररस की अभिलाषा होती है ।

२. **यदुदयात्पुंसः स्त्रियामभिलाषः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत्स पुरुषवेदः**--जिसके उदय से पुरुष की स्त्री में अभिलाषा हो, वह पुरुषवेद है । जैसे-श्लेष्म (कफ) के उदय से आम्लरस की अभिलाषा होती है ।

३. **यदुदयात्स्त्रीपुंसयोरुपर्यभिलाषः पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाभिलाषवत्स नपुंसकवेदः**--जिसके उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के ऊपर अभिलाषा हो, वह नपुंसकवेद है । जैसे पित्त और कफ का उदय होने पर खटमिट्ठे रस की अभिलाषा होती है ।

हास्यादिषट्क हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा रूप है । हास्यादि इन छहों का स्वरूप इस प्रकार है--

१. **यदुदयात्सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तद्धास्यमोहनीयं**--जिसके उदय से निमित्त मिलने पर या निमित्त नहीं मिलने पर भी जीव हंसता है, वह हास्यमोहनीय है ।

२. **यदुदयाद्बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु प्रीतिस्तद्रतिमोहनीयं**--जिसके उदय से बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं में प्रीति हो, वह रतिमोहनीय है ।

३. **यदुदयात्तेष्वप्रीतिस्तदरतिमोहनीयं**--जिसके उदय से बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं में अप्रीति हो, वह अरतिमोहनीय है ।

शंका--बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं पर जो प्रीति और अप्रीति होती है, वह साता और असाता रूप ही है । इस कारण वेदनीयकर्म के द्वारा इनकी अन्यथासिद्धि है, तो फिर रति और अरति मोहनीय को पृथक् रूप से क्यों कहा है ?

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र ३३/११ में जो -'सत्तविहं णवविहं वा कम्मं च णोकसायजं' नोकषाय मोहनीय के सात या नौ भेदों का संकेत किया है, उसका कारण यह है कि जब वेद के स्त्री, पुरुष और नपुंसक ये तीन भेद नहीं करके सामान्य से वेद को गिनते हैं तब हास्यादि छह और वेद, कुल मिलाकर सात भेद होते हैं और जब वेद के स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, ये तीन भेद पृथक्-पृथक् लिये जाते हैं तो नौ भेद होते हैं । सामान्यतया नोकषाय मोहनीय के नौ भेद प्रसिद्ध हैं। अतः यहां भी नौ भेदों के नाम गिनाये गये हैं ।

समाधान––ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि वेदनीयकर्म के द्वारा प्राप्त सुख और दुःख के कारणों के मिलने पर भी चित्त को अन्यथाभाव रूप से परिणत करा देना, इन रति और अरति मोहनीय कर्मों का व्यापार है।[1]

४. **यदुदयात् प्रियविप्रयोगादावाक्रन्दति भूपीठे लुठति दीर्घं निःश्वसिति तच्छोकमोहनीयं**––जिसके उदय से जीव प्रिय वस्तु के वियोगादि होने पर आक्रन्दन करता है, भूतल पर लोटता है और दीर्घ निःश्वास छोड़ता है, वह शोकमोहनीय है।

५. **यदुदयात्सनिमित्तमनिमित्तं वा स्वसंकल्पतो बिभति तद्भयमोहनीयं**––जिसके उदय से सनिमित्त या अनिमित्त अपने संकल्प से जीव डरता है, वह भयमोहनीय है।

६. **यदुदयाच्छुभमशुभं वा वस्तु जुगुप्सत तद्जुगुप्सामोहनीयं**––जिसके उदय से जीव शुभ या अशुभ वस्तु से ग्लानि करता है, वह जुगुप्सा मोहनीय है।[2]

सोलह कषायों और नव नोकषायों की चारित्रमोह संज्ञा है।

आयुकर्म की उत्तरप्रकृतियां

देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु और नरकायु, ये चार आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियां हैं।[3]

नामकर्म की उत्तरप्रकृतियां

चौदह पिण्ड प्रकृतियां, प्रतिपक्ष रहित आठ प्रत्येक प्रकृतियां, त्रसादि दस तथा इनकी प्रतिपक्षी (स्थावरादि) दस, कुल बीस प्रकृतियां, इस प्रकार सब मिलकर नामकर्म की बयालीस प्रकृतियां हैं। इनमें चौदह पिण्डप्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं––गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघात, संहनन, संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी और विहायोगति।[4] अवान्तर भेद वाली होने से

---

१. साता और असाता वेदनीयकर्म उपस्थित सुख दुःख के साधनों, कारणों, सामग्रियों द्वारा अपना विपाक-वेदन कराते हैं। लेकिन रति-अरति मोहनीय कर्म जीव के भाव हैं, जो वेदनीयकर्मजन्य सामग्री के उपलब्ध रहने या न रहने पर उसके प्रति प्रीति-अप्रीति का भाव पैदा करते हैं। इसीलिये रति-अरति मोहनीय को वेदनीय-कर्म से पृथक् कहा गया है। सारांश यह है कि वेदनीयकर्म प्रीति-अप्रीति की सामग्री उपस्थित करने में निमित्तकारण हो सकता है, उपादानकारण नहीं। किन्तु उन कारणों के रहते या न रहते जीव में जो सुख-दुःख, प्रीति-अप्रीति का भाव पैदा होता है, उसका कारण रति-अरति मोहनीय हैं। इस दृष्टिकोण की अपेक्षा से ही रति-अरति मोहनीय को वेदनीयकर्म से पृथक् कहा है।

२. हास्यादिषट्क के लक्षणों में कहीं पर तो सनिमित्त और अनिमित्त शब्द का प्रयोग कर दिया गया है और कहीं पर नहीं, लेकिन सर्वत्र उक्त दोनों शब्दों का प्रयोग समझना चाहिये और इन दोनों शब्दों का आशय यह है कि सनिमित्त कारणवश अर्थात् तात्कालिक बाह्य पदार्थ कारण हो तो सनिमित्त और मात्र मानसिक विचार ही निमित्त हो तो अनिमित्त–अकारण, बिना कारण के ऐसा आशय विवक्षित है।

३. जिस कर्म के उदय से जीव को नरकगति का जीवन बिताना पड़ता है, उसे नरकायु कहते हैं। इसी प्रकार तिर्यंच, मनुष्य और देव आयुओं के, लक्षण समझ लेना चाहिये।

४. नामकर्म की इन गति आदि चौदह पिंडप्रकृतियों के क्रमशः चार, पांच, पांच, तीन, पांच, पांच, छह, छह, पांच, दो, पांच, आठ, चार और दो अवान्तर भेद होते हैं। इन सब भेदों को जोड़ने से कुल पैंसठ भेद हो जाते हैं।

गइयाईण उ कमसो चउ पण पण ति पण पंच छच्छक्कं।
पण दुग पणट्ठ चउ दुग इय उत्तरभेय पणसट्ठी॥

––प्रथम कर्मग्रंथ ३०

इन प्रकृतियों को पिण्डप्रकृतियां कहा गया है । इनके लक्षण और गर्भित अवान्तर भेदों के नाम इस प्रकार हैं—

१. **गति—गम्यते तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिः नारकत्वादिपर्यायपरिणतिः—** जो तथाविध (उस नाम वाले) कर्म की सहायता से जीवों द्वारा गम्य अर्थात् प्राप्त करने योग्य होती है, अथवा प्राप्त की जाती है, उसे गति कहते हैं । अर्थात् नारकत्व आदि पर्याय की परिणति होना गति कहलाती है । वह चार प्रकार की है—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति । इन नारकादि के विपाक का वेदन कराने वाली कर्मप्रकृति भी उस नाम वाली गतिकर्म कहलाती है, अतः वह भी चार प्रकार की है ।

२. **जाति—एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनं तथाविधसमानपरिणतिलक्षणं सामान्यं जातिः—**एकेन्द्रिय आदि जीवों के लिये एकेन्द्रिय आदि शब्द की प्रवृत्ति के कारणभूत और उस प्रकार की समान परिणति लक्षण वाले सामान्य को जाति कहते हैं और उसके विपाक का वेदन कराने वाली कर्मप्रकृति भी जाति कहलाती है ।

जाति नामकर्म को पृथक् मानने के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों का यह अभिप्राय है—द्रव्यरूप इन्द्रियां तो अंगोपांग नामकर्म और इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म की सामर्थ्य से सिद्ध हैं और भावरूप इन्द्रियां स्पर्शन आदि इन्द्रियावरण कर्मों के क्षयोपशम की सामर्थ्य से सिद्ध होती हैं, क्योंकि **'क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणीति वचनात्'** इन्द्रियां क्षायोपशमिक होती हैं—ऐसा आगमवचन है । किन्तु जो एकेन्द्रिय आदि शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त रूप सामान्य है, वह जाति से भिन्न अन्य प्रकृति के द्वारा साध्य न होने से जाति नामकर्म के निमित्त से होता है ।

शंका—शब्द की प्रवृत्ति के निमित्त से जाति की सिद्धि नहीं होती है। अन्यथा हरि आदि पद की प्रवृत्ति का निमित्त होने से हरित्व आदि रूप भी जाति सिद्ध होगी। अतएव एकेन्द्रिय आदि का व्यवहार उपाधिविषयक ही मानना चाहिए। तब जाति नामकर्म की आवश्यकता ही नहीं रहती है और यदि इस प्रकार एकेन्द्रिय आदि के व्यवहार से एकेन्द्रिय आदि जाति मानी जाती है, तब नारकत्वादि भी नारक आदि व्यवहार की निमित्तभूत पंचेन्द्रियत्व आदि में व्याप्त जाति ही मानना चाहिये। ऐसी स्थिति में गति नामकर्म की आवश्यकता नहीं रहती है।

समाधान—उक्त तर्क का समाधान यह है कि अपकृष्ट—अत्यल्प चैतन्य आदि के नियामक रूप से एकेन्द्रिय आदि जाति की सिद्धि होती है। वही एकेन्द्रिय आदि के व्यवहार का निमित्त है। अतः लाघव से (अल्पअक्षरों में, संक्षेप में कथन करने की दृष्टि से) और एकेन्द्रिय आदि में उत्पन्न होने का कारण होने से जाति नामकर्म की पृथक् सिद्धि होती है । नारकत्व आदि जाति रूप नहीं हैं। अन्यथा तिर्यञ्चत्व का पंचेन्द्रियत्व आदि के साथ सांकर्य हो जायेगा। किन्तु सुख-दुःख विशेष के

उपभोग का नियामक जो परिणामविशेष है और उसका जो कारण रूप है, उससे गति नामकर्म की पृथक् सिद्धि होती है।[1]

जाति पांच प्रकार की हैं—एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति। इसीलिये इनका विपाक-वेदन कराने वाला जाति नामकर्म भी पांच प्रकार का है।

३. **शरीर—शीर्यत इति शरीरं**—जो सड़े-गले, बिखरे, उसे शरीर कहते हैं। शरीर के पांच भेद हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। इसीलिये इन शरीरों के विपाक का वेदन कराने वाला शरीर नामकर्म भी पांच प्रकार का है।

यदुदयादौदारिकशरीरयोग्यान् पुद्गलानादायौदारिकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया संबन्धयति तदौदारिकशरीरनाम—जिसके उदय से जीव औदारिक शरीर के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके औदारिक शरीर रूप से परिणमाता है और परिणमा करके जीवप्रदेशों के साथ परस्पर प्रवेश रूप से सम्बन्ध कराता है, वह औदारिकशरीर नामकर्म है।

इसी प्रकार शेष शरीर नामकर्म के अर्थ (लक्षण) जान लेना चाहिये।

४. **अंगोपांग**—शिर (मस्तक) आदि आठ अंग होते हैं— **"सीसमुरोयरपिट्ठी दो बाहू ऊरुया य अट्ठंगा"** शिर, उर (वक्षस्थल), उदर (पेट), पीठ, दो भुजायें और दो पैर। इन अंगों के अवयवरूप जो अंगुली आदि हैं, वे उपांग कहलाते हैं और इनके प्रत्यवयवभूत जो अंगुली आदि की पर्व, रेखायें आदि, वे अंगोपांग कहलाती हैं। इस प्रकार अंग और उपांग के समुदाय को अंगोपांग कहते हैं तथा अंग, उपांग और अंगोपांग का समुदाय भी अंगोपांग कहलाता है। क्योंकि व्याकरणशास्त्र के **'स्यादावसंख्येय'** (सि. ३/१/११९) इत्यादि सूत्र से एक शेष रहता है। इस प्रकार अंगोपांग का निमित्तभूत कर्म भी अंगोपांग कहलाता है—**तन्निमित्तं कर्मांगोपांगं**। वह तीन प्रकार का होता है—औदारिक-अंगोपांग, वैक्रिय-अंगोपांग और आहारक-अंगोपांग।

यदुदयवशादौदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामंगोपांगविभागपरिणातिरुपजायते तदौदारिकोपांगनाम—जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप से परिणत पुद्गलों की औदारिक शरीर के अंग और उपांग के विभाग रूप से परिणति होती है, वह औदारिक-अंगोपांग नामकर्म है। इसी प्रकार वैक्रिय-अंगोपांग और आहारक-अंगोपांग नामकर्म के भी लक्षण समझ लेना चाहिये।

---

१. जाति नामकर्म को पृथक् मानने के प्रसंग में उक्त समाधान के अतिरिक्त यह एक और दृष्टिकोण है—जाति नामकर्म जिस अव्यभिचारी सादृश्य से नारक आदि संसारी जीवों में एकपने का जैसा बोध करता है, वैसा गति नामकर्म से नहीं होता है। जाति नामकर्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि भाव का नियामक कर्म है। अतः यदि जाति नामकर्म पृथक् न माना जाये तो हाथी, घोड़ा, बैल, मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीव भी भ्रमर, मच्छर, इन्द्रगोप, वृक्ष आदि के आकार वाले और ये हाथी आदि के आकार के हो जायेंगे। इस प्रकार प्रतिनियत सादृश्य और प्रतिनियत इन्द्रियों की व्यवस्था को बतलाने वाला जातिनामकर्म पृथक् सिद्ध होता है।

तैजस और कार्मण शरीर का आकार जीव के प्रदेशों के समान ही होता है, इसलिये उन दोनों शरीरों के (उस, उस नाम वाले) अंगोपांग सम्भव नहीं हैं।

५. बन्धन—बध्यतेऽनेनेति बंधनं, यदुदयादौदारिकादिपुद्गलानां गृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परमेकत्वमुपजायते काष्ठद्वयस्येव जतुसम्बन्धात्—जिसके द्वारा बांधा जाये, उसे बंधन कहते हैं। अतः जिस कर्म के उदय से जैसे—लाख के संबंध से दो काष्ठों का सम्बन्ध हो जाता है, वैसे ही औदारिक आदि शरीरों के पूर्वगृहीत और गृह्यमाण (वर्तमान में ग्रहण किये जा रहे) पुद्गलों का परस्पर एकत्व होता है, वह बन्धन नामकर्म है। औदारिकबन्धन आदि के भेद से बन्धन नामकर्म पांच प्रकार का है।

६. संघातन—संघात्यन्ते गृहीत्वा पिण्डीक्रियन्ते औदारिकादिपुद्गला येन तत्संघातनं—जिसके द्वारा औदारिकादि शरीरों के पुद्गल संघात किये जाते हैं, एक पिंड रूप बना दिये जाते हैं, वह संघातन नामकर्म है। औदारिकसंघातन आदि के भेद से यह कर्म भी पांच प्रकार का है।

शंका—इस संघातन कर्म का क्या व्यापार (कार्य) है? यदि पुद्गलों को एकत्रित करना मात्र इसका कार्य है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पुद्गलों का संघात तो पुद्गलों के ग्रहण मात्र से ही सिद्ध हो जाता है, उसमें संघातन नामकर्म का कोई उपयोग नहीं है। यदि यह कहा जाये कि औदारिक आदि शरीरों की रचना का अनुकरण करने वाला संघातविशेष इस कर्म का व्यापार है, ऐसा सम्प्रदाय का (जैनदर्शन अथवा कर्मसिद्धान्त का) मत माना जाये तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि तंतुओं के समुदाय को जैसे पट कहा जाता है, उसके समान औदारिक आदि वर्गणाओं के द्वारा उत्पन्न होने वाले पुद्गलसमुदाय को भी औदारिक शरीरादि में हेतु होने से संघातन के स्वरूप में किसी अधिक विशेष पद का आश्रय नहीं लिया गया है।

समाधान—आपका कथन सत्य है। प्रतिनियत प्रमाण रूप औदारिक आदि शरीरों की रचना के लिये संघातविशेष अवश्य आश्रय करने योग्य होता है। इसलिये उसके निमित्तभूत तारतम्य का भागी होने से संघातन नामकर्म की सिद्धि होती है, इसलिये सम्प्रदाय का अभिप्राय ही युक्तिसंगत है।[1]

७. संहनन—संहननं नामास्थिरचनाविशेषः—हड्डियों की रचनाविशेष को संहनन कहते हैं।[2] वह छह प्रकार का है—वज्रऋषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१. वज्रं कीलिका, ऋषभः परिवेष्टनपट्टः, नाराचमुभयतो मर्कटबन्धः ततश्च, द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदिकीलिकाख्यवज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद्वज्रर्षभनाराचसंज्ञमाद्यं संहननं—वज्र नाम कीलिका का है, परिवेष्टन

---

१. अतः शरीर की रचना के लिये प्रतिनियत योग्य पुद्गलों को सन्निहित करना; एक दूसरे के पास व्यवस्थित रूप से स्थानापन्न करना, जिससे उन पुद्गलों की परस्पर में प्रदेशों के अनुप्रवेश से एकरूपता प्राप्त हो सके, यही उसका कार्य है। इसीलिये संघात नामकर्म पृथक् माना है। संघातन का अर्थ सामीप्य होना, सान्निध्य होना। पूर्वगृहीत और गृह्यमाण शरीर पुद्गलों का परस्पर बंधन तभी संभव है जब गृहीत एवं गृह्यमाण पुद्गलों का पारस्परिक सामीप्य हो। अर्थात् दोनों एक दूसरे के निकट होंगे तभी बंधन होना सम्भव है।

२. औदारिक शरीर के अलावा अन्य वैक्रिय आदि शरीरों में हड्डियां नहीं होती हैं। अतः संहनन नामकर्म का उदय औदारिक शरीर में ही होता है।

पट्ट को ऋषभ कहते हैं और दोनों ओर से होने वाले मर्कटबन्ध को नाराच कहते हैं। इसलिये दोनों ओर से मर्कटबंध के द्वारा बंधी हुई दो हड्डियां तीसरी 'पट्टाकृति' वाली हड्डी के द्वारा परिवेष्टित और उन तीनों हड्डियों को भेदन करने वाली वज्र संज्ञावाली कीलिका नाम की हड्डी जहाँ होती है, उसे वज्रऋषभनाराचसंहनन कहते हैं।

२. **यत्पुनः कीलिकारहितं तदृषभनाराचं द्वितीयं**—जो संहनन उपर्युक्त प्रकार वाले संहनन में से कीलिकारहित होता है, वह ऋषभनाराचसंहनन नामक दूसरा संहनन है।

३. **यत्रास्थ्नोर्मर्कटबन्ध एव केवलस्तन्नाराचसंज्ञं तृतीयं**—जहाँ दो हड्डियों में केवल मर्कटबंध ही होता है, वह नाराच नामक तीसरा संहनन है।

४. **यत्र पुनरेकपार्श्वे मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वे च कीलिकाबन्धस्तदर्द्धनाराचं चतुर्थं**—जिसके एक पार्श्व (बाजू) में मर्कटबन्ध हो और दूसरे पार्श्व में कीलिका बंध हो, वह अर्धनाराच नामक चौथा संहनन है।

५. **यत्रास्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति तत्कीलिकाख्यं पंचमं**—जिसमें हड्डियां केवल कीलों से ही बंधी होती हैं, वह कीलिका नामक पांचवां संहनन है।

६. **यत्र पुनः परस्परं पर्यन्तस्पर्शमात्रलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति नित्यमेव स्नेहाभ्यंगादिरूपां सेवां प्रतीच्छन्ति वा तत्सेवार्त्ताख्यं षष्ठं**—जिसमें हड्डियां परस्पर पर्यन्तभाग में स्पर्श करने मात्र लक्षण वाली सेवा (संबन्ध) को प्राप्त होती हैं, अथवा जो संहनन नित्य ही तेलमर्दन आदि रूप सेवा की इच्छा करता है, वह सेवार्त नामक छठा संहनन है।

उक्त छहों संहननों का कारणभूत संहनन नामकर्म भी छह प्रकार का है।

८. **संस्थान—संस्थानमाकारविशेषः, संगृहीतसंघातितबद्धेष्वौदारिकादिपुद्गलेषु यदुदयाद्भवति तत्संस्थाननाम**—आकारविशेष को संस्थान नाम कहते हैं, अतः संग्रह किये गये, संघात रूप से बंधे हुए औदारिक आदि पुद्गलों में जिसके उदय से आकारविशेष होता है, वह संस्थान[1] नामकर्म है। वह समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन और हुंड के भेद से छह प्रकार का है।

१. **यदुदयात्समचतुरस्रं संस्थानं स्यात्तत्समचतुरस्रसंस्थाननाम**—जिसके उदय से समान चतुष्कोण युक्त संस्थान (आकार) होता है, वह समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म है। इसी प्रकार अन्य संस्थान नामकर्म के लक्षणों के लिये भी जानना चाहिये। जिस शरीर में 'सम' अर्थात् सामुद्रिक शास्त्रोक्त प्रमाणरूप लक्षण अविसंवादी चारों अस्र (कोण) होते हैं, अर्थात् जिस शरीर के अवयव समानरूप से चारों दिग्भाग से संयुक्त होते हैं, ऐसे आकार को समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं।

२. **नाभेरुपरि संपूर्णप्रमाणत्वादधस्त्वतथात्वादुपरिसंपूर्णप्रमाणाधोहीनन्यग्रोधवत्परिमंडलत्वं यस्य तन्न्यग्रोधपरिमंडलं**—नाभि से ऊपर संपूर्ण प्रमाण वाले और नाभि से नीचे उससे विपरीत प्रमाण वाले आकार को न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान कहते हैं। न्यग्रोध वटवृक्ष का नाम है। जैसे वह

१. संहनन एवं संस्थान की आकृतियों को परिशिष्ट में देखिये।

तने से ऊपर विशाल और नीचे हीन प्रमाण वाला होता है, उसके समान जो शरीर नाभि से नीचे हीन अंग वाला और नाभि से ऊपर विशाल अंग वाला होता है, उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान जानना चाहिये ।

३. तीसरा सादि संस्थान है । यहाँ पर आदि का अर्थ उत्सेध (मूल) नाभि से नीचे का देहभाग ग्रहण किया गया है। अतः जो इस प्रकार के आदि रूप नाभि से अधस्तन यथोक्त प्रमाण लक्षण वाले भाग के साथ रहे, उसे सादि कहते हैं । विशेषण की अन्यथानुपपत्ति से उक्त विशिष्ट अर्थ प्राप्त होता है ।

कुछ दूसरे आचार्य 'सादि' के स्थान पर 'साचि' ऐसा पाठ प्रयुक्त करते हैं । इस पाठ के अनुसार 'साचि' इस पद का सिद्धान्तवेत्ता आचार्य शाल्मली (सेमल) वृक्ष अर्थ करते हैं । जैसे शाल्मली वृक्ष का स्कन्ध, कांड अतिपुष्ट होता है और ऊपर तदनुरूप महाविशालता नहीं होती है। अतः उसके समान ही जिस संस्थान का अधोभाग तो परिपूर्ण हो, किन्तु उपरिम भाग परिपूर्ण न हो । सारांश यह है कि जो संस्थान साचि (शाल्मली, सेमल) वृक्ष के जैसे आकार का हो, वह साचिसंस्थान है।

४. **यत्र शिरोग्रीवं हस्तपादादिकं च यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेतं उरउदरादि च मडभं तत्कुब्जं**—जिस शरीर में शिर, ग्रीवा, हाथ, पैर आदि अवयव तो यथोक्त प्रमाण वाले लक्षण से युक्त हों, किन्तु वक्षस्थल और उदर आदि कूबड़युक्त हों, वह कुब्जसंस्थान है ।

५. **यत्र पुनरुदरादि प्रमाणलक्षणोपेतं हस्तपादादिकं च हीनं तद्वामनं**—जिस शरीर में वक्षस्थल, उदर आदि तो प्रमाण लक्षण से युक्त हों, किन्तु हाथ, पैर आदि हीनता युक्त हों, वह वामन-संस्थान है ।

६. **यत्र तु सर्वेऽप्यवयवाः प्रमाणलक्षणपरिभ्रष्टास्तत् हुंडं**—जिस शरीर में सभी अवयव प्रमाणलक्षण (प्रमाणोपेत) से रहित हों, वह हुंडसंस्थान कहलाता है ।

९. **वर्ण—वर्ण्यतेऽलंक्रियते शरीरमनेनेति वर्णः**—जिसके द्वारा शरीर अलंकृत किया जाये, रंगा जाये, उसे वर्ण कहते हैं। वह श्वेत, पीत, रक्त, नील और कृष्ण के भेद से पांच प्रकार का है । अतः शरीरों में इन वर्णों को उत्पन्न करने का कारणभूत कर्म भी पांच प्रकार का होता है।

जिस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीर में श्वेत वर्ण उत्पन्न हो, वह श्वेतवर्ण नामकर्म है। जैसे—बगुला आदि का श्वेतवर्ण होता है—**यदुदयाज्जन्तूनां शरीरे श्वेतवर्णः प्रादुर्भवेत् यथा बलाकादीनां तच्छ्वेतवर्णनाम** । इसी प्रकार पीत आदि वर्णों के लक्षण भी जान लेना चाहिये ।

१०. **गंध—गन्ध्यते आघ्रायते इति गन्धः**—नासिका के द्वारा जो सूंघा जाये, वह गंध कहलाता है । वह दो प्रकार का होता है—सुरभिगंध और दुरभिगंध । इन दोनों प्रकार की गंधों का कारणभूत नामकर्म भी दो प्रकार का है । उनमें से—**यदुदयाज्जन्तूनां शरीरेषु सुरभिगन्ध उपजायते यथा शतपत्रादीनां तत्सुरभिगन्धनाम, एतद्विपरीतं दुरभिगन्धनाम**—जिस कर्म के उदय से

प्राणियों के शरीरों में कमल आदि की सुरभिगंध की तरह सुरभिगन्ध उत्पन्न होती है, वह सुरभिगंध नामकर्म है, इसके विपरीत दुरभिगंध नामकर्म जानना चाहिये ।

११. रस--रस्यते आस्वाद्यते इति रसः--जिसका स्वाद लिया जाये, उसे रस कहते हैं । यह तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर के भेद से पांच प्रकार का है और इनकी उत्पत्ति का कारणभूत नामकर्म भी पांच प्रकार का है । उनमें से--**यदुदयाज्जन्तूनां शरीरेषु तिक्तो रसो भवति यथा मरिचादीनां तत्तिक्तरसनाम**--जिसके उदय से प्राणियों के शरीरों में मिर्च आदि के समान तिक्त (चिरपरा) रस उत्पन्न होता है, वह तिक्तरस नामकर्म है । इसी प्रकार शेष रस नामकर्मों का भी अर्थ जानना चाहिये ।

१२. स्पर्श--स्पृश्यते इति स्पर्शः--जो छुआ जाये, वह स्पर्श कहलाता है । वह कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण के भेद से आठ प्रकार का है । इस स्पर्श का कारणभूत नामकर्म भी आठ भेद वाला है । उनमें से--**यदुदयाज्जन्तूनां शरीरेषु पाषाणादीनामिव कार्कश्यं भवति तत्कर्कशस्पर्शनाम**--जिसके उदय से प्राणियों के शरीरों में पाषाण आदि के समान कर्कशता उत्पन्न होती है, वह कर्कश नामकर्म है । इसी प्रकार शेष स्पर्श नामकर्मों का भी अर्थ जानना चाहिये ।

१३. आनुपूर्वी--विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियता गमनपरिपाट्यानुपूर्वी, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरप्यानुपूर्वी--विग्रह से भवान्तर के उत्पत्तिस्थान को जाते हुए जीव की श्रेणी (आकाश प्रदेशपंक्ति) के अनुसार नियत रूप से जो गमन परिपाटी होती है, उसे आनुपूर्वी कहते हैं और इस प्रकार के विपाक का वेदन कराने वाली कर्मप्रकृति भी आनुपूर्वी कहलाती है । वह चार प्रकार की है- नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ।

१४. विहायोगति[1]--विहायसा गतिर्विहायोगतिः--आकाश द्वारा होने वाली गति विहायोगति कहलाती है । प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से वह दो प्रकार की है । हंस, हाथी और बैल आदि की प्रशस्त गति होती है और गर्दभ, ऊंट, भैंसा आदि की अप्रशस्त गति होती है और इसी प्रकार की विपाकवेद्य विहायोगति कर्मप्रकृति भी दो प्रकार की है ।

यह पिंडप्रकृतियों का लाक्षणिक अर्थ है, इनके पैंसठ अवान्तर भेद होते हैं । अब क्रमप्राप्त प्रत्येक प्रकृतियों का कथन करते हैं ।

अप्रतिपक्ष प्रत्येक प्रकृतियां

सप्रतिपक्ष और अप्रतिपक्ष के भेद से प्रत्येक प्रकृतियां दो प्रकार की हैं । इनमें से अल्पवक्तव्य होने से अप्रतिपक्ष प्रकृतियों का कथन करते हैं । जो अगुरुलघु, उपघात, पराघात,

---

१. विहायोगति में विहायस् विशेषण पुनरुक्ति दोष निवारण हेतु दिया गया है । सिर्फ गति शब्द रखने पर नामकर्म की पहली प्रकृति का नाम भी गति होने से पुनरुक्ति दोष हो सकता था। अतः यहां जीव की चाल अर्थ में गति शब्द को समझने के लिये विहायस् शब्द है, न कि देवगति, मनुष्यगति आदि के अर्थ में।

उच्छ्वास, आतप, उद्योत, निर्माण और तीर्थंकर नामकर्म के भेद से आठ प्रकार की हैं। उनके लक्षण इस प्रकार हैं--

१. **यदुदयात्प्राणिनां शरीराणि न गुरूणि न लघूनि नापि गुरुलघूनि किंत्वगुरुलघुपरिणामपरिणतानि भवन्ति तदगुरुलघुनाम**--जिसके उदय से प्राणियों के शरीर न तो भारी हों और न लघु हों और न गुरुलघु ही हों किन्तु यथायोग्य अगुरुलघु परिणाम से परिणत होते हैं, उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं।

२. **यदुदयात्स्वशरीरावयवैरेव प्रतिजिह्वागलवृन्दलंबकचौरदन्तादिभिर्जन्तुरुपहन्यते स्वयंकृतोद्बन्धनभैरवप्रपातादिभिर्वा तदुपघातनाम**--जिसके उदय से प्रतिजिह्वा (पड़जीभ), गलवृन्द, लंबक, चौरदन्त आदि के द्वारा प्राणी उपघात को प्राप्त हो, अथवा स्वयंकृत बंधन, (फांसी), भैरवप्रपात अर्थात् भयंकर पर्वत आदि से गिरने आदि द्वारा मारा जाये, उसे उपघात नामकर्म कहते हैं।

३. **यदुदयादोजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महासभागतः सभ्यानामपि त्रासमुत्पादयति प्रतिवादिनश्च प्रतिभां प्रतिहन्ति तत्पराघातनाम**--जिसके उदय से जीव ऐसा ओजस्वी हो कि जिसके दर्शन से अथवा वचन-सौष्ठवता से बड़ी सभा में जाने पर जो सभासदों को भी त्रास उत्पन्न करे और प्रतिवादी की प्रतिभा का घात करे, उसे पराघात नामकर्म कहते हैं।

४. **यदुदयादुच्छ्वासनिःश्वासलब्धिरुपजायते तदुच्छ्वासनाम**--जिसके उदय से उच्छ्वास और निःश्वास रूप लब्धि उत्पन्न होती है, वह उच्छ्वास नामकर्म है।

५. **यदुदयाज्जन्तुशरीराणि स्वरूपेणानुष्णान्यप्युष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति तदातपनाम**--जिसके उदय से प्राणियों के शरीर मूल स्वरूप से तो अनुष्ण (उष्णता रहित, शीतल) होते हुए भी उष्ण प्रकाशरूप ताप करते हैं, वह आतप नामकर्म है। इस कर्म का विपाक सूर्यमंडलगत पृथ्वीकायिक जीवों में ही होता है, अग्नि में नहीं। अग्नि में आतप नामकर्म के उदय का प्रवचन में निषेध किया गया है। किन्तु अग्नि में उष्णता उष्णस्पर्श नामकर्म के उदय से एवं उत्कट लोहित वर्ण नामकर्म के उदय से प्रकाशपना कहा गया है।

६. **यदुदयाज्जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतं कुर्वन्ति यथा यतिदेवोत्तरवैक्रियचन्द्रग्रहनक्षत्रताराविमानरत्नौषधयस्तदुद्योतनाम**--जिसके उदय से प्राणियों के शरीर अनुष्ण (शीतल) प्रकाश रूप उद्योत करते हैं, जैसे-साधु और देव के उत्तर वैक्रियशरीर में से तथा चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं के विमानों, रत्नों और औषधिविशेषों में से शीतल प्रकाश निकलता है, वह उद्योत नामकर्म है।

७. **यदुदयाज्जन्तुशरीरेष्वङ्गप्रत्यङ्गानां प्रतिनियतस्थानवर्त्तिता भवति तन्निर्माणनाम सूत्रधारकल्पं**--जिसके उदय से प्राणियों के शरीरों में अंगों और प्रत्यंगों की अपने-अपने नियत स्थान पर रचना होती है, वह सूत्रधार के समान निर्माण नामकर्म है।

इस कर्म का अभाव मानने पर भृतक (सेवक) सदृश अंगोपांग आदि नामकर्म के द्वारा शिर, उर, उदर आदि की रचना होने पर भी नियत स्थान पर उनके होने का नियम नहीं रहेगा।

८. **यदुदयादष्टमहाप्रातिहार्याद्यतिशयाः प्रादुर्भवन्ति तत्तीर्थकरनाम**—जिसके उदय से अष्ट महाप्रातिहार्य[1] आदि अतिशय प्रगट होते हैं, वह तीर्थंकर नामकर्म है।

इस प्रकार अप्रतिपक्षा प्रत्येक प्रकृतियों का स्वरूप है। अब सप्रतिपक्षा प्रकृतियों के स्वरूप का कथन करते हैं।

सप्रतिपक्षा प्रत्येक प्रकृतियां

त्रसदशक और स्थावरदशक के भेद से सप्रतिपक्षा प्रकृतियां बीस हैं। उनमें से त्रसदशक के नाम इस प्रकार हैं—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुस्वर, सुभग, आदेय और यशःकीर्ति तथा स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति, ये स्थावरदशक हैं।

प्रतिपक्ष प्रकृति सहित इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

त्रस-स्थावर—त्रसन्त्युष्णाद्यभितप्ताः स्थानान्तरं गच्छन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादयः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि त्रसनाम। तद्विपरीतं स्थावरनाम, यदुदयादुष्णाद्यभितापेऽपि स्थानपरिहारासमर्थाः पृथिव्यादयः स्थावरा भवन्ति—जो उद्वेग को प्राप्त होते हैं और उष्णता आदि से संतप्त होकर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं, ऐसे द्वीन्द्रिय आदि जीव त्रस कहलाते हैं। इस प्रकार की विपाकवेद्य कर्मप्रकृति भी त्रस नामकर्म कहलाती है। इसके विपरीत स्थावर नामकर्म है कि जिसके उदय से उष्णता आदि से संतप्त होने पर भी जो अपने स्थान का परिहार करने में असमर्थ होते हैं, ऐसे पृथ्वी आदि जीव स्थावर हैं।

बादर-सूक्ष्म[2]—यदुदयाज्जीवानां चक्षुर्ग्राह्यशरीरत्वलक्षणं बादरत्वं भवति तद्बादरनाम—जिसके उदय से जीव का शरीर नेत्रों से ग्रहण करने योग्य होता है, वह बादर नामकर्म है। पृथ्वी आदि का एक-एक शरीर नेत्रों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होने पर भी बादरत्व के परिणामविशेष से अनेक शरीरों का समुदाय होने पर उनके शरीरों का नेत्र से ग्रहण होता ही है। **तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम, यदुदयाद् बहूनां समुदितानामपि जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता न भवति**—बादर नामकर्म से विपरीत सूक्ष्म नामकर्म है, जिसके उदय से समुदाय को प्राप्त भी बहुत से प्राणियों के शरीर नेत्रों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं।

पर्याप्त-अपर्याप्त[3]—यदुदयात्स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्त्तनसमर्थो भवति तत्पर्याप्तनाम, तद्विपरीत-मपर्याप्तनाम, यदुदयात्स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्त्तनसमर्थो न भवति—जिसके उदय से जीव अपने योग्य

---

१. आठ महाप्रातिहार्यों के नाम इस प्रकार हैं—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

१. अशोकवृक्ष, २. सुरपुष्पवृष्टि, ३. दिव्यध्वनि, ४. चामर, ५. आसन, ६. भामण्डल, ७. दुन्दुभि और ८. आतपत्र (छत्र)।

२. बादर और सूक्ष्म नामकर्म का विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

३. पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्म का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

पर्याप्तियों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, वह पर्याप्त नामकर्म है। इसके विपरीत अपर्याप्त नामकर्म कहलाता है कि जिसके उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों के निर्माण करने में समर्थ नहीं होता है।

प्रत्येक-साधारण शरीर--यदुदयात् प्रतिजीवं भिन्नशरीरमुपजायते तत् प्रत्येकनाम---जिसके उदय से प्रत्येक जीव का भिन्न-भिन्न शरीर उत्पन्न होता है, वह प्रत्येक नामकर्म है। **यदुदयादनन्तानां जीवनामेकं शरीरं भवति तत्साधारणनाम**---जिसके उदय से अनन्त जीवों का एक शरीर होता है, वह साधारण नामकर्म है।

शंका--प्रवचन (आगम) में कपित्थ (कबीट-कैंथा), अश्वत्थ (वट), पीलू (पिलखन) आदि वृक्षों के मूल, स्कन्ध, त्वक् (छाल), शाखा आदि प्रत्येक असंख्यात-असंख्यात जीव वाले कहे गये हैं, किन्तु मूल आदि देवदत्त के शरीर के समान अखंडित एक शरीर के आकार रूप पाये जाते हैं, तब उन कपित्थ आदि के प्रत्येकशरीरपना कैसे सम्भव है? क्योंकि उनमें प्रत्येक जीव के पृथक्-पृथक् शरीरभेद का अभाव है।

समाधान--यह कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उन मूल आदि में भी असंख्यात जीवों के भिन्न-भिन्न शरीर माने गये हैं। केवल श्लेषद्रव्य से मिश्रित बहुत-से सरसों की वर्त्ती के समान प्रबल राग-द्वेष से संचित विचित्र प्रत्येक नामकर्म के पुद्गलों के उदय से उन जीवों का परस्पर मिला हुआ शरीर होता है।[1]

स्थिर-अस्थिर--यदुदयाच्छिरोऽस्थिदन्तादीनां शरीरावयवानां स्थिरता भवति तत् स्थिरनाम, तद्विपरीतमस्थिरनाम, यदुदयाज्जिह्वादीनां शरीरावयवानामस्थिरता--जिसके उदय से शिर, हड्डी, दांत आदि शरीर के अवयवों की स्थिरता होती है, वह स्थिर नामकर्म है। इसके विपरीत अस्थिर नामकर्म है कि जिसके उदय से जिह्वादि शरीर के अवयवों की अस्थिरता रहती है।

शुभ-अशुभ--यदुदयान्नाभेरुपरितना अवयवाः शुभा जायन्ते तच्छुभनाम, तद्विपरीतमशुभनाम, यदुदयान्नाभेरधस्तनाः पादादयोऽवयवा अशुभा भवन्ति---जिसके उदय से नाभि से ऊपर के अवयव शुभ होते हैं, वह शुभ नामकर्म है और इससे विपरीत अशुभ नामकर्म कहलाता है कि जिसके उदय से नाभि से नीचे के पैर आदि अवयव अशुभ होते हैं। जैसे कि शिर से स्पर्श किये जाने पर मनुष्य को संतोष प्राप्त होता है और पैर से स्पर्श किये जाने पर क्रोधाभिभूत हो जाता है। कामिनी के पादस्पर्श होने पर भी कामी पुरुष जो संतोष का अनुभव करता है, वह कामरागजनित मोहनिमित्तक है, वास्तव नहीं। अतः अशुभ नामकर्म के उक्त लक्षण में व्यभिचार, दोष नहीं है।

सुस्वर-दुःस्वर—यदुदयाज्जीवस्वरः श्रोतृप्रीतिहेतुर्भवति तत्सुस्वरनाम, तद्विपरीतं दुःस्वरनाम, यदुदयात्स्वरः श्रोतृणामप्रीतिहेतुर्भवति---जिसके उदय से जीव का स्वर श्रोताओं को प्रीति का कारण होता है, वह सुस्वर नामकर्म है। इसके विपरीत दुःस्वर नामकर्म है कि जिसके उदय से जीव का स्वर श्रोताओं को अप्रीति का कारण होता है।

---

१. साधारण और प्रत्येक नामकर्म के विशेष स्पष्टीकरण के लिये परिशिष्ट देखिये।

सुभग-दुर्भग—यदुदयादनुपकृदपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत्सुभगनाम, तद्विपरीतं दुर्भगनाम, यदुदयादुपकारकृदपि जनस्य द्वेष्यो भवति—जिसके उदय से उपकार नहीं करने पर भी मनुष्य सबका मनोप्रिय होता है, वह सुभग नामकर्म है। इसके विपरीत दुर्भग नामकर्म कहलाता है कि जिसके उदय से उपकार करने वाला भी मनुष्य लोगों के द्वेष का पात्र होता है ।

तीर्थंकर भी अभव्यों के लिये जो द्वेष के पात्र होते हैं तो उसमें तीर्थंकर के दुर्भग नामकर्म का निमित्त नहीं है, किन्तु इसमें अभव्यों का हृदयगत मिथ्यात्वदोष ही कारण है, ऐसा समझना चाहिये।

आदेय-अनादेय—यदुदयाल्लोको यत्तदपि वचनं प्रमाणीकरोति, दर्शनसमनन्तरमेव चाभ्युत्थानाद्याचरति तदादेयनाम, तद्विपरीतमनादेयनाम, यदुदयादुपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेयवचनो भवति, नाप्यभ्युत्थानादियोग्यः—जिसके उदय से जिस किसी भी वचन को लोक प्रमाण मानते हैं और जिसको देखने के अनन्तर आदर-सत्कार हेतु अभ्युत्थानादि का आचरण करते हैं, वह आदेय नामकर्म है और इसके विपरीत अनादेय नामकर्म है कि जिसके उदय से योग्य वचन को बोलता हुआ भी पुरुष उपादेय वचन वाला नहीं होता और न अभ्युत्थान आदि के ही योग्य होता है ।

यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति—तप, शौर्य, त्यागादि के द्वारा उपार्जन किये गये यश से जिसाक कीर्तन किया जाये, उसे यशःकीर्ति कहते हैं। अथवा सामान्य रूप से ख्याति को यश और गुणों के कीर्त्तन रूप प्रशंसा को कीर्ति कहते हैं । अथवा एक दिशा में फैलने वाली प्रसिद्धि को कीर्ति कहते हैं एवं सर्व दिशा में फैलने वाली ख्याति यश कहलाती है । अथवा दान-पुण्य-जनित प्रसिद्धि को कीर्ति और पराक्रमजनित प्रख्याति को यश कहते हैं ।[1]

ते यशःकीर्त्ती यदुदयाद्भवतस्तद्यशःकीर्त्तिनाम, तद्विपरीतमयशःकीर्त्तिनाम, यदुदयान्मध्यस्थस्यापि जनस्याप्रशस्तो भवति—वे यश और कीर्ति जिस कर्म के उदय से होते हैं, वह यशःकीर्तिनाम है। इसके विपरीत अयशःकीर्ति नामकर्म है कि जिसके उदय से मध्यस्थ भी रहने वाला मनुष्य लोकों द्वारा प्रशंसनीय नहीं होतप्रा है ।

इस प्रकार प्रतिपक्ष सहित प्रत्येक प्रकृतियों के लक्षण जानना चाहिये। इनमें से त्रसादि दस कृतियां त्रसदशक और स्थावरादि दस प्रकृतियां स्थावरदशक कहलाती हैं ।

गोत्रकर्म की उत्तरप्रकृतियां

गोत्रकर्म की दो उत्तर प्रकृतियां हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र ।

१. यदुदयादुत्तमजातिकुलबलतपोरूपैश्वर्यश्रुतसत्काराभ्युत्थानासनप्रदानाञ्जलिप्रग्रहादिसम्भवस्तदुच्चैर्गोत्रं—जिसके उदय से उत्तम जाति, कुल, बल, तप, रूप, ऐश्वर्य, शास्त्रज्ञान, सत्कार, अभ्युत्थान, आसनप्रदान और अंजलिप्रग्रह (हाथ जोड़ना) आदि संभव होता है, वह उच्चगोत्रकर्म है।

२. यदुदयात् पुनर्ज्ञानादिसंपन्नोऽपि निन्दां लभते हीनजात्यादिसंभवं च तन्नीचैर्गोत्रं—जिसके उदय से ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न भी पुरुष निंदा को पाता है और हीन जाति, कुलादिक में उत्पन्न होता है, वह नीचगोत्रकर्म है।

---

१. एक दिग्गामिनी कीर्त्तिः सर्वदिग्गामुकं यशः। दानपुण्यभवा कीर्त्तिः पराक्रमकृतं यशः॥

अन्तरायकर्म की उत्तरप्रकृतियां

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यान्तराय के भेद से अन्तरायकर्म की पांच उत्तरप्रकृतियां हैं।

१. यदुदयात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे दत्तमस्मै महाफलमिति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद्दानान्तरायं—जिसके उदय से धन-वैभव होने पर, गुणवान् पात्र के उपस्थित होने पर और उसके लिये दिया गया दान महान फल वाला होता है, ऐसा जानता हुआ भी व्यक्ति दान देने के लिये उत्साहित नहीं होता है, वह दानान्तरायकर्म है।

२. यदुदयाद्दातुर्गृहे विद्यमानमपि देयं गुणवानपि याचमानोऽपि न लभते तल्लाभान्तरायं—जिसके उदय से दाता के घर में विद्यमान भी देय वस्तु को मांगने वाला गुणवान पुरुष भी उसे प्राप्त न कर सके, वह लाभान्तरायकर्म कहलाता है।

३-४. यदुदयाद्विशिष्टाहारादि प्राप्तावप्यसति च प्रत्याख्यानादिपरिणामे कार्पण्यान्नोत्सहते भोक्तुं तद्भोगान्तरायं—जिसके उदय से विशिष्ट आहारादि की प्राप्ति होने पर भी और प्रत्याख्यान (त्याग) आदि के परिणाम नहीं होने पर भी कृपणतावश भोगने के लिये मनुष्य उत्साहित न हो सके, उसे भोगान्तरायकर्म कहते हैं। इसी प्रकार उपभोगान्तरायकर्म का भी अर्थ जान लेना चाहिये। लेकिन इतना अन्तर (भेद) है कि जो एक बार भोगा जाये, वह भोग और जो बार-बार भोगा जाये, वह उपभोग कहलाता है।

५. यदुदयात्सत्यपि नीरुजि शरीरे यौवनेऽपि वर्तमानोऽल्पप्राणो भवति तद्वीर्यान्तरायं—जिसके उदय से शरीर के निरोग होने पर भी और यौवनावस्था होने पर भी व्यक्ति अल्पप्राण (हीनबल वाला) होता है, वह वीर्यान्तराय कर्म कहलाता है।

बंध, उदय और सत्ता की अपेक्षा उत्तरप्रकृतियों की संख्या

पूर्वोक्त नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियों के पैंसठ अवान्तर भेदों के साथ आठ अप्रतिपक्षा और बीस सप्रतिपक्षा प्रकृतियों को मिला देने पर नामकर्म की तेरानवे प्रकृतियां हो जाती हैं। इनमें से बंध और उदय में बंधन और संघातन नामकर्म अपने-अपने शरीर नामकर्म के अन्तर्गत ही विवक्षित किये जाते हैं, पृथक् नहीं तथा वर्णादिचतुष्क भेदरहित सामान्य से ही विवक्षित किये जाते हैं, इसलिये बंधयोग्य प्रकृतियों का विचार करने के प्रसंग में नामकर्म की तेरानवे प्रकृतियों में से पांच बंधन और पांच संघातन एवं वर्णादि चतुष्क की सोलह प्रकृतियों को घटा देने से सड़सठ प्रकृतियां ग्रहण की जाती हैं तथा मोहनीयकर्म की सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये दो प्रकृतियां अविकृत नहीं की जाती हैं। क्योंकि मिथ्यात्व कर्म के पुद्गलों के सम्यक्त्व उत्पादक यथाप्रवृत्त आदि तीन करणरूप परिणामों की विशुद्धिविशेष से तीन भेद रूप किये गये तीन पुंजों की शुद्ध, अर्धविशुद्ध और सर्वअविशुद्ध की अपेक्षा क्रम से सम्यक्त्व (शुद्ध), सम्यग्मिथ्यात्व (अर्ध विशुद्ध), मिथ्यात्व (सर्वाविशुद्ध) संज्ञा होती है। इसलिये बंधयोग्य एक सौ बीस प्रकृतियां होती हैं।

उदय में एक सौ बाईस प्रकृतियां ग्रहण की जाती हैं। क्योंकि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का भी अपने-अपने रूप से उदय होता है।

सत्ता में पूर्व में निकाली गई छब्बीस प्रकृतियों के भी ग्रहण करने से एक सौ अड़तालीस प्रकृतियां ग्रन्थकार (कर्मप्रकृतिकार) के मत से होती हैं। किन्तु गर्गर्षि आदि के मत में बन्धन के पन्द्रह भेद ग्रहण करने से एक सौ अट्ठावन प्रकृतियां होती हैं ।

बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद

प्रश्न—बंधन नामकर्म के पन्द्रह भेद किस प्रकार होते हैं ?

उत्तर—औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनों शरीरों के स्वयं के और तैजस, कार्मण शरीर के साथ क्रमशः मिलाने पर बंधन के नौ भेद हो जाते हैं, तैजस और कार्मण को उन्हीं तीनों शरीरों के साथ मिलाने पर तीन भेद और होते हैं तथा तैजस-तैजस बंधन, तैजस-कार्मण बंधन और कार्मण-कार्मण बंधन, इन तीनों भेदों को उक्त बारह भेदों में मिला देने पर बंधन नामकर्म के पन्द्रह भेद हो जाते हैं ।[1] इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों का वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले औदारिक पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह औदारिक-औदारिक बंधन है । उन्हीं पूर्वगृहीत और गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का गृह्यमाण और पूर्वगृहीत तैजस-पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे औदारिक-तैजसबन्धन कहते हैं और उन्हीं पूर्वगहीत एवं गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का गृह्यमाण और पूर्वगृहीत कार्मण पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह औदारिक-कार्मण बन्धन है।

पूर्वगृहीत वैक्रिय पुद्गलों का अपने ही गृह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह वैक्रिय-वैक्रिय-बंधन है। उन्हीं पूर्वगृहीत और गृह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों का गृह्यमाण और पूर्वगृहीत तैजस पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह वैक्रिय-तैजसबंधन है और उन्हीं पूर्वगृहीत और गृह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों का पूर्वगृहीत और गृह्यमाण कार्मण पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह वैक्रिय-कार्मणबंधन है।

---

१. बंधन नामकर्म के पूर्वोक्त नौ, तीन और तीन, इन कुल भंगों को जोड़ने से जो पन्द्रह भेद होते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. औदारिक-औदारिक बन्धन, २. औदारिक-तैजस बन्धन, ३. औदारिक-कार्मण बन्धन, ४. वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन, ५. वैक्रिय-तैजस बन्धन, ६. वैक्रिय-कार्मण बन्धन, ७. आहारक-आहारक बन्धन, ८. आहारक-तैजस बन्धन, ९. आहारक-कार्मण बन्धन, १०. औदारिक-तैजस-कार्मण बन्धन, ११. वैक्रिय-तैजस-कार्मण बन्धन, १२. आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन, १३. तैजस-तैजस बन्धन, १४. तैजस-कार्मण बन्धन, १५. कार्मण-कार्मण बन्धन।

प्रकारान्तर से बंधन नाम के पन्द्रह भेदों को गिनने की सरल रीति—

मूल शरीर के साथ संयोग करने से बनने वाले भंग ५

औदारिक-औदारिक, वैक्रिय-वैक्रिय, आहारक-आहारक, तैजस-तैजस, कार्मण-कार्मण।

तैजस शरीर के साथ संयोग करने से बनने वाले भंग ३

औदारिक-तैजस, वैक्रिय-तैजस, आहारक तैजस।

कार्मण शरीर के साथ संयोग करने से बनने वाले भंग ४

औदारिक-कार्मण, वैक्रिय-कार्मण, आहारक-कार्मण, तैजस-कार्मण।

तैजस-कार्मण शरीर का युगपत् संयोग करने से बनने वाले भंग ३

औदारिक-तैजस-कार्मण, वैक्रिय-तैजस-कार्मण, आहारक-तैजस-कार्मण ।

पूर्वगृहीत आहारक पुद्गलों का अपन ही गृह्यमाण आहारक पुद्गलों के साथ जो सम्वन्ध होता है, वह आहारक-आहारकबंधन है। उन्हीं पूर्वगृहीत और गृह्यमाण आहारक पुद्गलों का पूर्वगृहीत और गृह्यमाण तैजस पुद्गलों के साथ जो सम्वन्ध होता है, वह आहारक-तैजसबंधन है। उन्हीं पूर्वगृहीत और गृह्यमाण आहारक पुद्गलों का पूर्वगृहीत और गृह्यमाण कार्मण पुद्गलों के साथ जो सम्वन्ध होता है, वह आहारक-कार्मणबंधन है।

गृहीत और गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का तैजस पुद्गलों एवं कार्मण पुद्गलों का जो परस्पर सम्वन्ध होता है, वह औदारिक-तैजस-कार्मणबंधन है। इसी प्रकार वैक्रिय-तैजस-कार्मण और आहारक-तैजस-कार्मण इन दोनों वन्धनों के स्वरूप को भी समझ लेना चाहिये।

पूर्वगृहीत तैजस पुद्गलों का वर्तमान में गृह्यमाण अपने ही तैजस पुद्गलों के साथ जो सम्वन्ध होता है, वह तैजस-तैजसबन्धन है। उन्हीं पूर्वगृहीत और गृह्यमाण तैजस पुद्गलों का पूर्वगृहीत और गृह्यमाण कार्मण पुद्गलों के साथ जो संबंध होता है, वह तैजस-कार्मणवन्धन है। पूर्वगृहीत कार्मण पुद्गलों का अपने ही गृह्यमाण कार्मण पुद्गलों के साथ जो सम्वन्ध होता है, वह कार्मण-कार्मणबंधन है।

शंका—जो आचार्य परपुद्गलों के संयोग रूप बंधन होते हुए भी उसकी विवक्षा न करके पांच ही वन्धन मानते हैं, उनके मत में संघातन नामकर्म भी पांच सम्भव हैं। किन्तु जो आचार्य वन्धन के पन्द्रह भेद मानते हैं, उनके मत में **'नासंहतस्य बंधनमिति'** संघात रहित का बंधन सम्भव नहीं, इस न्याय के अनुसार बंधन की तरह संघातन नामकर्म के भी पन्द्रह भेद प्राप्त होते हैं। इसलिये ऊपर कही गई एक सौ अट्ठावन कर्म प्रकृतियों की संख्या घटित नहीं होती है।

समाधान—यह कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उनके मत में बंधन के अनुकूल पुद्गलों का एकीकरण करना, यह संघातन का लक्षण नहीं है। किन्तु औदारिक आदि शरीरों की रचना के अनुकूल पुद्गलों का एकीकरण करना, यह संघातन का लक्षण है, इसलिये कोई दोष नहीं है।

इस प्रकार सब कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के लक्षण समझना चाहिये।

कर्मप्रकृतियों का वर्गीकरण

अब इन प्रकृतियों की—१. ध्रुवबंधित्व, २. ध्रुवोदयत्व, ३. ध्रुवसत्ताकत्व, ४. सर्वघातित्व, ५. परावर्त्तमानत्व तथा ६. अशुभत्व तथा इनकी प्रतिपक्षी, ७. अध्रुवबंधित्व, ८. अध्रुवोदयत्व, ९. अध्रुवसत्ताकत्व, १०. देशघातित्व, ११. अपरावर्त्तमानत्व और १२. अशुभत्व तथा १३. पुद्गलविपाकित्व, १४. भवविपाकित्व, १५. क्षेत्रविपाकित्व, १६. जीवविपाकित्व भेदों की अपेक्षा और १७. स्वानुदयबंधी, १८. स्वोदयबंधी, १९. उभयबंधी, २०. समक (युगपद्) व्यवच्छिद्यमानबंधोदय, २१. क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदय, २२. उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानवन्धोदय, २३. सान्तरबंध, २४. सान्तर-निरन्तरबंध, २५. निरन्तरबंध, २६. उदयसंक्रमोत्कृष्ट, २७. अनुदय-संक्रमोत्कृष्ट, २८. उदयवन्धोत्कृष्ट, २९. अनुदयबंधोत्कृष्ट, ३०. उदयवती और ३१. अनुदयवती संज्ञाओं के द्वारा (संज्ञाओं की अपेक्षा) जो विशेषता है, अब उसका विचार किया जाता है।

१. ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां

निजहेतुसम्भवे यासामवश्यंभावी बन्धस्ता ध्रुवबन्धिय:---जिन प्रकृतियों का अपने बंध के कारण मिलने पर बंध अवश्य होता है, वे ध्रुवबंधिनी हैं।

ज्ञानावरण की पांच, अंतराय की पांच, दर्शनावरण की नौ, सोलह कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, ये अड़तीस घातिकर्मों की प्रकृतियां तथा अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, तैजसशरीर, वर्णादि चतुष्क और कार्मणशरीर ये नामकर्म की नौ प्रकृतियां, कुल मिलाकर ये (३८+९=४७) सैंतालीस प्रकृतियां ध्रुवबंधिनी हैं।[1] क्योंकि इन प्रकृतियों के बन्धकाल का व्यवच्छेद होने तक अर्थात् बंधकाल का एवं बंध के निमित्तों का सद्भाव रहने तक अर्थात् बंधव्युच्छित्ति न होने तक ध्रुवरूप से बंध होता है।

इनमें मिथ्यात्व प्रकृति मिथ्यात्व गुणस्थान के अंतिम समय तक निरन्तर बंधती है, उससे परे (पहले गुणस्थान के अतिरिक्त आगे के गुणस्थानों में) उसके उदय का अभाव होने से उसका (मिथ्यात्व का) बंध नहीं होता है। क्योंकि मिथ्यात्व का जब तक वेदन किया जाता है अर्थात् उदय रहता है, तब तक ही बंधता है। आगम का भी यह वचन है-- '**जे वेयइ से बज्झइ**' अर्थात् जब तक उदय रहता है, तब तक बंध होता रहता है।

अनन्तानुबंधीचतुष्क और स्त्यानर्द्धित्रिक[2] ये सात प्रकृतियां सासादन गुणस्थान तक निरन्तर बंधती रहती हैं। उससे परे अनन्तानुबंधी कषायों का उदय नहीं होने से उक्त प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (चौथे गुणस्थान) तक, प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क देशविरति गुणस्थान (पांचवें गुणस्थान) तक और निद्रा व प्रचला प्रकृति अपूर्वकरणगुणस्थान (आठवें गुणस्थान) के प्रथम भाग तक निरन्तर बंधती रहती हैं। उसके आगे उनके बंधयोग्य अध्यवसायों (भावों) का अभाव होने से उनका बंध नहीं होता है। इसी प्रकार नामकर्म की नौ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां (अगुरुलघु आदि कार्मणशरीर पर्यन्त) अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग पर्यन्त और भय व जुगुप्सा अंतिम समय तक, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान (नौवें गुणस्थान) तक निरन्तर बंधती रहती हैं, उसके आगे बादर कषाय के उदय का अभाव होने से उनका बंध नहीं होता है। ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक और दर्शनावरणचतुष्क ये चौदह प्रकृतियां सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान (दसवें गुणस्थान) तक निरन्तर बंधती रहती हैं। उसके परे कषायों के उदय का अभाव होने से उनका बंध नहीं होता है।

२. अध्रुवबंधिनी प्रकृतियां

निजबंधहेतुसम्भवेऽपि भजनीयबंधा अध्रुवबंधिन्य:---जो प्रकृतियां अपने-अपने बंध कारणों के सम्भव होने पर भी भजनीय बंधवाली हैं अर्थात् जिनका कभी बंध होता है और कभी नहीं होता है,

---

१. नाणंतरायदंसण धुवबंधिकसायमिच्छभयकुच्छा।
अगुरुलघु निमिण तेयं, उवघायवण्णचउक्कम्मं॥

—पंचसंग्रह १३३

गो. कर्मकांड १२४ में भी इन्हीं प्रकृतियों को ध्रुवबंधिनी बताया है।

२. स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।

वे अध्रुवबंधिनी कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियां ऊपर कही गई ध्रुवबंधिनी सैंतालीस प्रकृतियों से शेष रही तिहत्तर प्रकृतियां हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, विहायोगतिद्विक, गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, हास्यादि युगलद्विक, वेदत्रिक, आयुचतुष्क, गतिचतुष्क, आनुपूर्वीचतुष्क, जातिपंचक, संस्थानषट्क, संहननषट्क, त्रसादि बीस (त्रसदशक और स्थावरदशक), उच्छ्वास, तीर्थंकर, आतप, उद्योत और पराघात। ये तिहत्तर प्रकृतियां अपने-अपने बंध के कारणों का सद्भाव होने पर भी बंध को अवश्य ही प्राप्त नहीं होती हैं, अर्थात् कभी बंधती हैं और कभी नहीं बंधती हैं। कादाचित्क बंध होने के कारणों का स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है—

पराघात और उच्छ्वास नामकर्म का अविरति आदि अपने बंधकारण के होने पर भी अपर्याप्तप्रायोग्य बंधकाल में बंध का अभाव रहता है और पर्याप्तप्रायोग्य बंधकाल में ही उनका बंध होता है। एकेन्द्रियप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने से ही आतप नामकर्म का बंध होता है और उद्योत का भी तिर्यग्गतिप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने पर ही बंध होता है। जिन (तीर्थंकर) नामकर्म का सम्यक्त्व रूप अपने बंधकारण के विद्यमान रहने पर भी कदाचित् ही बंध होता है और आहारकद्विक का संयम रूप निज बंधकारण के विद्यमान होने पर भी कदाचित् बंध होता है और शेष औदारिकद्विक आदि प्रकृतियों का सविपक्ष प्रकृति होने से ही कदाचित् बंध होता है और कदाचित् नहीं होता है।

यद्यपि यत्किंचित् बंधहेतु के सद्भाव में बंध का अभाव प्राप्त होता है और बंधकारण के रहने तक बंध का अभाव असम्भव है, तथापि मिथ्यात्व आदि गिनाये गये सामान्य बंधकारणों के सद्भाव में अवश्य ही बंध होने से ध्रुवबंधित्व है और इसके विपरीत अवस्था में अर्थात् सामान्य बंधकारणों के रहने पर भी बंध नहीं होना अध्रुवबंधित्व है, यह ध्रुवबंधी और अध्रुवबंधी की परिभाषा का रहस्य है।[1]

३. ध्रुवोदया प्रकृतियां

उदयकालव्यवच्छेदादर्वाग्ध्रुवो निरन्तर उदयो यासां ता ध्रुवोदयाः—उदयकाल के व्यवच्छेद होने से पूर्व तक ध्रुव रूप से जिनका निरंतर उदय रहे, वे ध्रुवोदया प्रकृति कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियों की संख्या सत्ताईस है—निर्माण, स्थिर, अस्थिर, तैजस, कार्मण शरीर, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, शुभ और अशुभ नामकर्म, ये नामकर्म की बारह प्रकृतियां तथा ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और मिथ्यात्व ये घातिकर्मों की पन्द्रह प्रकृतियां, इस प्रकार सब मिलाकर (१२+१५=२७) सत्ताईस प्रकृतियां ध्रुवोदया हैं।[2]

---

१. उक्त कथन का आशय यह है—
यत्किंचित् बंधकारण के रहने पर बंध नहीं होकर अपने निश्चित सामान्य बंधकारण के रहने पर जिसका निश्चित रूप से बंध होता है और निश्चित सामान्य बंधकारण के होने पर भी जिसका बंध नहीं होता है—वही कर्म प्रकृतियों के ध्रुवबंधित्व और अध्रुवबंधित्व के भेद का कारण है।

२. निम्माण थिराथिरतेय कम्मवण्णाइ अगुरुसुहमसुहं।
नाणंतरायदसगं दंसणचउमिच्छनिच्चुदया।।

—पंचसंग्रह १३४

पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतियों में से मिथ्यात्व प्रकृति पहले मिथ्यात्व गुणस्थान तक और शेष ज्ञानावरणपंचक आदि चौदह घातिप्रकृतियां क्षीणमोह गुणस्थान के अंतिम समय तक ध्रुव रूप से उदय रहती हैं तथा नामकर्म की निर्माण आदि बारह प्रकृतियां तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान के अंतिम समय तक ध्रुव रूप से उदय में रहती हैं।

४. अध्रुवोदया प्रकृतियां

व्यवच्छिन्नोदया अपि सत्यो याः प्रकृतयो हेतुसंपत्त्या भूयोऽप्युदयमायान्ति ता अध्रुवोदयाः—उदय का विच्छेद होने पर भी जो प्रकृतियां उदय कारणों की प्राप्ति से फिर भी उदय में आ जाती हैं, वे अध्रुवोदया कहलाती हैं। ऐसी अध्रुवोदया प्रकृतियां पंचानवै हैं—स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, इन चार प्रकृतियों से रहित अध्रुवबंधिनी उनहत्तर प्रकृतियां, मिथ्यात्व के बिना मोहनीयकर्म की ध्रुवबंधिनी अठारह प्रकृतियां तथा पांच निद्रायें, उपघात नामकर्म, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय, कुल मिलाकर ये (६९+१८+५+१+१+१=९५) पंचानवै प्रकृतियां अध्रुवोदया हैं।

शंका—इस प्रकार से तो मिथ्यात्व प्रकृति भी अध्रुवोदया क्यों न मानी जाये? क्योंकि सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर व्युच्छिन्न हुआ भी उसका उदय मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त होने पर पुनः होने लगता है।

समाधान—जिन प्रकृतियों का गुणप्रत्यय से उदयविच्छेद जिन गुणस्थानों में नहीं होता है, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा से उन्हीं गुणस्थानों में कदाचित् वह हो और कदाचित् न हो, ऐसी प्रकृतियों को अध्रुवोदया कहा गया है। जैसे—क्षीणमोह गुणस्थान तक निद्रा प्रकृति की उदयव्युच्छित्ति नहीं होती है, फिर भी वहाँ तक उसका कादाचित्क उदय होता है, सर्वदा नहीं। किन्तु मिथ्यात्व प्रकृति तो अपने उदयविच्छेद होने तक निरंतर उदय को प्राप्त रहती है, इसीलिये उसे अध्रुवोदया नहीं माना जा सकता है।

शंका—इस प्रकार तो मिश्रमोहनीय प्रकृति भी मिश्र गुणस्थान में निरन्तर उदय को प्राप्त रहती है, इसलिये उसे ध्रुवोदया होना चाहिये।

समाधान—नहीं। क्योंकि गुणप्रत्यय के द्वारा उदय-विच्छेद से पहले उदय के होने और नहीं होने की अपेक्षा उसको अध्रुवोदया कहा गया है। यदि एक गुणस्थान के अवच्छेद से उदय के होने और नहीं होने की अपेक्षा अध्रुवोदयपना कहा जाता, तभी उक्त दोष होता।

५. ध्रुवसत्ताका प्रकृतियां

विशिष्टगुणप्राप्तिं विना ध्रुवा निरंतरा सत्ता यासां ता ध्रुवसत्ताकाः—विशिष्ट गुणस्थान की प्राप्ति के बिना ध्रुव रूप से निरन्तर जिनकी सत्ता बनी रहती है, उन्हें ध्रुवसत्ताका प्रकृति कहते हैं। ऐसी प्रकृतियां एक सौ तीस हैं। यथा—त्रसबीस (त्रसदशक, स्थावरदशक), वर्णादि बीस, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, तैजस-तैजसबन्धन, तैजस-कार्मणबन्धन, कार्मण-कार्मणबन्धन, तैजससंघातन और कार्मणसंघातन रूप तैजसकार्मणसप्तक और ध्रुवबंधिनी सैंतालीस प्रकृतियों में से वर्णचतुष्क

और तैजस, कार्मण के सिवाय (क्योंकि इनका स्वतंत्र रूप स पहले उल्लेख कर दिया है) शेष इकतालीस प्रकृतियां तथा वेदद्विक, संस्थानषट्क, संहननषट्क, जातिपंचक, साता-असाता वेदनीयद्विक, हास्य-रतियुगल, अरति-शोकयुगल, औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग, औदारिकसंघातन, औदारिक-औदारिकबंधन, औदारिक-तैजसबन्धन, औदारिक-कार्मणबन्धन और औदारिक-तैजसकार्मणबन्धन रूप औदारिकसप्तक, उच्छ्वास, आतप, उद्योत और पराघात चतुष्क, विहायोगतिद्विक, तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र, ये एक सौ तीस प्रकृतियां ध्रुवसत्ता वाली हैं। क्योंकि ये सम्यक्त्वलाभ से पहले सब प्राणियों को सदैव सम्भव हैं ।

६. अध्रुवसत्ताका प्रकृतियां

कदाचिद्भवन्ति कदाचिन्न भवन्तीत्येवमनियता सत्ता यासां ता अध्रुवसत्ताका:—जिनकी सत्ता कदाचित् होती है और कदाचित् नहीं होती है, वे अध्रुवसत्ताका प्रकृतियां कहलाती हैं। उच्चगोत्र, तीर्थंकर नाम, सम्यक्त्व प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रियअंगोपांग रूप वैक्रियषट्क, चारों आयु, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी रूप मनुष्याद्विक तथा आहारक-शरीर, आहारकअंगोपांग रूप आहारकद्विक—ये अठारह प्रकृतियां अध्रुवसत्तावाली हैं।[1] क्योंकि उच्चगोत्र एवं वैक्रियषट्क, ये सात प्रकृतियां त्रसपर्याय की प्राप्ति होने पर होती हैं तथा अप्राप्त होने पर नहीं होती हैं। अथवा त्रसत्व अवस्था में उक्त प्रकृतियां प्राप्त हो जाने पर भी स्थावर पर्याय में गये हुए जीव के द्वारा अवस्था विशेष पाकर उद्वेलित कर दी जाती हैं। इसलिये इनको अध्रुवसत्ता वाली कहा गया है। सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति जब तक भव्यत्व भाव का परिपाक नहीं होता है, तब तक सत्ता में नहीं रहती हैं तथा भव्यत्व भाव के परिपाक से सत्ता प्राप्त कर लेने पर भी जीव के मिथ्यात्व में चले जाने पर फिर उनकी उद्वेलना[2] कर दी जाती है और अभव्यों के तो इन दोनों की सत्ता सर्वथा ही नहीं रहती है। इसीलिये इनको अध्रुवसत्ता वाला कहा गया है। तीर्थंकर नाम का सत्व विशुद्ध सम्यक्त्व होने पर होता है, अन्य समय नहीं होता है। आहारकद्विक प्रकृतियां भी तथाविधि विशिष्ट संयम के होने पर ही बंध को प्राप्त होती हैं, उसके

---

१. उपाध्याय यशोविजयकृत टीका के अनुसार ध्रुवसत्ताका प्रकृतियां एक सौ तीस और अध्रुवसत्ताका प्रकृतियां अठारह बतलाई हैं। इसका कारण यह है कि उसमें वैक्रियएकादश के स्थान में वैक्रियषट्क और आहारकसप्तक के स्थान में आहारकद्विक लिया है। इस प्रकार वैक्रियसंघातन, वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन, वैक्रिय-तैजस बन्धन, वैक्रिय-कार्मण बन्धन, वक्रिय-तैजस-कार्मण बन्धन, आहारकसंघातन, आहारक-आहारक बंधन, आहारक-तैजस बन्धन, आहारक-कार्मण बन्धन, आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन इन दस प्रकृतियों को सत्ता में सम्मिलित नहीं किया है। परन्तु यहां जो अध्रुवसत्ताका प्रकृतियां अठारह कही हैं, वे घटित नहीं होती हैं। क्योंकि ध्रुवसत्ता में गिनाई गई एक सौ तीस प्रकृतियां, एक सौ अट्ठावन की अपेक्षा हैं, एक सौ अड़तालीस की अपेक्षा नहीं। एक सौ अड़तालीस की अपेक्षा तो ध्रुवसत्ता में एक सौ छब्बीस और अध्रुव सत्ता में बाईस होती हैं। यदि एक सौ अट्ठावन की अपेक्षा ध्रुवसत्ता एवं अध्रुवसत्ता का विचार किया जाये तो अध्रुवसत्ता में अट्ठाईस प्रकृतियां मानना चाहिये और तब वैक्रियषट्क के बदले वैक्रियएकादश और आहारक-द्विक के स्थान पर आहारकसप्तक का ग्रहण करना चाहिये। उपाध्याय यशोविजयजी द्वारा अठारह प्रकृतियों को अध्रुवसत्ताका बतलाने का कारण पंचसंग्रह के तृतीय द्वार की ३३वीं गाथा के चतुर्थ पाद में आगत 'अट्ठारस अध्रुवसत्ताओ' पद है। उसी के आधार पर उपाध्यायजी ने अठारह प्रकृतियों को अध्रुवसत्ता वाला कहा है।

२. यथाप्रवृत्त आदि तीन करण रूप परिणामों के बिना ही कर्म प्रकृतियों का अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना, जिससे उनका सर्वथा निःसत्ताक होने का प्रसंग प्राप्त हो, उद्वेलना कहलाता है।

अभाव में नहीं बंधती हैं और बधने पर भी अविरति के निमित्त से उद्वेलित हो जाती हैं। मनुष्यद्विक भी तेजस्कायिक और वायुकायिक में गये हुए जीवों के द्वारा उद्वलित कर दी जाती हैं तथा देवायु, नरकायु स्थावर जीवों के, तिर्यंचायु अहमिन्द्रों के और मनुष्यायु तेजस्काय, वायुकाय और सातवें नरक के नारक को सर्वथा ही नहीं बंधने से सत्ता में नहीं पाई जाती हैं। किन्तु अन्य जीवों के इन प्रकृतियों की सत्ता सम्भव भी है। इसीलिये तीर्थंकर आदि उक्त प्रकृतियों को अध्रुव सत्ता वाली कहा गया है।

शंका—आयुचतुष्क और तीर्थंकर नाम को छोड़कर अनन्तानुबंधीचतुष्क सहित सत्रह प्रकृतियां श्रेणि नहीं चढ़ने पर भी उद्वलन के योग्य कही गई हैं।[1] इस प्रकार अनन्तानुबंधियों की भी उद्वेलना सम्भव होने से उनको ध्रुवसत्कर्मता (ध्रुवसत्तापना) कैसे सम्भव है?

समाधान—ऐसा मत कहिये, क्योंकि सम्यक्त्व आदि गुणों की अप्राप्ति होने पर कदाचित् होना ही अध्रुवसत्ता का लक्षण है। उत्तरगुणों की प्राप्ति होने पर सत्ता के अभाव से यदि अध्रुवसत्तापना कहा जाये तो सभी प्रकृतियां अध्रुवसत्ता वाली हो जायेंगी। इसीलिए अध्रुवसत्ता का ऊपर जो लक्षण कहा गया है, वही युक्तिसंगत है। क्योंकि सम्यक्त्व गुण के द्वारा उद्वलन की जाने वाली भी अनन्तानुबंधी कषायों का सम्यक्त्व की अप्राप्ति में कादाचित्कपने का अभाव होने से ही ध्रुवसत्ताकत्व विना किसी बाधा के माना गया है।[2]

७–८. घातिनी-अघातिनी प्रकृतियां

स्वविषयं कात्स्न्र्येन घ्नन्ति यास्ताः सर्वघातिन्यः—जो प्रकृतियां अपने विषय को सम्पूर्ण रूप से घात करती हैं, वे सब सर्वघातिनी कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियां बीस हैं, जो इस प्रकार हैं—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, आदि की बारह कषाय, मिथ्यात्व और पांच निद्रायें। ये प्रकृतियां यथायोग्य अपने घातने योग्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र और सम्यक्त्व गुण को सम्पूर्ण रूप से घातती हैं। उक्त प्रकृतियों से शेष रही पच्चीस घाति कर्म की प्रकृतियां देशघातिनी[3] हैं। क्योंकि ये ज्ञानादि गुणों के एकदेश का घात करती हैं। उक्त कथन का यह आशय जानना चाहिये कि

---

१. आहारकद्विक, वैक्रियद्विक, नरकद्विक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, सम्यक्त्व प्रकृति, मिश्र प्रकृति, उच्च गोत्र, अनन्तानुबन्धी कषायें उद्वेलन प्रकृतियां हैं।

२. उक्त कथन का स्पष्टीकरण यह है—
सम्यग्दृष्टि जीवों के ही अनन्तानुबंधी कषायों का उद्वेलन होता है और अध्रुवसत्तापने का विचार उन्हीं जीवों की अपेक्षा किया जाता है, जिन्होंने सम्यक्त्व आदि उत्तर गुणों को प्राप्त नहीं किया है। अतः अनन्तानुबन्धी कषायों को ध्रुवसत्ताका ही मानना चाहिये। यदि उत्तर गुणों की प्राप्ति की अपेक्षा से अध्रुवसत्ताकत्व को माना जायेगा तो केवल अनन्तानुबंधी कषाय ही अध्रुवसत्ताका नहीं ठहरेंगी, बल्कि सभी प्रकृतियां अध्रुवसत्ताका कहलायेंगी। क्योंकि उत्तर गुणों के होने पर सभी प्रकृतियां अपने-अपने योग्य गणस्थान में सत्ता से विच्छिन्न हो जाती हैं।

३. नाणावरणचउक्कं दसंणतिग नोकसाय विग्घपणं।
संजलण देसघाई तइयविगप्पो इमो अन्ने॥

—पंचसंग्रह १३७

ज्ञानावरणचतुष्क, दर्शनावरणत्रिक, नव नोकषाय, अन्तरायपंचक, संज्वलनकषायचतुष्क ये पच्चीस प्रकृतियां देशघाति हैं। घाति और अघाति प्रकृतियों के विचार के प्रसंग में यह घाति प्रकृतियों का एक अवान्तर तीसरा विकल्प है।

यद्यपि केवलज्ञानावरणकर्म ज्ञान लक्षण वाले आत्मा के गुण को संपूर्ण रूप से घात करने में प्रवृत्त होता है, तथापि उसके द्वारा यह गुण सम्पूर्णघात (उच्छेद) नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ऐसा स्वभाव है।[1] जैसे सूर्य और चन्द्र की किरणों के आवरण करने के लिये प्रवर्तमान भी विशाल घनपटल के द्वारा उनकी प्रभा पूर्णरूप से आच्छादित नहीं की जाती है। यदि ऐसा न माना जाये तो दिन और रात के विभाग का अनुभव (परिज्ञान) नहीं हो सकेगा। इसलिये केवलज्ञानावरण के द्वारा केवलज्ञान का संपूर्ण रूप से आवरण करने पर भी जो तद्गत (ज्ञान सम्बन्धी) मंद, विशिष्ट और विशिष्टतर प्रकाशरूप मतिज्ञानादि संज्ञा वाला ज्ञान का एकदेश विद्यमान रहता है, उसे यथायोग्य मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म घातते हैं, इसलिये वे देशघाति कर्म हैं।

इसी प्रकार केवलदर्शनावरणकर्म के द्वारा केवलदर्शन के सम्पूर्ण रूप से आवरण करने पर भी जो तद्गत मंद, मंदतर, विशिष्ट और विशिष्टतर आदि रूप वाली प्रभा शेष रहती है और जिसकी चक्षुदर्शन आदि संज्ञा है, उसे यथायोग्य चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण कर्म आवृत्त करते हैं। इसलिये दर्शन गुण के एकदेश का घात करने से ये देशघाति कर्म कहलाते हैं।

निद्रादिक पांचों दर्शनावरण कर्म की प्रकृतियां यद्यपि केवलदर्शनावरण कर्म के द्वारा आवृत्त केवलदर्शन सम्बन्धी प्रभामात्र दर्शनगुण के एकदेश का घात करती हैं, तथापि वे चक्षुदर्शनावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई दर्शनलब्धि को जड़मूल से घात करती हैं, इसलिये उन्हें सर्वघातिनी कहा गया है।

संज्वलन कषायचतुष्क और नव नोकषाय अनन्तानुबंधीचतुष्क आदि बारह कषायों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई चारित्रलब्धि को एकदेश से घात करती हैं, इसलिये वे देशघातिनी प्रकृतियां हैं। क्योंकि चारित्रगुण में केवल अतिचारों को उत्पन्न करना ही इनका कार्य है। जैसा कि कहा है—चारित्र के सभी अतिचार संज्वलन कषायों के उदय से होते हैं और बारह कषायों के उदय से चारित्र का मूलछेद होता है[2] तथा घाति कर्मों के क्षयोपशम से जीव के जो सम्यक्त्व, चारित्र

---

१. ज्ञानावरण कर्म का कैसा भी गाढ़ आवरण हो जाये, लेकिन आत्मा को कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य रहता है। क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण, स्वभाव है और स्वभाव का कभी नाश नहीं होता है। अतः ज्ञानावरण कर्म ज्ञान गुण को आच्छादित तो कर सकता है, समूलोच्छेद नहीं कर सकता है, केवलज्ञान का अनन्तवां भाग तो नित्य अनावरित ही रहता है। यदि आवरण का अर्थ ज्ञान का समूलोच्छेद माना जाये तो फिर जीव, जीव ही नहीं रहे, जीव अजीव का कोई भेद न रहे तथा तब ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं माना जा सकता है—

सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडियो हवई, जइ पुण सोवि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजीवत्तं पावेज्जा।
—नन्दीसूत्र ७५

२. सव्वेऽवि य अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंति।
मूलच्छेज्जं पुण होई बारसण्हं कसायाणं॥
—पंचाशक

यहां मूलछेद का तात्पर्य सर्वचारित्र की अपेक्षा से समझना चाहिये। प्रत्याख्यानावरण के उदय में देशचारित्र होता है, किन्तु सर्वचारित्र नहीं होता है।

उत्पन्न होते हैं, उनके एकदेश को संज्वलन और नव नोकषाय घात करती हैं।[1] इसीलिये संज्वलन और नोकषायें देशघाति हैं।

इस संसार में ग्रहण, धारण आदि के योग्य जिस वस्तु को जीव न दे सके, न पा सके, न भोग सके, न उपभोग कर सके, न सामर्थ्य पा सके, वह दानान्तराय आदि का विषय है। यह दान, लाभ आदि सर्वद्रव्यों का अनन्तवां भाग एक जीव को प्राप्त होता है। इसीलिये उक्त प्रकार के सर्व द्रव्यों के एकदेश विषयभूत दान आदि में विघात करने से दानान्तराय आदि देशघाति कहलाते हैं।

यहाँ पर देशघाति का लक्षण सर्वघाति से अन्यत्व (सर्वघाति रस से) गर्भित जानना चाहिये। इस कारण चारित्र के देशरूप देशविरति का प्रतिबन्ध करने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषायों का पूर्ण चारित्र की अपेक्षा देशघातित्व नहीं है। क्योंकि चारित्रगत अपकर्ष का जनक ऐसा देशघातित्व अप्रत्याख्यानावरण कषायों में नहीं है। इसलिये अप्रत्याख्यानावरण कषायों को सर्वघाति मानने में कोई दोष नहीं है।[2]

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि घातिकर्मों की कुछ प्रकृतियां सर्वघातिनी हैं और कुछ देशघातिनी हैं।[3]

नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुकर्म के अन्तर्गत जो प्रकृतियां हैं, वे घात करने योग्य गुणों का अभाव होने से कुछ भी घात नहीं करती हैं, इसलिये उन्हें अघातिनी जानना चाहिये।

सर्वघातिनी प्रकृतियों का रस (अनुभाग) यद्यपि ताम्रभाजन के समान छिद्ररहित, घृतवत् अतिस्निग्ध, द्राक्षावत् (दाख की तरह) तनुप्रदेश से उपचित (संचित किया हुआ) और स्फटिक या अभ्रकवत् अतीव निर्मल होता है, तथापि अपने विषयभूत सम्पूर्ण गुण को घात करने से सर्वघाति कहलाता है एवं देशघाति प्रकृतियों का कोई रस वंश-दल (बांस की सींकों) से निर्मापित चटाई

१. घाइखओवसमेणं सम्मचरित्ताइं जाइं जीवस्स।
ताणं हणंति देसं संजलणा णोकसाया य॥ —कर्मप्रकृति, यशो. टीका से उद्धृत।

२. उक्त कथन का स्पष्टीकरण यह है—
अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय रहने पर श्रुत (ज्ञान) की अपेक्षा जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है और सिर्फ सम्यक्त्व की प्राप्ति में बाधक नहीं होना ही सर्वघाति का लक्षण नहीं है। क्योंकि सम्यक्त्व की तरह चारित्र भी जीव का स्वभाव है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जीव को सर्वतः या देशतः चारित्र नहीं होता है। अप्रत्याख्यानावरण में अकार सर्व निषेधार्थक है। इसीलिये अप्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वघाति है। देशघाति तो इसको तभी कह सकते थे जब यह चारित्र में न्यूनता की कारण होती। किन्तु इसके उदय रहते सर्वतः या देशतः चारित्र प्राप्त ही नहीं हो पाता है। जो मूल को ही सर्वथा उत्पन्न न होने दे तो फिर उसमें न्यूनता का विचार कैसे सम्भव है? अतः अप्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वघाति है—

सव्वं देसोवजओपच्चक्खाणं नं जेसि उदयम्मि।
ते अप्पच्चक्खाणा सव्वनिसेहे मओऽकारो॥ —विशेषा. भाष्य १२३२

३. यहां बंध की अपेक्षा सर्वघाति प्रकृतियां बीस और देशघाति प्रकृतियां पच्चीस बतलाई हैं। लेकिन उदय की अपेक्षा सर्वघाति प्रकृतियां इक्कीस और देशघाति प्रकृतियां छब्बीस होंगी। इस प्रकार बंध और उदय में दो प्रकृतियों का अन्तर हो जाता है। इसका कारण यह है कि बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस हैं और उदययोग्य एक सौ बाईस। क्योंकि सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का बंध तो नहीं होता है, किन्तु उदय होता है। तब सर्वघाति बीस प्रकृतियों में सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय को मिलाने पर इक्कीस प्रकृतियां सर्वघाति और देशघाति पच्चीस प्रकृतियों में सम्यक्त्व प्रकृति को मिलाने पर छब्बीस प्रकृतियां देशघाति होंगी।

के समान अति स्थूल सैकड़ों छिद्रों से व्याप्त और कोई रस चिकने वस्त्र क समान अति सूक्ष्म छिद्रों से युक्त अल्प स्नेहवाला, विमल और अपने विषयभूत गुण के एकदेश को घात करने से देशघाति होता है। किन्तु अघातिनी प्रकृतियों का रस उक्त दोनों प्रकार के रसों से विलक्षण होने के कारण अघाति कहलाता है। केवल घाति प्रकृतियों के सम्पर्क से अघातिनी प्रकृतियों का रस-विपाक देखा जाता है। जैसे—कोई स्वयं चोर नहीं है, किन्तु चोरों के सम्पर्क से चोरपना देखा जाता है।

९-१०. परावर्त्तमान, अपरावर्त्तमान प्रकृतियां

याः प्रकृतयः प्रकृत्यन्तरस्य बंधमुदयं वा विनिवार्य बंधमुदयं वाऽगच्छन्ति ताः परावर्त्तमानाः, इतरा अपरावर्त्तमानाः—जो प्रकृतियां दूसरी प्रकृति के बंध या उदय को रोककर बंध या उदय को प्राप्त होती हैं, वे परावर्त्तमाना प्रकृतियां और इनके विपरीत प्रकृतियां अपरावर्त्तमाना प्रकृतियां कहलाती हैं।

इनमें ज्ञानावरणपंचक,, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, पराघात, तीर्थंकर, उच्छ्वास, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा और नामकर्म की नौ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां, ये उनतीस प्रकृतियां बंध और उदय के आश्रय से अपरावर्त्तमाना हैं। क्योंकि इन प्रकृतियों का बंध या उदय बंधने वाली या वेद्यमान शेष प्रकृतियों के द्वारा घात नहीं किया जा सकता है। शेष इक्यानवै प्रकृतियां बंध की अपेक्षा परावर्त्तमाना हैं तथा उदय की उपेक्षा इन्हीं (इक्यानवै) में सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दोनों को और मिला देने पर तेरानवै प्रकृतियां परावर्त्तमाना हैं।

११-१२. शुभ-अशुभ प्रकृतियां

जीवप्रमोदहेतुरसोपेताः प्रकृतयः शुभाः, नास्ति शुभो रसो यासु ता अशुभाः—जो प्रकृतियां जीव के प्रमोद के कारणभूत रस से युक्त होती हैं, वे शुभ (पुण्य) प्रकृतियां कहलाती हैं और जिनमें शुभ रस नहीं होता है, वे अशुभ (पाप) प्रकृतियां कहलाती हैं। इनमें मनुष्यत्रिक, देवत्रिक, तिर्यंचायु, उच्छ्वास नामकर्म, शरीरपंचक, अंगोपांगत्रिक, शुभविहायोगति, शुभवर्णादि चतुष्क, त्रसदशक, तीर्थंकर नाम, निर्माण, प्रथम संहनन, प्रथम संस्थान, आतप नाम, पराघात नाम, पंचेन्द्रिय जाति, अगुरुलघु, सातावेदनीय, उच्चगोत्र और उद्योत नामकर्म, ये बयालीस प्रकृतियां शुभ[1] हैं और शेष बयासी प्रकृतियां अशुभ हैं।

वर्णादि चतुष्क की संख्या शुभ प्रकृतियों में भी ग्रहण की जाती है और अशुभ प्रकृतियों की संख्या में भी ग्रहण की जाती है। क्योंकि इनका शुभ-अशुभ रूप दोनों प्रकार होना सम्भव है।[2]

---

१. यहां गिनाई गई बयालीस शुभ प्रकृतियां सर्वत्र शुभ प्रकृतियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। लेकिन आचार्य उमास्वाति ने—**'सद्वेद्य सम्यक्त्व हास्यरति पुरुषवेद शुभायुर्नाम गोत्राणि पुण्यम्** (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ८/२६ में) सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद इन चार प्रकृतियों को भी शुभ (पुण्य) प्रकृति बतलाया है। ये चार प्रकृतियां दूसरे किसी भी ग्रंथ में पुण्य रूप से वर्णन नहीं की गई हैं। इन चार प्रकृतियों को पुण्य रूप मानने वाला मतविशेष प्राचीन है, क्योंकि भाष्यवृत्तिकार श्री सिद्धसेनगणि ने भी मतभेद को दर्शाने वाली कारिकायें दी हैं और लिखा है कि इस मंतव्य का रहस्य सम्प्रदायविच्छेद होने से हमें मालूम नहीं हुआ। चौदह पूर्वधारी (बहुश्रुत) गम्य है। इनको शुभ प्रकृति मानने के सम्बन्ध में एक संभव दृष्टिकोण परिशिष्ट में देखिये।

२. वर्णचतुष्क को उभयभेदों में ग्रहण करने से शुभ और अशुभ प्रकृतियों की संख्या क्रमशः बयालीस और बयासी बतलाई है। लेकिन वर्णचतुष्क को शुभ प्रकृतियों में ग्रहण करने पर अशुभ प्रकृतियों की संख्या अठहत्तर और शुभ प्रकृतियों की संख्या बयालीस होगी और वर्णचतुष्क को अशुभ प्रकृतियों में ग्रहण करने पर शुभ प्रकृतियां अड़तीस और अशुभ प्रकृतियां बयासी मानी जायेंगी।

सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व उदय की अपेक्षा अशुभ हैं, बन्ध की अपेक्षा नहीं। क्योंकि इन दोनों का बन्ध ही नहीं होता है, इसलिये इनको पृथक् रखा गया है।

१३. पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियां

पुद्गले पुद्गलविषये विपाकः फलदानाभिमुख्यं यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः—पुद्गल में अर्थात् पुद्गल के विषयभूत शरीरादिक में जिनका विपाक अर्थात् फल देने की प्रमुखता पाई जाती है, वे पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियां कहलाती हैं। वे छत्तीस हैं, यथा—आतपनाम, उद्योतनाम, संस्थान-षट्क, संहननषट्क, नामकर्म की ध्रुवोदया बारह प्रकृतियां,[1] आदि के तीन शरीर, अंगोपांगत्रिक, उपघात, पराघात, प्रत्येक और साधारण। ये प्रकृतियां अपना विपाक पुद्गलों (पौद्गलिक शरीर) में दिखलाती हैं। इस प्रकार का स्पष्ट लक्षण होने से ये पुद्गलविपाकिनी कहलाती हैं।

शंका—रति और अरति मोहनीय कर्म का उदय पुद्गलों को प्राप्त कर होता है। जैसे—कंटक आदि के स्पर्श से अरति का विपाकोदय होता है और माला, चन्दन आदि के स्पर्श से रति का विपाकोदय होता है। तब इन दोनों को भी पुद्गलविपाकिनी क्यों नहीं कहा गया है?

समाधान—ऐसा नहीं है। क्योंकि कंटक आदि के स्पर्श के बिना भी प्रिय और अप्रिय वस्तु के दर्शन और स्मरण आदि से रति, अरति का विपाकोदय देखा जाता है। इसलिये पुद्गलों के साथ व्यभिचार आने से रति, अरति का पुद्गलविपाकीपना सिद्ध नहीं होता है। इसी प्रकार क्रोधादि विषयक प्रश्नों के बारे में भी समाधान जानना चाहिये।

१४. भवविपाकिनी प्रकृतियां

भवे नारकादिरूपे स्वयोग्ये विपाकः फलदानाभिमुख्यं यासां ताः भवविपाकिन्यः—अपने योग्य नरकादि रूप भव में फल देने की अभिमुखतारूप विपाक जिनका होता है, वे प्रकृतियां भवविपाकिनी कहलाती हैं। क्योंकि बांधी गई आयु जब तक पूर्वभव के क्षय से स्वयोग्य भव प्राप्त नहीं होता है, तब तक उदय में नहीं आती हैं। इसलिये वे भवविपाकिनी हैं।

शंका—आयुकर्म के समान गतियां भी अपने योग्य भव की प्राप्ति होने पर ही उदय में आती हैं। अतएव फिर उन्हें भी भवविपाकी क्यों नहीं कहा जाता है?

समाधान—आपका कहना सत्य है। किन्तु आयु का परभव में संक्रमण से भी उदय नहीं होता है। इसलिये स्वभव के साथ व्यभिचार का सर्वथा अभाव होने से चारों आयु भवविपाकी कही जाती हैं, किन्तु गतियों का परभव में भी संक्रमण से उदय होता है, इसलिये वे अपने भव के साथ व्यभिचार वाली हैं, अतः उन्हें भवविपाकिनी नहीं कहा गया है।

१५. क्षेत्रविपाकिनी प्रकृतियां

क्षेत्रे गत्यन्तरसंक्रमणहेतुनभःपथे विपाकः फलदानाभिमुख्यं यासां ताः क्षेत्रविपाकिन्यः—दूसरी गति में (भवान्तर में) जाने के कारणभूत आकाश मार्ग रूप क्षेत्र में फल देने की अभिमुखता

---

१. निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श।

वाला विपाक जिन प्रकृतियों का होता है, वे क्षेत्रविपाकिनी कहलाती हैं। नरकानुपूर्वी आदि चारों आनुपूर्वी नामकर्म क्षेत्रविपाकिनी प्रकृतियां हैं। ये प्रकृतियां पूर्व गति से दूसरी गति में जाने वाले जीव के अपान्तराल में उदय में आती हैं, शेषकाल में नहीं। यद्यपि अपने योग्य क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र भी इनका सक्रमोदय संभव है, तथापि क्षेत्रहेतुक स्वविपाकोदय से जैसा इनका प्रादुर्भाव होता है, वैसा अन्य प्रकृतियों का नहीं होता है। दूसरी प्रकृतियों द्वारा स्पर्श नहीं किये जाने वाले असाधारण क्षेत्र के निमित्त से इनका विपाकोदय होता है, अतः इनको क्षेत्रविपाकिनी कहा जाता है।

१६. जीवविपाकिनी प्रकृतियां

जीवे जीवगते ज्ञानादिलक्षणे स्वरूपे विपाकस्तदनुग्रहोपघातादिसंपादनाभिमुख्यलक्षणो यासां ताः जीवविपाकिन्यः'—जीव में अर्थात् जीवगत (असाधारण लक्षण रूप) ज्ञानादि स्वरूप में जिन प्रकृतियों का अनुग्रह और उपघात आदि संपादन की अभिमुखता लक्षण वाला विपाक होता है, वे जीवविपाकिनी कहलाती हैं। वे इस प्रकार हैं—ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, साता-असातावेदनीय, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को छोड़कर मोहनीय की छब्बीस प्रकृतियां, अन्तरायपंचक, गतिचतुष्क, जातिपंचक, विहायोगतिद्विक, त्रसत्रिक, स्थावरत्रिक, सुस्वर, दुःस्वर, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, तीर्थंकरनाम, उच्छ्वासनाम, नीचगोत्र और उच्चगोत्र—ये छिहत्तर प्रकृतियां बंधयोग्यता की अपेक्षा पंचसंग्रह में जीवविपाकिनी कही गई हैं। अन्य ग्रंथों में तो उदययोग्य की विवक्षा से सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को भी ग्रहण कर अठहत्तर प्रकृतियां जीवविपाकिनी कही हैं। ये प्रकृतियां जीव में ही अपना विपाक दिखलाती हैं, अन्यत्र नहीं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियां जीव के ज्ञान गुण का घात करती हैं। दर्शनावरणनवक प्रकृतियां आत्मा के दर्शन गुण को, मिथ्यात्व मोहनीय सम्यक्त्व गुण को, चारित्र मोहनीय की प्रकृतियां चारित्र गुण को और दानान्तराय आदि अन्तरायकर्म की प्रकृतियां दानादि लब्धि को घातती हैं। सातावेदनीय, असातावेदनीय सुख-दुःख का अनुभव कराती हैं और गतिचतुष्क आदि नामकर्म की प्रकृतियां गति आदि जीव की विविध पर्यायों को उत्पन्न करती हैं।

शंका—भवविपाकी आदि प्रकृतियां भी वस्तुतः जीवविपाकी ही हैं, क्योंकि आयुकर्म की सभी प्रकृतियां अपने योग्य भव में विपाक दिखाती हैं और वह विपाक उस भव को धारण करने रूप लक्षण वाला है एवं वह भव जीव के ही होता है। उससे भिन्न दूसरे के नहीं। इसी प्रकार चारों आनुपूर्वियां भी विग्रहगति रूप क्षेत्र में विपाक को दिखलाती हुई जीव के अनुश्रेणिगमन विषयक स्वभाव को धारण करती हैं तथा उदय को प्राप्त हुई आतप, संस्थान नाम आदि पुद्गल-विपाकिनी प्रकृतियां भी उस प्रकार की शक्ति को जीव में उत्पन्न करती हैं कि जिसके द्वारा वह जीव उसी प्रकार के पुद्गलों को ग्रहण करता है और गृहीत पुद्गलों की तथारूप ही रचनाविशेष करता है। इसलिये ये सभी प्रकृतियां जीवविपाकिनी ही माननी चाहिये।

समाधान—आपका यह कथन सत्य है, किन्तु केवल भवादि की प्राधान्य विवक्षा के विपाक से भिन्न होने के कारण पूर्वोक्त प्रकृतियों को जीवविपाकी कहा गया है।

प्रकारान्तर से प्रकृतियों की विशेषता का अधिकार

विपाक (फल देने रूप शक्ति) का आधार लेकर अन्य प्रकार से भी अनुयोग किया जाता है। जैसे कि विपाक की अपेक्षा प्रकृतियां दो प्रकार की होती हैं—हेतुविपाका और रसविपाका। इनमें से हेतु के आश्रय से जिनका विपाक दिखलाया जाता है, वे हेतुविपाका प्रकृतियां कहलाती हैं— **हेतुमधिकृत्यविपाको निर्दिश्यमानो यासां ताः हेतुविपाकाः**। वे पुद्गल, क्षेत्र, भव और जीव के हेतुभेद से चार प्रकार की पहले कह दी गई हैं तथा रस को मुख्य करके जिनका विपाक दिखलाया जाये वे रसविपाका प्रकृतियां कहलाती हैं—**रसं मुख्यीकृत्य विपाको निर्दिश्यमानो यासां ताः रसविपाकाः**। वे चार प्रकार की होती हैं— एकस्थानक रसवाली, द्विस्थानक रसवाली, त्रिस्थानक रसवाली, चतुःस्थानक रसवाली। इनमें शुभ प्रकृतियों का रस दूध, खांड आदि रसों के सदृश होता है और अशुभ प्रकृतियों का रस नीम, घोषातिकी (चिरायता) आदि के रस के समान।

जो स्वाभाविक रस होता है वह एकस्थानक रस कहलाता है। दो कर्षों (मापविशेष) में आवर्तित करने (औंटने, उबालने) पर जो एक कर्ष अवशिष्ट रहता है, तत्सदृश द्विस्थानक रस होता है। पुनः तीन कर्षों में आवर्तित करने पर जो एक कर्ष अवशिष्ट रहता है, उसके सदृश त्रिस्थानक रस होता है और चार कर्षों के आवर्तन करने पर निकाले गये एक कर्ष के समान चतुःस्थानक रस होता है। एकस्थानक रस, द्विस्थानक रस आदि उत्तरोत्तर अनन्तगुणी शक्ति वाले जानना चाहिये।[1]

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, पुरुषवेद, संज्वलनकषायचतुष्क और पांचों अन्तराय, इन सत्रह प्रकृतियों में बंध का आश्रय करके (बंध की अपेक्षा) एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक, चतुःस्थानक रस की परिणति पाई जाती है। इनमें जब तक श्रेणी की प्राप्ति नहीं होती है, तब तक इन सत्रह प्रकृतियों का अध्यवसाय के अनुसार द्विस्थानक, त्रिस्थानक या चतुःस्थानक रस का बंध होता है, किन्तु श्रेणी की प्राप्ति होने पर अनिवृत्तिबादर गुणस्थान (नौवें गुणस्थान) के काल के संख्यातों भागों के बीत जाने के अनन्तर इन प्रकृतियों के अशुभ होने पर भी उस समय होने वाले अत्यन्त विशुद्ध अध्यवसायों (परिणामों) के योग से एकस्थानक रस का ही बंध होता है। इस प्रकार बंध की अपेक्षा यह सभी प्रकृतियां चारों स्थानक वाले रस से परिणत पाई जाती हैं। इसके सिवाय शेष सभी शुभ और अशुभ प्रकृतियां द्विस्थानक रस, त्रिस्थानक रस और चतुःस्थानक रसवाली प्राप्त होती हैं। किन्तु कदाचित् भी एकस्थानक रसवाली नहीं पाई जाती हैं।

इसका कारण यह है कि उक्त सत्रह प्रकृतियों के सिवाय हास्यादि अशुभ प्रकृतियों के एकस्थानक रस की बंधयोग्य शुद्धि अपूर्वकरण, अप्रमत्त और प्रमत्तसंयतों में (छठे, सातवें और आठवें गुणस्थान में) नहीं होती है और जब एकस्थानक रस के बंधयोग्य परम प्रकर्ष को प्राप्त शुद्धि अनिवृत्तिबादर गुणस्थान काल के संख्यातों भागों से परे उत्पन्न होती है, तब वे प्रकृतियां बंध को ही प्राप्त नहीं होती हैं।[2] इसलिये उनका एकस्थानक रस नहीं कहा गया है।

१. इसका विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

२. गुणस्थानों में बंधयोग्य प्रकृतियों की संख्या, उनके नाम और विशेष वक्तव्य परिशिष्ट में देखिये।

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि जैसे श्रेणी के आरोहण करने पर अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के काल के संख्यातों भाग के व्यतीत हो जाने पर उससे परे (आगे) अतिविशुद्धता होने से मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध सम्भव है, उसी प्रकार क्षपकश्रेणी के आरोहण करने पर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के चरम, द्विचरम आदि समयों में वर्तमान जीव के अतीव (अत्यन्त) विशुद्धता होने से जिसका बंध सम्भव है, ऐसे केवलद्विक (केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण) का एकस्थानक रसबंध कैसे सम्भव नहीं है ? तो इसका कारण यह है कि स्वल्प भी केवलद्विक का रस सर्वघाति ही होता है । सर्वघातिनी प्रकृतियों के जघन्य पद में भी द्विस्थानक रस ही पाया जाता है ।

संक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि भी शुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रस नहीं बांधता है, किन्तु कुछ विशुद्धि को प्राप्त करने वाले मिथ्यादृष्टि के ही उसका बंध सम्भव है । अत्यन्त संक्लेशयुक्त मिथ्यादृष्टि के उसका बंध असम्भव है और संक्लेश के उत्कर्ष होने पर शुभ प्रकृतियों में एकस्थानक रसबंध की सम्भावना को अवकाश नहीं है तथा जो नरकगति के योग्य वैक्रिय, तैजस आदि शुभप्रकृतियां अति संक्लेशयुक्त मिथ्यादृष्टि के बन्ध को प्राप्त भी होती हैं, उनका भी इस प्रकार का स्वभाव होने से जघन्य पद की अपेक्षा भी द्विस्थानक ही रसबन्ध प्राप्त होता है, एकस्थानक रसबन्ध प्राप्त नहीं होता है ।

शंका—कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति मात्र संक्लेश की उत्कर्षता से बंधती है । इसलिये जिन अध्यवसायों के द्वारा शुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति होती है, उनके ही द्वारा एकस्थानक रस भी क्यों नहीं होता ?

समाधान—इसका कारण यह है कि यहाँ (स्थितिबंध के प्रकरण में) प्रथम स्थिति से प्रारम्भ कर एक-एक समय की वृद्धि से असंख्यात स्थितिविशेष (स्थिति के भेद) होते हैं और एक-एक स्थिति में असंख्यात रसस्पर्धक संघातविशेष होते हैं । इसलिये बध्यमान उत्कृष्ट स्थिति में एक-एक स्थितिविशेष पर जो असंख्यात रसस्पर्धक संघात-विशेष पाये जाते हैं, वे उतने ही सब द्विस्थानक रस से ही घटित होते हैं, एकस्थानक रस से घटित नहीं होते हैं । इसलिये शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध होने पर भी एकस्थानक रसबन्ध प्राप्त नहीं होता है ।[1] कहा भी है—

शुभ प्रकृतियों का भी उत्कृष्ट स्थितिबंधाध्यवसाय स्थानों के द्वारा एकस्थानक रसबंध प्राप्त नहीं होता है । क्योंकि स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों से अनुभागस्थान असंख्य गुणित होते हैं ।[2]

यहाँ पर सर्वघातिनी और देशघातिनी प्रकृतियों के जो चतुःस्थानक रसवाले या त्रिस्थानक रसवाले स्पर्धक[3] हैं, वे सभी नियम से सर्वघाती ही होते हैं । द्विस्थानकरस वाले स्पर्धक

---

१. इस शंका-समाधान का विशेष आशय परिशिष्ट में स्पष्ट किया है।

२. उक्कोसठिईअज्झवसाणेहिं एगठाणिओ होही ।
सुभियाण तं न जं ठिइ असंखगुणियाओ अणुभागा ।। —पंचसंग्रह, तृतीय द्वार, गा. ५४

३. सर्वजघन्य गुणवाले प्रदेश के अविभाग प्रतिच्छेदों की राशि को वर्ग और समगुण वाले वर्गों के समूह को वर्गणा और वर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं । कर्मस्कन्ध में, उसके अनुभाग में, जीव के कषाय व योग में तथा इसी प्रकार अन्यत्र भी स्पर्धक संज्ञा का ग्रहण किया जाता है। किसी भी द्रव्य के प्रदेशों में अथवा उसकी शक्ति के अंशों में जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त जो क्रमिक वृद्धि या हानि होती है, उसी से यह स्पर्धक उत्पन्न होते हैं।

सर्वघातिनी प्रकृतियों के तो सर्वघाति ही होते हैं, किन्तु देशघातिनी प्रकृतियों के कितने ही रसस्पर्धक सर्वघाति और कितने ही देशघाति, इस प्रकार मिश्र रूप होते हैं। एकस्थानक रस वाले स्पर्धक देशघातिनी प्रकृतियों के ही होते हैं, इसलिये वे देशघाति ही हैं।

घाति प्रकृतियों में प्राप्त भाव

यहाँ पर अवधिज्ञानावरणादि देशघाति प्रकृतियों के सर्वघाति रसस्पर्धकों में विशुद्ध अध्यवसाय से देशघाति रूप परिणमन के द्वारा घात कर दिये जाने पर और जो देशघाति रसस्पर्धक अति स्निग्ध थे, उनको अल्प रस रूप कर दिये जाने पर उनके अन्तर्गत कतिपय रसस्पर्धक भाग का (जो उदयावलिका में प्रविष्ट था) क्षय होने पर और शेष (जो उदयावलिका में प्रविष्ट नहीं था) का विपाकोदयविष्कम्भ लक्षण वाले (व्यवधान रूप) उपशम के होने पर जीव के अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और चक्षुदर्शनादि क्षायोपशमिक गुण उत्पन्न होते हैं। उस समय अवधिज्ञानावरणादि प्रकृतियों के कुछ देशघाति रसस्पर्धकों के क्षयोपशम से और कुछ देशघाति रसस्पर्धकों के उदय से, क्षयोपशम से अनुविद्ध औदयिक भाव प्रवर्तता है और जब अवधिज्ञानावरणादि प्रकृतियों के सर्वघाति रसस्पर्धक विपाकोदय को प्राप्त होते हैं, तब तद्विषयक केवल औदयिक भाव प्रवर्तता है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अन्तराय कर्म की प्रकृतियों के तो सदैव देशघाति रसस्पर्धकों का ही उदय होता है, सर्वघाति रसस्पर्धकों का नहीं। इसलिये इन प्रकृतियों के सदा ही औदयिक और क्षायोपशमिक भाव सम्मिलित रूप से प्राप्त होते हैं, केवल औदयिक भाव कभी प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के उदय में भी क्षायोपशमिक भाव होना विरुद्ध नहीं है।

मोहनीय कर्म की अनन्तानुबंधी आदि प्रकृतियों के प्रदेशोदय होने पर क्षायोपशमिक भाव का होना अविरुद्ध है, विपाकोदय में नहीं। क्योंकि अनन्तानुबंधी आदि प्रकृतियां सर्वघातिनी हैं और सर्वघातिनी प्रकृतियों के सभी रसस्पर्धक सर्वघाति ही होते हैं, इसलिये उनके विपाकोदय में क्षयोपशम सम्भव नहीं है, किन्तु प्रदेशोदय में सम्भव है।

शंका—सर्वघाति प्रकृतियों के रसस्पर्धक वाले प्रदेश भी सभी अपने घातने योग्य गुणों के घात करने रूप स्वभाव वाले होते हैं, इसलिये उनके प्रदेशोदय में भी क्षायोपशमिक भाव का होना कैसे सम्भव है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उन सर्वघाति रसस्पर्धक वाले प्रदेशों का अध्यवसायविशेष से कुछ मंद अनुभाग रूप कर विरल रूप से वेद्यमान देशघाति रसस्पर्धकों के भीतर प्रवेश कर दिये जाने से उनकी यथास्थित (सर्वघाति के रूप में स्थित) बल को अपने रूप में प्रगट करने की सामर्थ्य नहीं रहती है। इसका आशय यह है कि सर्वघाति रसस्पर्धकप्रदेशों का अध्यवसाय विशेष से मंद अनुभाग कर लेने पर उस मंद अनुभाग को विरल रूप से वेद्यमान देशघाति रसस्पर्धकों के भीतर प्रवेश करा देने पर जो सर्वघाति के रूप में बल था, उस बल को प्रगट करने की सामर्थ्य नहीं रहती है, अर्थात् सर्वघात करने की सामर्थ्य नहीं रहती है।

मिथ्यात्व और आदि की बारह कषायों से रहित शेष मोहनीय प्रकृतियों के प्रदेशोदय में अथवा विपाकोदय में क्षयोपशम अविरुद्ध है, क्योंकि वे देशघातिनी हैं। परन्तु वे प्रकृतियां अध्रुवोदया हैं, इसलिये उनके विपाकोदय के अभाव में और क्षायोपशमिक भाव के विजृम्भमाण होने पर (उत्तरोत्तर प्रवर्धमान होने पर) प्रदेशोदय वाली भी वे प्रकृतियां मनागपि (किंचिन्मात्र भी, स्वल्पमात्र भी) देशघातिनी नहीं हैं, किन्तु विपाकोदय के प्रवर्तमान होने पर और क्षायोपशमिक भाव के सम्भव होने पर मनाक् (कुछ) मालिन्यमात्र के करने से वे देशघातिनी हैं।

१७. स्वानुदयबंधिनी प्रकृतियां

स्वस्यानुदय एव बंधो यासां ताः स्वानुदयबंधिन्यः—अपने अनुदय में ही जिन प्रकृतियों का बंध होता है, वे स्वानुदयबंधिनी कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियां ग्यारह हैं—देवायु, नरकायु, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रियअंगोपांग, आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

देवगतित्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु) का देवगति में उदय होता है और नरकत्रिक का नरकगति में तथा वैक्रियद्विक का उभयत्र (देव और नरक गति दोनों में)। किन्तु देव और नारक इन प्रकृतियों को बांधते नहीं हैं। क्योंकि उनका ऐसा ही भवस्वभाव है। तीर्थंकरनाम भी केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर उदययोग्य होता है, किन्तु उस समय उसका बन्ध नहीं होता है। क्योंकि अपूर्वकरण गुणस्थान (आठवें गुणस्थान) में ही उसका बंधव्यवच्छेद हो जाता है। आहारक-शरीर के प्रयोग करने के काल में लब्धि के उपयोगजनित प्रमाद से और उसके उत्तरकाल में मंद संयम वाले गुणस्थानवर्ती होने से आहारकद्विक के उदय में उनका बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार ये सभी प्रकृतियां स्वानुदयबंधिनी हैं।

१८. स्वोदयबंधिनी प्रकृतियां

स्वोदय एव बंधो यासां ताः स्वोदयबंधिन्यः—अपने उदय में ही जिनका बंध होता है, वे प्रकृतियां स्वोदयबंधिनी कहलाती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अन्तरायपंचक, मिथ्यात्व, निर्माणनाम, तैजस, कार्मण, स्थिर, अस्थिर, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, शुभनाम और अशुभनाम। ये सत्ताईस प्रकृतियां ध्रुवोदया हैं। इसलिये इनका उदयविच्छेद होने तक सर्वदा उदय पाया जाता है और उदय रहने तक इनका बंध होते रहने से ये स्वोदयबंधिनी कहलाती हैं।[1]

१९. उभयबंधिनी प्रकृतियां

उभयस्मिन्नुदयेऽनुदये वा बन्धो यासां ताः उभयबंधिन्यः—जिन प्रकृतियों का उदय अथवा अनुदय दोनों ही अवस्थाओं में बंध होता है, वे उभयबंधिनी कहलाती हैं। वे इस प्रकार हैं—

निद्रापंचक, जातिपंचक, संस्थानषट्क, संहननषट्क, सोलह कषाय, नव नोकषाय, पराघात, उपघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, साता-असातावेदनीय, उच्चगोत्र, नीचगोत्र, मनुष्यत्रिक, तिर्यंचत्रिक,

१. प्रत्येक गुणस्थान में उदय योग्य प्रकृतियों का विवरण परिशिष्ट में देखिए।

औदारिकद्विक, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, सुःस्वर, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, ये बयासी प्रकृतियां उभयबंधिनी हैं । क्योंकि इन प्रकृतियों का तिर्यंच अथवा मनुष्यों के यथायोग्य उदय होने पर अथवा उदय नहीं होने पर भी बंध सम्भव है।

२०. समकव्यवच्छिद्यमानबंधोदया प्रकृतियां

समकमेककालं व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ताः समकव्यवच्छिद्यमानबंधोदयाः—जिन प्रकृतियों का समक अर्थात् एक काल में बंध और उदय विच्छेद को प्राप्त होता है, वे समकव्यवच्छिद्यमान बंधोदया कहलाती हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—

संज्वलन लोभ के बिना पन्द्रह कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, हास्य, रति, मनुष्यानुपूर्वी, सूक्ष्मत्रिक, आतप और पुरुषवेद, कुल मिलाकर ये छब्बीस प्रकृतियां हैं। इनमें से सूक्ष्मत्रिक, आतप और मिथ्यात्व इन पांच प्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान में, अनन्तानुबंधी कषायों का सासादन गुणस्थान में, मनुष्यानुपूर्वी और दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषायों का अविरत गुणस्थान में, प्रत्याख्यानावरण कषायों का देशविरत गुणस्थान में, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा का अपूर्वकरण में, संज्वलनत्रिक और पुरुषवेद का अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में एक साथ ही बंध और उदय विच्छेद को प्राप्त होते हैं । इसलिये ये सभी प्रकृतियां समकव्यवच्छिद्यमानबंधोदया कहलाती हैं ।

२१. क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदया प्रकृतियां

क्रमेण पूर्वं बन्धः पश्चादुदय इत्येवंरूपेण व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ताः क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदयाः—क्रम से पहले जिनका बंधविच्छेद हो और पश्चात् उदयविच्छेद हो, इसप्रकार से विच्छिन्न होने वाली प्रकृतियां क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदया प्रकृतियां कहलाती हैं । ऐसी प्रकृतियां पूर्व में वक्ष्यमाण प्रकृतियों से अतिरिक्त छियासी प्रकृतियां हैं, यथा—ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियों का सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के चरम समय में बंधविच्छेद होता है और उदयविच्छेद क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय में होता है। निद्रा और प्रचला का बन्धविच्छेद अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग में होता है और उदयविच्छेद क्षीणकषाय गुणस्थान के द्विचरम समय में होता है । असातावेदनीय का प्रमत्तसंयत गुणस्थान में और सातावेदनीय का सयोगिकेवली के चरम समय में बंधविच्छेद होता है तथा इन दोनों ही प्रकृतियों का उदयविच्छेद सयोगिकेवली के चरम समय में अथवा अयोगिकेवली के चरम समय में होता है तथा अन्तिम संस्थान का मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में, मध्यम संस्थानचतुष्क, अप्रशस्त विहायोगति और दुःस्वर नामकर्म का सासादन गुणस्थान में, औदारिकद्विक और प्रथम संहनन का अविरत गुणस्थान में, अस्थिर और अशुभ नाम का प्रमत्त गुणस्थान में, तैजस, कार्मण, समचतुरस्रसंस्थान, वर्णचतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति और निर्माण का अपूर्वकरण के छठे भाग में बंधविच्छेद होता है, किन्तु इन उनतीस प्रकृतियों का उदयविच्छेद सयोगि जिन के प्रथम समय में होता है तथा मनुष्यत्रिक का बंधविच्छेद अविरत गुणस्थान में, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय और तीर्थंकर नामकर्म का अपूर्वकरण के छठे भाग में, यशःकीर्ति

और उच्चगोत्र का सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंतिम समय में बंधविच्छेद होता है, किन्तु इन बारह प्रकृतियों का उदयविच्छेद अयोगि जिन के चरम समय में होता है तथा स्थावर, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकत्रिक, अन्तिम संहनन और नपुंसकवेद का बंधविच्छेद मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होता है, किन्तु इनका उदयविच्छेद यथाक्रम से सासादन, अविरत, अप्रमत्तविरत और अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में होता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—स्थावर, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति का उदयविच्छेद सासादन गुणस्थान में, नरकत्रिक का उदयविच्छेद अविरति गुणस्थान में, अंतिम संहनन का उदयविच्छेद अप्रमत्त गुणस्थान में और नपुंसकवेद का उदयविच्छेद अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में होता है तथा स्त्रीवेद का बंधविच्छेद सासादन गुणस्थान में और उदयविच्छेद अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में होता है। तिर्यंचानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, उद्योत, नीचगोत्र, स्त्यानर्द्धित्रिक, चतुर्थ और पंचम संहनन, दूसरा और तीसरा संहनन, इनका बंधव्यवच्छेद सासादन गुणस्थान में होता है, किन्तु उदयव्यवच्छेद अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत और उपशांतमोह गुणस्थानों में होता है। जो इस प्रकार जानना चाहिये कि तिर्यंचानुपूर्वी, दुर्भग और अनादेय का उदयव्यवच्छेद अविरत गुणस्थान में होता है। तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, उद्योत और नीचगोत्र का उदयविच्छेद देशविरत गुणस्थान में होता है। स्त्यानर्द्धित्रिक का उदयविच्छेद प्रमत्त गुणस्थान में होता है। चौथे एवं पांचवें संहनन का अप्रमत्त गुणस्थान में और दूसरे व तीसरे संहनन का उपशान्तमोह गुणस्थान में उदयविच्छेद होता है तथा अरति और शोक का बंधविच्छेद प्रमत्त गुणस्थान में होता है और उदयव्यवच्छेद अपूर्वकरण गुणस्थान में होता है। संज्वलन लोभ का बंधविच्छेद अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के चरम समय में होता है और उदयव्यवच्छेद सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंतिम समय में होता है। इस प्रकार ये छियासी प्रकृतियां क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदया हैं।

२२. उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदया प्रकृतियां

पूर्वमुदयः पश्चाबन्ध इत्येवमुत्क्रमेण व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ताः उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदयाः—जिन प्रकृतियों का पहले उदय विच्छेद और पीछे बंध विच्छेद को प्राप्त होता है, वे उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदया प्रकृति कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियां आठ हैं, यथा—अयशःकीर्ति, सुरत्रिक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक। इनमें से अयशःकीर्ति नाम का प्रमत्त गुणस्थान में, देवायु का अप्रमत्त गुणस्थान में, देवद्विक और वैक्रियद्विक का अपूर्वकरण गुणस्थान में बंधव्यवच्छेद होता है किन्तु इन छहों प्रकृतियों का उदयविच्छेद अविरत गुणस्थान में होता है। आहारकद्विक का बंधव्यवच्छेद अपूर्वकरण गुणस्थान में होता है और उदयव्यवच्छेद प्रमत्तसंयत गुणस्थान में होता है।[1]

१. उपाध्याय यशोविजयजी ने कर्मप्रकृति टीका में आहारकद्विक का उदयविच्छेद सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में बतलाया है। जो कर्मग्रंथिकों के मत से अपेक्षाकृत भिन्न है। कर्मशास्त्रियों का मत है कि कोई चतुर्दशपूर्वधारी मुनि जब अपने संशय आदि के निवारणार्थ आहारकलब्धि का प्रयोग करते हैं, उस समय लब्धि का प्रयोग वाले होने से प्रमादी भी हो सकते हैं। क्योंकि कुछ लब्धियां ऐसी हैं कि प्रयोगकर्ता उत्सुक हो सकता है और उत्सुकता हुई तो उस उत्सुकता में कदाचित् स्थिरता या एकाग्रता का भंग संभव है। छठे गुणस्थान तक ही प्रमाद का सद्भाव है। उसके आगे प्रमाद का अभाव हो जाने से आहारकद्विक का उदयविच्छेद छठे गुणस्थान के चरम समय में हो जाता है।

उपाध्यायजी ने सातवें गुणस्थान में जो आहारकद्विक का उदयविच्छेद बतलाया है, वह भी अपेक्षाविशेष से ठीक है। क्योंकि कोई मुनि विशुद्ध परिणाम से आहारक शरीरवान होने पर भी सातवें गुणस्थान को पा सकते हैं। परन्तु ऐसा क्वचित्, कदाचित् बहुत ही अल्पकाल के लिये होता है। अतएव इस क्वचित्, कदाचित् अल्प सामयिक स्थिति की अपेक्षा से विचार किया जाये तो सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में भी आहारकद्विक का उदयविच्छेद मानना ठीक है। यह एक विशेषस्थिति है। सामान्य से तो छठे गुणस्थान में ही आहारकद्विक का उदयविच्छेद हो जाता है।

२३. सान्तरबंधिनी प्रकृतियां

यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रं बन्धः, उत्कर्षतः समयादारभ्य यावदन्तर्मुहूर्तं न परतः, ताः सान्तरबन्धाः—जिन प्रकृतियों का जघन्य से एक समयमात्र बंध होता है और उत्कर्ष से एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक बंध होता है, उससे परे नहीं होता है, वे सान्तरबंधिनी प्रकृतियां कहलाती हैं। अन्तर्मुहूर्त के मध्य में भी सान्तर अर्थात् विच्छेद रूप अन्तर सहित जिनका बंध होता है, इस प्रकार की व्युत्पत्ति सान्तर शब्द की है। सारांश यह है कि अन्तर्मुहूर्त के ऊपर जिनका बंधविच्छेद नियम से होता है और अन्तर्मुहूर्त के मध्य में बंधविच्छेद और बंध होने रूप परिवर्तन होता रहता है, उनको सान्तरबंधिनी प्रकृतियां समझना चाहिये। ऐसी प्रकृतियां इकतालीस हैं। जो इस प्रकार हैं—असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, नरकद्विक, आहारकद्विक, प्रथम संस्थान के बिना शेष पांच संस्थान, प्रथम संहनन के बिना शेष पांच संहनन, आदि की चार जातियां, आतप, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति और स्थावरदशक।

ये इकतालीस प्रकृतियां जघन्य से एक समयमात्र और उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त तक बंधती हैं। इससे आगे अपने बंध के कारण का सद्भाव होने पर भी तथाजातीय स्वभाव होने से और इनके बंधने योग्य अध्यवसाय के परावर्तन के नियम से प्रतिपक्षी प्रकृतियां बंधने लगती हैं। इसलिये ये सान्तरबंधिनी प्रकृतियां कहलाती हैं।

२४. सान्तरनिरन्तरबंधिनी प्रकृतियां

यासां जघन्यतः समयमात्रं बन्ध उत्कर्षतस्तु समयादारभ्य नैरन्तर्येणान्तर्मुहूर्तस्योपर्यपि कालमसंख्येयं (संख्येयं) यावत्ताः सान्तरनिरन्तरबन्धाः—जिन प्रकृतियों का बंध जघन्य एक समयमात्र से लेकर उत्कर्षतः निरन्तर अन्तर्मुहूर्त तक और अन्तर्मुहूर्त के ऊपर भी (संख्यात), असंख्यात काल तक बंध होता है, वे सान्तर-निरन्तरबन्धिनी कहलाती हैं।

अन्तर्मुहूर्त के मध्य में भी वे कभी सान्तर अर्थात् अन्तर के साथ बंधती हैं और कभी निरन्तर अर्थात् अन्तर के बिना बंधती हैं। इस कारण इनको सान्तर-निरन्तरबंधिनी कहा गया है। भावार्थ यह हुआ कि अन्तर्मुहूर्त के मध्य में भी जिनका बंध विच्छिन्न हो सकता है और अन्तर्मुहूर्त के ऊपर बंध विच्छिन्न हो और न भी हो, इस प्रकार की उभयवृत्ति रूप जाति वाली प्रकृतियों को सान्तर-निरन्तरबन्धिनी कहते हैं। ऐसी प्रकृतियां सत्ताईस हैं—समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, पराघात, उच्छ्वास, पुरुषवेद, पंचेन्द्रियजाति, सातावेदनीय, शुभविहायोगति, वैक्रियद्विक, औदारिकद्विक, सुरद्विक, मनुजद्विक, तिर्यग्द्विक, गोत्रद्विक, सुस्वरत्रिक, त्रसचतुष्क। ये सत्ताईस प्रकृतियां जघन्य से एक समयमात्र बंधती हैं और उसके पश्चात् इनका बंध रुक सकता है, इसलिये ये सान्तर और उत्कर्ष से अनुत्तरवासी देवादिकों के द्वारा असंख्यात काल तक बंधती रहती हैं, अतः अन्तर्मुहूर्त के मध्य में बंधने के व्यवच्छेद का अभाव होने से निरन्तर बंधिनी कहलाती हैं। इस प्रकार सान्तर और निरन्तर बंध की युगपद् विवक्षा से इनको सान्तरनिरन्तरबंधिनी कहा गया है।

२५. निरन्तरबंधिनी प्रकृतियां

जघन्येनापि या अन्तर्मुहूर्तं यावन्नैरन्तर्येण बध्यन्ते ताः निरन्तरबन्धाः—जो प्रकृतियां जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त काल तक निरन्तर बंधती रहती हैं, वे निरन्तरबंधिनी कहलाती हैं। अन्तर्मुहूर्त के मध्य में बंधव्यवच्छेद रूप अन्तर जिनका निकल गया है ऐसा बन्ध जिनका होता है, इस प्रकार की व्युत्पत्ति होने से वे निरन्तरबंधिनी हैं। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त के मध्य में जिनका बंध अविच्छिन्न रूप से होता रहता है, उनको निरन्तरबंधिनी जानना चाहिये। ऐसी प्रकृतियां बावन हैं, जो इस प्रकार हैं—ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणनवक, सोलह कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, कार्मण, उपघात और वर्णचतुष्क, ये सैंतालीस ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां तथा तीर्थंकरनाम और आयुचतुष्क। इन बावन प्रकृतियों का बंध अन्तर्मुहूर्त के मध्य में विच्छेद को प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् बंध प्रारम्भ होने के बाद ये लगातार अन्तर्मुहूर्त तक बंधती रहती हैं।

२६. उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियां

यासां विपाकोदये प्रवर्त्तमाने संक्रमत उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म लभ्यते, न बंधतः, ताः उदयसंक्रमोत्कृष्टाः—जिन प्रकृतियों का विपाकोदय प्रवर्त्तमान होने पर संक्रम से उत्कृष्ट स्थितिसत्व पाया जाता है, बंध से नहीं पाया जाता है, वे उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियां कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियां तीस हैं—मनुष्यगति, सातावेदनीय, सम्यक्त्व, स्थिरादिषट्क, हास्यादिषट्क, वेदत्रिक, शुभविहायोगति, आदि के पांच संहनन और आदि के पांच संस्थान, उच्चगोत्र। इन उदय को प्राप्त प्रकृतियों की जो विपक्षभूत नरकगति, असातावेदनीय और मिथ्यात्व आदि प्रकृतियां हैं, उनकी उत्कृष्ट स्थिति को बांध कर पुनः जब जीव इन्हीं उदय प्राप्त प्रकृतियों का बंध प्रारम्भ करता है, तब बध्यमान प्रकृतियों में पूर्वबद्ध नरकगति आदि विपक्षभूत प्रकृतियों के दलिकों का संक्रमण करता है। क्योंकि शुभ प्रकृतियों की स्थिति अपने बंध की अपेक्षा थोड़ी होती है। इसलिये संक्रम से इनकी उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है।[1]

२७. अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियां

यासां प्रकृतीनामनुदये संक्रमत उत्कृष्टस्थितिलाभस्ताः अनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः—जिन प्रकृतियों का उदय नहीं होने पर संक्रम से उत्कृष्ट स्थिति का लाभ होता है, अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति हो जाती है, वे अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियां तेरह हैं—मनुष्यानुपूर्वी, सम्यग्मिथ्यात्व, आहारकद्विक, देवद्विक, विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक और तीर्थंकरनाम। इन तेरह प्रकृतियों की उत्कृष्ट

---

१. उक्त कथन का स्पष्टीकरण यह है—
जब इन्हीं उदयप्राप्त प्रकृतियों के समय पुनः नवीन प्रकृतियों का बन्ध प्रारम्भ करता है, तब इन नयी बंधने वाली प्रकृतियों में विपक्षभूत प्रकृतियों के दलिकों को संक्रमित करता है। इसलिये नयी बंधने वाली प्रकृतियों की स्थिति बढ़ जाती है। जैसे—सातावेदनीय यदि बन्धनकरण से बंधती है तो वह स्वल्प स्थिति का बंध करती है और यदि उस आत्मा ने विपक्षभूत असातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की बांध ली हो और पुनः पूर्व में बंधी हुई सातावेदनीय का बंध प्राप्त करता हो तो उस समय यदि बंधनकरण से ही चले तो स्वल्प स्थिति ही बांधता है। परन्तु बंधनकरण से नहीं चलकर यदि संक्रमणकरण से चलता है तो उस नवीन बंधने वाली सातावेदनीय प्रकृति में पूर्व बंधी हुई असातावेदनीय के कर्मदलिकों का संक्रमण करता हुआ उस सातावेदनीय प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध कर सकता है।

स्थिति स्वबंध से प्राप्त नहीं होती है, किन्तु संक्रम से प्राप्त होती है। संक्रम से उत्कृष्ट स्थिति तब पाई जाती है जब इनकी विपक्ष रूप प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितियों को बांधकर उसके उत्तर काल में पुनः इन्हीं के बांधे जाने पर उनमें पूर्वबद्ध विपक्षी प्रकृतियों के दलिकों का संक्रमण होता है। उक्त तेरह प्रकृतियों की विपक्षभूत जो प्रकृतियां हैं, उनकी उत्कृष्ट स्थिति को बांधने वाला प्रायः मिथ्यादृष्टि आदि मनुष्य होता है, किन्तु उस समय इन प्रकृतियों का उदय नहीं होता है। इसलिये ये अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा कहलाती हैं।

२८-२९. उदयबंधोत्कृष्टा, अनुदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियां

यासां प्रकृतीनां विपाकोदये सति बंधादुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्मावाप्यते ताः उदयबंधोत्कृष्टाः, यासां तु विपाकोदयाभावे बंधादुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मावाप्तिस्ताः अनुदयबंधोत्कृष्टाः—जिन प्रकृतियों का विपाकोदय होने पर बंध से उत्कृष्ट स्थितिसत्व पाया जाता है, वे उदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियां और जिन प्रकृतियों का विपाकोदय के अभाव में बंध से उत्कृष्ट स्थितिसत्व पाया जाता है, वे अनुदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियां कहलाती हैं।

इनमें नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, औदारिकद्विक, सेवार्तसंहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावरनाम, आतपनाम और पांचों निद्रायें, ये पन्द्रह प्रकृतियां अनुदयबंधोत्कृष्टा हैं और आयुचतुष्क से रहित शेष पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक, हुण्डसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, अगुरुलघु, तैजस, कार्मण, निर्माण, उपघात, वर्णचतुष्क, स्थिरषट्क, त्रसादिचतुष्क, असातावेदनीय, नीचगोत्र, सोलह कषाय, मिथ्यात्व, ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक और दर्शनावरणचतुष्क ये साठ प्रकृतियां उदयबंधोत्कृष्टा हैं। क्योंकि उदय को प्राप्त इन प्रकृतियों की स्वबन्ध से उत्कृष्ट स्थिति पाई जाती है। चारों आयु कर्म का परस्पर संक्रम नहीं होता है और बध्यमान आयु के दलिक पूर्वबद्ध आयु के उपचय (प्रदेशवृद्धि) के लिये समर्थ नहीं होते हैं। इसलिये तिर्यंच और मनुष्यायु की उत्कृष्ट स्थिति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। अतः ये प्रकृतियां अनुदयबंधोत्कृष्टा आदि चारों संज्ञाओं[1] से रहित हैं। देवायु और नरकायु को अनुदयबंधोत्कृष्टा होने पर भी प्रयोजन के अभाव से पूर्वाचार्यों ने उन्हें उदयबंधोत्कृष्टा आदि चारों संज्ञाओं से अतीत विवक्षित किया है।

३०-३१. अनुदयवती, उदयवती प्रकृतियां

यासां प्रकृतीनां दलिकं चरमसमयेऽन्यासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमय्यान्यप्रकृतिव्यपदेशेनानुभवेत्, न स्वोदयेन, ताः अनुदयवतीसंज्ञाः, यासां च दलिकं चरमसमये स्वविपाकेन वेदयते ताः उदयवत्यः—जिन प्रकृतियों के दलिक चरम समय में अन्य प्रकृतियों में स्तिबुकसंक्रमण[2] से संक्रमित होकर अन्य प्रकृति के रूप में अनुभव किये जायें, स्वोदय से नहीं, उन प्रकृतियों की अनुदयवती संज्ञा है और जिन प्रकृतियों के दलिक चरम समय में अपने विपाक से वेदन किये जायें, उनकी उदयवती संज्ञा है।

१. उदयसंक्रमोत्कृष्टा, अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा, उदयबंधोत्कृष्टा, अनुदयबंधोत्कृष्टा।

२. समान जातीय जिस किसी विवक्षित एक प्रकृति के उदय आने पर अनुदय प्राप्त शेष प्रकृतियों का जो उसी प्रकृति में संक्रमण होकर उदय आता है, उसे स्तिबुकसंक्रमण कहते हैं। स्तिबुकसंक्रमण को प्रदेशोदय भी कहते हैं। जिसका स्पष्टीकरण संक्रमकरण में किया जा रहा है।

इनमें उदयवती प्रकृतियां चौंतीस हैं। जिनके दलिक अन्तिम समय में स्वोदय से वेदन किये जाते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, आयुचतुष्क, दर्शनचतुष्क, साता-असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद तथा मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, शुभ, सुस्वर, आदेय और जिननाम, ये चरमोदय संज्ञावाली[1] नामकर्म की नौ प्रकृतियां तथा उच्चगोत्र, वेदकसम्यक्त्व और संज्वलनलोभ। इनका कुल योग चौंतीस है।

उपर्युक्त प्रकृतियों में से ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, इन चौदह प्रकृतियों का क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय में स्वोदय से विपाकवेदन होता है। नामनवक, साता-असातावेदनीय और उच्चगोत्र का अयोगिकेवली के चरम समय में स्वोदय से विपाक वेदन होता है। संज्वलनलोभ का सूक्ष्मसंपराय के अंतिम समय में स्वोदय से विपाक वेदन होता है। वेदकसम्यक्त्व का अपने क्षपण के अंतिम समय में स्वोदय से विपाक वेदन होता है। स्त्री और नपुंसक वेद का क्षपकश्रेणि में अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के काल के संख्यात भागों के बीत जाने पर उस वेद के उदय के अंतिम समय में स्वोदय से विपाक वेदन होता है। चारों आयुकर्मों का अपने भव के चरम समय में स्वोदय से वेदन होता है। इसलिये ये सभी प्रकृतियां उदयवती कही जाती हैं।

यद्यपि साता-असातावेदनीय और स्त्री, नपुंसक वेदों का अनुदयवतित्व भी सम्भव है, तथापि **'प्राधान्येनैव व्यपदेशः'** इस न्याय के अनुसार इन प्रकृतियों को उदयवती कहा गया है, अर्थात् उदयवतीवृत्ति जातिमत्व लक्षण रूप होने से अनुदयवतित्व उनमें नहीं है। क्योंकि उदयवतीवृत्ति रूप जातिमत्व लक्षण की उनमें प्रधानता है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये।

उक्त उदयवती प्रकृतियों से शेष रही एक सौ चौदह प्रकृतियां अनुदयवती हैं। क्योंकि उनके दलिकों का चरम समय में अन्यत्र ध्रुव रूप से संक्रमण होने के कारण स्वविपाक से वेदन नहीं होता है। जैसे कि चरमोदय संज्ञावाली नामनवक, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और उद्योत, इन प्रकृतियों को छोड़कर नामकर्म की इकहत्तर प्रकृतियां और नीचगोत्र, ये बहत्तर प्रकृतियां उदय में आई हुई सजातीय परप्रकृतियों में चरम समय में स्तिबुकसंक्रमण से प्रक्षेपण करके परप्रकृति रूप से अयोगिकेवली अनुभव करते हैं। इसी प्रकार निद्रा, प्रचला को उदयगत सजातीय दर्शनावरण की अन्य प्रकृतियों में स्तिबुकसंक्रमण से संक्रमित कर क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती परप्रकृति के रूप से वेदन करता है। मिथ्यात्व को सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्रमोहनीय) में, सम्यग्मिथ्यात्व को सम्यक्त्व में प्रक्षेपण कर सप्तक (अनन्तानुबंधीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक ये सात प्रकृतियां) के क्षयकाल में परप्रकृति रूप से यथासम्भव चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक अन्तिम समय में वेदन किया जाता है। अनन्तानुबंधी कषायों के क्षपण के समय उनके दलिक वध्यमान चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों में गुणसंक्रमण[2] के द्वारा संक्रमित कर और उदयावलिकागत दलिकों को उदयवती प्रकृतियों में

१. दूसरे और छठे कर्मग्रंथ में शुभ और सुस्वर के बदले सुभग और यशःकीर्ति के साथ ९ प्रकृतियां अयोगि के चरम समय में उदयविच्छेद होने वाली बताई हैं।

२. जहां पर प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणी क्रम से परमाणु-प्रदेश अन्य प्रकृति रूप परिणमें, वह गुणसंक्रमण है।

स्तिबुकसंक्रमण से उन प्रकृतियों का संक्रमण कर यथासम्भव चतुर्थ आदि चार गुणस्थानवर्ती (चौथे, पांचवें, छट्ठे, सातवें गुणस्थानवर्ती) जीव अनुभव करते हैं। स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप उद्योत, जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति), नरकद्विक और तिर्यंचद्विक रूप नामकर्म की तेरह प्रकृतियों को बध्यमान यशःकीर्ति में यथाप्रवृत्त आदि यथायोग्य गुणसंक्रमण से संक्रमित कर और उनके उदयावलिकागत दलिकों को नामकर्म की उदय में आई हुई प्रकृतियों में स्तिबुकसंक्रमण से प्रक्षेपण करके उस प्रकृति के रूप से अनुभव करता है। इसी प्रकार स्त्यानर्द्धित्रिक को भी दर्शनावरणीय की आदि की चार प्रकृतियों में गुणसंक्रमण से संक्रमित करता है। तत्पश्चात् उदयावलिकागत दलिक को स्तिबुकसंक्रमण से संक्रमित करता है। इसी प्रकार आठ कषायों को, हास्यादिषट्क को, पुरुषवेद को, संज्वलन क्रोधादित्रिक को उत्तरोत्तर प्रकृतियों के मध्य में प्रक्षेपण करता है। इसलिये ये सभी प्रकृतियां अनुदयवती कहलाती हैं।[1]

इस प्रकार से गहन जलराशि (समुद्र) में प्रवेश करने के लिये नौका के समान कर्मसिद्धान्त रूपी महासागर का आलोढ़न एवं उसके गंभीर आशय को स्पष्ट करने के लिये यहाँ अष्ट कर्मों के स्वरूप का संक्षेप में विवेचन किया गया है।[2]

इनके बंध, संक्रम आदि के कारणभूत वीर्यविशेष रूप करणों (भावों, अध्यवसायों) के अष्टक को करणाष्टक कहते हैं। जिनका स्वरूप आगे कहा जा रहा है और यथास्थितिबद्ध कर्मपुद्गलों का अबाधाकाल के क्षय से अथवा संक्रम, अपवर्तना आदि करणविशेष से उदय को प्राप्त होने पर अनुभव करना उदय कहलाता है--**कर्मपुद्गलानां यथास्थितिबद्धानामबाधाकालक्षयात्संक्रमापवर्तनादि करणविशेषाद्वोदयसमयप्राप्तानामनुभवनमुदयः**—और उन्हीं कर्मपुद्गलों का बंध और संक्रम के द्वारा आत्मलाभ करके निर्जरा एवं संक्रमजनित स्वरूप की प्रच्युति के अभाव को अर्थात् आत्मा से पृथक् नहीं होने को सत्ता कहते हैं--**तेषामेव बंधसंक्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निजरणसंक्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावः सत्ता।**

अभिधेय व प्रयोजन आदि

यहाँ पर आठ करण, उदय और सत्ता का कथन अभिधेय है। इनका परिज्ञान होना श्रोता का अनन्तर (साक्षात्) प्रयोजन है तथा अन्य का अनुग्रह करना ग्रंथकार का साक्षात् प्रयोजन है तथा मोक्ष की प्राप्ति दोनों (श्रोता और ग्रंथकार) का परम्परा प्रयोजन है। यहाँ हेतुहेतुमद्-भाव रूप सम्बन्ध है। क्योंकि यह प्रकरण करणादि के ज्ञान का हेतु है और उनका ज्ञान हेतुमद्-सम्बन्ध है। इस ग्रंथ के पढ़ने का अधिकारी तत्त्वजिज्ञासु अथवा मुमुक्ष पुरुष है।

करणाष्टकों के नाम

अब उद्देश्यानुरूप निर्देश किये जाने के न्यायानुसार ग्रंथकार सर्वप्रथम आठ करणों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं–

---

१. ध्रुवबंधी आदि इकतीस द्वार का यंत्र परिशिष्ट में देखिए।

२. वक्ष्यमाण गभीरार्थ, नीरराशिप्रवेशकृत्।
कर्माष्टकस्वरूपस्य, नौरिवेयं प्ररूपणा॥

बंधण संकमणुव्वट्टणा य अववट्टणा उदीरणया ।
उवसामणा निहत्ती निकायणा च त्ति करणाइं ।।२।।

शब्दार्थ—**बंधण**–बंधन, **संकमण**–संक्रमण, **उव्वट्टणा**–उद्वर्तना, **य**–और, **अववट्टणा**–अपवर्तना, **उदीरणया**–उदीरणा, **उवसामणा**–उपशामना, **निहत्ती**–निधत्ति, **निकायणा**–निकाचना, **च**–और, **त्ति**–इस प्रकार **करणाइं**–करण ।

गाथार्थ—बन्धन, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, उपशामना, निधत्ति और निकाचना, इस प्रकार (आठ) करण हैं ।

विशषार्थ—**बध्यते जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगतीक्रियतेऽष्टप्रकारं कर्म येन वीर्यविशेषण तद्बंधनं**—जिस वीर्यविशेष के द्वारा आठ प्रकार के कर्मों को जीवप्रदेशों के साथ अन्योन्यानुगत (एकमेव) किया जाये, उसे बंधनकरण कहते हैं ।

२. **संक्रम्यन्तेऽन्यकर्मरूपतया व्यवस्थिताः प्रकृतिस्थत्यनुभागप्रदेशाः अन्यकर्मरूपतया व्यवस्थाप्यन्ते येन तत्संक्रमणं**—जिस वीर्यविशेष के द्वारा अन्य कर्म रूप से अवस्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश अन्य (दूसरे) कर्म रूप से व्यवस्थापित किये जायें, उसे संक्रमण कहते हैं। उद्वर्तना और अपवर्तना, ये दोनों संक्रमण के ही भेद हैं, किन्तु ये दोनों केवल कर्मों की स्थिति और अनुभाग से आश्रित हैं ।

३. **तत्रोद्वर्त्त्यंते प्रभूतीक्रियते स्थित्यनुभागौ या वीर्यपरिणत्या सा उद्वर्तना**—जिस वीर्य-परिणति के द्वारा कर्मों की स्थिति और अनुभाग उद्वर्तित अथवा प्रभूत किये जायें (बढ़ा दिये जायें), उसे उद्वर्तनाकरण कहते हैं ।

४. **अपवर्त्यंते ह्रस्वीक्रियते तौ यया साऽपवर्तना**—जिस वीर्यविशेष की परिणति के द्वारा वे दोनों (स्थिति और अनुभाग) अपवर्तित अर्थात् ह्रस्व कर दिये जायें (कम कर दिये जायें, घटा दिये जायें), उसे अपवर्तनाकरण कहते हैं ।

५. **उदीर्यतेऽनुदयप्राप्तं कर्मदलिकमुदयावलिकायां प्रवेश्यते यया सा उदीरणा**—जिस वीर्यविशेष की परिणति के द्वारा अनुदयप्राप्त कर्मदलिक उदयावलिका में उदीरित अर्थात् प्रविष्ट किये जायें, उसको उदीरणाकरण कहते हैं ।

६. **उपशम्यते उदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते कर्म यया सोपशमना**—जिस वीर्यविशेष की परिणति के द्वारा कर्म उपशमित किये जायें अर्थात् उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचनाकरण के अयोग्य रूप से व्यवस्थापित किये जायें, उसे उपशमनाकरण कहते हैं ।

७. **निधीयते उद्वर्तनापवर्तनान्यशेषकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते यया सा निधत्तिः**—जिस वीर्यविशेष की परिणति के द्वारा कर्म निधीयते अर्थात् उद्वर्तना और अपवर्तना के सिवाय अन्य शेष करणों के अयोग्य रूप से व्यवस्थापित किये जाते हैं, उसे निधत्तिकरण कहते हैं। पृषोदरादि से इस शब्द के इष्ट रूप की सिद्धि होती है ।

८. 'कच' धातु बंधन के अर्थ में है (कच् बंधने, नितरां कच्यते) अर्थात् जो अत्यधिक रूप से स्वयं ही बंध को प्राप्त होता है, ऐसा तथाविध संक्लिष्ट अध्यवसाय रूप जीव का जो कर्म है, उसे जो प्रयोग करता है अर्थात् जीव ही तथानुकूल हो जाता है, इस प्रकार के प्रयोक्तृ-व्यापार में 'णिच्' प्रत्यय किया गया है, तदनुसार यह अर्थ होता है कि **निकाच्यते सकलकरणायोग्यत्वेनावश्यवेद्यतया व्यवस्थाप्यते कर्म जीवेन यया सा निकाचना**—जिस वीर्यविशेष की परिणति के द्वारा कर्म निकाचित किया जाये अर्थात् सकल करणों से अयोग्य करके (यथारूप में) अवश्य वेदन करने की योग्यता रूप से स्थापित किया जाये, उसे निकाचनाकरण कहते हैं। अथवा 'कच् बंधने' यह धातु चुरादिगणपठित भी है, उसका यह रूप (निकाचन) है।

गाथा में आगत 'च' शब्द समुच्चय के अर्थ में है और 'त्ति-इति' शब्द समाप्ति का बोधक है कि ये करण इतने ही हैं, अर्थात् आठ ही होते हैं, अधिक नहीं। यानी बंध, संक्रम आदि कार्यों के आठ प्रकार होने से उनके करण भी आठ ही होते हैं।

अभिधेय के अनुसार अब ग्रंथकार आठ करणों में से पहले बंधनकरण का विवेचन प्रारंभ करते हैं।

१. बंधनकरण

वीर्य का स्वरूप

उपर्युक्त बंधन आदि आठों करण जीव के वीर्यविशेष रूप हैं, अतः अब वीर्य के स्वरूप का निरूपण किया जाता है।

विरियंतरायदेसक्खएण सव्वक्खएण जा लद्धी।
अभिसंधिजमियरं वा तत्तो विरियं सलेसस्स ॥३॥

शब्दार्थ—**विरियंतरायदेसक्खएण**—वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय से, **सव्वक्खएण**—सर्वक्षय से, **जा**—जो, **लद्धी**—लब्धि, **अभिसंधिजं**—अभिसंधिज, **इयरं**—इतर (अनभिसंधिज), **वा**—अथवा, **तत्तो**—उससे, **विरियं**—वीर्य, **सलेसस्स**—लेश्या सहित जीव का।

गाथार्थ—वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय से और सर्वक्षय से जो वीर्यलब्धि उत्पन्न होती है। उसमें सलेश्य-लेश्यासहित जीव की वीर्यलब्धि अभिसंधिज और इतर-अनभिसंधिज होती है।

विशेषार्थ—वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय से अथवा सर्वक्षय से प्राणियों को वीर्यलब्धि उत्पन्न होती है। उसमें से वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय से छद्मस्थों को और सर्वक्षय से केवलियों को वीर्यलब्धि प्रगट होती है। उस क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप वीर्यलब्धि के संयोग से सलेश्य (लेश्या वाले) जीव के उत्पन्न होने वाले वीर्य के दो प्रकार हैं—**अभिसंधिज, अनभिसंधिज**। अभिसंधिज वीर्य का बुद्धिपूर्वक दौड़ने-कूदने आदि क्रियाओं में उपयोग किया जाता है और इतर (अनभिसंधिज—अबुद्धिपूर्वक, स्वाभाविक) खाए हुए आहार का धातु, मल आदि के रूप में परिणमन कराता है। अथवा एकेन्द्रियादिक जीवों के योग्य क्रियाओं का जो कारण होता है, वह अनभिसंधिज है। वह भी यहाँ

अधिकृत है। सलेश्य जीव के वीर्य का विचार करना यहाँ प्रयोजनीय है। इस प्रकार गाथा रूप सूत्र की सोपस्कार व्याख्या करना चाहिये।

यह वीर्य (सलेश्य वीर्य) दो प्रकार का है—छाद्मस्थिक और केवलिक। यह दोनों ही प्रकार का प्रत्येक वीर्य अकषायी और सलेश्य होता है। इनमें छाद्मस्थिक अकषायी सलेश्य वीर्य उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान वालों के और केवलिक वीर्य सयोगि केवलियों के होता है। छाद्मस्थिक काषायिक वीर्य सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक के जीवों के होता है और केवलिक अलेश्य वीर्य अयोगि केवलियों और सिद्धों के होता है। परन्तु यहाँ पर जो सलेश्य वीर्य है, वही ग्रहण किया गया है। क्योंकि वही कर्मबंधादि का कारण है। सूक्ष्म और बादर जीवों के परिस्पन्दन रूप (हलन-चलन रूप) क्रियात्मक वीर्य होता है, वह 'योग' इस नाम से कहा जाता है।[1]

योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति और सामर्थ्य, ये सब योग के पर्यायवाची नाम हैं।[2]

अब इसी योग के कार्यभेद से संज्ञाभेद को और जीव प्रदेशों में तारतम्य से अवस्थान होने के कारण को कहते हैं।

परिणामालंबणगहणसाहणं तेण लद्धनामतिगं।
कज्जब्भासन्नोन्नप्पवेसविसमीकयपएसं ॥४॥

शब्दार्थ—परिणामालंबणगहणसाहणं—परिणाम, आलंबन और ग्रहण में साधन रूप, **तेण**—उससे, **लद्धनामतिगं**—तीन नाम प्राप्त किये हैं, **कज्जब्भास**—कार्य की निकटता, **अन्नोन्नप्पवेस**—अन्योन्य के प्रवेश, **विसमीकय**—विषम किये हैं, **पएसं**—जीवप्रदेश।

गाथार्थ—परिणाम, आलंबन और ग्रहण में साधन रूप होने से योग ने तीन नाम प्राप्त किये हैं तथा जिसके द्वारा कार्य की निकटता और अन्योन्य के प्रवेश से जीवप्रदेश विषम किये जाते हैं, ऐसा योग है।

विशेषार्थ—वह वीर्य परिणाम, आलंबन और ग्रहण का साधन है, इस कारण उसने सार्थक तीन नाम प्राप्त किये हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उस योग संज्ञा वाले वीर्यविशेष के द्वारा जीव सर्वप्रथम औदारिक आदि शरीरों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और ग्रहण करके औदारिक आदि शरीर रूप से परिणमित करता है तथा इसी प्रकार पहले प्राणापान (श्वासोच्छ्वास), भाषा और मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और फिर ग्रहण करके उन्हें प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) आदि रूप से परिणमित

---

१. जीवों की वीर्यशक्ति का विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

२. जोगो विरयं थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा।
सत्ती सामत्थं चिय, जोगस्स हवंति पज्जाया॥
—पंचसंग्रह, बंधनकरण गा. ४

करता है। परिणमित करके उसके निसर्ग के हेतु रूप सामर्थ्य-विशेष की सिद्धि के लिये[1] उन पुद्गलों का अवलंबन करता है। जैसे--मंदशक्ति वाला कोई पुरुष नगर में परिभ्रमण करने के लिये लकड़ी का आलंबन लेता है, उसी प्रकार उच्छ्वास आदि पुद्गलों के ग्रहण और छोड़ने के लिये आलम्बन रूप प्रयत्न की आवश्यकता होती है। उस सामर्थ्यविशेष की सिद्धि के लिये (ग्रहण और छोड़ने के लिये) जीव उन्हीं पुद्गलों का आलंबन लेता है। इसलिये उसे ग्रहण, परिणाम और आलंबन का साधन होने से वह ग्रहण आदि संज्ञावाला कहा जाता है। कहा भी है-'**गहणपरिणामफंदनरूवं तं ति**'-वह योग ग्रहण, परिणाम और स्पन्दन रूप है। अतएव परिणाम, आलंबन, ग्रहण का साधन रूप होने से परिणामादि हेतुता प्रतिपादित की गई है। जिससे मन, वचन और काय के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले योग संज्ञावाले वीर्य द्वारा तीन नाम प्राप्त किये जाते हैं।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि करणभूत मन के द्वारा होने वाला योग मनोयोग है। करणभूत वचन के द्वारा होने वाला योग वचनयोग है और करणभूत काय के द्वारा होने वाला योग काययोग है। इस प्रकार के अन्वयात्मक कारण से प्राचीन आचार्यों ने संज्ञाभेद का व्याख्यान किया है।[2]

शंका--सभी जीवप्रदेशों में क्षायोपशमिक लब्धि का समान रूप से सद्भाव होने पर भी कहीं अधिक, कहीं अल्प वीर्य उपलब्ध होता है और कहीं अल्पतर (और भी कम), तो इस विषमता का क्या कारण है?

समाधान--जीव जिस अर्थ (प्रयोजन) के प्रति चेष्टा करता है, वह कार्य और उसका अभ्यास, आसन्नता (निकटता, समीपता) कहलाती है तथा जीव के सर्व प्रदेशों में परस्पर एक-दूसरे से जुड़े हुए सांकल के अवयवों के समान परस्पर-प्रवेश रूप सम्बन्धविशेष होता है। इन दोनों कारणों से विषम किये गये अर्थात् बहुत अधिक, अल्प और अल्पतर सद्भाव से जीवप्रदेश विसंस्थूलीकृत अर्थात् विषम रूप से अवस्थित हैं। जैसे कि हस्तादि में रहने वाले जिन आत्मप्रदेशों की उत्पाटन किये जाने वाले घट आदि कार्यों से निकटता होती है, उन प्रदेशों की चेष्टा अधिक

---

१. स्वाभाविक हेतुभूत क्रियावती शक्ति की सकारण सामर्थ्यविशेष की सिद्धि के लिये।

२. संसारी जीव का वीर्यविशेष परिस्पन्दन रूप है, जिसके द्वारा वह तीन कार्य करता है--परिणमन, ग्रहण और आलंबन तथा उन्हीं तीनों का कारण रूप भी है। अतः यह परिस्पन्दन किसी वस्तु को ग्रहण करने, ग्रहण करके परिणमित करने और परिणमित करने के आलम्बन रूप होता है, जैसे कि संसारी जीव योगसंज्ञक उस वीर्य-विशेष के द्वारा औदारिक आदि शरीर प्रायोग्य पुद्गलों को प्रथम ग्रहण करता है और ग्रहण करके औदारिकादि शरीर रूप परिणमाता है। इसी प्रकार श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनोयोग्य पुद्गलों को प्रथम ग्रहण करता है और श्वासोच्छ्वासादि रूप में परिणमाता है और परिणमाकर उसके विसर्जन करने में हेतुभूत सामर्थ्य को उत्पन्न करने के लिये उच्छ्वासादि पुद्गलों का आलंबन लेता है और उसके बाद उन उच्छ्वासादि पुद्गलों को विसर्जित करता है। अतः परिणाम, आलंबन और ग्रहण इन तीनों में योग रूप वीर्य साधन है।

किसी वस्तु को ग्रहण करने आदि के लिये संसारी जीव के पास तीन साधन हैं--शरीर, वचन एवं मन। इन साधनों के माध्यम से उसका वस्तु ग्रहण आदि के लिये परिस्पन्दन होने से साधनों के नामानुरूप योग के भी तीन नाम हैं--काययोग, वचनयोग, मनोयोग। शरीर (काय) के द्वारा जो योग प्रवर्तित होता है, उसे काययोग, वचन के द्वारा जो योग प्रवर्तित होता है, उसे वचनयोग और मन के द्वारा जो योग प्रवर्तित होता है, उसे मनोयोग कहते हैं।

होती है और दूरवर्ती अंस (कंधा आदि) की चेष्टा अल्प होती है तथा उससे भी अधिक दूरवर्ती पैर आदि के भीतर रहने वाले आत्मप्रदेशों की चेष्टा और भी कम होती है, यह बात अनुभवसिद्ध है। इसी प्रकार लोष्ट आदि के आघात होने पर सर्व आत्मप्रदेशों में एक साथ वेदना का उदय होने पर भी जिन आत्मप्रदेशों की आघात करने वाले लोष्ट आदि द्रव्य के साथ निकटता होती है, उन प्रदेशों में तीव्रतर वेदना और शेष प्रदेशों में मंद और मंदतर वेदना होती है। उसी तरह कार्य-रूप द्रव्य की समीपता और दूरवर्ती विशेषता से आत्म-प्रदेशों में वीर्य की विषमता जानना चाहिये। यह विषमता जीवप्रदेशों के सम्बन्धविशेष होने पर होती है, अन्यथा नहीं, जैसे कि सांकल के अवयवों की। क्योंकि वे सांकल के अवयव परस्पर सम्बन्धविशेष वाले हैं। इसलिये एक अवयव में परिस्पन्दन (हलन-चलन) होने पर दूसरे भी अवयव परिस्पन्दन को प्राप्त होते हैं। केवल उसमें अन्तर यह है कि कुछ अवयव अल्प परिस्पन्दन को प्राप्त होते हैं और कुछ और भी कम परिस्पन्दन को। यदि आत्म-प्रदेशों में परस्पर सम्बन्धविशेष का अभाव हो तो एक प्रदेश के चलने पर दूसरे प्रदेश का संचलन अवश्यम्भावी नहीं होगा। जैसे गाय और पुरुष ये दोनों सम्बन्धरहित स्वतंत्र व्यक्ति हैं, अतः गाय के चलायमान होने पर पुरुष का चलायमान होना आवश्यक नहीं है। इसलिये गाथा में स्पष्ट कहा है कि कार्यद्रव्याभ्यास (कार्यद्रव्य की समीपता) और परस्पर प्रवेश के कारण प्रदेशों में योगों की विषमता होती है—

कज्जब्भासन्नोन्नप्पवेसविसमीकयपएसं।

शंका—(उक्त समाधान के आधार पर शंकाकार पुनः अपना तर्क प्रस्तुत करता है कि) जिन प्रदेशों के साथ लोष्ट आदि का आघात होता है, उन प्रदेशों में वेदना की अधिकता होना संभव है, क्योंकि वह उसका कारण है। किन्तु जिन प्रदेशों के द्वारा घट आदि उत्पाटन क्रिया होती है, उन प्रदेशों में वीर्य का उत्कर्ष भी हो, यह संभव नहीं है, क्योंकि उस उत्पाटन क्रिया के वे प्रदेश कारण नहीं हैं, प्रत्युत घट उत्पाटन की इच्छा से उत्पन्न जो घटोत्पाटन प्रवृत्ति रूप वीर्यविशेष है, उसी के द्वारा ही घटोत्पाटन क्रिया की उत्पत्ति होती है। इसलिये कार्यद्रव्य की निकटता से वीर्य का उत्कर्ष होता है, यह कथन अयुक्त है।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि औदारिक आदि वर्गणाओं के ग्रहण आदि के आश्रयभूत वीर्य का ही यहाँ अधिकार है और उस वीर्य के उत्कर्ष में कार्यद्रव्य की निकटता ही कारण है। एकप्रदेशरूपता को प्राप्त हुई वे वर्गणाएं ग्रहण आदि की विषयरूपता को प्राप्त ही हैं, इसलिये जिन प्रदेशों में वे साक्षात् सन्निहित हैं अर्थात् सम्बद्ध या समीपवर्ती हैं, उनमें कार्य रूप द्रव्य के ग्रहण आदि में वीर्य का उत्कर्ष होता है और परम्परा से सन्निहित प्रदेशों में वीर्य का अपकर्ष। बाह्य प्रयत्न के उन अवयवों से संबद्ध उत्कर्ष में तो उन अवयवों से सम्बद्ध क्रिया-विशेष की इच्छा आदि नियामक है और दूसरे प्रदेशों में उनकी विषमता का कारण उनके सम्बन्ध

की विषमता है, इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है । अतः आगम के अनुसार इस तरह वीर्य की विषमता को जानना चाहिये ।[1]

इस प्रकार वीर्य (योग) का प्रतिपादन करके अब इसके ही जघन्यत्व, अजघन्यत्व, उत्कृष्टत्व और अनुत्कृष्टत्व[2] का बोध कराने वाली प्ररूपणा के इच्छुक ग्रंथकार वक्ष्यमाण अर्थाधिकारों का नामोल्लेख करते हैं ।

वीर्यप्ररूपणा के अधिकारों के नाम

अविभाग वग्ग फड्डग अन्तर ठाणं अणंतरोवणिहा ।
जोगे परम्परा वुड्ढि समय जीवप्पबहुगं च ।।५।।

शब्दार्थ––**अविभाग**–अविभागप्ररूपणा, **वग्ग**–वर्गणाप्ररूपणा, **फड्डग**–स्पर्धकप्ररूपणा, **अंतर**–अन्तरप्ररूपणा, **ठाणं**–स्थानप्ररूपणा, **अणंतरोवणिहा**–अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा, **जोगे**–जोग में, **परम्परा**–परंपरोपनिधाप्ररूपणा, **वुड्ढि**–वृद्धिप्ररूपणा, **समय**–समयप्ररूपणा, **जीवप्पबहुगं**–जीव सम्बन्धी अल्पबहुत्वप्ररूपणा, **च**–और ।

गाथार्थ––योग के विषय में सर्वप्रथम अविभाग-प्ररूपणा, तदनन्तर क्रमशः वर्गणा-प्ररूपणा, स्पर्धक-प्ररूपणा, अन्तर-प्ररूपणा, स्थान-प्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा-प्ररूपणा, परम्परोपनिधा-प्ररूपणा, वृद्धि-प्ररूपणा, समय-प्ररूपणा और अन्त में जीवों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करना चाहिये ।

विशेषार्थ––गाथा में सलेश्य जीव की वीर्यशक्ति (योग) के विचार को सरलता से समझने के लिये क्रम को स्पष्ट किया है । उनमें पहले अधिकार का नाम अविभाग-प्ररूपणा है और अंतिम अधिकार का नाम है जीवों के योग का अल्पबहुत्व । इन अधिकारों का एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इस क्रम से विचार करना चाहिये, किन्तु व्युत्क्रम से विचार नहीं करना चाहिये ।

१. अविभाग-प्ररूपणा

एक जीवप्रदेश में जघन्यतः वीर्य के अविभाज्य अंश कितने होते हैं ? इस बात को बतलाने के लिये सर्व प्रथम ग्रंथकार अविभाग-प्ररूपणा करते हैं––

पण्णाछेयणछिन्ना, लोगासंखेज्जगप्पएससमा ।
अविभागा एक्केक्के, होंति पएसे जहन्नेणं ।।६।।

---

१. प्रस्तुत शंका-समाधान का आधार परिस्पन्दन रूप वीर्य की दृष्टि है। सलेश्यवीर्य तीन प्रकार का है––
१. आवृतवीर्य––कर्म द्वारा आच्छादित, २. लब्धिवीर्य––वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से प्रकट हुआ वीर्य, ३. परिस्पन्दनवीर्य––लब्धिवीर्य में से जितना वीर्य मन, वचन और काय योग द्वारा प्रगट, प्रवर्तित होता है, वह। यहां वीर्य की हीनाधिकता परिस्पन्दन वीर्य की अपेक्षा समझना चाहिये । क्योंकि यहां उसकी विवक्षा है और वह परिस्पन्दन वीर्य में सम्भव है, लब्धिवीर्य तो यथास्थान सर्व आत्मप्रदेशों में एक सरीखा ही होता है।

२. सबसे अल्पवीर्य को जघन्य, जघन्य वीर्य से एकादि अंश यावत् उत्कृष्ट तक के सर्व वीर्याविभागों को अजघन्य, सर्वोत्कृष्ट वीर्य को उत्कृष्ट और वीर्य के एकादि अंशहीन जघन्य तक के सर्व वीर्याविभागों को अनुत्कृष्ट कहते हैं। उत्कृष्ट विभाग भी अजघन्य और जघन्य वीर्य भी अनुत्कृष्ट कहलाता है।

शब्दार्थ––**पण्णाछेयणछिन्ना**–सर्वज्ञ की बुद्धि रूपी छैनी–शस्त्र द्वारा छिन्न किये गये, **लोगासंखेज्जगप्पएससमा**–लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश प्रमाण हैं, **अविभागा**–अविभाग, जिनका दूसरा टुकड़ा न हो सके, **एक्केक्के**–एक-एक, **होंति**–होते हैं, **पएसे**–प्रदेश पर, **जहन्नेणं**–जघन्य से ।

गाथार्थ––सर्वज्ञ की प्रज्ञा (बुद्धि-केवलज्ञान) रूपी छैनी शस्त्र द्वारा छिन्न किये गये ऐसे वीर्य के अविभाज्य अंश जीव के एक-एक प्रदेश पर जघन्य से भी लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश प्रमाण होते हैं ।

विशेषार्थ––जीव की वीर्य-शक्ति के केवली के प्रज्ञारूपी छेदनक (शस्त्र) के द्वारा लगातार खण्ड-खण्ड किये जाते हुए जब विभाग प्राप्त न हो, ऐसा जो उसका अंतिम अंश प्राप्त होता है वह वीर्याविभाग कहलाता है––**जीवस्य वीर्यं केवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यमानं यदा विभागं न दत्ते तदा योंऽशो विश्राम्यति स वीर्याविभाग उच्यते**। प्रज्ञा छेदनक के द्वारा छिन्न-छिन्न किये गये वे वीर्याविभाग एक-एक जीवप्रदेश पर जघन्य से भी (अल्पातिअल्प संख्या में) लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश प्रमाण होते हैं और उत्कर्ष से भी उतनी ही संख्या वाले अर्थात् लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश प्रमाण होते हैं । किन्तु वे जघन्यपदभावी वीर्याविभागों से असंख्यात गुणित जानना चाहिये । गाथा में आगत '**लोगासंखेज्जगप्पएसमा** लोकासंख्येक प्रदेशसमा'–इस पद की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये कि लोक के जो असंख्य प्रदेश हैं, उतने ही वीर्याविभाग के भी प्रदेश हैं। कहा भी है–

पन्नाए अविभागं जहण्णविरियस्स वीरियं छिन्नं ।
एक्केक्कस्स पएसस्सऽसंखलोगप्पएस समं ।।

जघन्य वीर्य वाले जीव के वीर्य को प्रज्ञा द्वारा छिन्न किये जाने अर्थात् उत्तरोत्तर खण्ड-खण्ड किये जाने पर प्राप्त अंतिम अंश अविभागी कहलाता है । ऐसे अविभागी अंश भी जीव के एक-एक प्रदेश पर लोक के असंख्यात प्रदेशों के बराबर होते हैं ।

इस प्रकार अविभाग–प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये ।

२. वर्गणा-प्ररूपणा

अविभाग-प्ररूपणा करने के बाद अब वर्गणा-प्ररूपणा का कथन करते हैं––

जेसिं पएसाण समा, अविभागा सव्वतो य थोवतमा ।
ते वग्गणा जहन्ना, अविभागहिया परंपरओ ।।७।।

शब्दार्थ––**जेसिं**–जिन, **पएसाण**–प्रदेशों के, **समा**–समान, **अविभागा**–अविभाज्य अंश, **सव्वतो**–सबसे, **थोवतमा**–अल्पतम, **ते**–वे, **वग्गणा**–वर्गणा, **जहन्ना**–जघन्य, **अविभागहिया**–एक-एक अविभाग अंश से अधिक, **परंपरओ**–परम्परा से, क्रम से ।

गाथार्थ––जिन जीवप्रदेशों के वीर्याविभाग तुल्य (समान) संख्या वाले और दूसरे जीव प्रदेश में रहे हुए वीर्याविभागों की अपेक्षा अल्पतम (थोड़े) होते हैं, उन जीवप्रदेशों की प्रथम

जघन्य वर्गणा कहलाती है, तदनन्तर एक-एक वीर्याविभाग से अधिक ऐसे क्रम से दूसरी, तीसरी आदि आगे वर्गणाओं की परंपरा जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिन जीवप्रदेशों के तुल्य संख्या वाले समान वीर्याविभाग होते हैं, वे (वीर्याविभाग) सब से अर्थात् जीव प्रदेशगत अन्य वीर्याविभागों से अल्पतम हैं । वे जीवप्रदेश घनाकार किये गये लोक[1] के असंख्यातवें भागवर्ती असंख्यात प्रतरगत[2] आकाश-प्रदेशराशि के प्रमाण होते हैं । सब से अल्पतम इन वीर्याविभागों के समुदाय की एक वर्गणा[3] कहलाती है और यह वर्गणा सब से जघन्य है। क्योंकि वह सब से कम अविभागी अंशों से युक्त है। इस जघन्य अर्थात् पहली वर्गणा (इस जघन्य वर्गणा) के अनन्तर दूसरी वर्गणा होती है । उसे केवल एक अविभाग अंश से अधिक कहना चाहिये और उसके बाद भी आगे एक-एक अविभाग से अधिक वर्गणायें समझना चहिये। वह इस प्रकार—

जघन्य वर्गणा से परे (आगे) जो जीव के प्रदेश एक-एक वीर्याविभाग से अधिक होते हैं, वे घनाकार लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात प्रतरगत प्रदेशों की राशि प्रमाण होते हैं, उनका समुदाय दूसरी वर्गणा है। तदनन्तर दो वीर्याविभागों से अधिक उक्त संख्या वाले अर्थात् घनाकार लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात प्रतरगत प्रदेशों की राशि प्रमाण होते हैं, उनके समुदाय की यह तीसरी वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक-एक वीर्याविभाग की वृद्धि से बढ़ते हुए उक्त संख्या में रहने वाले वीर्याविभागों की समुदाय रूप असंख्यात वर्गणायें जानना चाहिए।

स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा

ये वर्गणायें कितनी होती हैं? यह बतलाने के लिये स्पर्धक-प्ररूपणा और उसके बाद अन्तर-प्ररूपणा करते हैं—

सेढिअसंखिअमित्ता, फड्डगमेत्तो अणंतरा नत्थि ।
जाव असंखा लोगा, तो बीयाई य पुव्वसमा ।।८ ।।

शब्दार्थ—सेढिअसंखिअमित्ता—श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण (वर्गणा का), **फड्डगं**—स्पर्धक, **एत्तो**—यहाँ से, **अणंतरा**—अनन्तर (वर्गणा) **नत्थि**—नहीं हैं, **जाव**—तक, पर्यन्त, **असंखा**—असंख्यात, **लोगा**—लोकाकाश प्रदेश, **तो**—तत्पश्चात्, **बीयाई**—द्वितीयादिक, दूसरे आदि, **य**—और, **पुव्वसमा**—पूर्व की तरह (प्रथम स्पर्धक के समान)।

गाथार्थ—श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण वर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है। यहाँ से आगे असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण-तक अनन्तर (अन्तर रहित) वर्गणायें नहीं हैं, उसके बाद द्वितीयादिक स्पर्धक की वर्गणायें पूर्व के समान (प्रथम स्पर्धक के समान) हैं।

---

१. लोक का घनाकार समीकरण करने की विधि परिशिष्ट में देखिये।

२. सात राजू लंबी आकाश के एक-एक प्रदेश की पंक्ति को श्रेणी और श्रेणी के वर्ग को प्रतर कहते हैं। अर्थात् श्रेणी में जितने प्रदेश हों, उनको उतने ही प्रदेशों से गुणा करने पर जो प्रमाण आता है, वह प्रतर है।

३. समान जातीय पुद्गलों के समूह को वर्गणा कहते हैं।

विशेषार्थ—श्रेणिर्घनीकृत लोकस्यैकैकप्रदेशपंक्तिरूपा तस्या असंख्येयतमेभागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्मात्रा उक्तस्वरूपा वर्गणाः एकं स्पर्धकं—घनाकार लोक के एक-एक देश वाली पंक्ति को श्रेणी कहते हैं और उसके (श्रेणी के) असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतने प्रमाण वाली जिनका स्वरूप ऊपर कहा गया है ऐसी वर्गणाओं के समूह को एक स्पर्धक कहते हैं। क्योंकि जिसमें उत्तरोत्तर समान वृद्धि से वर्गणायें स्पर्धा को प्राप्त होती हैं, उसे स्पर्धक कहते हैं, यह स्पर्धक शब्द की व्युत्पत्ति है।

इस प्रकार स्पर्धक-प्ररूपणा करने के पश्चात् अब अन्तर-प्ररूपणा करते हैं।

इस पूर्वोक्त स्पर्धकगत अंतिम वर्गणा से परे (आगे) जीव-प्रदेश अनन्तर नहीं हैं, अर्थात् एक-एक वीर्याविभाग की वृद्धि से निरन्तर वर्धमान नहीं पाये जाते हैं, किन्तु लोक के असंख्यात जितने प्रदेश होते हैं, वहाँ तक सान्तर अर्थात् अन्तर सहित ही होते हैं। इसका भावार्थ यह हुआ कि पूर्वोक्त स्पर्धकगत अन्तिम वर्गणा से परे जीव-प्रदेश एक, दो, तीन आदि वीर्याविभागों से अधिक नहीं पाये जाते हैं और न संख्यात वीर्याविभागों से अधिक पाये जाते हैं और न असंख्यात वीर्याविभागों से ही अधिक पाये जाते हैं, किन्तु असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण से अधिक पाये जाते हैं। इसलिये उनका समुदाय दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है।

इस द्वितीय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के बाद की द्वितीयादि वर्गणायें पूर्वस्पर्धक के समान कहना चाहिये। वह इस प्रकार— प्रथम वर्गणा से परे एक वीर्याविभाग से अधिक जीवप्रदेशों का समूह दूसरी वर्गणा है। दो वीर्याविभागों से अधिक जीवप्रदेशों का समूह तीसरी वर्गणा है। इस प्रकार इसी क्रम से तब तक कहना चाहिये, जब तक श्रेणी के असंख्यातवें भागगत प्रदेशों की राशि प्रमाण वर्गणायें प्राप्त होती हैं। उन-उनका समुदाय दूसरा स्पर्धक है। तत्पश्चात फिर एक, दो, तीन आदि से या संख्यात, असंख्यात वीर्याविभागों से अधिक जीवप्रदेश नहीं पाये जाते हैं किन्तु लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश प्रमाण से अधिक पाये जाते हैं। उनका समुदाय तीसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है। तत्पश्चात् एक वीर्याविभाग की वृद्धि से द्वितीयादि वर्गणायें श्रेणी के असंख्यातवें भागगत प्रदेश राशि प्रमाण कहना चाहिये, उनका समुदाय तीसरा स्पर्धक होता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त क्रम से स्पर्धकों को कहना चाहिये। इस प्रकार असंख्य स्पर्धकों की प्ररूपणा करना चाहिये।

इस प्रकार यह अन्तर-प्ररूपणा है।

स्थान और अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा

अब स्थान और अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा करते हैं—

सेढिअसंखिअमेत्ताइं, फड्डगाइं जहन्नयं ठाणं।
फड्डगपरिवुड्ढिअओ,अगुंलभागो असंखतमो ॥९॥

शब्दार्थ—सेढिअसंखिअमेत्ताइं—श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण, **फड्डगाइं**—स्पर्धकों का, **जहन्नयं**—जघन्य, **ठाणं**—स्थान, **फड्डगपरिवुड्ढिअओ**—स्पर्धक की वृद्धि, **अगुंलभागो**—अगुंल का भाग, **असंखतमो**—असंख्यातवां।

गाथार्थ—श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धकों का समुदाय जघन्य योगस्थान होता है और उसके आगे के समस्त योगस्थानों में अगुंल के असंख्यातवें भाग जितने स्पर्धकों की वृद्धि होती है। आगे-आगे के योगस्थानों में अगुंल के असंख्यातवें भाग, असंख्यातवें भाग जितने स्पर्धक अधिक-अधिक होते हैं।

विशेषार्थ—श्रेणी के असंख्यातवें भागगत प्रदेशों की राशि प्रमाण पूर्वोक्त स्पर्धकों का जघन्य योगस्थान होता है। यह योगस्थान सबसे अल्पवीर्य वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव में भव के प्रथम समय में प्राप्त होता है। उससे अधिक वीर्यशक्ति वाले अन्य जीव के जो अल्पतर वीर्य वाले जीव-प्रदेश होते हैं, उनका समुदाय प्रथम वर्गणा है। उससे आगे एक-एक वीर्याविभाग की वृद्धि से श्रेणी के असंख्यातवें भागगत प्रदेशों प्रमाण वर्गणायें कहना चाहिये। इन सब वर्गणाओं का समुदाय प्रथम स्पर्धक कहलाता है। इसके बाद पहले बताई गई रीति के अनुसार अर्थात् पूर्वदर्शित प्रकार द्वारा दूसरे, तीसरे आदि स्पर्धक भी तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे भी श्रेणी के असंख्यातवें भागगत प्रदेशों की राशि प्रमाण होते हैं। इन सब स्पर्धकों का समुदाय दूसरा योगस्थान कहलाता है। उससे अधिक वीर्य वाले अन्य जीव के बताई गई रीति के अनुसार तीसरा योगस्थान जानना चाहिये। इस प्रकार अन्यान्य अधिक वीर्य वाले जीवों की अपेक्षा तब तक योगस्थान कहना चाहिये, जब तक कि सर्वोत्कृष्ट योगस्थान प्राप्त होता है। ये सभी योगस्थान श्रेणी के असंख्यातवें भागगत प्रदेशों प्रमाण होते हैं।[1]

शंका—जीव अनन्त हैं और प्रत्येक जीव के योगस्थान सम्भव होने से पूर्वोक्त संख्या (श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रदेश प्रमाण) युक्तिसंगत नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि एक-एक समान योगस्थान में वर्तमान अनन्त स्थावर पाये जाते हैं। अतः सब जीवों की अपेक्षा से उक्त संख्या वाले सर्व योगस्थान केवली भगवान की प्रज्ञा से देखे गये उतने ही (श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रदेश प्रमाण) प्राप्त होते हैं।[2]

---

१. यहां दो बातों का स्पष्टीकरण किया गया है—प्रथम यह कि उत्पत्ति के प्रथम समय में वर्तमान अल्पतम वीर्य वाले सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव के सबसे जघन्य योगस्थान होता है। इससे जघन्य योगस्थान अन्य किसी भी जीव को उत्पत्ति के प्रथम समय में नहीं हो सकता है। दूसरी यह है कि सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव के उत्पत्ति के प्रथम समय में रहने वाला योग यद्यपि योगस्थान तो है, लेकिन योगस्थानों की वृद्धि का क्रम उससे अधिक वीर्य वाले अन्य जीव के जो सर्वाल्प वीर्य वाले जीवप्रदेशों का समुदाय है अथवा द्वितीय समय में वर्तमान उसी निगोदिया अपर्याप्तक जीव के जघन्य वीर्याविभागों का समुदाय है, वहां से प्रारम्भ होता है और वह दूसरे योगस्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है। इसी प्रकार एक-एक अधिक वीर्याविभागों के समुदायरूप दूसरी, तीसरी आदि असंख्य वर्गणायें प्रथम स्पर्धक की जानना चाहिये। यह वर्गणाओं का क्रम वहाँ तक कहना चाहिए कि जहाँ तक श्रेणी के असंख्यात भाग प्रमाण वर्गणायें होती हैं और इन असंख्य वर्गणाओं का समुदाय प्रथम स्पर्धक है। इसी तरह श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण प्रदेशों की राशि प्रमाण स्पर्धकों के समुदाय का दूसरा योगस्थान होता है। ऐसे योगस्थान श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण प्रदेशों जितने होते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक-अधिक वीर्य वाले अर्थात् पूर्व योगस्थानगत वीर्यापेक्षा अधिक ऊर्ध्व अन्य-अन्य जीव की अपेक्षा योगस्थान वहाँ तक कहना चाहिये, जहाँ तक सर्वोत्कृष्ट (अन्तिम) योगस्थान आ जाये।

२. उक्त कथन का सारांश यह है कि स्थावरप्रायोग्य असंख्य योगस्थानों में से प्रत्येक योगस्थान में अनन्त अथवा असंख्य जीव हो सकते हैं, अर्थात् उन जीवों के समान योगस्थान होता है। किन्तु त्रसप्रायोग्य योगस्थानों में प्रतियोगस्थान में असंख्य अथवा संख्य जीव होते हैं और कदाचित् कोई त्रसप्रायोग्य योगस्थान शून्य भी होता है। इस प्रकार जीवों के अनन्त होने पर भी विसदृश योगस्थान श्रेणी के असंख्यातवें भाग ही होते हैं।

इस प्रकार स्थान-प्ररूपणा जानना चाहिये। अब अवसर प्राप्त अनन्तरोपनिधा-प्ररूपणा करते हैं।

उपनिधान को उपनिधा कहते हैं–**उपनिधानमुपनिधा**। धातुओं के अनेकार्थक होने से यहाँ उपनिधा का अर्थ मार्गण अर्थात् अन्वेषण करना है। अतः अनन्तर से उपनिधा करने, मार्गण, अन्वेषण करने को अन्नतरोपनिधा कहते हैं। अर्थात् अनन्तर योगस्थान से उत्तर (आगे) के योगस्थान में स्पर्धकों की संख्या का मार्गण करना अनन्तरोपनिधा कहलाती है––**अनन्तरेणोपनिधाऽनन्तरोपनिधा, अनन्तरा-द्योगस्थानादुत्तरयोगस्थाने स्पर्धकसंख्यामार्गणमित्यर्थः**। जिसका स्पष्टीकरण यहाँ करते हैं––

इस पूर्वोक्त प्रथम योगस्थान से द्वितीय आदि योगस्थानों में से प्रत्येक योगस्थान पर स्पर्धकों की वृद्धि अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है। अर्थात् अंगुल प्रमाण क्षेत्र संबंधी असंख्यातवें भाग में जितने प्रदेश होते हैं, उतने स्पर्धक पूर्व-पूर्व योगस्थान सम्बन्धी स्पर्धकों की अपेक्षा उत्तरोत्तर योगस्थान पर अधिक होते हैं।

उक्त कथन का यह भाव है कि प्रथम योगस्थान की वर्गणाओं से दूसरे योगस्थान गत वर्गणायें मूलतः ही हीन प्रदेशवाली होती हैं। क्योंकि अधिक और अधिकतर वीर्यवाले जीवप्रदेश अल्प, अल्पतर रूप में ही पाये जाते हैं। अतएव यहाँ आदि से ही वर्गणाओं के अल्पप्रदेशतय अधिक अवकाश होने से और अनेक प्रकार की विचित्र वर्गणाओं की अधिकता सम्भव होने से ऊपर कहे गये रूप में स्पर्धकों की अधिकता संगत होती है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर योगस्थानों में स्पर्धकों की अधिकता जानना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा का विचार किया जा चुका है। अब क्रमप्राप्त परंपरा से मार्गण रूप परम्परोपनिधा-प्ररूपणा का कथन करते हैं।

परंपरोपनिधा-प्ररूपणा

सेढिअसंखियभागं, गंतुं गंतुं हवंति दुगुणाइं।
पल्लासंखियभागो, नाणागुणहाणिठाणाणि ॥१०॥

शब्दार्थ––सेढिअसंखियभागं–श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण, **गंतुं-गंतुं**–जाने-पर, **हवंति**–होते हैं, **दुगुणाइं**–दुगुने, **पल्लासंखियभागो**–पल्य के असंख्यातवें भाग, **नाणागुणहानि**–नाना गुणहानि, **ठाणाणि**–स्थान।

गाथार्थ––प्रथम योगस्थान से लेकर श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थानों का अतिक्रमण करके आगे जाने पर जो योगस्थान आते हैं, उन योगस्थानों में द्वि-गुणित-द्वि-गुणित स्पर्धक होते हैं। इसी प्रकार उत्कृष्ट योगस्थान से वापस पीछे हटते हुए नाना गुणहानि रूप स्पर्धक होते हैं।

विशेषार्थ––प्रथम योगस्थान से लेकर श्रेणी के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश हैं, उतने प्रमाण योगस्थानों के अतिक्रमण करने पर जो पर योगस्थान हैं, वहाँ-वहाँ पर पूर्वस्थान की अपेक्षा स्पर्धक दुगुने हो जाते हैं। जिसका स्पष्टीकरण यह है––

प्रथम योगस्थान में जितने स्पर्धक होते हैं, उनकी अपेक्षा श्रेणी के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने प्रदेश राशि प्रमाण योगस्थानों का अतिक्रमण करके (आगे जा करके) अनन्तरवर्ती योगस्थान में दुगने स्पर्धक होते हैं। पुनः उस योगस्थान से परे आगे उतने ही योगस्थानों का उल्लंघन करके प्राप्त होने वाले उस परवर्ती योगस्थान में दुगुने स्पर्धक प्राप्त होते हैं। पुनः उस स्थान से (जिसमें दुगुने स्पर्धक कहे, उस योगस्थान से) भी परे उतने ही (श्रेणी के असंख्यातवें भागगत प्रदेश राशि प्रमाण) योगस्थानों का उल्लंघन कर उक्त ऊपर के योगस्थान में दुगुने स्पर्धक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इसी क्रम से अंतिम योगस्थान पर्यन्त जानना चाहिये। ये दुगुने-दुगुने स्पर्धक पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। अर्थात् सूक्ष्म अद्धा पल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने द्विगुणवृद्धि के स्थान होते हैं।

अब हानिस्थानों को बतलाते हैं—**नाणागुणहाणिठाणाणि**—नाना रूप जो गुणहानिस्थान हैं, (जैसे—वृद्धि के स्थान अनेक हैं, उसी प्रकार हानि के स्थान भी हैं) उन्हें द्विगुणहानिस्थान कहते हैं, वे भी पल्योपम के असंख्यातवें भागगत समय प्रमाण होते हैं। ऊपर की ओर आरोहण करने से जो वृद्धि के स्थान प्राप्त होते हैं, वे ही अवरोहण करते समय (नीचे उतरने की अपेक्षा) हानिस्थान कहलाते हैं। इस प्रकार वृद्धिस्थान और हानिस्थान समान होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

उत्कृष्ट योगस्थान से नीचे उतरने पर श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रदेश प्रमाण योगस्थानों के उल्लंघन करने पर अधस्तनवर्ती योगस्थान में अन्तिम योगस्थान के स्पर्धकों की अपेक्षा आधे स्पर्धक प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् पुनः उतने ही योगस्थानों का अतिक्रमण करने पर अधस्तनवर्ती योगस्थान में आधे स्पर्धक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इसी क्रम से जघन्य योगस्थान प्राप्त होने तक समझना चाहिये।

शंका—द्विगुण स्पर्धकों की हानि, द्विगुणहानि है, यह अर्थ अर्धहानि में घटित नहीं होता है।

समाधान—उक्त कथन सत्य है। किन्तु यहाँ पर उस द्विगुण वृद्धि की अवधि समाप्ति से संबद्ध हानि को ही द्विगुणहानि रूप से विवक्षित किया गया है। यह सूचित करने के लिये ही तो गाथा में 'नाणा' यह पद दिया गया है कि जितने द्विगुणवृद्धिस्थान हैं, अथवा द्विगुणहानिस्थान हैं, वे सबसे अल्प (स्तोक, कम) हैं, उनसे पुनः एक द्विगुणवृद्धि या द्विगुणहानि के अन्तराल में जो योगस्थान हैं, वे असंख्यात गुणित हैं।[1]

इस प्रकार परंपरोपनिधा की प्ररूपणा है। अब वृद्धि-प्ररूपणा को करते हुए आचार्य गाथा-सूत्र कहते हैं।

वृद्धि-प्ररूपणा

वुड्ढीहाणिचउक्कं, तम्हा कालोत्थ अंतिमिल्लाणं।
अंतोमुहुत्तमावलि – असंखभागो य सेसाणं ॥११॥

१. असत्कल्पना द्वारा योगस्थान के आशय को परिशिष्ट में स्पष्ट किया गया है।

शब्दार्थ––**वुड्ढीहाणिचउक्कं**–वृद्धि और हानि चार प्रकार की है, **तम्हा**–इसलिये, **काल**–काल, समय, **अत्थ**––यहाँ, **अंतिमिल्लाणं**–अन्तिम का, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त, **आवलि**–आवलि, **असंखभागो**–असंख्यातवें भाग, **य**–और, **सेसाणं**–शेष का, बाकी का ।

गाथार्थ––योगस्थानों की वृद्धि और हानि चार प्रकार की है (अर्थात् योगस्थानों की वृद्धि चार प्रकार की है और हानि भी चार प्रकार की है)। इनमें से अंतिम वृद्धि और हानि का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है और शेष तीन वृद्धि, हानियों का उत्कृष्टकाल आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ।

विशेषार्थ––वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम क्वचित्, कदाचित् और कथंचित् (अर्थात् क्वचित्-किसी क्षेत्र में, कहीं पर, कदाचित्–किसी कालविशेष में, कथंचित्-किसी भावविशेष की अपेक्षा से) होता है । अतएव उसके निमित्त से (वीर्यान्तराय कर्म के विचित्र क्षयोपशम रूप कारण से) होने वाले योगस्थान भी कदाचित् बढ़ते हैं और कदाचित् घटते हैं । जिससे इनमें वृद्धि के चार प्रकार होते हैं––१. असंख्यात भागवृद्धि, २. संख्यात भागवृद्धि, ३. संख्यात गुणवृद्धि, ४. असंख्यात गुणवृद्धि । इसी प्रकार हानियां भी चार प्रकार की होती हैं— १. असंख्यात भागहानि, २. संख्यात भागहानि, ३. संख्यात गुणहानि, ४. असंख्यात गुणहानि । यह वृद्धि और हानि का चतुष्क निरन्तर प्रवर्तता रहता है। अतएव इसका सोपस्कार अन्वय करते हुए अब गाथा का प्रतिज्ञात अर्थ कहते हैं कि––

अंतिम असंख्यात गुण लक्षणवाली वृद्धि और असंख्यात गुण लक्षणवाली हानि अर्थात् असंख्यात गुणवृद्धि और असंख्यात गुणहानि इन दोनों का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है और शेष आदि की तीनों वृद्धियों और हानियों का उत्कृष्ट काल आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ।

उक्त कथन का यह भाव है कि क्षयोपशम के प्रकर्ष से विवक्षित योगस्थान से प्रतिसमय आगे-आगे के दूसरे-दूसरे असंख्येय गुणवृद्धि रूप योगस्थान में जीव का जो आरोहण होता है, वह असंख्यात गुणवृद्धि है और जब क्षयोपशम के अपकर्ष से प्रति समय दूसरे-दूसरे असंख्यात गुणहीन रूप योगस्थान में जो अवरोहण होता है, वह असंख्यात गुणहानि है । ये दोनों हानि और वृद्धि उत्कर्ष स अन्तर्मुहूर्त काल तक निरंतर होती हैं और आदि की तीनों वृद्धियां और हानियां उत्कर्ष से आवलि के असंख्यातवें भाग काल तक होती हैं एवं जघन्यापेक्षा चारों ही वृद्धियां और हानियां एक या दो समय पर्यन्त होती हैं ।

समय-प्ररूपणा

कितने काल तक उक्त वृद्धियों और हानियों से रहित जीव योगस्थानों पर अवस्थित पाये जाते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रंथकार अब समय की प्ररूपणा करते हैं––

चउराई जावट्ठग-मित्तो जाव दुगं ति समयाणं ।
पज्जत्तजहन्नाओ जावुक्कोसं ति उक्कोसो ॥१२॥

शब्दार्थ––**चउराई**––चार समय से, **जाव**--तक, पर्यन्त, **अट्ठगं**–आठ समय, **इत्तो**–यहाँ से, **जाव**–तक, **दुगं ति**–दो तक, **समयाणं**–समय, **पज्जत्तजहन्नाओ**–पर्याप्त (सूक्ष्म निगोदिया जीव) के, जघन्य, **जावुक्कोसं ति**–उत्कृष्ट तक, **उक्कोसो**–उत्कृष्ट (काल)।

गाथार्थ––चार समय से लेकर आठ समय तक और उसके पश्चात् दो समय तक जीव अवस्थित पाये जाते हैं। यह क्रम पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया के जघन्य योगस्थान से लेकर यावत् उत्कृष्ट योगस्थान तक जानना चाहिये। यह उत्कृष्ट समय-प्ररूपणा है।

विशेषार्थ––अवस्थिति के नियामक समयों की संख्या चार है आदि में जिसके, वह चतुरादि वृद्धि कहलाती है। वह तब तक कहना चाहिये, जब तक आठ की संख्या प्राप्त हो। इससे आगे समयों की हानि यह पद भी जोड़ना चाहिये। यह हानि दो संख्या प्राप्त होने तक होती है। यहाँ चार की आदि रूप वृद्धि पर्याप्त जघन्य से अर्थात् पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया सम्बन्धी जघन्य योगस्थान से आरम्भ कर आठ समय तक जानना चाहिये। इसके पश्चात् हानि होती है, वह भी तब तक, जब तक उत्कृष्ट योगस्थान प्राप्त होता है। यह उत्कृष्ट अवस्थिति काल है। अर्थवशात् इस प्रकार ही अक्षर-योजना करना चाहिये।

उक्त कथन का यह भावार्थ है कि सब से अल्पवीर्य वाले पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के जघन्य योगस्थान से[1] आरम्भ करके क्रमशः श्रेणी के असंख्यातवें भागगत प्रदेशों की राशि प्रमाण जितने योगस्थान हैं, वे उत्कर्ष से चार समय तक अवस्थित पाये जाते हैं, उससे आगे जो उतने ही योगस्थान हैं वे उत्कर्ष से पांच समय तक, उससे आगे उतने ही योगस्थान उत्कर्ष से छह समय तक, उससे भी आगे उतने ही योगस्थान उत्कर्ष से सात समय तक और उससे भी आगे उतने ही योगस्थान उत्कर्ष से आठ समय तक अवस्थित पाये जाते हैं। इससे आगे जो क्रमशः श्रेणी के असंख्यातवें भागगत प्रदेशों के प्रमाण योगस्थान हैं, वे उत्कर्ष से सात समय तक, तदनन्तर उक्त संख्या वाले योगस्थान उत्कर्ष से छह समय तक अवस्थित पाये जाते हैं। इस प्रकार प्रतिलोम क्रम से तब तक कहना चाहिये जब तक कि अंतिम श्रेणी के असंख्यातवें भागगत प्रदेश प्रमाण योगस्थान उत्कर्ष से दो समय तक अवस्थित[2] पाये जाते हैं।

इस प्रकार उत्कृष्ट अवस्थानकाल का प्रमाण है। अब जघन्य अवस्थानकाल का प्रमाण एवं योगस्थान-अल्पबहुत्वप्ररूपणा करते हैं।

जघन्य काल और योगस्थान–अल्पबहुत्वप्ररूपणा

एगसमयं जहन्नं, ठाणाणप्पाणि अट्ठ समयाणि।
उभओ असंखगुणियाणि समयसो ऊण ठाणाणि ॥१३॥

---

१. अपर्याप्त-अवस्था (करण-अपर्याप्त-अवस्था) में सब जीवों के योग की अवश्य वृद्धि होती है। इसलिये चार आदि की समय-प्ररूपणा पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के जघन्य योगस्थान से कही गई है।

२. अवस्थित अर्थात् एक जीव को वही योगस्थान इतने काल तक निरन्तर हो सकता है अथवा उस योगस्थान में जीव इतने काल तक रह सकता है, तदनन्तर अवश्य ही योगान्तर हो जाता है।

शब्दार्थ---**एगसमयं**-एक समय का, **जहन्नं**-जघन्य, **ठाणाणप्पाणि**-(योग)स्थान अल्प, **अट्ठसमयाणि**-आठ समय वाले, **उभओ**-दोनों ओर के, **असंखगुणियाणि**-असंख्य गुण, **समयसो**--समय से, **ऊण**-न्यून, कम, **ठाणाणि**-स्थान।

गाथार्थ---समस्त योगस्थानों का जघन्य अवस्थान काल एक समय मात्र का है, आठ समय वाले योगस्थान अल्प हैं। तत्पश्चात् दोनों ओर एक-एक समय कम करते हुए योगस्थान असंख्यात गुणे हैं।

विशेषार्थ---उपर्युक्त समस्त योगस्थानों का जघन्यतः अवस्थानकाल एक समय है। जो अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया सम्बन्धी असंख्यात योगस्थान हैं, उनका जघन्यतः और उत्कर्षतः अवस्थानकाल एक समय का है।

प्रश्न---उत्कर्ष से भी उन योगस्थानों (अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद सम्बन्धी असंख्यात योगस्थानों) का अवस्थान काल एक समय होने का क्या कारण है ?

उत्तर---इसका कारण यह है कि सभी अपर्याप्त जीवों के अपर्याप्त अवस्था में रहते हुए प्रतिक्षण असंख्यात गुणी योगवृद्धि होती है, ऐसा शास्त्रवचन है---'**सव्वोवि अपज्जत्तगो पइक्खणमसंखगुणाए जोगवुड्ढीए वड्ढइत्ति**। अतएव दूसरे समय में योग की असंख्यात गुणी वृद्धि होती है। इन अपर्याप्त योगस्थानों का अजघन्य, उत्कृष्ट अवस्थान काल एक समय का है।

इस प्रकार समय-प्ररूपणा का कथन किया गया। अब ठाणाणप्पाणि.....इत्यादि पद से चार आदि समय वाले योगस्थानों के अल्पबहुत्व का कथन प्रारम्भ करते हैं---

'ठाणा....समयाणि' अर्थात् आठ समय वाले योगस्थान सबसे अल्प होते हैं। उनकी अपेक्षा एक-एक समय से कम जो सप्त सामयिक आदि स्थान हैं, वे उभयतः अर्थात् पूर्वोत्तर दोनों पार्श्वों में असंख्यात गुणे होते हैं। वे इस प्रकार कि आठ समय वाले योगस्थान चिरकाल स्थायी होने से अल्प ही प्राप्त होते हैं, उनसे उभयपार्श्ववर्ती सात समय वाले योगस्थान अल्प स्थिति वाले होने से असंख्यातगुणे होते हैं,[1] किन्तु स्वस्थान में वे दोनों ही परस्पर समान संख्या वाले होते हैं। उनसे भी उभयपार्श्ववर्ती छह समय वाले योगस्थान असंख्यात गुणे होते हैं, किन्तु स्वस्थान में समान, तुल्यसंख्यक होते हैं। उनसे भी उभयपार्श्ववर्ती पांच समय वाले योगस्थान असंख्यात गुणे हैं, किन्तु स्वस्थान में वे समान हैं। उनसे भी उभयपार्श्ववर्ती चार समय वाले योगस्थान असंख्यात गुणे होते हैं, किन्तु स्वस्थान में वे तुल्य हैं। उनसे भी तीन समय वाले योगस्थान असंख्यात गुणे होते हैं, उनसे भी दो समय वाले योगस्थान असंख्यात गुणे होते हैं।[2]

---

१. अधिक स्थिति वाले योगस्थान अल्प होते हैं और न्यून स्थिति वाले योगस्थान अधिक, इस अपेक्षा उक्त कथन समझना चाहिये।

२. योगस्थानों की उत्कृष्ट स्थिति का पूर्वभाग वृद्धि की अपेक्षा चार समय से प्रारम्भ होता है और हानि की अपेक्षा उत्तरभाग दो समय तक का है। इसलिये चार समय तक की स्थितियां तो उभयपार्श्ववर्ती हैं, किन्तु तीन और दो समय की स्थितियां मात्र उत्तरपार्श्ववर्ती ही हैं, इसलिए इन दोनों स्थितियों में उभयपार्श्ववर्तीपना एवं स्वस्थान में तुल्यता नहीं कही है।

जीवभेदापेक्षा योगविषयक अल्पबहुत्व

चतुरादि समय वाले योगस्थानों के अल्पबहुत्व का कथन करने के बाद अब उन योगस्थानों में वर्तमान (चौदह) जीवस्थानों के जघन्य-उत्कृष्ट योगविषयक अल्पबहुत्व को कहते हैं—

सव्वत्थोवो जोगो साहारण सुहुम पढमसमयम्मि ।
बायर बियतियचउरमणसन्नपज्जत्तगजहन्नो ।।१४।।
आइदुगुक्कोसो सिं पज्जत्तजहन्नगेयरे य कमा ।
उक्कोसजहन्नियरो, असमत्तियरे असंखगुणो ।।१५।।
अमणाणुत्तरगेविज्ज--भोगभूमिगय तइयतणुगेसुं ।
कमसो असंखगुणिओ सेसेसु य जोगु उक्कोसा ।।१६।।

शब्दार्थ—**सव्वत्थोवो**–सबसे अल्प, **जोगो**–योग, **साहारण**–साधारण (निगोदिया), **सुहुम**–सूक्ष्म, **पढमसमयम्मि**–प्रथम समय में, **बायर**–बादर, **बियतियचउरमण**–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी **पंचेन्द्रिय**, **सन्न**–संज्ञी, **अपज्जत्तग**–अपर्याप्तों का, **जहन्नो**–जघन्य ।

आइदुग–आदि के दो जीवभेदों का, **उक्कोसो**–उत्कृष्ट, **सिं**–इन्हीं दोनों के, **पज्जत्त**–पर्याप्त, **जहन्नगेयरे**–जघन्य और इतर (उत्कृष्ट), **य**–और, **कमा**–क्रम से, **उक्कोस**-उत्कृष्ट, **जहन्नियरो**–जघन्य, इतर (उत्कृष्ट), **असमत्तियरे**–अपर्याप्त और पर्याप्त में, **असंखगुणो**—असंख्यात गुणा ।

अमणा–असंज्ञी पंचेन्द्रिय, **अणुत्तर**–अनुत्तर विमानवासी, **गेविज्ज**–ग्रैवेयक विमानवासी, **भोगभूमिगय**–भोगभूमिया जीव, **तइयतणुगेसुं**–तीसरे शरीर वालों में, **कमसो**–अनुक्रम से, **असंखगुणिओ**–असंख्यातगुणा, **सेसेसु**–शेष रहे जीवों में, **य**–और, **जोगु**–योग, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट ।

गाथार्थ—सबसे अल्प योग साधारण (निगोदिया) सूक्ष्म जीव के प्रथम समय में होता है और इससे आगे अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का जघन्य योग अनुक्रम से उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा होता है।

उससे आगे आदि के दो जीवभेदों का उत्कृष्ट योग तथा इन्हीं दोनों के पर्याप्त का जघन्य और उत्कृष्ट योग तथा शेष रहे अपर्याप्त जीवों का उत्कृष्ट योग तथा पर्याप्त जीवों का जघन्य और उत्कृष्ट योग अनुक्रम से असंख्यात गुणा है।

असंज्ञी पचेन्द्रिय, अनुत्तर विमानवासी, ग्रैवेयकवासी, भोगभूमिज और तीसरे शरीर वाले जीवों का अनुक्रम से योग असंख्यात गुणा होता है। उक्त जीवों से शेष रहे हुए जीवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है।

विशेषार्थ—यहां पर असंख्यात गुण पद का सम्बन्ध उत्तरवर्ती गाथा १५ में आगत **असंखगुणो** पद से है। इसलिये १. साधारण सूक्ष्म लब्धि-अपर्याप्तक अवस्था में वर्तमान जीव का प्रथम समय में जघन्य योग सबसे कम होता है। २. उससे बादर एकेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक के प्रथम समय में वर्तमान

जीव का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। ३. उससे द्वीन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक के प्रथम समय में वर्तमान जीव का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। ४. उससे त्रीन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक के प्रथम समय में वर्तमान जीव का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। ५. उससे चतुरिन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक के प्रथम समय में वर्तमान जीव का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। ६. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक के प्रथम समय में वर्तमान जीव का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। ७. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक के प्रथम समय में वर्तमान जीव का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। इसके अनन्तर आदिद्विक का अर्थात् अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव का और अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग क्रम से असंख्यात गुणा है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—८. लब्धि-अपर्याप्तक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के जघन्य योग से सूक्ष्म निगोदिया लब्धि-अपर्याप्तक जीवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है। ९. उससे बादर एकेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। इसके बाद पुनः इन्हीं दोनों के पर्याप्तकों का यानि पर्याप्तक सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय जीवों का जघन्य और उत्कृष्ट योग क्रम से असंख्यातगुणा जानना चाहिये। वह इस प्रकार कि १०. लब्धि-अपर्याप्तक बादर एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट योग से सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तक का जघन्य योग असंख्यात गुणा होता है। ११. उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असंख्यात गुणा होता है। १२. उससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है। १३. उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है। इस प्रकार एकेन्द्रिय के सूक्ष्म, बादर और उनके अपर्याप्त, पर्याप्त भेदों में योग के जघन्य एवं उत्कृष्ट के क्रम को स्पष्ट करने के अनन्तर अब **'उक्कोसजहन्नियरो, असमत्तियरे असंखगुणो'** पद की व्याख्या करते हैं—

असमत्त—असमाप्त अर्थात् अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि यह पद समझना चाहिये कि उनमें उत्कृष्ट और इतर अर्थात् पर्याप्त द्वीन्द्रियादि में जघन्य, उत्कृष्ट योग परिपाटी से—अनुक्रम से असंख्यात गुणा जानना चाहिये। वह इस प्रकार—१४. पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट योग से द्वीन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है। १५. उससे त्रीन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है। १६. उससे चतुरिन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। १७. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है। १८. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है। १९. उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असंख्यात गुणा होता है। २०. उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असंख्यात गुणा होता है। २१. उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। २२. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असंख्यात गुणा होता है। २३. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असंख्यात गुणा होता है। २४. उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। २५. उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। २६. उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। तदनन्तर अमणा अर्थात् असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव का यानी २७. चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक जीव के उत्कृष्ट योग से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है। २८. उससे अनुत्तरोपपातिक देवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है। २९. उससे ग्रैवेयकवासी देवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है। ३०. उससे

भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंचों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है। ३१. उससे तीसरे शरीरधारी अर्थात् आहारक शरीरधारी जीवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है। ३२. उससे शेष रहे देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्यों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है।[1] यहां सर्वत्र असंख्यात का गुणाकार सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भागगत प्रदेशों की राशि प्रमाण एवं पर्याप्तक का अर्थ सर्वत्र करण-पर्याप्त जानना चाहिये।[2]

जीव द्वारा योगों से किया जाने वाला कार्य

विस्तार से योग-प्ररूपणा करने के बाद अब इससे जीव द्वारा किये जाने वाले कार्य का कथन करते हैं—

जोगेहिं तयणुरूवं परिणमइ गिण्हिऊण पंचतणू।
पाउग्गे वालंबइ, भासाणुमणत्तणे खंधे ॥१७॥

शब्दार्थ—जोगेहिं—योगों द्वारा, **तयणुरूवं**—तदनुरूप (योगों के अनुरूप), **परिणमइ**—परिणमाता है, **गिण्हिऊण**—ग्रहण करके, **पंचतणू**—पांच शरीर रूप, **पाउग्गे**—प्रायोग्य, **वा**—तथा, **आलंबइ**—अवलंबन लेता है, **भासाणुमणत्तणे**—भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन रूप परिणत, **खंधे**—स्कन्धों से।

गाथार्थ—योगों के द्वारा जीव योगों के अनुरूप औदारिकादि शरीर प्रायोग्य पुद्गलस्कन्धों को ग्रहण करके औदारिकादि पांच शरीर रूप परिणमाता है तथा भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन रूप परिणमित हुए पुद्गल स्कन्धों का अवलंबन लेता है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त लक्षण वाले योगों के द्वारा जीव तदनुरूप अर्थात् योगों के अनुरूप पुद्गलों को ग्रहण करता है। यानी जघन्य योग में वर्तमान जीव अल्प पुद्गलस्कन्धों को, मध्यम योग में वर्तमान मध्यम, अनुत्कृष्ट पुद्गलों को और उत्कृष्ट योग में वर्तमान जीव प्रभूत, अधिक पुद्गलस्कन्धों को ग्रहण करता है।[3] इस प्रकार तत्-तत् प्रायोग्य अर्थात् औदारिकादि शरीरों के योग्य स्कन्धों यानि पुद्गलस्कन्धों को ग्रहण करके उन्हें पांच शरीर रूप से परिणमाता है। गाथा में "पंचतणू" इस प्रकार का भावप्रधान निर्देश होने से उसका अर्थ हुआ कि औदारिक आदि पांच शरीर तथा भाषा, प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) और मन के योग्य पुद्गलस्कन्धों को पहले ग्रहण करता है, ग्रहण करके भाषादि रूप से परिणत करता है और परिणत करके उनके निसर्ग की कारणभूत सामर्थ्यविशेष की सिद्धि के लिये उन पुद्गलस्कन्धों का अवलंबन लेता है। पुनः उनके अवलंबन से सामर्थ्यविशेष वाला होता हुआ उन्हें छोड़ता है, उसके बिना नहीं छोड़ सकता है। जैसे—बिल्ली को जब ऊपर

१. अन्य जीवभेदों की तरह संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के उत्कृष्ट योग के अल्पबहुत्व का कथन सामान्य रूप से न करके अपेक्षाकृत अन्तर वालों का तो पृथक्-पृथक् बताया है और शेष का अर्थात् जिनमें अपेक्षाकृत अल्पबहुत्व नहीं है, उनका सामान्य से मात्र नामोल्लेख कर दिया है।

२. योग सम्बन्धी अविभाग-प्ररूपणा आदि दस प्ररूपणाओं का संक्षिप्त विवरण परिशिष्ट में देखिये।

३. तुलना कीजिये—
जोगाणुरूवं जीवा परिणामंतीह गिण्हिउं दलियं।
—पंचसंग्रह, बंधनकरण १३

की ओर छलांग लगाने की इच्छा होती है, तब वह पहले अपने अंगों को संकुचित करके उसका अवलंबन लेती है, यानी स्थिर होकर उन्हें धारण (संतुलित) करती है। पश्चात् उस अवलंबन से शक्तिविशेष प्राप्त करके अपने अंगों को ऊपर की ओर उछालने में समर्थ होती है, अन्यथा वैसा करने में सक्षम नहीं हो पाती है। उसी प्रकार यहां जानना चाहिये। क्योंकि **'द्रव्यनिमित्तं वीर्यं संसारिणामुपजायत इति'**—संसारी जीवों का वीर्य द्रव्यसंयोग के निमित्त से उत्पन्न होता है—इस वचन को यहां भी प्रमाण रूप से समझना चाहिये।

पौद्गलिक वर्गणाओं का निरूपण

ऊपर जो यह कहा गया है कि जीव योगों के द्वारा तत्-तत् प्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, सो उनमें से कौनसे पुद्गल ग्रहणयोग्य हैं और कौनसे अग्रहणयोग्य ? शिष्य की इस जिज्ञासा के समाधानार्थ ग्रंथकार ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य पुद्गलवर्गणाओं का निरूपण करते हैं—

परमाणुसंखऽसंखाऽणंतपएसा अभव्वणंतगुणा।
सिद्धाणणंतभागो, आहारगवग्गणा तितणू ॥१८॥

अग्गहणंतरियाओ, तेयगभासामणे य कम्मे य।
धुवअधुवअच्चित्ता सुन्नाचउअंतरेसुंप्पि ॥१९॥

पत्तेगतणुसु बायर–सुहुमनिगोए तहा महाखंधे।
गुणनिप्फन्नसनामो, असंखभागंगुलवगाहो ॥२०॥

शब्दार्थ—**परमाणु**–परमाणु रूप, **संखऽसंखाऽणंतपएसा**–संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी, अनन्त प्रदेशी, **अभव्वणंतगुणा**–अभव्यों से अनन्त गुणे, **सिद्धाणणंतभागो**–सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण, **आहारगवग्गणा**–ग्रहण योग्य वर्गणा, **तितणू**–तीन शरीर रूप।

अग्गहणंतरियाओ–अग्रहण वर्गणा के अन्तर से, **तेयगभासामणे**–तैजस, भाषा, मन, **य**–और, **कम्मे**–कार्मण, **य**–तथा, **धुवअधुवअच्चित्ता**–ध्रुवाचित्त, अध्रुवाचित्त, **सुन्नाचउ**–चार शून्य वर्गणायें, **अंतरेसु**–अन्तरों में, **उप्पि**–ऊपर।

पत्तेगतणुसु–प्रत्येक शरीरी, **बायरसुहुमनिगोए**–बादर निगोद, सूक्ष्म निगोद, **तहा**–तथा, **महाखंधे**–महास्कन्ध वर्गणा, **गुणनिप्फन्नसनामो**–गुणनिष्पन्न नामवाली, **असंखभाग**–असंख्यातवें भाग, **अंगुलवगाहो**–अंगुल के अवगाह वाली।

गाथार्थ—एक परमाणु रूप वर्गणा, संख्यात प्रदेशी वर्गणा, असंख्यात प्रदेशी वर्गणा और अनन्त प्रदेशी वर्गणा, ये सब वर्गणायें जीव के द्वारा अग्रहणयोग्य हैं—ग्रहण करने योग्य नहीं होती हैं, किन्तु अभव्य जीवों से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण प्रदेशों की वर्गणायें तीन शरीर रूप में जीव द्वारा ग्रहण करने योग्य होती हैं।

तथा तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, प्राणापानवर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा—ये सभी वर्गणायें अग्रहण वर्गणाओं से अन्तरित हैं। तत्पश्चात् ध्रुवाचित्त और अध्रुवाचित्त वर्गणायें हैं, तदनन्तर चार शून्य वर्गणायें हैं, जो अन्तराल से युक्त हैं और उसके ऊपर।

प्रत्येकशरीरी, बादरनिगोद, सूक्ष्मनिगोद तथा महास्कन्ध ये चार वर्गणायें हैं। ये सभी वर्गणायें गुणनिष्पन्न नामवाली हैं तथा प्रत्येक वर्गणा का अवगाह अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

विशेषार्थ—वर्गणायें एक-एक परमाणु रूप तथा संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी भी होती हैं। इनमें एक-एक परमाणु वाली वर्गणायें परमाणुवर्गणा कहलाती हैं। यद्यपि वर्गणा शब्द समुदाय वाचक है, लेकिन यहाँ वर्गणा का योग्यता को लेकर अर्थ करना चाहिये। एक-एक परमाणु में वर्गणा शब्द अनेक पर्यायों के रूप में उपनिपात की अपेक्षा अर्थात् समाहित होने की अपेक्षा जानना चाहिये।[1] क्योंकि यदि परमाणुओं की वर्गणा (समुदाय) परमाणुवर्गणा कही जाय तो जगत में जितने भी परमाणु हैं, उनका समुदाय परमाणुवर्गणा कहलायेगी और ऐसा अर्थ करने पर आगे कहे जाने वाले अंगुल के असंख्यातवें भाग अवगाहना के कथन से विरोध का प्रसंग आता है। इसका कारण यह है कि एक-एक परमाणु रूप से समुदाय को प्राप्त सभी परमाणु सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। इसलिये एक-एक परमाणु ही परमाणुवर्गणा कहलाते हैं और ऐसी परमाणुवर्गणायें अनन्त हैं एवं वे संपूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

दो परमाणुओं के समुदाय रूप द्वि-परमाणुवर्गणा होती हैं, वे भी अनन्त हैं और सर्वलोक में व्याप्त हैं। इसी प्रकार त्रिपरमाणुवर्गणा आदि सभी वर्गणायें प्रत्येक अनन्त एवं समस्त लोक में व्याप्त जानना चाहिये। तीन परमाणुओं के समुदाय रूप त्रिपरमाणुवर्गणा होती है और इसी प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक परमाणु की वृद्धि करते हुए संख्यात परमाणुओं की समुदाय रूप संख्यात वर्गणा कहना चाहिये। असंख्यात परमाणुओं की समुदाय रूप असंख्यात वर्गणायें होती हैं। क्योंकि असंख्यात के असंख्यात भेद होते हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि से अनन्त परमाणुओं की समुदायात्मक अनन्त वर्गणायें होती हैं। क्योंकि अनन्त के अनन्त भेद होते हैं।

---

१. यहां समान जातीय पुद्गल परमाणुओं के समुदाय को वर्गणा कहते हैं, के आधार को लेकर शंकाकार द्वारा प्रस्तुत इस शंका का— 'परमाणु स्वतः एक होने से उनमें समुदायीपने का अभाव है, जिससे समुदायवाचक वर्गणा शब्द को परमाणु के साथ जोड़ना अनुचित है, तो फिर परमाणुवर्गणा— यह कैसे कहा जा सकता है?'— समाधान किया गया है कि परमाणु के स्वतः एक होने से उसमें समुदायीपने का अभाव है। लेकिन अनेक स्कन्धादि पर्यायों के आविर्भाव होने की योग्यता का उसमें सद्भाव पाये जाने से वर्गणा शब्द को परमाणु के साथ संयुक्त करके परमाणुवर्गणा कहा है।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने स्कन्ध रूप अनेक समुदायात्मक पर्यायों के आविर्भाव होने की अपेक्षा से परमाणु को परमाणुवर्गणा नहीं कहा है। वे सब परमाणुओं के समुदाय में वर्गणा शब्द का प्रयोग करते हैं—'इह समस्त लोकाकाशप्रदेशेषु ये केचन एकाकिनः परमाणवो विद्यन्ते तत्समुदायः सजातीयत्वाद् एकावर्गणा।'

—शतक, गाथा ७५, टीका

जीव द्वारा ग्राह्यवर्गणा का परिमाण

ये सभी वर्गणायें अर्थात् मूल से एक प्रदेशी वर्गणा से लेकर अनन्त प्रदेशी वर्गणाओं तक—अल्प परमाणु एवं स्थूल परिमाण वाली होने से जीवों के अग्रहणयोग्य हैं। अर्थात् ये सभी वर्गणायें अनन्तानन्त परमाणुओं की समुदायात्मक होने पर भी जीवों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। किन्तु जो वर्गणायें अभव्यों से अनन्त गुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणुओं की समुदायात्मक हैं, वे 'आहारगवग्गणा' अर्थात् आहरण–ग्रहण करने के योग्य वर्गणा होती हैं। **'आहारगवग्गणा'** इस पद का पदच्छेद इस प्रकार है—आहरण करने अर्थात् ग्रहण करने को आहार कहते हैं और आहार ही आहारक कहलाता है। अतः आहार अर्थात् ग्रहण करने के योग्य जो वर्गणायें होती हैं, वे आहार अथवा आहारक वर्गणा कहलाती हैं। वे किस विषय को ग्रहण करने वाली हैं ? तो इस बात को स्पष्ट करने के लिये गाथा में **'तितणू'** यह पद दिया है कि वे औदारिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीन शरीर रूप से परिणमित होने वाले परमाणुओं को ग्रहण करने रूप विषय वाली हैं।

जीव ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणायें

ये वर्गणायें (औदारिक, वैक्रिय और आहारक वर्गणायें) तथा तैजस, भाषा, प्राणापान, मन और कर्म विषयक जो वर्गणायें होती हैं, वे अग्रहण–प्रायोग्य वर्गणाओं से अन्तरित होती हुई ग्रहण-प्रायोग्य होती हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

औदारिकशरीरवर्गणा

अभव्य जीवों से अनन्त गुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणुओं की समुदाय रूप वर्गणा औदारिक शरीर के निष्पादन करने के लिये ग्रहणप्रायोग्य होती है, जो जघन्य वर्गणा है। उससे एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप दूसरी ग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है। उससे दो परमाणुओं से अधिक स्कन्ध रूप तीसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु से अधिक स्कन्ध रूप वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि औदारिकशरीर-प्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। औदारिक-प्रायोग्य जघन्य ग्रहणवर्गणा से उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा विशेष अधिक परमाणुओं वाली होती है। यह विशेष भी उसी वर्गणा (औदारिकप्रायोग्य) की जघन्य वर्गणा के परमाणुओं का अनन्तवां भाग जितना है।

औदारिकशरीर-प्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप वर्गणा अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा होती है। यह अग्रहणप्रायोग्य जघन्य वर्गणा है। उससे दो परमाणु अधिक स्कन्ध रूप दूसरी अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक-एक परमाणु अधिक-अधिक स्कन्धों की अग्रहण वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है। ये वर्गणायें जघन्य की अपेक्षा अनन्तगुणी हैं। यहाँ पर गुणाकार का तात्पर्य अभव्यों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग राशि प्रमाण जानना चाहिये।

इन वर्गणाओं को अग्रहण-प्रायोग्य औदारिक शरीर के प्रति बहुत परमाणुओं द्वारा निष्पन्न होने और सूक्ष्म परिणाम की अपेक्षा से और वैक्रिय शरीर के प्रति स्वल्प परमाणु वाली होने से और स्थूल परिणमन रूप होने की अपेक्षा जानना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये।

वैक्रियशरीरवर्गणा

इस पूर्वोक्त अग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप वैक्रियशरीर की ग्रहण-प्रायोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उससे दो परमाणु अधिक स्कन्ध रूप वैक्रियशरीर ग्रहण-प्रायोग्य दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार तब तक एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप वैक्रियशरीर के ग्रहण करने योग्य वर्गणायें कहना चाहिये, जब तक कि वैक्रियशरीर की ग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा आती है। ये वर्गणायें भी उसी वैक्रियशरीर की ग्रहण-प्रायोग्य जघन्य वर्गणा से विशेषाधिक हैं और यह विशेषाधिक उसी की जघन्य वर्गणा के परमाणुओं का अनन्तवां भाग जानना चाहिये।

उक्त वैक्रियशरीर की ग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक रूप जघन्य अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा है। उससे दो परमाणु अधिक स्कन्ध रूप दूसरी अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है। ये वर्गणायें जघन्य वर्गणा से अनन्तगुणी हैं। यहाँ पर गुणाकार अभव्य जीवों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग राशि प्रमाण है।

आहारकशरीरवर्गणा

इस उत्कृष्ट अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणा आहारकशरीर के ग्रहणप्रायोग्य होती है और वह जघन्य है। उससे दो परमाणु अधिक स्कन्ध रूप दूसरी आहारक-शरीर ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप आहारक-शरीर की ग्रहण करने योग्य उत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा उसके अनन्तवें भाग से विशेषाधिक होती है।

आहारकशरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप अग्रहण-प्रायोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उससे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा तब तक जानना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है। इस अग्रहण-प्रायोग्य जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा अभव्य जीवों से अनन्तगुणी और सिद्धों से अनन्तवें भाग राशि प्रमाण से अनन्तगुणी जानना चाहिये।

यहाँ चूर्णिकार आदि कुछ आचार्य औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर की ग्रहणप्रायोग्य वर्गणाओं के अन्तराल में अग्रहणप्रायोग्य वर्गणायें स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु विशेषावश्यकभाष्य आदि में (श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि सैद्धान्तिक आचार्यों ने) अग्रहणप्रायोग्य वर्गणायें स्वीकार की हैं। इसलिये उनके मत से यहाँ पर कही हैं।[1]

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ६३३-६३७ तक देखिये।

तैजसशरीरवर्गणा

आहारकशरीर की अग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्धों की तैजसशरीर के ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि तैजस-ग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होती है। तैजसशरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक होने पर जघन्य अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है। इससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है।

भाषावर्गणा

उस उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य भाषाप्रायोग्य ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। उन पुद्गलों को ग्रहण करके जीव सत्य आदि भाषा रूप से परिणमित कर और अवलंबन लेकर छोड़ता है—प्रयोग करता है। इससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप भाषाप्रायोग्य वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट भाषाप्रायोग्य ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। इससे आगे एक परमाणु अधिक होने पर अग्रहणप्रायोग्य जघन्य वर्गणा प्राप्त होती है। इससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि अग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य से उत्कृष्ट विशेषाधिक है और यह अधिकता उसी की जघन्य वर्गणा से अनन्तवां भाग है।

श्वासोच्छ्वासवर्गणा

उस अग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य प्राणापान (श्वासोच्छ्वास)-प्रायोग्य ग्रहण वर्गणा प्राप्त होती है। उन पुद्गलों को ग्रहण करके प्राणी श्वासोच्छ्वास रूप से परिणमित कर और आलंबन लेकर छोड़ता है—प्रयोग करता है। इससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि प्राणापानप्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। इस प्राणापानप्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा से एक परमाणु अधिक होने पर जघन्य अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है। उससे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है।

मनोवर्गणा

इस अग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप मन के प्रायोग्य जघन्य ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। उन पुद्गलों को ग्रहण करके जीव सत्य आदि मनोरूप से परिणमित कर और आलंबन लेकर प्रयोग करता है। उससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि मनःप्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। इस उत्कृष्ट मनःप्रायोग्य ग्रहणवर्गणा से एक परमाणु अधिक होने पर जघन्य अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है। इससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है।

कार्मणशरीरवर्गणा

इस (मन की) अग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप कर्मप्रायोग्य जघन्य ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। उन पुद्गलों को ग्रहण करके जीव ज्ञानावरणादि रूप से परिणमित करते हैं। उससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि कर्मप्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है।

यहाँ सर्वत्र उत्कृष्ट ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणायें अपनी जघन्य वर्गणा के अनन्तवें भाग रूप विशेष से अपनी-अपनी जघन्य वर्गणा की अपेक्षा अधिक होती हैं और अग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणायें अपनी जघन्य वर्गणा की अपेक्षा अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवें भाग राशि प्रमाण से अनन्तगुणी जानना चाहिये।

'भासामणे य' इस वाक्य में पठित च (य) शब्द अनुक्त अर्थ का समुच्चयार्थक है। इसलिये भाषावर्गणा के अनन्तर अग्रहण-वर्गणा से अन्तरित प्राणापान-वर्गणा जानना चाहिये।[1] प्राणापान वर्गणा का कथन पूर्व में कर दिया है। 'कम्मे य' यहाँ पठित च (य) शब्द सर्वगाथोक्त अर्थ का समुच्चय करता है।

औदारिकादि वर्गणाओं के वर्णादि

अब प्रसंगवश इन औदारिक आदि वर्गणाओं के वर्ण आदि का निरूपण करते हैं—

उक्त वर्गणाओं में से औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर की वर्गणायें पांचों वर्ण, दोनों गंध, पांचों रस और आठों स्पर्श वाली होती हैं। यद्यपि एक परमाणु में एक ही वर्ण, एक ही रस, एक ही गंध और अविरोधी दो स्पर्श होते हैं, तथापि अनेक परमाणुओं के समुदाय रूप स्कन्ध में कोई परमाणु किसी भी वर्णादि से युक्त होता है और कोई किसी से, इसलिये समुदाय में पांचों वर्ण आदि का प्रतिपादन करने में कोई विरोध नहीं है। तैजसप्रायोग्य आदि वर्गणायें (कर्मवर्गणा पर्यन्त) पांचों वर्ण, पांचों रस और दोनों गंध वाली जानना चाहिये, किन्तु स्पर्श विचार के प्रसंग में उनमें चार स्पर्श होते हैं। क्योंकि उनमें मृदु और लघु रूप दो स्पर्श तो अवस्थित रूप से पाये जाते हैं और अन्य दो स्पर्श—स्निग्ध-उष्ण, स्निग्ध-शीत अथवा रूक्ष-उष्ण और रूक्ष-शीत—ये अनियत होते हैं। कहा भी है—

पंचरस पंचवण्णेहिं परिणया अट्ठफास दोगंधा।
जावाहारगजोग्गा चउफासविसेसिया उवरिं॥[2]

---

१. यद्यपि मूल गाथा में श्वासोच्छ्वास वर्गणा के नाम का उल्लेख नहीं है, किन्तु पहले गाथा १७ के 'भासाणुमणत्तणे खंधे' पद में उल्लेख कर दिया है। इसलिये यहाँ 'य' कार पद के अनुक्त समुच्चयार्थक रूप अर्थ के द्वारा श्वासोच्छ्वास-वर्गणा का नाम सूचित किया है।

२. पंचसंग्रह, बंधनकरण गाथा १८

जीव के द्वारा ग्रहण की जाने वाली वर्गणाओं में से आहारक शरीर के योग्य वर्गणाओं तक सभी वर्गणायें पांच रस, पांच वर्ण, आठ स्पर्श और दो गंध से परिणत होती हैं, किन्तु इससे ऊपर की तैजस आदि वर्गणायें चार स्पर्श से विशिष्ट होती हैं।

औदारिक वर्गणायें प्रदेशगणना की अपेक्षा सबसे कम हैं।[1] उनसे वैक्रियशरीर के योग्य वर्गणायें अनन्तगुणी[2] हैं। उनसे आहारक शरीर के योग्य वर्गणायें अनन्तगुणी होती हैं। इसी प्रकार तैजस, भाषा, प्राणापान, मन और कर्म के प्रायोग्य वर्गणायें भी उत्तरोत्तर अनन्तगुणी कहना चाहिये।

ध्रुव, अध्रुव आदि वर्गणाओं का वर्णन

अब गाथोक्त ध्रुव, अध्रुव इत्यादि पदों का अर्थ कहते हैं कि कर्मप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के अनन्तर ध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणायें होती हैं। तदनन्तर अध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणायें प्राप्त होती हैं। इनके अनन्तर 'सुन्ना चउ' चार शून्य वर्गणाओं के अन्तराल में आगे यथाक्रम से प्रत्येकशरीरवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा तथा महास्कन्धवर्गणा होती हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

प्रथम ध्रुवशून्यवर्गणा के ऊपर प्रत्येकशरीरीवर्गणा होती है। द्वितीय ध्रुवशून्यवर्गणा के ऊपर बादरनिगोदवर्गणा, तीसरी ध्रुवशून्यवर्गणा के ऊपर सूक्ष्मनिगोदवर्गणा और चौथी ध्रुव-शून्यवर्गणा के ऊपर महास्कन्धवर्गणा होती है।

इनमें कर्मप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणाओं के अनन्तर एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य ध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणा होती है। उससे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप दूसरी आदि ध्रुव-अचित्त-द्रव्यवर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट ध्रुव-अचित्त-द्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। ध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणा वे कहलाती हैं जो लोक में सदैव पाई जाती हैं। जो इस प्रकार समझना चाहिए कि इन ध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणाओं के मध्य में कई अन्य वर्गणायें उत्पन्न होती हैं और कई अन्य वर्गणायें विनष्ट होती हैं, फिर भी इनकी यथास्थित संख्या की किसी एक भी वर्गणा से लोक कदाचित् भी रहित नहीं होता है और इन वर्गणाओं को जीव ने कभी भी ग्रहण नहीं किया है, इसलिये इनका अचित्तपना जानना चाहिये। जीव के द्वारा ग्रहण करने से तो औदारिकादि वर्गणाओंवत् कथंचित् सचित्तपना भी सम्भव हो जाता है।[3] जघन्य ध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी होती है। गुणाकार सर्व जीवों से अनन्तगुणी राशि प्रमाण जानना चाहिये।

---

१. शेष वैक्रियशरीर आदि वर्गणाओं से।

२. ग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणागत प्रदेशराशि से अनन्तगुण अग्रहण वर्गणायें अन्तराल में होने से औदारिकवर्गणा की अपेक्षा वैक्रियवर्गणा में अनन्तगुणे प्रदेश होते हैं। इसी प्रकार अन्य वर्गणाओं के लिये उत्तरोत्तर क्रम से समझ लेना चाहिये।

३. इस कथन का आशय यह है—
जैसे औदारिक आदि शरीर को जीव के संबंध से कथंचित् सचित्तपना होता है, परन्तु सर्वथा सचित्तपना नहीं होता है। उसी प्रकार इन वर्गणाओं का भी यदि जीव के साथ सम्बन्ध हो तो कथंचित् सचित्तपना कहा जा सकता है। परन्तु जब जीव का इनके साथ सम्बन्ध ही नहीं होता है तो कथंचित् सचित्तपना भी कैसे संभव है? अर्थात् जीव के साथ इनके सम्बन्ध का अभाव होने से ये वर्गणायें सर्वदा अचित्त ही हैं।

इससे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य अध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणा होती है। उससे आगे एक-एक परमाणु की अधिकता से अध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट अध्रुव-अचित्त-द्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। जिन वर्गणाओं के मध्य में कितनी ही वर्गणायें लोक में कदाचित् होती हैं और कदाचित् नहीं होती हैं, उन्हें अध्रुव-अचित्त-द्रव्यवर्गणा कहते हैं और इसी कारण ये सान्तर-निरन्तर वर्गणायें[1] भी कही जाती हैं—**अध्रुवाचित्तद्रव्यवर्गणा नाम यासां मध्ये काश्चिद् वर्गणाः कदाचिल्लोके भवन्ति, कदाचिच्च न भवन्ति। सान्तरनिरंतरा अप्युच्यन्ते।** जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा सर्व जीवों से अनन्तगुणी राशि प्रमाण से अनन्तगुणी होती है।

इससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप प्रथम जघन्य ध्रुव-शून्यवर्गणा होती है। उससे आगे एक-एक परमाणु की अधिकता से प्रथम ध्रुवशून्यवर्गणायें तब तक कहनी चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट प्रथम ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है। ध्रुवशून्य वर्गणायें वे हैं जो लोक में कभी भी नहीं होती हैं, लेकिन उपरितन वर्गणाओं का बाहुल्य जानने के लिये जिनकी प्ररूपणा की जाती है—**ध्रुवशून्यवर्गणा नाम याः कदाचनापि लोके न भवन्ति। केवलमुपरितनवर्गणानां बाहुल्यपरिज्ञानार्थं प्ररूपणामात्रमेव क्रियते।** जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी होती है। गुणाकार सर्व जीवों से अनन्त गुणित राशि प्रमाण है।

उससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है।

प्रत्येक शरीरीद्रव्यवर्गणा किसे कहते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि—**'प्रत्येकशरीरिणां यथासम्भवमौदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणेसु शरीरनामकर्मसु ये प्रत्येकं विश्रसापरिणामेनोपचयमापन्नाः सर्वजीवानन्तगुणाः पुद्गलास्ते प्रत्येकशरीरिद्रव्यवर्गणा**—प्रत्येक शरीर वाले जीवों के यथासम्भव औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण नामक एक-एक शरीर नामकर्मों में विश्रसा (स्वाभाविक) परिणाम से उपचय (हीनाधिक संख्या वाले प्रदेशों के समुदाय) को प्राप्त सर्व जीवों से अनन्तगुणे पुद्गल प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणा कहलाते हैं।

इसी प्रकार शतकबृहत्चूर्णि में भी कहा है—

पत्तेयवग्गणा इह पत्तेयाणंतउरलमाईणं ।
पंचण्हसरीराणं तणुकम्मपएसगा जे ऊ ।।
तत्थेक्केक्कपएसे वीससपरिणामउवचिया हुंति ।
सव्वजियाणंतगुणा पत्तेया वग्गणा ताओ ।।

---

१. इन वर्गणाओं में प्राप्त होने वाला एकोत्तर रूपवृद्धि का क्रम किसी-किसी समय विच्छिन्न भी हो जाता है। जिससे वर्गणागत एकोत्तर वृद्धि के अनुक्रम में अन्तर पड जाता है। तब ये वर्गणायें सान्तर रूप में प्राप्त होती हैं।

अर्थ—औदारिक आदि पांचों शरीरों के प्रत्येक परमाणु पर जो सूक्ष्म कर्मप्रदेश पाये जाते हैं, उन्हें प्रत्येक (शरीरी) वर्गणा कहते हैं। इन शरीरों के एक-एक प्रदेश पर विश्रसा परिणाम से उपचित होने वाली सर्व जीवों के प्रमाण से अनन्तगुणी प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणायें होती हैं।

इससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप दूसरी प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणायें होती हैं। इस प्रकार एक-एक परमाणु की अधिकता से प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणायें तब तक कहनी चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यातगुणी होती है और यह गुणाकार सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग रूप है।

यह कैसे कहा कि गुणाकार सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग रूप है? तो वह इस प्रकार समझना चाहिये कि जघन्य कर्मप्रदेशों के संचय से जघन्य वैश्रसिकी प्रत्येकशरीरी-द्रव्यवर्गणा होती है। जघन्य कर्मप्रदेश-संचय जघन्य योग से और उत्कृष्ट कर्मप्रदेश-संचय उत्कृष्ट योग से होता है। जघन्य योगस्थान से उत्कृष्ट योगस्थान सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणित ही प्राप्त होता है।[1] इसलिये जघन्य कर्मप्रदेश-संचय से उत्कृष्ट कर्मप्रदेश-संचय भी उतने प्रमाण रूप ही होता है। इस प्रकार जघन्य प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणा से उसकी उत्कृष्ट वर्गणा भी तावत् प्रमाण सिद्ध होती है।

उस उत्कृष्ट प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणा के अनन्तर एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य दूसरी ध्रुवशून्यवर्गणा होती है। दो परमाणु अधिक स्कन्धरूप दूसरी ध्रुवशून्यवर्गणा। इसी प्रकार एक-एक परमाणु की अधिकता रूप स्कन्धों की दूसरी ध्रुवशून्यवर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट दूसरी ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यातगुणी है। गुणाकार असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण जानना चाहिये।

उससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा आती है।

बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा किसे कहते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि **बादरनिगोद-जीवानामौदारिकतैजसकार्मणेसु शरीरनामकर्मसु प्रत्येकं ये सर्वजीवानन्तगुणाः पुद्गला विश्रसापरिणामेनोपचयमायान्ति ते बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा**—बादर निगोदजीवों के औदारिक, तैजस, कार्मण नामक शरीर नामकर्मों में[2] जो प्रत्येक प्रदेश पर विश्रसा (स्वाभाविक) परिणाम से उपचय को प्राप्त सर्व जीवों से अनन्तगुणे पुद्गल वे बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा कहलाते हैं। यद्यपि कुछ काल तक कितने ही बादर निगोदजीवों के वैक्रिय और आहारक शरीर नामकर्म भी सम्भव है,[3] तथापि

१. यह असंख्यविशेष गुणितपना वीर्यशक्तिसम्बन्धी है, स्पर्धकसम्बन्धी नहीं है।

२. इसका आशय यह है कि निगोदिया जीवों के औदारिक, तैजस, कार्मण ये तीन शरीर होते हैं।

३. जो जीव पहले वैक्रियशरीर नामकर्म का बंध करने के बाद मरण होने पर बादर साधारण वनस्पतिकाय (बादर निगोद) रूप से उत्पन्न होते हैं, उन जीवों के बादर निगोदभव में भी वैक्रियशरीर नामकर्म की सत्ता होती है। इसी प्रकार जिस अप्रमत्तमुनि ने अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में आहारकशरीर नामकर्म का बंध किया हो और पुनः प्रमादवश होकर उस गुणस्थान से गिर कर प्रथम गुणस्थान तक आकर और उसमें मरण होने पर बादर निगोद में उत्पन्न हो तो बादर निगोद जीव में भी (अपर्याप्त अवस्था में) आहारक-शरीर नामकर्म की सत्ता संभव है।

वे जन्म लेने के प्रथम समय से ही निरन्तर उद्वलना[1] किये जाने से अत्यन्त असार हैं, इसलिये उनकी विवक्षा नहीं की गई है।

उस जघन्य बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा से दो परमाणु अधिक स्कन्धरूप दूसरी बादरनिगोद-द्रव्यवर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग रूप गुणाकार से असंख्यात गुणी है। यहाँ पर भी गुणाकार की युक्ति प्रत्येक-शरीरीद्रव्यवर्गणा के समान जानना चाहिये।

इससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य तीसरी ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है और उससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणायें तब तक जानना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट तीसरी ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यातगुणी होती है। यहाँ गुणाकार अंगुलमात्र क्षेत्र में आवलिका के असंख्यातवें भाग में स्थित जितने समय होते हैं, उतने समयप्रमाण वर्गमूलों के ग्रहण करने पर जो अंतिम वर्गमूल आता है, उसके असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतने प्रदेश-प्रमाण वाला जानना चाहिये।

इससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जो वर्गणा प्राप्त होती है, वह जघन्य सूक्ष्म-निगोदवर्गणा है। उसे भी औदारिक शरीरादि आश्रित विश्रसोपचित पुद्गल रूप बादरनिगोदवर्गणा के समान बिना किसी विशेषता के जानना चाहिये और उसी के समान एक-एक परमाणु अधिक करते हुए उत्कृष्ट सूक्ष्मनिगोदवर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यात गुणी है और गुणाकार आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, तावत् प्रमाण जानना चाहिये। क्योंकि सूक्ष्मनिगोद जीवों का उत्कृष्ट योगस्थान जघन्य योगस्थान से आवलिका के असंख्यातवें भाग से गुणित ही प्राप्त होता है, अधिक नहीं। इसका कारण यह है कि कर्मप्रदेशों के उपचय में वृद्धि होना योगाधीन है और उसके अधीन सूक्ष्मनिगोदवर्गणा है—**योगाधीना च कर्म-प्रदेशोपचयवृद्धिः, तदाधीना च सूक्ष्मनिगोदवर्गणेति।**

इससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जो वर्गणा प्राप्त होती है, वह चौथी जघन्य ध्रुवशून्यवर्गणा है। उसके आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट चौथी ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यातगुणी है। यहाँ गुणाकार प्रतर के असंख्यातवें भागवर्ती असंख्यात श्रेणीगत आकाश की प्रदेशराशि प्रमाण है।

---

१. यथार्थतया तो आहारकसप्तक की उद्वलना अविरतिपने के प्रथम समय से होने लगती है। उद्वलनकाल पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होने से बादर निगोद में प्रतिपन्न भाव की अपेक्षा भव के प्रथम समय से भी कहा जा सकता है।

इससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जो वर्गणा प्राप्त होती है, वह जघन्य महास्कन्धवर्गणा है। जो पुद्गलस्कन्ध स्वाभाविक परिणमन से टंक, कूट, पर्वत[1] आदि के आश्रित होते है, उन्हें महास्कन्ध-वर्गणा कहते हैं—**महास्कन्धवर्गणा नाम ये पुद्गलस्कन्धा विश्रसापरिणामेन टंककूटपर्वतादिसमाश्रिताः**। उससे आगे दो परमाणु अधिक स्कन्धरूप दूसरी महास्कन्धवर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप महास्कन्धवर्गणायें तब तक कहनी चाहिये, जब तक उत्कृष्ट महास्कन्ध-वर्गणा प्राप्त होती है। यहाँ जघन्य महास्कन्धवर्गणा से उत्कृष्ट महास्कन्धवर्गणा असंख्यातगुणी होती है। यहाँ गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवां भाग रूप जानना चाहिये। ये महास्कन्धवर्गणायें त्रसकायिक जीवों की अधिकता होने पर अल्प और त्रसकायिक जीवों की अल्पता होने पर बहुत पाई जाती हैं, ऐसा यह वस्तुस्वभाव है। शतकबृहत्चूर्णि में भी इसी प्रकार कहा है—

महखंधवग्गणा टंककूड तह पव्वयाइठाणेसु ।
जे पोग्गला समसिया महखंधा ते उ वुच्चंति ।।

तत्थ तसकायरासी जम्मि य कालम्मि होंति बहुगो अ ।
महखंधवग्गणाओ तम्मि य काले भवे थोवा ।।

जं पुण होइ अ काले रासी तसकाइयाण थोवो उ ।
महखंधवग्गणाओ तंहि काले होंति बहुगाओ ।।

अर्थ—जो पुद्गल परमाणु टंक, कूट तथा पर्वत आदि स्थानों के आश्रित होते हैं, वे महास्कन्ध या महास्कन्धवर्गणा कहलाते हैं। उनमें से जिस काल में त्रसकाय राशि अधिक होती है, उस काल में महास्कन्धवर्गणायें थोड़ी होती हैं और जिस काल में त्रसकाय राशि अल्प, उस काल में महास्कन्धवर्गणायें बहुत होती हैं।

परमाणुवर्गणा को आदि लेकर महास्कन्धवर्गणा पर्यन्त की ये सभी वर्गणायें गुणनिष्पन्न नामवाली—**'गुणनिष्फन्नसनामत्ति'** अर्थात् गुणानुरूप नामवाली हैं। जैसे कि एक-एक परमाणु, परमाणु-वर्गणा, दो परमाणुओं का समुदाय रूप द्वि-परमाणुवर्गणा, इस प्रकार वर्गणाओं के नामों की सार्थकता है।[2]

अब 'असंखभागंगुलवगाहो' इस पद को स्पष्ट करते हैं। इस पद का यह अर्थ है कि सभी वर्गणाओं का अवगाहक्षेत्र अंगुल का असंख्यातवां भाग है। यद्यपि सामस्त्यरूप से ये प्रत्येक अनन्त परिमाण वाली हैं और सम्पूर्ण लोक के आश्रित कही गई हैं, तथापि एक-एक वर्गणा अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र का अवगाहन करके ही रहती हैं तथा कार्मणशरीर-प्रायोग्य वर्गणा से प्रारम्भ कर पश्चाद्वर्ती औदारिकशरीरप्रायोग्य वर्गणा तक जितनी वर्गणायें हैं, उनका क्षेत्रावगाह पश्चानुपूर्वी के अनुक्रम से असंख्यातगुणा जानना चाहिये।

---

१. टंक—छोटे पहाड़, टीले आदि, कूट—शिखर, पर्वत—बड़े पहाड़, जैसे—हिमालय आदि।

२. वर्गणाओं के विशेष वर्णन एवं विशेषावश्यकभाष्य गत वर्गणाओं की व्याख्या का विचार परिशिष्ट में देखिए।

वर्गणाओं के वर्णन (गा १८,१९,२०) का सारांशदर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

अनुक्रम	वर्गणा नाम	अन्तर्गत उत्तर वर्गणाये	उत्तर वर्गणा संख्या प्रमाण	स्वजघन्य वर्गणा के प्रदेशों से स्वोत्कृष्ट वर्गणा में प्रदेशों की अधिकता	ग्रहण अग्रहण प्रायोग्य	विद्यमान अविद्यमान
१.	अग्रहण	अनन्त	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	विद्यमान
२.	औदारिक	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवां भाग प्रमाण	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
३.	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
४.	वैक्रिय	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवां भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
५.	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
६.	आहारक	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवां भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
७.	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
८.	तैजस	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवां भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
९.	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
१०.	भाषा	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवां भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
११.	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
१२.	श्वासोच्छ्वास	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवां भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
१३.	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
१४.	मन	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवां भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
१५.	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
१६.	कार्मण	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवां भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
१७.	ध्रुवाचित्त	,,	सर्व जीव से अनन्तगुण	सर्वजीव से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
१८.	अध्रुवाचित्त (सान्तर-निरंतरा)	,,	,,	,,	,,	विद्यमान-अविद्यमान[1]
१९.	ध्रुवशून्य (१)	,,	,,	,,	,	देशत: अविद्यमान
२०.	प्रत्येकशरीरी[2]	,,	स्वजघन्य वर्गणा के प्रदेश को सूक्ष्म क्षेत्र-पल्यो. के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग गुण	,,	विद्यमान
२१.	ध्रुवशून्य (२)	,	स्वजघन्य वर्गणा के प्रदेश को असंख्य लोकाकाश के प्रदेश से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण	,	अविद्यमान

१. उत्तरवर्गणाओं में से किन्हीं वर्गणाओं का किसी समय अभाव होता है, उस समयापेक्षा अविद्यमान और किसी समय सर्व वर्गणायें विद्यमान रहती हैं, उस समयापेक्षा विद्यमान। किन्तु मूल वर्गणा प्रभाव की अपेक्षा तो सदैव विद्यमान हैं।

२. प्रत्येकशरीरी जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्य गुण होने पर भी उत्तरवर्गणायें अनन्त ही होती हैं। क्योंकि जघन्य वर्गणागत राशि अनन्त है।

अनुक्रम	वर्गणा नाम	अन्तर्गत उत्तर वर्गणायें	उत्तर वर्गणा संख्या प्रमाण	स्वजघन्य वर्गणा के प्रदेशों से सर्वोत्कृष्ट वर्गणा में प्रदेशों की अधिकता	ग्रहण अग्रहण प्रायोग्य	विद्यमान अविद्यमान
२२.	बादरनिगोद	अनन्त	स्व जघन्य वर्गणा के प्रदेश को सूक्ष्म क्षेत्र पल्यो. के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	सूक्ष्म क्षेत्र पल्यो. के असंख्यातवें भाग गुण	अग्रहण	विद्यमान
२३.	ध्रुवशून्य (३)	,,	स्वजघन्य वर्गणा के प्रदेश को अंगुल क्षेत्र प्रदेश का आवलि का असंख्यातवां भाग प्रमाण वर्गमूल करने पर प्राप्त चरम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	अंगुल क्षेत्र प्रदेश का आवलि का असंख्यातवां भाग प्रमाण वर्गमूल करने पर प्राप्त चरम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग गुण	,,	अविद्यमान
२४.	सूक्ष्मनिगोद	,,	स्व जघन्य वर्गणा के प्रदेश को आवलि के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	आवलि के असंख्यातवें भाग गुण	,,	विद्यमान
२५.	ध्रुवशून्य (४)	,,	स्व जघन्य वर्गणा के प्रदेश को प्रतर के असंख्यातवें भागवर्ती असंख्य श्रेणी के प्रदेश द्वारा गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	प्रतर असंख्य भागवर्ती असंख्य श्रेणीगत प्रदेश गुण		अविद्यमान
२६.	अचित्त महास्कन्ध	,,	स्व जघन्य वर्गणा के प्रदेश को पल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	पल्योपम के असंख्यातवें भाग गुण	,,	विद्यमान

सलेश्य जीव की योग द्वारा पुद्गल-ग्रहण करने की प्रक्रिया

योगशक्ति द्वारा ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों को जीव एकदेश से ग्रहण करता है या सर्वात्मना? ऐसा प्रश्न होने पर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—

एगमवि गहणदव्वं, सव्वप्पणयाए जीवदेसम्मि।
सव्वप्पणया सव्वत्थ वावि सव्वे गहणखंधे ॥२१॥

शब्दार्थ—एगमवि गहणदव्वं—एक भी ग्रहणयोग्य द्रव्य को, **सव्वप्पणयाए**—सर्व प्रदेशों द्वारा, **जीवदेसम्मि**—जीवप्रदेशावगाहित **सव्वप्पणया**—सर्वप्रदेशों द्वारा, **सव्वत्थ**—सर्व जीवप्रदेशों में अवगाहित, **वा**—और, **वि**—भी, **सव्वे**—सभी, **गहणखंधे**—ग्रहणयोग्य स्कन्धों को।

गाथार्थ—एक जीवप्रदेश में अवगाहित–अवगाहना को प्राप्त–ग्रहण करने योग्य द्रव्य को भी जीव सर्वप्रदेशों से ग्रहण करता है और सर्व जीवप्रदेशों में अवगाहित सभी ग्रहणप्रायोग्य स्कन्धों को भी सर्व आत्मप्रदेशों द्वारा ग्रहण करता है।

विशेषार्थ—जीव अपने प्रदेशों में अवगाढ़–अवगाह को प्राप्त अर्थात् जिन आकाशप्रदेशों पर आत्मा के प्रदेश रहे हुए हैं, उन्हीं आकाशप्रदेशों पर रहे हुए कर्मदलिकों को ग्रहण करता है, किन्तु अनन्तर और परम्परागत प्रदेशों पर अवगाढ़ रहे हुए द्रव्य को ग्रहण नहीं करता है। इस प्रकार एक जीवप्रदेश[1] पर अवगाढ़ ग्रहण करने योग्य जो भी कर्म-दलिक है, उसे भी सर्वात्मना अर्थात् सभी आत्मप्रदेशों से ग्रहण करता है। क्योंकि सभी जीवप्रदेशों का सांकल के अवयवों के समान परस्पर संबंधविशेष पाया जाता है। इसलिए एक प्रदेश में अपने क्षेत्र-अवगाढ़ ग्रहणप्रायोग्य द्रव्य के ग्रहण करने के लिए व्यापार करने पर सभी आत्मप्रदेशों का अनन्तर व परम्परा से[2] उस द्रव्य को ग्रहण करने के लिये व्यापार होता है। जैसे हाथ के अग्रभाग से घट आदि के ग्रहण किये जाने पर भी मणिबंध (पहुंचा), कूर्पर (कोहनी), अंस (कंधा) आदि अवयवों का भी उस द्रव्य के ग्रहण करने हेतु अनन्तर एवं परंपरा से व्यापार होता है तथा 'सव्वत्थ वावि' सर्वत्र भी अर्थात् सभी जीवप्रदेशों में जो अवगाह को प्राप्त ग्रहणप्रायोग्य पुद्गल-स्कन्ध हैं, उन सबको भी सर्वात्मप्रदेशों द्वारा ग्रहण करता है। क्योंकि एक-एक प्रदेश पर स्थित स्कन्ध को ग्रहण करने में सर्व आत्मप्रदेशों का अनन्तर व परंपरा व्यापार सिद्ध होने से सर्वत्र सर्वप्रदेशों का व्यापार होना न्यायप्राप्त है।

स्नेहप्ररूपणा

इस लोक में पुद्गल द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध स्नेह गुण से होता है।[3] अतः स्नेहप्ररूपणा करना चाहिये। वह स्नेहप्ररूपणा तीन प्रकार की है—१. स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा, २. नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा, और ३. प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. स्नेह-निमित्तक स्पर्धक की प्ररूपणा को स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहते हैं—**स्नेहनिमित्तस्य स्पर्धकस्य प्ररूपणा स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा।**

२. शरीरबंधन नामकर्म के उदय से परस्पर बंधे हुए शरीरपुद्गलों के स्नेह का आश्रय लेकर जो स्पर्धकप्ररूपणा की जाती है, वह नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहलाती है—**शरीरबंधननामकर्मोदयतः परस्परं बद्धानां शरीरपुद्गलानां स्नेहमधिकृत्य स्पर्धकप्ररूपणा नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा।** इसका आशय यह है कि नामप्रत्यय अर्थात् बंधननामनिमित्तक शरीरप्रदेशों के स्पर्धक की प्ररूपणा को नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहते हैं।

१. स्वरूपतः ग्रहणप्रायोग्य द्रव्य असंख्यात प्रदेशावगाही है, परन्तु असंख्य प्रदेशों में से किसी एक प्रदेश की विवक्षा करना चाहिए। अथवा ग्रहणप्रायोग्य द्रव्य जितनी अवगाहना में रहे हुए आत्म-प्रदेश समूह में से भी एक प्रदेशरूप विवक्षा समझना चाहिये।

२. एक के बाद एक, इस प्रकार प्रत्येक आत्मप्रदेश का सम्बन्ध होने से।

३. स्निग्धरूक्षत्वाद् बंधः। —तत्त्वार्थसूत्र, अ. ५

३. प्रकृष्ट योग को प्रयोग कहते हैं, इस प्रयोगप्रत्ययभूत, कारणभूत प्रकृष्ट योग के द्वारा ग्रहण किये गये जो पुद्गल हैं, उनके स्नेह का आश्रय करके जो स्पर्धकप्ररूपणा की जाती है, उसे प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहते हैं—**प्रकृष्टो योगः प्रयोगस्तेन प्रत्ययभूतेन कारणभूतेन ये गृहीताः पुद्गलास्तेषां स्नेहमधिकृत्य स्पर्धकप्ररूपणा प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा।**[1]

उक्त तीन प्ररूपणाओं में से पहले स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा करने के लिए गाथासूत्र कहते हैं।

स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा

नेहप्पच्चयफड्डगमेगं अविभागवग्गणा णंता।
हस्सेण बहू बद्धा असंखलोगे दुगुणहीणा ॥२२॥

शब्दार्थ—**नेहप्पच्चय**—स्नेहप्रत्यय, **फड्डगं**—स्पर्धक, **एगं**—एक, **अविभागवग्गणा**—अविभाग वर्गणा, **णंता**—अनन्त, **हस्सेण**—अल्प, **बहू**—अधिक, **बद्धा**—बंधे हुए (युक्त), **असंखलोगे**—असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **दुगुणहीणा**—द्विगुणहीन।

गाथार्थ—एक स्नेहप्रत्ययस्पर्धक में अविभाग वर्गणायें अनन्त होती हैं तथा अल्प स्नेहयुक्त पुद्गल अधिक हैं और असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओं का अतिक्रमण करने पर जो जो वर्गणायें आती हैं, उनमें द्विगुणहीन, द्विगुणहीन पुद्गल होते हैं।

विशेषार्थ—स्नेहप्रत्यय अर्थात् स्नेहनिमित्तक एक-एक स्नेह अविभाग अंश से बढ़ने वाली पुद्गल वर्गणाओं के समुदाय को एक स्नेहप्रत्ययस्पर्धक कहते हैं—**स्नेहप्रत्ययं, स्नेहनिमित्तमेकैक-स्नेहाविभागवृद्धानां पुद्गलवर्गणानां समुदायरूपं स्पर्धकम्।**[2] उस स्पर्धक में अविभाग वर्गणायें एक-एक स्नेह के अविभाग अंश से अधिक पुद्गल परमाणुओं[3] के समुदाय रूप अनन्त होती हैं। उनमें ह्रस्व अर्थात् अल्प स्नेह से जो पुद्गल बद्ध हैं, वे बहुत होते हैं और बहुत स्नेह से बंधे हुए पुद्गल अल्प होते हैं तथा असंख्यात लोक पर द्विगुणहीन परमाणु पुद्गल होते हैं। इसका यह अर्थ है कि आदिवर्गणा से परे (आगे) असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओं के उल्लंघन करने पर जो अगली वर्गणा प्राप्त होती है, उसमें पुद्गल परमाणु आदि वर्गणा सम्बन्धी पुद्गल परमाणुओं की अपेक्षा द्विगुणहीन अर्थात् आधे होते हैं। इससे आगे पुनः असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओं का उल्लंघन करने पर प्राप्त होने वाली अगली वर्गणा में पुद्गल परमाणु द्विगुणहीन प्राप्त होते हैं। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कि आगे कही जाने वाली असंख्यात भागहानि की अंतिम वर्गणा प्राप्त होती है।

---

१. स्नेहप्रत्यय, नामप्रत्यय और प्रयोगप्रत्यय प्ररूपणाओं के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—
१. लोकवर्ती प्रथम अग्राह्य पुद्गल द्रव्यों में स्निग्धपने की तरतमता कहना स्नेहप्रत्ययप्ररूपणा है। २. पांच शरीर रूप परिणमते पुद्गलों में स्निग्धपने की तरतमता बताना नामप्रत्ययप्ररूपणा है और ३. उत्कृष्ट योग से ग्रहण होने वाले पुद्गलों में स्निग्धता की तरतमता कहना प्रयोगप्रत्ययप्ररूपणा है।

२. स्नेहप्रत्ययस्पर्धक—जिस स्पर्धकप्ररूपणा में मात्र स्नेह यही निमित्तभूत है, उसे स्नेहप्रत्ययस्पर्धक कहते हैं।

३. यहाँ पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करने का कारण यह है कि स्नेहादि पर्याय की वक्तव्यता एक-एक प्रदेश और परमाणु में ही हो सकती है और परमाणु ही वस्तुतः पुद्गल द्रव्य है और स्कन्धादि तो परमाणु पुद्गल की पर्याय हैं। इसलिये स्नेहाविभागादि की विवक्षा परमाणु में ही संभव है।

उक्त कथन का तात्पय यह है कि सर्वोत्कृष्ट स्नेहगुण को केवलिप्रज्ञारूप शस्त्र के द्वारा छेदन कर-करके जो निर्विभाग (अब और अन्य विभाग होना जिसमें शक्य न हो) अंश किये जाते हैं, वे स्नेहाविभाग कहलाते हैं—**यः खलु सर्वोत्कृष्टस्नेहस्य केवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यते, छित्वा छित्वा च निर्विभागा भागाः क्रियन्ते ते स्नेहाविभागाः**। लोक में उनमें से कितने ही परमाणु एक स्नेहाविभाग से युक्त होते हैं, उनका समुदाय प्रथम वर्गणा है। दो स्नेहाविभागों से युक्त जो परमाणु, उनका समुदाय दूसरी वर्गणा है। इस प्रकार संख्यात स्नेहाविभागों से युक्त संख्यात वर्गणायें कहना चाहिये, असंख्यात स्नेहाविभागों से युक्त परमाणुओं की असंख्यात वर्गणा और अनन्त स्नेहाविभागों से युक्त परमाणुओं की अनन्त वर्गणा कहना चाहिये। इन सभी वर्गणाओं का समुदाय रूप एक स्पर्धक होता है।[1] क्योंकि क्रम से अविभागी अंशों से बढ़ने वाली उक्त वर्गणाओं के अन्तराल में एक-एक अविभाग की वृद्धि का व्यवच्छेद नहीं है। एक-एक अविभाग वृद्धि का व्यवच्छेद स्पर्धक के अंत में होता है। कहा भी है—

रूवुत्तरवुड्ढीए छेओ फड्डगाणं।

एक-एक अंश रूप की उत्तर वृद्धि से स्पर्धकों का छेद अर्थात् अंत प्राप्त होता है।

इन वर्गणाओं (स्नेहप्रत्ययवर्गणाओं) में प्ररूपणा दो प्रकार से होती है—१. अनन्तरोपनिधा से और २. परंपरोपनिधा से।

अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा—इनमें से पहले अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा को प्रस्तुत करते हैं—एक स्नेह-अविभाग वाले परमाणुओं के समुदाय रूप पहली वर्गणा में जितने पुद्गल होते हैं, उनकी अपेक्षा दूसरी वर्गणा में **असंख्यात भागहीन** पुद्गल परमाणु होते हैं, उससे भी तीसरी वर्गणा में असंख्यात भागहीन परमाणु होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वर्गणा में असंख्यात भागहानि से पुद्गल परमाणु तब तक कहना चाहिये, जब तक कि अनन्त वर्गणायें प्राप्त होती हैं। उसके अनन्तर प्राप्त होने वाली वर्गणा में पुद्गल परमाणु पहले वाली वर्गणागत पुद्गल परमाणुओं की अपेक्षा **संख्यात भागहीन** होते हैं। उससे आगे प्राप्त होने वाली वर्गणा में पुद्गल परमाणु संख्यात भागहीन होते हैं। इस प्रकार संख्यात भागहानि से अनन्त वर्गणायें कहना चाहिये। पुनः उससे उपरितन वर्गणा में पुद्गल परमाणु प्राक्तन वर्गणागत पुद्गल परमाणुओं की अपेक्षा **संख्यात गुणहीन** होते हैं, पुनः उससे आगे वाली वर्गणा में पुद्गल परमाणु संख्यात गुणहीन होते हैं। इस प्रकार संख्यात गुणहानि के द्वारा भी अनन्त वर्गणायें कहना चाहिये। उसके भी अनन्तर प्राप्त होने वाली वर्गणा में पुद्गल परमाणु प्राक्तन वर्गणागत पुद्गल परमाणुओं की अपेक्षा **असंख्यात गुणहीन** होते हैं। उससे आगे प्राप्त होने वाली वर्गणा में पुद्गल परमाणु असंख्यात गुणहीन होते हैं। इस प्रकार असंख्यात गुणहानि से भी अनन्त वर्गणायें कहना

१. उक्त कथन का सारांश यह है कि एक स्नेहप्रत्ययस्पर्धक में अनन्त वर्गणायें होती हैं और वर्गणा का प्रारम्भ एक स्नेहाविभाग से होकर वे संख्यात, असंख्यात, अनन्त स्नेहाविभाग वाली हो सकती हैं। अर्थात् एक स्नेहाविभागयुक्त अनन्त परमाणुओं की पहली वर्गणा, दो स्नेहाविभागयुक्त अनन्त परमाणुओं की दूसरी वर्गणा, इसी प्रकार तीन, चार, पांच यावत् संख्यात, असंख्यात, अनन्त स्नेहाविभाग की वृद्धि करते-करते अनन्त स्नेहाविभागयुक्त अनन्त परमाणुओं की अनन्ती वर्गणा होती हैं। इन अनन्त वर्गणाओं का समुदाय एक स्नेह-प्रत्यय-स्पर्धक है।

चाहिये। इससे अनन्तरवर्ती वर्गणा में पुद्गल परमाणु प्राक्तन वर्गणागत पुद्गल परमाणुओं की अपेक्षा **अनन्त गुणहीन** होते हैं। उसके आगे प्राप्त होने वाली वर्गणा में पुद्गल परमाणु अनन्त गुणहीन कहना चाहिये। इस प्रकार अनन्त गुणहानि से अनन्त वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि सर्वोत्कृष्ट[1] वर्गणा प्राप्त होती है।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा की अपेक्षा प्ररूपणा जानना चाहिये।[2] अब परंपरोपनिधा की अपेक्षा प्ररूपणा करते हैं--

परंपरोपनिधा प्ररूपणा--आदि वर्गणा से परे (आगे) असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओं का अतिक्रमण करने पर जो वर्गणा प्राप्त होती है, उसमें आद्य वर्गणागत पुद्गल परमाणुओं की अपेक्षा पुद्गल परमाणु द्विगुणहीन (अर्ध) पाये जाते हैं।[3] तत्पश्चात् फिर उतनी ही (असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण) वर्गणाओं का अतिक्रमण करने पर जो वर्गणा प्राप्त होती है, उसमें पुद्गल परमाणु आधे होते हैं। इस प्रकार पुनः-पुनः तब तक कहना चाहिये, जब तक असंख्यात भागहानिगत अंतिम वर्गणा प्राप्त होती है।

इसके आगे संख्यात भागहानिगत संख्यात वर्गणाओं के अतिक्रमण करने के अनन्तर जो वर्गणा प्राप्त होती है, उसमें असंख्यात भागहानिगत अंतिम वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं की अपेक्षा आधे पुद्गल होते हैं। इस प्रकार पुनः-पुनः तब तक कहना चाहिये, जब तक कि संख्यात भागहानि में भी अंतिम वर्गणा प्राप्त होती है।

उपरितन तीनों ही हानियों में[4] यह दुगुण हानिवाली परंपरोपनिधा संभव नहीं है, क्योंकि पहली संख्यात गुणहानि वर्गणा में पुद्गल परमाणु प्राक्तन वर्गणा की अपेक्षा संख्यात गुणहीन प्राप्त होते हैं। संख्यात गुणहीन परमाणु जघन्य से भी त्रिगुण या चतुर्गुण हीन ग्रहण किये जाते हैं, द्विगुणहीन नहीं।

---

१. यहाँ सर्वोत्कृष्टता स्नेहाविभाग की अपेक्षा है, किन्तु पुद्गलापेक्षा सर्व जघन्यपना है।

२. स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की अनंतरोपनिधा प्ररूपणा का सारांश यह है कि अनुक्रम से स्थापित की हुई वर्गणाओं में पूर्व वर्गणा के बाद की पर वर्गणा में परमाणुओं का हीनाधिकपना बताना अनंतरोपनिधा कहलाती है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

स्नेहप्रत्ययस्पर्धक	की	आदि की	अनंत वर्गणायें	असंख्यात	भागहीन,
"	"	तदनन्तर की	"	संख्यात	भागहीन,
"	"	तदनन्तर की	"	संख्यात	गुणहीन,
"	"	तदनन्तर की	"	असंख्यात	गुणहीन,
"	"	तदनन्तर की	"	अनन्त	गुणहीन।

इस प्रकार स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की अनन्त वर्गणायें पांच विभागों में विभाजित हैं—१. असंख्यात भागहीन विभाग, २. संख्यात भागहीन विभाग, ३. संख्यात गुणहीन विभाग, ४. असंख्यात गुणहीन विभाग, ५. अनन्त गुणहीन विभाग।

३. दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से ही इसकी प्ररूपणा की है कि आदि वर्गणा से आगे असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण जो वर्गणायें होती हैं, उनकी अंतिम वर्गणा में आद्य वर्गणा से द्विगुणहीन (आधे) पुद्गल परमाणु होते हैं।

४. संख्यात गुणहानि, असंख्यात गुणहानि, अनन्त गुणहानि।

क्योंकि—

सिद्धंते य जत्थ-जत्थ संखेज्जगगहणं तत्थ-तत्थ अजहण्णमणुक्कोसयं दट्ठव्वं।

सिद्धान्त में जहाँ-जहाँ संख्यात का ग्रहण किया गया है, वहाँ-वहाँ अजघन्य-अनुत्कृष्ट संख्यात[1] का ग्रहण करना चाहिये, ऐसा अनुयोगद्वारचूर्णि का वचन है। अतः संख्यात का उल्लेख आने पर प्रायः सर्वत्र ही अजघन्य-अनुत्कृष्ट संख्यात का ही ग्रहण किया जाता है। इसलिए आदि से लेकर (आगे की वर्गणाओं में) अन्य प्रकार से परंपरोपनिधा की अपेक्षा अन्य प्रकार से प्ररूपणा की जाती है, अर्थात् आगे द्विगुणहानि का अभाव होने से द्विगुणहानि परंपरोपनिधा संभव नहीं है।[2] अतः आगे द्विगुणहानि का अभाव होने से द्विगुणहानि परंपरोपनिधा के सिवाय दूसरे प्रकार से परंपरोपनिधा कहते हैं। जो इस प्रकार है—

१. असंख्यात भागहानि में प्रथम और अंतिम वर्गणाओं के अन्तराल में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा कितनी ही वर्गणायें (१) असंख्यात भागहीन, कितनी ही (२) संख्यात भागहीन, कितनी ही (३) संख्यात गुणहीन, कितनी ही (४) असंख्यात गुणहीन और कितनी ही (५) अनन्त गुणहीन पाई जाती हैं। इस प्रकार असंख्यात भागहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा पांचों ही हानियां संभव हैं।[3]

२. संख्यात भागहानि में असंख्यात भागहानि को छोड़कर प्रथम वर्गणा की अपेक्षा शेष चारों हानियां पाई जाती हैं।[4]

३. संख्यात गुणहानि में असंख्यात भागहानि और संख्यात भागहानि को छोड़कर शेष तीन हानियां पाई जाती हैं।

४. असंख्यात गुणहानि में कितनी ही वर्गणायें असंख्यात गुणहीन और कितनी ही अनन्त गुणहीन पाई जाती हैं। इसलिये उसमें दो ही हानि संभव हैं।

५. अनन्त गुणहानि में तो एक अनन्त गुणहानि ही पाई जाती है।

---

१. दो को जघन्य संख्यात और एक कम समस्त संख्या को उत्कृष्ट कहते हैं। इन दोनों को छोड़कर दो से ऊपर तीन आदि यावत् दो कम समस्त संख्याओं को अजघन्य-अनुत्कृष्ट संख्यात कहते हैं।

२. तात्पर्य यह है कि संख्यात भागगत अंतिम वर्गणा से आगे भी प्रथम वर्गणा में द्विगुणादिहीन (संख्यात गुणहीन) पुद्गल परमाणु हैं, द्विगुणहीन नहीं हैं। जिससे द्विगुणहीन परंपरोपनिधा का कथन किया जाना संभव नहीं है।

३. इन पांचों हानियों को जानने की रीति इस प्रकार है—

प्रथम वर्गणा की अपेक्षा द्वितीय, तृतीय आदि असंख्य वर्गणायें असंख्यात भागहीन हैं, उससे आगे प्रथम द्विगुणहीन वर्गणा तक की वर्गणायें संख्यात भागहीन हैं। प्रथम द्विगुणहीन वर्गणानन्तर वर्गणा से लेकर संख्याती वर्गणायें संख्यात गुणहीन, उससे आगे असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणायें असंख्यात गुणहीन हैं और उससे आगे की अनन्त गुणहीन हैं।

४. आदि से ही असंख्यात भागहानि का अभाव होने से आगे असंख्यात भागहानि संभव नहीं है। इसी प्रकार आगे की हानियों के लिये भी समझना चाहिये।

इस प्रकार (मूल हानिपंचक और उत्तर हानिपंचक, इस तरह दो प्रकार से) परंपरोपनिधा प्ररूपणा समझना चाहिये।[1] अब इनका अल्पबहुत्व बतलाते हैं।

पांच हानियों में वर्गणाओं का अल्पबहुत्व

१. असंख्यात भागहानि में वर्गणायें सब से कम होती हैं, २. उनसे संख्यात भागहानि में वर्गणायें अनन्त गुणी होती हैं, ३. उनसे भी संख्यात गुणहानि में वर्गणायें अनन्त गुणी होती हैं, ४. उनसे भी असंख्यात गुणहानि में वर्गणायें अनन्त गुणी होती हैं, ५. उनसे भी अनन्त गुणहानि में वर्गणायें अनन्त गुणी होती हैं।

हानियों में वर्गणाओं के अल्पाधिक्य का प्रमाण तो उक्त प्रकार है और परमाणुओं का अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिये कि—

(१) अनन्त गुणहानि में पुद्गल परमाणु सबसे कम हैं,[2] (२) उनसे असंख्यात गुणहानि में पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते हैं,[3] (३) उनसे भी संख्यात गुणहानि में पुद्गलपरमाणु अनन्तगुणे

१. स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की परंपरोपनिधाप्ररूपणा का सारांश इस प्रकार है—
पूर्व वर्गणा की अपेक्षा बीच में कुछ वर्गणाओं को छोड़कर आगे की वर्गणा में परमाणुओं संबंधी हीनाधिकपना कहना परंपरोपनिधा कहलाती है। उसको इस प्रकार समझना चाहिये—
१. असंख्यात भागहानि विभाग में असंख्यात लोकातिक्रमण होने पर द्विगुणहानि, २. संख्यात भागहानि विभाग में असंख्यात लोकातिक्रमण होने पर द्विगुणहानि तथा ३,४,५ संख्यात गुणहानि विभाग, असंख्यात गुणहानि विभाग, अनन्त गुणहानि विभाग, इन तीन विभागों में पहले से ही त्रिगुणादिहीनपना होने से द्विगुणहानि का अभाव है। यह पूर्वोक्त द्विगुणहानिरूप परंपरोपनिधा सर्व विभागों में प्राप्त न होने से दूसरे प्रकार से परंपरोपनिधा की प्ररूपणा इस प्रकार जानना चाहिये—
असंख्यात भागहानि विभाग में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा कुछ वर्गणायें असंख्यात भागहीन, संख्यात भागहीन, संख्यात गुणहीन, असंख्यात गुणहीन, अनन्त गुणहीन हैं। इसी प्रकार संख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि, असंख्यात गुणहानि और अनन्त गुणहानि विभाग में भी अपनी प्रथम वर्गणा की अपेक्षा उत्तर वर्गणायें भी हीन समझना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि यह हीनता अपने-अपने नाम के क्रम से प्रारम्भ करना चाहिये। जैसे कि संख्यात भागहीन विभाग में हीनताक्रम संख्यात भागहीन से प्रारंभ करें। सारांश यह है कि असंख्यात भागहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे १. कितनी ही वर्गणायें असंख्यात भागहीन, २. कितनी ही संख्यात भागहीन ३. कितनी ही संख्यात गुणहीन, ४. कितनी ही असंख्यात गुणहीन और ५. कितनी ही अनन्त गुणहीन, इस प्रकार पांचों हानि वाली होती हैं।
संख्यात भागहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे कितनी ही वर्गणायें पूर्व की असंख्यात भागहानि के बिना बाद की शेष चार हानियों वाली होती हैं।
संख्यात गुणहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणायें पूर्व की असंख्यात भाग और संख्यात भाग, इन दो हानियों के बिना बाद की तीन हानियों वाली, असंख्यात गुणहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणायें पूर्व की असंख्यात भाग, संख्यात भाग और संख्यात गुण, इन तीन हानियों के बिना उत्तर की शेष दो हानियों वाली।
अनन्त गुणहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणायें पूर्वोक्त चार हानियों के बिना एक हानिवाली अर्थात् अनन्त गुणहानि वाली होती हैं।

२. अनन्त गुणहानि में अनन्त गुण बड़े-बड़े भागों की हानि होने से यहां अनन्तगुण में गुण शब्द से अनन्त पुद्गल राशि प्रमाण एक भाग ऐसे अनन्त भाग समझना चाहिये। परन्तु गुण शब्द से गुणाकार जैसा भाग नहीं समझना चाहिये। अनन्त गुणरूप भाग तो सब भागों की अपेक्षा बृहत् प्रमाण वाला ही होता है तथा जहां-जहां हानि का प्रसंग आये वहां गुण शब्द से भाग प्रमाण ही जानना चाहिये, किन्तु गुणाकार रूप नहीं। लेकिन वृद्धि के प्रसंग में गुण शब्द का गुणाकार आशय समझना चाहिये।

३. अनन्त पुद्गल परमाणु राशि से असंख्यात पुद्गल परमाणुओं की राशि अल्प होने से हानि कम होती है, जिससे पुद्गल परमाणु अधिक होते हैं।

होते हैं, (४) उनसे भी संख्यात भागहानि में पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते हैं, (५) उनसे भी असंख्यात भागहानि में पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते हैं।[1] कहा भी है--

थोवा उ वग्गणाओ पढमहाणीइ उवरिमासु कमा ।
होंति अणंतगुणाओ, अणंतभागो पएसाणं ।।[2]

अर्थात् प्रथम हानि में वर्गणायें सबसे कम होती हैं, उससे ऊपर की हानियों में वर्गणायें क्रम से अनन्तगुणी होती हैं और प्रदेश अनन्तवें भाग होते हैं ।

इस प्रकार स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा का वर्णन जानना चाहिये ।

नामप्रत्ययस्पर्धक और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणायें

अब नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा करने के लिये आगे गाथा कहते हैं--

नामप्पओगपच्चयगेसु वि नेया अनंतगुणणाए ।
धणिया देसगुणा सिं जहन्नजेट्ठे सगे कट्टु ।।२३।।

शब्दार्थ--नामप्पओगपच्चयगेसु--नामप्रत्यय और प्रयोगप्रत्यय स्पर्धकों में, **वि**--भी, **नेया**--जानना चाहिये, **अनन्तगुणणाए**--अनन्तगुणे, **धणिया**--संग्रहीत, **देसगुणा**--स्नेहाविभाग, **सिं**--उनके, **जहन्नजेट्ठे**--जघन्य और उत्कृष्ट (वर्गणा) को, **सगे**--अपनी-अपनी, **कट्टु**--स्थापित करके ।

गाथार्थ--नामप्रत्ययस्पर्धकों और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकों में भी स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के समान (अविभाग, वर्गणा आदि की) प्ररूपणा जानना चाहिये। इन दोनों में केवल अनन्त गुणित वृद्धि होती है तथा इन तीनों प्रकार के स्पर्धकों की जघन्य और उत्कृष्ट अपनी-अपनी वर्गणायें पृथक्-पृथक् स्थापित करके उनमें संग्रहीत सकल पुद्गलगत स्नेहाविभाग अनुक्रम से अनन्तगुण, अनन्तगुण रूप से कहना चाहिये ।

नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा

विशेषार्थ--सर्व प्रथम नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा का विचार करते हैं।

नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा में छह अनुयोगद्वार होते हैं । (१) अविभागप्ररूपणा, (२) वर्गणा-प्ररूपणा, (३) स्पर्धकप्ररूपणा, (४) अन्तरप्ररूपणा, (५) वर्गणागत पुद्गलों के स्नेहाविभाग के संपूर्ण समुदाय की प्ररूपणा और (६) स्थानप्ररूपणा।

१. अविभागप्ररूपणा--औदारिकादिशरीरपंचकप्रायोग्यानां परमाणूनां यो रसः, स केवलिप्रज्ञाछेदनकेन छिद्यते। छित्त्वा च निर्विभागा भागाः क्रियन्ते, तेऽविभागाः--औदारिक आदि पांच शरीरों के योग्य

---

१ हानि के प्रसंग में गुण शब्द का अर्थ भाग रूप लेना चाहिये। इसका स्पष्टीकरण ऊपर किया गया है।

२ पंचसंग्रह, बंधनकरण २४

परमाणुओं का जो रस है, उसे केवली के प्रज्ञारूप छेदनक के द्वारा छेदा जाये और उत्तरोत्तर छेद करके जो निर्विभाग भाग किये जाते हैं, उन्हें अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। ये गुणपरमाणु अथवा भावपरमाणु भी कहलाते हैं। यह अविभागप्ररूपणा है।

२. **वर्गणाप्ररूपणा**—एक स्नेहाविभाग से युक्त पुद्गल परमाणु शरीरयोग्य नहीं होते हैं। अर्थात् पन्द्रह प्रकार के शरीरबंधन नामकर्म के भेदों में से किसी भी एक बंधन के योग्य नहीं होते हैं।[1] इसी प्रकार दो स्नेहाविभागों से युक्त पुद्गल परमाणु शरीरयोग्य नहीं हैं और न तीन, चार आदि संख्यात स्नेहाविभागों से युक्त पुद्गल परमाणु शरीरयोग्य हैं और न असंख्यात और अनन्त स्नेहाविभागों से युक्त ही पुद्गल परमाणु किसी भी शरीर के बंधनयोग्य होते हैं, किन्तु सर्व जीवों से अनन्तगुणप्रमाण, अनन्तानन्त स्नेहाविभागों से युक्त पुद्गल परमाणु ही शरीरप्रायोग्य होते हैं। उन सब अनन्तानन्त स्नेहाविभागों का समुदाय प्रथम वर्गणा है और वह भी जघन्य वर्गणा है।[2] इसके आगे एक-एक अविभाग की वृद्धि से निरंतर वृद्धि को प्राप्त होती हुई वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उनका प्रमाण अभव्यों से अनन्त गुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण हो जाये।

३. **स्पर्धकप्ररूपणा**—इन सब वर्गणाओं का समुदाय एक स्पर्धक कहलाता है। इससे आगे एक, दो आदि स्नेहाविभागों से अधिक परमाणु प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु सर्वजीवों से अनन्तगुण प्रमाण अनन्तानन्त रसाविभागों से अधिक परमाणु प्राप्त होते हैं, उन सबका समुदाय दूसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा है। उसमें स्नेहाविभाग प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणागत स्नेहाविभागों से दुगने होते हैं। तदनन्तर एक-एक स्नेहाविभाग की वृद्धि से निरन्तर वर्गणायें तब तक कहना चाहये, जब तक कि वे अभव्यों से अनन्त गुणी और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण हो जायें। उनका समुदाय दूसरा स्पर्धक है। इसके आगे एक, दो आदि स्नेहाविभाग से बढ़ते हुए परमाणु प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु सर्वजीवों से अनन्तानन्त स्नेहाविभागों से वृद्धिगत परमाणु प्राप्त होते हैं। उनका समुदाय तीसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा होती है। उसमें स्नेहाविभाग प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा से तिगुने होते हैं। इससे आगे एक-एक स्नेहाविभाग की वृद्धि से पूर्वोक्त प्रमाण अर्थात् अभव्यों से अनन्त गुणी और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गणायें कहना चाहिये। उन सबका समुदाय तीसरा स्पर्धक है। इस प्रकार जितनी संख्या वाले स्पर्धक का विचार किया जाये, उसकी आदि वर्गणा में प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणागत स्नेहाविभाग से उतनी-उतनी ही संख्या से गुणित प्राप्त होते हैं। ये सब स्पर्धक अभव्यों से अनन्त गुणित और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण होते हैं।

४. **अन्तरप्ररूपणा**—इन स्पर्धकों के अन्तराल, एक कम स्पर्धक की संख्या के समान होते हैं। क्योंकि चार वस्तुओं के अन्तराल तीन ही होते हैं तथा वर्गणाओं में अनन्तर क्रम से दो

१. औदारिकादि पांचों शरीरों में से किसी भी शरीर रूप परिणमित नहीं होते हैं।

२. देहरूप परिणमित होने वाले पुद्गलस्कन्धों के प्रत्येक प्रदेश में कम-से-कम भी सर्व जीवराशि से अनन्त गुणे स्नेहाविभाग अवश्य होते हैं। इन जघन्य स्नेहाविभाग युक्त जितने परमाणु हैं, उन सबका समुदाय प्रथम वर्गणा है।

वृद्धियां होती हैं—एक-एक अविभागवृद्धि और अनन्तानन्त अविभागवृद्धि। इनमें एक-एक अविभाग-वृद्धि एक स्पर्धक स्थित वर्गणाओं की यथाक्रम से होती है और अनन्तानन्त अविभागवृद्धि पाश्चात्य स्पर्धकगत चरम वर्गणा की अपेक्षा अग्रिम स्पर्धक की आदि वर्गणा में होती है एवं पारंपर्य की अपेक्षा तो प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा की अपेक्षा छहों वृद्धियां जानना चाहिये।[1]

इस प्रकार वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा और अन्तरप्ररूपणा जानना चाहिये। अब वर्गणागत पुद्गल परमाणुओं के स्नेहाविभाग के समुदाय की प्ररूपणा करते हैं।

५. वर्गणागत पुद्गल-स्नेहाविभागसमुदायप्ररूपणा—प्रथम शरीरस्थान की प्रथम वर्गणा में स्नेहाविभाग सबसे कम होते हैं। उससे द्वितीय शरीरस्थान की प्रथम वर्गणा में स्नेहाविभाग अनन्तगुणे,[2] उससे भी तीसरे शरीरस्थान की प्रथम वर्गणा में अनन्तगुणे होते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनन्तगुण श्रेणी से सभी शरीरस्थान जानना चाहिये। ये शरीरस्थान आगे कहे जाने वाले स्पर्धकों की संख्या प्रमाण हैं।

अब उनके ही बंधन योग्य शरीर परमाणुओं का अल्पबहुत्व बतलाते हैं कि औदारिक-औदारिक-शरीरबंधनयोग्य पुद्गल परमाणु सबसे अल्प होते हैं। उनसे औदारिक-तैजसबंधनयोग्य पुद्गल परमाणु अनंतगुणे हैं, उनसे भी औदारिक-कार्मणबंधनयोग्य पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते हैं, उनसे भी औदारिक-तैजसकार्मणबंधनयोग्य पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते हैं।

इसी प्रकार वैक्रिय-वैक्रियबंधनयोग्य पुद्गल परमाणु सबसे कम हैं। उनसे वैक्रिय-तैजसबंधनयोग्य पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे हैं। उनसे भी वैक्रिय-कार्मणबंधनयोग्य पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे हैं। उनसे भी वैक्रिय-तैजसकार्मणबंधनयोग्य परमाणु अनन्तगुणे होते हैं।

आहारक-आहारकबंधनयोग्य पुद्गल परमाणु सबसे कम हैं। उनसे आहारक-तैजसबंधनयोग्य पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे हैं। उनसे भी आहारक-कार्मणबंधनयोग्य परमाणु अनन्तगुणे हैं। उनसे भी आहारक-तैजसकार्मणबन्धनयोग्य पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे हैं। उनसे भी तैजस-तैजसबंधनयोग्य पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे हैं, उनसे भी तैजस-कार्मणबंधनयोग्य पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे और उनसे भी कार्मण-कार्मणबंधनयोग्य पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते हैं।[3]

उक्त कथन का दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

१	औदारिक-औदारिक	बंधनयोग्य	स्तोक
२	,,	तैजस	,,	अनन्तगुण
३	,,	कार्मण	,,	,,
४	,,	तैजसकार्मण	,,	,,

१. अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनन्त गुणवृद्धि।

२. प्रथम स्थान की प्रथम वर्गणा तथा दूसरे स्थान की प्रथम वर्गणा, इन दोनों के अन्तराल में सर्वजीवों से अनन्त गुणे अविभाग युक्त अन्तरस्थान प्राप्त होने से।

३. बंधनयोग्य शरीर पुद्गलों के उक्त अल्पबहुत्व के कथन का आशय यह है कि औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीरों से बंधने वाले अपने-अपने नाम वाले बंधनयोग्य पुद्गल परमाणु तो अल्प हैं, उनसे क्रमशः तैजस, कार्मण और तैजसकार्मण बंधनयोग्य परमाणु अनन्तगुणे, अनन्तगुणे हैं तथा तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण बंधनयोग्य परमाणु क्रमशः अनन्तगुणे, अनन्तगुणे होते हैं।

१	वैक्रिय –	वैक्रिय	बंधनयोग्य	स्तोक
२	,,	तैजस	,,	अनन्तगुण
३	,,	कार्मण	,,	,,
४	,,	तैजसकार्मण	,,	,,
१	आहारक –	आहारक	,,	स्तोक
२	,,	तैजस	,,	अनन्तगुण
३	,,	कार्मण	,,	,,
४	,,	तैजसकार्मण	,,	,,
१	तैजस –	तैजस	,,	,,
२	,, –	कार्मण	,,	,,
३	कार्मण –	कार्मण	,,	,,

६. **स्थानप्ररूपणा**—अब स्थानप्ररूपणा करने का अवसर प्राप्त है। उसमें प्रथम स्पर्धक को प्रारम्भ करके अभव्यों से अनन्त गुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण अनन्त स्पर्धकों के द्वारा एक अर्थात् पहला शरीरप्रायोग्यस्थान होता है। उससे उतने ही अनन्तभाग अधिक स्पर्धकों से दूसरा शरीरप्रायोग्यस्थान होता है। पुनः उतने ही अनन्तभाग अधिक स्पर्धकों से युक्त तीसरा शरीरस्थान होता है। इस प्रकार लगातार निरन्तर पूर्व-पूर्व शरीरस्थान से उत्तरोत्तर अनन्तभाग वृद्धियुक्त शरीर-स्थान अंगुल मात्र क्षेत्र के असंख्यातवें भागगत प्रदेशराशि प्रमाण कहना चाहिये। इन सब शरीरस्थानों का समुदाय एक कंडक कहा जाता है।

इस कंडक से आगे जो अन्य शरीरस्थान प्राप्त होता है, वह प्रथम कंडकगत अंतिम शरीरस्थान की अपेक्षा असंख्यातभाग वृद्धि वाला होता है। उस कंडक से ऊपर जो अन्य-अन्य शरीरस्थान प्राप्त होते हैं, वे अंगुल मात्र क्षेत्र के असंख्यातवें भागगत प्रदेशों की राशि प्रमाण प्राप्त होते हैं। वे सब यथोत्तर अनन्त भागवृद्धि वाले जानना चाहिये। इन सब शरीरस्थानों का समुदाय दूसरा कंडक कहलाता है। इस दूसरे कंडक से परे जो अन्य शरीरस्थान प्राप्त होता है, वह द्वितीय कंडकगत अंतिम शरीरस्थान की अपेक्षा असंख्यात भाग अधिक वृद्धि वाला होता है। इससे आगे फिर जो अन्य शरीरस्थान अंगुल मात्र क्षेत्र के असंख्यातवें भागगत प्रदेशराशि प्रमाण प्राप्त होते हैं, उन सबको यथाक्रम से अनन्त भागवृद्धि वाले जानना चाहिये। इन सब शरीरस्थानों का समुदाय तीसरा कंडक कहलाता है। इस प्रकार असंख्यात भाग से अन्तरित् अर्थात् एक-एक शरीरस्थान के मध्य में असंख्यात भागवृद्धि से अन्तराल को प्राप्त अनन्त भागवृद्धि वाले कंडक तब तक कहना चाहिये, जब तक कि असंख्यात भाग से अधिक अन्तर-अन्तर वाले शरीरस्थानों का एक कंडक परिसमाप्त होता है। उससे–चरम असंख्य भाग अधिक स्थान से—परे यथोत्तर अनन्त भागवृद्धि वाले कंडक मात्र शरीरस्थान कहना चाहिये। उससे आगे एक संख्यात भागवृद्धि वाला शरीरस्थान प्राप्त होता है। तदनन्तर मूल से आरंभ करके जितने शरीरस्थान पहले अतिक्रान्त किये जा चुके हैं, उतने ही स्थान उसी प्रकार कह करके फिर एक संख्यात भागवृद्धि वाला स्थान कहना चाहिये। ये संख्येय भागाधिक स्थान तब तक

कहना चाहिये, जब तक कंडक पूर्ण होता है। उसके बाद उक्त क्रम से पुनः संख्येय भागाधिक स्थान के बदले संख्येय गुणाधिक स्थान कहना चाहिये। तदनन्तर पुनः मूल से प्रारंभ करके उतने ही शरीरस्थान कहना चाहिये। उससे पुनः एक संख्येय गुणाधिक स्थान कहें। ये संख्येय गुणाधिक स्थान भी तब तक कहना चाहिये, जब वे कंडक प्रमाण हो जाते हैं। उसके बाद पूर्व परिपाटी के अनुसार संख्येय गुणाधिक स्थान के बदले असंख्येय गुणाधिक स्थान कहें। उससे पुनः मूल से आरंभ करके पूर्व में अतिक्रान्त किये गये स्थान कहना चाहिये। उससे पुनः एक असंख्येय गुणाधिक स्थान कहना चाहिये। इस प्रकार ये असंख्येय गुणाधिक स्थान कंडक मात्र कहना चाहिये। उसके बाद पूर्व परिपाटी के अनुसार असंख्येय गुणाधिक स्थान के बदले अनन्त गुणाधिक एक स्थान कहना चाहिये। उसके बाद पूर्व में अतिक्रान्त आदि रूप कथनादि के क्रम से अनन्तगुणाधिक स्थान भी कंडक प्रमाण कहना चाहिये। उनसे ऊपर पंचवृद्धचात्मक स्थान पुनः कहना चाहिये, जब तक कि अनन्तगुणवृद्ध स्थान प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि इसमें षड् स्थानों की समाप्ति होती है। इस प्रकार असंख्यात षट्स्थान शरीर-स्थानों में होते हैं और ये सभी शरीरस्थान असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण होते हैं।

इस प्रकार नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा जानना चाहिये। अब प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा करते हैं।

प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा

प्रयोग अर्थात् प्रकृष्ट योग को प्रयोग कहते हैं। उसके स्थान की वृद्धि द्वारा जो रस केवल योगप्रत्यय से बंधने वाले कर्म परमाणुओं में स्पर्धक रूप से बढ़ता है, उसे प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक कहते हैं—**प्रयोगो योगः प्रकृष्टो योगः इति व्युत्पत्तेः तत्स्थानवृद्धया यो रसः कर्मपरमाणुषु केवल-योगप्रत्ययतो बध्यमानेषु परिवर्धते स्पर्धकरूपतया तत्प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकं**। इसी प्रकार पंचसंग्रह (बंधनकरण गाथा ३६) में भी कहा गया है—

होई पओगो जोगो तट्ठाणविवद्धणाए जो उ रसो।
परिवड्ढेई जीवे पयोगफड्डं तयं बेंति ॥

प्रकृष्ट योग की स्थानवृद्धि से जीव में जो रस बढ़ता है, उसे प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक कहते हैं।

यह प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा के समान जानना चाहिये। जैसा कि कहा है—

अविभागवग्गफड्डग अंतरठाणाइं एत्थ जह पुव्वि।
ठाणाइं वग्गणाओ अणंतगुणणाई गच्छंति ॥[1]

इसका यह अर्थ हुआ कि अविभागप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणादि प्ररूपणायें जैसी पूर्व में नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा में की गई हैं, उसी प्रकार प्रयोग-प्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा में भी करना चाहिये। स्थानों में आदि वर्गणा अनन्त गुणित प्राप्त होती है। वह इस प्रकार कि प्रथम स्थान की प्रथम वर्गणा में संपूर्ण पुद्गलपरमाणुगत स्नेहाविभाग सबसे कम होते हैं। उनसे द्वितीय स्थान की प्रथम वर्गणा में अनन्तगुणे होते हैं। उनसे भी तृतीय स्थान संबंधी प्रथम

१. पंचसंग्रह, बंधनकरण ३७

वर्गणा में अनन्तगुणे होते हैं। इस प्रकार अंतिम स्थान प्राप्त होने तक कहना चाहिये। गाथागत "ठाणाइं" इस पद में आगत आदि शब्द से कंडकादि का ग्रहण करना चाहिये।

अब अल्पबहुत्व बतलाते हैं कि स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की जघन्य वर्गणा में सर्व पुद्गलपरमाणुगत स्नेहाविभाग सबसे कम होते हैं। उससे उसी स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की उत्कृष्ट वर्गणा में वे अनन्तगुणे होते हैं। उससे भी नामप्रत्ययस्पर्धक की जघन्य वर्गणा में स्नेहाविभाग अनन्तगुणे होते हैं। उससे भी उसी की उत्कृष्ट वर्गणा में स्नेहाविभाग अनन्तगुणे होते हैं। उससे भी प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक की जघन्य वर्गणा में स्नेहाविभाग अनन्तगुणे होते हैं। उससे भी उसी की उत्कृष्ट वर्गणा में स्नेहाविभाग अनन्तगुणे होते हैं।[1] कहा भी है—

तिण्हं पि फड्डगाणं जहण्ण उक्कोसगा कमा ठविउं।
णेयाणंतगुणाओ उ वग्गणा णेहफड्डाओ॥

अर्थात् तीनों ही प्रकार के स्पर्धकों की जघन्य और उत्कृष्ट वर्गणायें क्रम से स्थापित कर उन वर्गणाओं के स्नेहस्पर्धक अनन्त गुणितक्रम से जानना चाहिये।

अब मूल गाथा के अर्थ का विवेचन करते हैं—नामप्रत्ययस्पर्धकों में और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकों में अविभागप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा आदि पूर्व के समान जानना चाहिये। वह इस प्रकार कि स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की तरह यहाँ भी अर्थात् नामप्रत्ययस्पर्धक और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक इन दोनों प्ररूपणाओं में भी अविभागवर्गणा एक-एक स्नेहाविभाग से अधिक परमाणु वाली वर्गणायें अनन्त होती हैं तथा अल्प स्नेह से बंधे हुए पुद्गल परमाणु अधिक होते हैं और अधिक स्नेह से बंधे हुए पुद्गल परमाणु अल्प-अल्पतर होते हैं तथा वहाँ असंख्यात लोकाकाश प्रदेशों का उल्लंघन करने पर द्विगुणहीन अर्थात् आधे होते हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह क्रम यहाँ पर संभव नहीं होने से उस अर्थ का यहाँ संबंध नहीं करना चाहिये। स्नेहप्रत्ययस्पर्धक में भी उसकी यथासंभव अल्पकाल तक ही योजना करना चाहिये, किन्तु सर्वत्र नहीं[2] तथा "सिं ति" इस स्नेहप्रत्यय, नामप्रत्यय और प्रयोगप्रत्यय के स्पर्धकों की अपनी-अपनी जघन्य और उत्कृष्ट वर्गणाओं को बुद्धि से पृथक् स्थापित करके क्रम से उन वर्गणाओं में "घणिया देसगुणात्ति" अर्थात् निचित-संग्रह रूप से एकत्रित किये गये देशगुण निर्विभागरूप जो सकल पुद्गलगत स्नेहाविभाग हैं, वे अनन्त गुणितक्रम से जानना चाहिये।[3]

इस प्रकार पुद्गल परमाणुओं के परस्पर संबंध की कारणभूत स्नेहप्ररूपणा जानना चाहिये।

---

१. नामप्रत्ययस्पर्धक और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणाओं का आशय सरलता से समझने के लिये परिशिष्ट देखिये।

२. उक्त कथन का आशय यह है कि स्नेहप्रत्ययस्पर्धक में जो द्विगुणहानि बताई, वह असंख्यात भागहानिरूप प्रथम विभाग तक जानना चाहिये, उससे आगे संख्यात भागहानि आदि चार हानि रूप चार विभागों में द्विगुणहानि नहीं कही है।

३. उक्त कथन का आशय यह है कि स्नेहप्रत्ययस्पर्धक आदि तीनों प्ररूपणाओं के स्नेहस्पर्धकोंगत प्रथम और अंतिम वर्गणागत स्नेहाविभागों का अल्पबहुत्व निम्न प्रकार है—स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की प्रथम वर्गणा में अल्प, उससे उसकी अंतिम वर्गणा में अनन्तगुणे, उससे नामप्रत्ययस्पर्धक की प्रथम वर्गणा में अनन्तगुणे, उससे उसकी अन्तिम वर्गणा में अनन्तगुणे, उससे प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक की प्रथम वर्गणा में अनन्तगुणे, उससे उसकी अन्तिम वर्गणा में अनन्तगुणे स्नेहाविभाग जानना चाहिये।

१: प्रकृतिबंध

जीव और कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध स्नेहप्रत्ययिक है। यह स्पष्ट हो जाने पर जिज्ञासु ने अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की है कि वे संबद्ध कर्मपुद्गल एक जैसे ही रहते हैं या उनमें कुछ विशेषताएं आ जाती हैं और यदि विशेषतायें उत्पन्न होती हैं, तो वे कौन-सी हैं? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रकृतिभेद से उन कर्मपुद्गलों के मूल और उत्तर विभाग होते हैं—

मूलुत्तरपगईणं अणुभागविसेसओ हवइ भेओ।
अविसेसियरसपगइओ, पगईबंधो मुणेयव्वो ॥२४॥

शब्दार्थ—**मूलुत्तरपगईणं**–कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियां, **अणुभागविसेसओ**–अनुभाग, स्वभाव विशेष से, **हवई**–होती हैं, **भेओ**–भेद, **अविसेसिय**-सामान्य, **रस**–रस, **पगइओ**–प्रकृत्यादिरूप, **पगईबंधो**–प्रकृतिबंध, **मुणेयव्वो**–जानना चाहिये।

गाथार्थ—मूल और उत्तर प्रकृतियों का भेद अनुभाग (स्वभाव) विशेष से होता है। यहाँ पर रस अर्थात् अनुभाग, प्रकृत्यादि रूप की विवक्षा न करके प्रकृतिबंध जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ पर प्रकृति शब्द भेद पर्याय का भी वाचक है, अर्थात् यहाँ पर प्रकृति शब्द का भेद ऐसा भी अर्थ होता है। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—अहवा पयडी भेओ। इसलिए मूल और उत्तर प्रकृतियों के अर्थात् कर्म सम्बन्धी मूल और उत्तर भेद अनुभागविशेष से यानी ज्ञान को आवरण करने आदि लक्षण वाले स्वभाव की विचित्रता से होते हैं, अन्य प्रकार से नहीं। यहाँ पर अनुभाग शब्द स्वभाव का पर्यायवाचक जानना चाहिये। चूर्णि में इसी प्रकार कहा है—अनुभागो त्ति सहावो।[1] इस बंधनकरण में प्रकृतिबंध आदि प्रत्येक आगे विस्तारपूर्वक कहे जायेगें।

शंका—प्रत्येक कर्म में जब प्रकृतिबंध आदि संकीर्ण अर्थात् एक साथ मिले हुए होते हैं तो फिर प्रत्येक का भिन्न वर्णन कैसे हो सकता है? यदि ऐसा किया जायेगा तो कोई मनुष्य व्यामोह को प्राप्त हो सकता है।

समाधान—इस प्रकार की आशंका व्यक्त करने वाले के व्यामोह को दूर करने के लिए ही तो गाथा में 'प्रकृतिबंध' यह पद दिया है और 'तु' शब्द द्वारा उपलक्षण से अन्य स्थितिबंध आदि विचित्रता अर्थात् विभिन्नता को स्पष्ट करते हुए 'अविसेसियरसपगइओ' यह पद कहा है।

रस, स्नेह और अनुभाग ये तीनों एकार्थवाचक हैं। उस रस की प्रकृति अर्थात् स्वभाव जिसमें अविशेषित अर्थात् अविवक्षित हो यानी जिसमें रस की विवक्षा न हो तथा उपलक्षण से स्थिति

१. स्वभावभेद से वस्तु का भेद होता है, जैसे तृण, दूध आदि। उसी प्रकार यहां पर भी समझना चाहिये कि कर्म रूप से पुद्गलदलिकों की समानता होने पर भी स्वभावभेद से अन्तर, भेद हो जाता है।

और प्रदेश की भी विवक्षा न हो, उस अविशेषित रसप्रकृतिरूप प्रकृतिबंध जानना चाहिये[1] तथा गाथा में पठित 'तु' शब्द अधिकार्थसूचक है। अतः अविवक्षित है रस, प्रकृति और प्रदेश जिसमें ऐसा स्थितिबंध, अविवक्षित है प्रकृति, स्थिति, प्रदेश जिसमें ऐसा रसबंध और अविवक्षित है प्रकृति, स्थिति और रस जिसमें ऐसा प्रदेशबंध, यह अर्थ जानना चाहिये।[2]

प्रकृतिबंध में जितनी प्रकृतियों का बंध होता है और जो इनके बंध के स्वामी हैं, यह समस्त वर्णन 'शतक' नामक ग्रंथ से जानना चाहिये। प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध योग से होते हैं। जैसा कि कहा है—जोगा पयडिपएसं। इनमें से प्रकृतिबंध का वर्णन किया जा चुका है।

२. प्रदेशबंध

अब प्रदेशबंध के वर्णन करने का अवसर प्राप्त है, अतः उसका कथन करते हैं कि आठ प्रकार के कर्मबंध करने वाले जीव के द्वारा विचित्रतागर्भित एक ही अध्यवसाय के द्वारा जो कर्मदलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनके आठ भाग होते हैं। सात प्रकार के कर्मों का बंध करने वाले जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते दलिकों के सात भाग, छह प्रकार के कर्मबंध करने वाले जीव के द्वारा ग्रहीत दलिकों के छह भाग होते हैं तथा एक प्रकार के कर्मबंधक जीव के द्वारा ग्रहीत दलिकों का एक ही भाग होता है।[3]

इस प्रकार जीव द्वारा ग्रहीत कर्मदलिकों के मूल विभाग जानना चाहिये।

अब उत्तर प्रकृतियों के भाग और विभाग को बतलाने के लिये कहते हैं—

जं सव्वघाइपत्तं, सगकम्मपएसणंतमो भागो ।
आवरणाण चउद्धा, तिहा य अह पंचहा विग्घे ॥२५॥

शब्दार्थ—जं–जो, **सव्वघाइपत्तं**–सर्वघाति को प्राप्त हुआ है वह, **सग**–स्व-अपने, **कम्मपएस**–कर्मप्रदेश का, **अणंतमो**–अनन्तवां, **भागो**–भाग, **आवरणाण**–आवरणों में (ज्ञानावरण, दर्शनावरण में) **चउद्धा**–चार भेद, **तिहा य**–और तीन भेद, **अह**–और, **पंचहा**–पांच भेद, **विग्घे**–अन्तराय में।

---

१. ठिइबंधु दलस्स ठिई पएसबंधो पएसगहणं जं।
ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगईबंधो ।
बद्ध दलिकों की स्थिति को स्थितिबंध, प्रदेशों के ग्रहण को प्रदेशबंध और विपाकवेदन कराने वाले रस–शक्ति को अनुभागबंध और इन सबके समुदाय को प्रकृतिबंध कहते हैं।

२. उक्त कथन का आशय यह है कि यद्यपि प्रत्येक कर्म-प्रकृति, प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश सहित है, परन्तु जब विवक्षित प्रकृति के प्रकृतिबंध का वर्णन किया जाता है, तब शेष स्थिति, रस और प्रदेश इन तीन अंशों की अविवक्षा (अभी तत्स्वरूप कथन न करने की इच्छा) जानना चाहिये। इसी प्रकार स्थितिबंध के वर्णन के प्रसंग में प्रकृतिबंध आदि शेष तीन की, रसबंध के वर्णन में शेष प्रकृत्यादि तीन अंशों की और प्रदेशबंध के वर्णन में शेष प्रकृति, स्थिति, अनुभाग अंशों की अविवक्षा समझना चाहिये। सारांश यह कि वर्ण्य को मुख्य मानकर शेष अंशों को गौण मानना चाहिये।
इन प्रकृतिबंध आदि चारों अंशों के स्वरूप को समझाने के लिए आचार्य मलयगिरि कृत टीका में दिये गये दृष्टान्त का सारांश परिशिष्ट में देखिये।

३. जिस प्रकार भोजन पेट में जाने के बाद कालक्रम से रस, रुधिर आदि रूप हो जाता है, उसी तरह विचित्रता-गर्भित एक ही अध्यवसाय के द्वारा जीव प्रतिसमय जिन कर्मदलिकों को ग्रहण करता है, उसी समय वे उतने हिस्सों में बंट जाते हैं, जितने कर्मों का बंध उस समय उस जीव के होता है।

गाथार्थ—सर्वघाति प्रकृतियों को प्राप्त होने वाले कर्मदलिक स्वकर्मप्रदेश के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं और शेष देशघाति कर्मदलिक ज्ञानावरण में चार भागों, दर्शनावरण में तीन भागों और अन्तराय में पांच भागों में विभाजित होते हैं।

विशेषार्थ—जो कर्मदलिक सर्वघाति प्रकृतियों को प्राप्त होता है, अर्थात् केवलज्ञानावरण आदि स्वरूप वाली कर्मप्रकृतियों को प्राप्त हुआ है, वह अपने मूल कर्म को प्राप्त कर्मदलिकों का अनन्तवां भाग है। अर्थात् ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृति को जो मूल भाग प्राप्त होता है, उसका अनन्तवां भाग सर्वघाति प्रकृति को प्राप्त होता है।

प्रश्न—इसमें क्या युक्ति है कि सर्वघाति प्रकृतियों को अनन्तवां भाग ही प्राप्त होता है?

उत्तर—आठों ही मूल प्रकृतियों को प्राप्त भागों में से जो अति स्निग्ध परमाणु होते हैं, वे सबसे कम होते हैं और वे अपनी-अपनी मूल प्रकृति को प्राप्त परमाणुओं के अनन्तवें भाग मात्र होते हैं और वे ही परमाणु सर्वघाति प्रकृतिरूप से परिणमित होने योग्य होते हैं। इसीलिये यह कथन किया गया है कि सर्वघाति प्रकृति को प्राप्त दलिक अपनी मूल प्रकृति के प्रदेशों के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं।

इस अनन्तवें भाग को मूल प्रकृति के सर्व द्रव्य में से कम करने पर शेष रहे कर्मदलिक सर्वघाति प्रकृति से व्यतिरिक्त और उस समय बंधने वाली मूल प्रकृति के अवान्तर भेदरूप उत्तर प्रकृतियों में विभाजित हो जाते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

आवरण अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों में से प्रत्येक का सर्वघाति प्रकृति निमित्तक अनन्तवां भाग निकाल देने पर शेष रहे कर्मदलिकों के यथाक्रम से चार भाग और तीन भाग किये जाते हैं और उन्हें (कर्मदलिकों को) शेष देशघाति प्रकृतियों को दिया जाता है तथा विघ्न-अन्तराय कर्म को जो मूल भाग प्राप्त होता है, वह सबका सब पांच भागों में विभाजित करके दानान्तराय आदि पांचों प्रकृतियों को दिया जाता है।

उक्त कथन का यह आशय है कि ज्ञानावरण कर्म को स्थिति के अनुसार जो मूल भाग प्राप्त होता है, उसका अनन्तवां भाग केवलज्ञानावरण को दिया जाता है और शेष द्रव्य के चार भाग किये जाकर उनमें से एक-एक भाग मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण को दिया जाता है।

दर्शनावरण कर्म को भी जो मूल भाग प्राप्त होता है, उसके अनन्तवें भाग के छह भेद करके एक-एक भाग पांच निद्राओं और केवलदर्शनावरण इन छहों सर्वघाति प्रकृतियों को दिया जाता है और शेष रहे द्रव्य के तीन भाग किये जाते हैं और वे चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण को दिये जाते हैं। अंतराय कर्म को जो मूलभाग प्राप्त होता है, उस सबके ही पांच भाग करके दानान्तराय आदि पांचों अन्तराय कर्म के भेदों को दे दिया जाता है। अन्तराय कर्म में सर्वघातिरूप अवान्तर भेद का अभाव है। अर्थात् अन्तराय देशघाति कर्म है। जिससे उसकी कोई भी उत्तरप्रकृति सर्वघाति नहीं है, किन्तु सभी प्रकृतियां देशघाति हैं।

मोहे दुहा चउद्धा य, पंचहा वा वि बज्झमाणीणं ।
वेयणियाउयगोएसु, बज्झमाणीण भागो सिं ।।२६।।

शब्दार्थ—**मोहे**–मोहनीय कर्म में, **दुहा**–दो विभाग में, **चउद्धा**–चार विभाग में, **य**–और, **पंचहा**–पांच विभाग में, **वा**–और, **वि**–भी, **बज्झमाणीणं**–बंधती हुई (बध्यमान), **वेयणियाउयगोएसु**–वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म में, **बज्झमाणीण**–बध्यमान, **भागो**–भाग **सिं**–इनकी ।

गाथार्थ—मोहनीय कर्म में बध्यमान प्रकृतियों को दो, चार और पांच भागों में मिलता है तथा वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म में उनका भाग बध्यमान प्रकृतियों को प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ—मोहनीय कर्म को स्थिति के अनुसार जो मूल भाग प्राप्त होता है, उसका अनन्तवां भाग जो सर्वघाति प्रकृतियों के योग्य है, उसके दो भाग किये जाते हैं। उसमें से एक अर्धभाग दर्शनमोहनीय को और दूसरा अर्धभाग चारित्रमोहनीय को दिया जाता है। दर्शनमोहनीय का जो यह भाग है, वह संपूर्ण मिथ्यात्व मोहनीय को मिलता है तथा चारित्रमोहनीय को प्राप्त भाग के बारह विभाग किये जाते हैं और वे बारह भाग बारह कषायों को दिये जाते हैं ।

अब शेष रहे दलिकों की अर्थात् सर्वघाति के अनन्तवें भाग से अवशिष्ट रहे भाग की विभाग-विधि बतलाते हैं— '''मोहे दुहा इत्यादि' कि शेष मूल भाग के दो विभाग किये जाते हैं। उनमें से एक भाग कषायमोहनीय का है और दूसरा भाग नोकषायमोहनीय का। इनमें से कषायमोहनीय को प्राप्त भाग के पुनः चार भाग किये जाते हैं और वे चारों ही भाग संज्वलन क्रोधादि चतुष्क को दिये जाते हैं । नोकषायमोहनीय को जो भाग प्राप्त होता है, उसके पांच भाग किये जाते हैं और वे पांचों ही भाग यथाक्रम से तीन वेदों में से बंधने वाले किसी एक वेद को तथा हास्य-रति युगल और अरति-शोक युगल इन दोनों में से बंधने वाले किसी एक युगल के लिये तथा भय एवं जुगुप्सा के लिये दिये जाते हैं, अन्य के लिये भाग नहीं दिया जाता है। क्योंकि उस समय उनका बंध नहीं हो रहा है। इसका कारण यह है कि नव नोकषायें एक साथ बंध को प्राप्त नहीं होती हैं, किन्तु यथोक्त क्रम से पांच ही नोकषायें एक साथ बंध को प्राप्त होती हैं।[1]

वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म को जो मूलभाग प्राप्त होता है, वह उन्हींकी बध्यमान एक-एक प्रकृति को प्राप्त होता है, क्योंकि इन कर्मों की दो प्रकृतियों का एक साथ बंध नहीं होता है।[2]

पिंडपगईसु बज्झंतिगाण, वण्ण-रस-गंध-फासाणं ।
सव्वासिं संघाए, तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ।।२७।।

---

१. उक्त कथन का यह आशय है कि नव नोकषायों को प्राप्त द्रव्य के जो पांच भाग किये गये हैं, वह सामान्य और स्थूल दृष्टि से समझना चाहिये । उसका मतलब यह नहीं कि शेष नोकषायों को भाग नहीं मिलता है।

२. इसका यह अर्थ है कि बंधते समय जिस प्रकृति की मुख्यता है, उस समय उसको अधिक भाग मिलेगा और अबध्यमान प्रकृतियों को स्वल्प मात्रा में मिलेगा, परन्तु भाग सभी प्रकृतियों को मिलेगा अवश्य। इसी प्रकार जहां-जहां भी सामान्य रूप से बध्यमानता की अपेक्षा जिन प्रकृतियों का उल्लेख आये, वहां यहां समझना चाहिये कि बध्यमान प्रकृति की अपेक्षा अबध्यमान प्रकृति को भाग अल्प मिलता है ।

शब्दार्थ—**पिंडपगईसु**–पिंड प्रकृतियों में, **बज्झंतिगाण**–बध्यमान में, **वण्णरसगंधफासाणं**–वर्ण, रस, गंध और स्पर्श में, **सव्वासि**–सर्वभेदों में, **संघाए**–संघात में, **तणुम्मि**–शरीर में, **य**–और, **तिगे**–तीन भाग में, **चउक्के**–चार भाग में, **वा**–अथवा।

गाथार्थ—नामकर्म को प्राप्त मूल भाग बध्यमान पिंड प्रकृतियों में, वर्ण, रस, गंध और स्पर्श में, सभी संघातनों में तथा तीन या चार शरीरों में विभाजित होता है।

विशेषार्थ—पिंडप्रकृतियां यानी नामकर्म की प्रकृतियां। जैसा कि चूर्णिकार ने कहा है–**पिंडपगईओ नामपगइओ**। उनके मध्य में बंधने वाली किसी एक गति, जाति, शरीर, बंधन, संघातन, संहनन, संस्थान, अंगोपांग और आनुपूर्वी का तथा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, निर्माण और तीर्थंकर का तथा आतप, उद्योत, प्रशस्त–अप्रशस्त विहायोगति, त्रस–स्थावर, बादर–सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुःस्वर, सुभग–दुर्भग, आदेय–अनादेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति, इन युगलों में से किसी एक-एक में प्राप्त मूलभाग का विभाग करके देना चाहिये। लेकिन यहाँ जो विशेष है, उसे स्पष्ट करते हैं कि "वण्णेत्यादि" वर्ण, गंध, रस, स्पर्शों में से प्रत्येक को जो भाग प्राप्त होता है, वह सब उनके अवान्तर भेदों को विभाग कर-करके दिया जाता है। जैसे कि वर्ण नामकर्म को जो भाग प्राप्त होता है, उसके पांच भाग करके शुक्ल आदि पांचों अवान्तर भेदों को विभाग करके दिया जाता है। इसी प्रकार गंध, रस और स्पर्शों के भी जिसके जितने अवान्तर भेद हैं, उसके उतने विभाग करके अवान्तर भेदों को देना चाहिये तथा संघातन और शरीर नामकर्म में प्रत्येक को जो दलिकभाग प्राप्त होता है, उसके तीन या चार विभाग करके तीन या चार संघातनों और शरीरों को दिया जाता है। अर्थात् औदारिक, तैजस, कार्मण अथवा वैक्रिय, तैजस, कार्मण इन तीन शरीरों और संघातनों को एक साथ बांधते हुए तीन भाग किये जाते हैं और वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण रूप चार शरीर और चार संघातनों को बांधते हुए चार भाग किये जाते हैं।

सत्तेक्कारविगप्पा, बंधणनामाण मूलपगईणं।
उत्तरसगपगईण य, अप्पबहुत्ता विसेसो सिं ॥२८॥

शब्दार्थ—**सत्तेक्कारविगप्पा**–सात अथवा ग्यारह विकल्प, **बंधणनामाण**–बंधन नामकर्म की, **मूलपगईणं**–मूल प्रकृति के दलिकों के, **उत्तरसगपगईणं**–स्व-उत्तर प्रकृतियों का, **य**–और, **अप्पबहुत्ता**–अल्पबहुत्व की, **विसेसो**–विशेषता, **सिं**–इनमें (मूलप्रकृतियों में)।

गाथार्थ—बंधननामकर्म की मूल प्रकृति को प्राप्त दलिकों के सात अथवा ग्यारह विकल्प किये जाते हैं। अब इन मूल प्रकृतियों में अपनी-अपनी उत्तरप्रकृतियों का अल्पबहुत्व संबंधी जो विशेष भेद है, उसको कहते हैं।

विशेषार्थ—बंधननामकर्म को जो दलिकभाग प्राप्त होता है, उसके सात विकल्प अर्थात् सात भेद अथवा ग्यारह विकल्प किये जाते हैं। उनमें से १. औदारिक-औदारिक २. औदारिक-तैजस, ३. औदारिक-कार्मण, ४. औदारिक-तैजसकार्मण, ५. तैजस-तैजस, ६. तैजस-कार्मण ७. कार्मण-

कार्मण रूप अथवा वैक्रियचतुष्क एवं तैजसत्रिक रूप सात बंधनों को बांधते हुए सात भाग किये जाते हैं और वैक्रियचतुष्क, आहारकचतुष्क और तैजसत्रिक[1] लक्षण वाले ग्यारह बंधनों को बांधने पर ग्यारह भाग किये जाते हैं।

पूर्वोक्त प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष प्रकृतियों को जो-जो दलिकभाग प्राप्त होता है, वह पुनः विभाजित नहीं किया जाता है। क्योंकि उनके जो अवान्तर भेद हैं, उनमें से दो, तीन आदि भेदों का एक साथ बंध नहीं होता है, एक का ही बंध होता है। इसलिए उनको वह पूरा का पूरा दलिकभाग प्राप्त होता है।

प्राप्त दलिकों के अल्पबहुत्व का कथन

यहाँ एक अध्यवसाय की मुख्यता से गृहीत कर्मदलिक के स्कन्धों का विभाग करके उसे मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों में देना बताया गया है। परन्तु यह नहीं बताया गया है कि किस प्रकृति को उत्कृष्ट या जघन्य पद में कितना भाग दिया गया है? इसलिये इस विशेषता को बताने के लिये गाथा में 'मूलपगईणं' इत्यादि पद कहा है। उसका यह अर्थ है कि इन मूलप्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियों का परस्पर भागसम्बन्धी जो विशेष भेद है, उसे शास्त्रान्तरों में कहे गये अल्पबहुत्व से जानना चाहिये। उनमें से पहले मूलप्रकृतियों का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

मूल कर्मों को उनकी स्थिति के अनुसार भाग प्राप्त होता है। अर्थात् जिस कर्म की स्थिति बड़ी होती है, उसे बड़ा भाग मिलता है और जिसकी स्थिति थोड़ी होती है, उसे थोड़ा (अल्प) भाग मिलता है।[2] इस दृष्टि से आयुकर्म को सबसे कम भाग प्राप्त होता है, क्योंकि उसकी सब कर्मों से थोड़ी स्थिति है। आयुकर्म की स्थिति उत्कर्ष से तेतीस सागरोपम प्रमाण है। आयुकर्म की अपेक्षा नाम और गोत्र कर्म को अधिक बड़ा भाग प्राप्त होता है। क्योंकि इन दोनों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है। किन्तु इन दोनों कर्मों का भाग स्वस्थान में परस्पर तुल्य होता है। क्योंकि ये दोनों कर्म समानस्थिति वाले हैं। इन दोनों कर्मों से भी अधिक बड़ा भाग ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को प्राप्त होता है। क्योंकि

१. वैक्रिय-वैक्रिय, वैक्रिय-तैजस, वैक्रिय-कार्मण और वैक्रिय-तैजसकार्मण को वैक्रिय-चतुष्क तथा तैजस-तैजस, तैजसकार्मण और कार्मण-कार्मण को तैजस-त्रिक कहते हैं। आहारक-चतुष्क भी वैक्रिय-चतुष्कवत् समझना चाहिये।

२. स्थिति के अनुसार अल्पाधिक भाग मिलने के प्रसंग में यह विचारणीय है कि यह कथन स्थूल दृष्टि से उपयुक्त हो सकता है, परन्तु वस्तुस्थिति की अपेक्षा अध्यवसायों से भागों का मिलना अधिक संबंधित है। क्योंकि कार्यमात्र के प्रति अध्यवसायों की मुख्यता है। किसी स्थल पर अध्यवसायों को गौण कर काल-मर्यादा को मुख्यता दी गई हो तो यह मुख्यता ज्ञान कराने की दृष्टि से समझना चाहिये। क्योंकि अध्यवसायों की धारा अनुस्यूत रूप से निरन्तर चलती रहती है। इस दृष्टि से कर्मदलिकों में भागों का विभाजन भी निर्भर करता है। इससे अध्यवसायों की मुख्यता ज्यादा उपयुक्त प्रतीत होती है। इसीलिये पूर्व में (गाथा २४ की टीका में) एक अध्यवसाय की विचित्रता का संकेत किया गया है। तदनुसार सर्वत्र अध्यवसाय की दृष्टि मुख्य रूप से गृहीत होती है। जिसका फलितार्थ यह निकलता है कि अध्यवसायों के अनुपात से कर्म-दलिकों का मिलना संभावित है, बिना अध्यवसाय के सिर्फ स्थिति के अनुसार ही प्रकृतियों को उनका भाग प्राप्त हो, यह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। इस विषय में विद्वज्जनों के विचार आमंत्रित हैं।

इनकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है। किन्तु ये तीनों समान स्थिति वाले होने से स्वस्थान में इन तीनों कर्मों को भाग समान ही प्राप्त होता है। इनसे भी मोहनीय का भाग अधिक बड़ा होता है। क्योंकि उसकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है। वेदनीय कर्म यद्यपि ज्ञानावरण आदि कर्मों के साथ समान स्थिति वाला है, तथापि उसका भाग सर्वोत्कृष्ट ही जानना चाहिये, अन्यथा वह अपने सुख-दुःख रूप फल को स्पष्टता के साथ अनुभव नहीं करा सकता है।[1]

उत्कृष्टपद में उत्तरप्रकृतियों के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व

अब (इन मूल प्रकृतियों की) अपनी-अपनी उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्टपद और जघन्यपद में अल्पबहुत्व बतलाते हैं। उत्कृष्टपद में इस प्रकार जानना चाहिये—

१. **ज्ञानावरणकर्म**—केवलज्ञानावरण का प्रदेशाग्र (प्रदेशों का समूह) सबसे कम है। उससे[2] मनःपर्ययज्ञानावरण का प्रदेशाग्र अनन्तगुणा, उससे अवधिज्ञानावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे श्रुतज्ञानावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है और उससे मतिज्ञानावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

२. **दर्शनावरणकर्म**—उत्कृष्टपद में प्रचला का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे निद्रा का विशेषाधिक है, उससे भी प्रचला-प्रचला का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी निद्रा-निद्रा का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी स्त्यानर्द्धि का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी केवलदर्शनावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी अवधिदर्शनावरण का प्रदेशाग्र अनन्तगुणा है, उससे अचक्षुदर्शनावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है और उससे भी चक्षुदर्शनावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

३. **वेदनीयकर्म**—उत्कृष्ट पद में असातावेदनीय का प्रदेशाग्र सबसे कम है। उससे सातावेदनीय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

४. **मोहनीयकर्म**—उत्कृष्ट पद में अप्रत्याख्यानावरण मान का प्रदेशाग्र सबसे कम है। उससे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अप्रत्याख्यानावरण माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अप्रत्याख्यानावरण लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण मान का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अनन्तानुबंधी मान का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबंधी क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबंधी माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबंधी लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे मिथ्यात्व का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे

---

१. वेदनीय कर्म को अधिक भाग मिलने का कारण यह है कि सुख और दुःख के निमित्त से वेदनीय कर्म की निर्जरा बहुत होती है। अर्थात् प्रत्येक जीव प्रति समय सुख या दुःख का वेदन करता रहता है, अतः वेदनीय कर्म का उदय प्रतिक्षण होने से उसकी निर्जरा भी अधिक होती है। इसी से उसका द्रव्य सबसे अधिक बताया गया है।

२. उससे पूर्व में बताई गई प्रकृति की अपेक्षा। इसी प्रकार आगे भी 'उससे' का अर्थ समझना चाहिये।

जुगुप्सा का प्रदेशाग्र अनन्तगुणा है, उससे भय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे हास्य और शोक का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान में दोनों का ही प्रदेशाग्र परस्पर तुल्य है, उससे रति-अरति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान में दोनों का परस्पर तुल्य है, उससे स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान में दोनों का ही परस्पर तुल्य है, उससे संज्वलन क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे संज्वलन मान का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे पुरुषवेद का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे संज्वलन माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे संज्वलन लोभ का प्रदेशाग्र असंख्यात गुणा है।

५. **आयुकर्म**—उत्कृष्ट पद में चारों आयुओं का प्रदेशाग्र परस्पर तुल्य है।

६. **नामकर्म**—उत्कृष्ट पद की अपेक्षा गति में देवगति और नरकगति का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे मनुष्यगति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे तिर्यंचगति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

जातिनामकर्म में द्वीन्द्रियादि चारों जातिनामकर्मों का उत्कृष्ट पद में प्रदेशाग्र सबसे कम है, किन्तु स्वस्थान में उनके प्रदेशाग्र परस्पर तुल्य हैं। उनसे एकेन्द्रिय जातिनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

शरीरनामकर्म में उत्कृष्ट पद में आहारकशरीर का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे वैक्रियशरीर नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे औदारिकशरीर नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे तैजसशरीर नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी कार्मणशरीर नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

इसी प्रकार (शरीरनामकर्म के समान) संघाततनामकर्म का भी अल्पबहुत्व जानना चाहिये।

बंधननामकर्म के उत्कृष्ट पद में आहारक-आहारक बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे आहारक-तैजस बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे आहारक-कार्मण बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे आहारक-तैजस-कार्मण बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे वैक्रिय-वैक्रिय बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे वैक्रिय-तैजस बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे वैक्रिय-कार्मण बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे वैक्रिय-तैजस-कार्मण बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे औदारिक-औदारिक बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे औदारिक-तैजस बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे औदारिक-कार्मण बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे औदारिक-तैजस-कार्मण बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है। उससे तैजस-तैजस बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे तैजस-कार्मण बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे कार्मण-कार्मण बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

संस्थाननामकर्म में आदि (समचतुरस्रसंस्थान) और अंतिम हुंडसंस्थान, इन दो संस्थानों को छोड़कर मध्य के चार संस्थानों का उत्कृष्ट पद में प्रदेशाग्र सबसे कम है, किन्तु स्वस्थान में

उनका प्रदेशाग्र परस्पर तुल्य है। उससे समचतुरस्रसंस्थान का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है और उससे भी हुंडसंस्थान का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

अंगोपांगनामकर्म के उत्कृष्ट पद में आहारकअंगोपांगनामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे वैक्रियअंगोपांगनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी औदारिकअंगोपांगनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

संहनननामकर्म में आदि के पांच संहननों का उत्कृष्ट पद में प्रदेशाग्र सबसे कम है, किन्तु स्वस्थान में उनका प्रदेशाग्र परस्पर समान है, उससे सेवार्तसंहनन का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

वर्णनामकर्म में कृष्णवर्ण का उत्कृष्ट पद में प्रदेशाग्र सब से कम है, उससे नीलवर्ण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे लोहितवर्ण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे हारिद्रवर्ण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे शुक्लवर्ण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

गंधनामकर्म में सुरभिगंध का उत्कृष्ट पद में प्रदेशाग्र सब से कम है, उससे दुरभिगंध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

रसनामकर्म में कटुकरसनामकर्म का उत्कृष्ट पद में प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे तिक्त-रसनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे कषायरसनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे आम्लरसनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है और उससे मधुररस का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

स्पर्शनामकर्म में कर्कश और गुरु स्पर्श नामकर्म का उत्कृष्ट पद में प्रदेशाग्र सबसे कम है, किन्तु स्वस्थान में दोनों का ही प्रदेशाग्र परस्पर समान है, उनसे मृदु और लघु स्पर्श नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान में दोनों का परस्पर तुल्य है, उनसे रूक्ष और शीत स्पर्श नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान में तो उन दोनों का भी प्रदेशाग्र परस्पर समान है, उनसे भी स्निग्ध और उष्ण स्पर्श नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान में तो इन दोनों का प्रदेशाग्र परस्पर तुल्य है।

आनुपूर्वीनामकर्म में देवगति और नरकगति आनुपूर्वी का प्रदेशाग्र उत्कृष्ट पद में सबसे कम है, किन्तु स्वस्थान में तो दोनों का परस्पर समान है। उससे मनुष्यगत्यानुपूर्वी का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे तिर्यंचगत्यानुपूर्वी का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

त्रसनामकर्म का उत्कृष्ट पद में प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे स्थावरनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है। पर्याप्तनामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है और उससे अपर्याप्तनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है। इसी प्रकार स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय, सूक्ष्म-बादर और प्रत्येक-साधारण नामकर्म के प्रदेशाग्र का कथन करना चाहिये।

अयशःकीर्तिनामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे यशःकीर्तिनामकर्म का प्रदेशाग्र संख्यातगुणा है। इनके अतिरिक्त शेष रही आतप, उद्योत, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, सुस्वर और दुःस्वर प्रकृतियों का प्रदेशाग्र उत्कृष्ट पद में परस्पर समान है।[1]

निर्माण, उच्छ्वास, पराघात, उपघात, अगुरुलघु और तीर्थंकर नाम का अल्पबहुत्व नहीं है। क्योंकि यहाँ जो अल्पबहुत्व बतलाया है, वह सजातीय प्रकृति की अपेक्षा से होता है। जैसे कि कृष्ण आदि वर्णनामकर्मों का शेष वर्णों की अपेक्षा अथवा जैसे सुभग-दुर्भग का प्रतिपक्षी प्रकृति की अपेक्षा से होता है। किन्तु ये प्रकृतियां परस्पर सजातीय नहीं हैं। क्योंकि इनमें एक मूल पिंडप्रकृतित्व का अभाव है और न ये प्रकृतियां परस्पर विरोधिनी भी हैं। क्योंकि इनका एक साथ बंध संभव है।

७. **गोत्रकर्म**--उत्कृष्ट पद में नीचगोत्र का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे उच्चगोत्र का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

८. **अन्तरायकर्म**—उत्कृष्ट पद में दानान्तराय का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे लाभान्तराय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भोगान्तराय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे उपभोगान्तराय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है और उससे वीर्यान्तराय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

इस प्रकार उत्कृष्टपद में उत्तरप्रकृतियों का प्रदेशाग्र संबंधी अल्पबहुत्व जानना चाहिये।

जघन्यपद में उत्तर प्रकृतियों के प्रदेशाग्रों का अल्पबहुत्व

अब जघन्यपद में सभी उत्तरप्रकृतियों के प्रदेशाग्र संबंधी अल्पबहुत्व का निरूपण करते हैं—

१. **ज्ञानावरणकर्म**—केवलज्ञानावरण का जघन्यपद में प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे मनःपर्ययज्ञानावरण का प्रदेशाग्र अनन्तगुणा है, उससे अवधिज्ञानावरण का विशेषाधिक है, उससे श्रुतज्ञानावरण का विशेषाधिक है और उससे भी मतिज्ञानावरण का विशेषाधिक है।

२. **दर्शनावरणकर्म**—जघन्यपद में निद्रा का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे प्रचला का विशेषाधिक है, उससे निद्रा-निद्रा का विशेषाधिक है, उससे प्रचला-प्रचला का विशेषाधिक है, उससे स्त्यानर्द्धि का विशेषाधिक है, उससे केवलदर्शनावरण का विशेषाधिक है, उससे अवधिदर्शनावरण का अनन्तगुणा है, उससे अचक्षुदर्शनावरण का विशेषाधिक है, उससे चक्षुदर्शनावरण का विशेषाधिक है।

---

१. नामकर्म की कतिपय उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्टपद में अल्पबहुत्व भिन्न प्रकार से कहा है। वह इस प्रकार है—
   १. शुभ विहायोगति का प्रदेशाग्र सबसे अल्प है, उससे अशुभ विहायोगति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।
   २. बादरनाम का प्रदेशाग्र अल्प, उससे सूक्ष्मनाम का विशेषाधिक।
   ३. सुस्वरनामकर्म का प्रदेशाग्र अल्प, उससे दुःस्वरनाम का विशेषाधिक।
   ४. यशःकीर्तिनामकर्म का प्रदेशाग्र अल्प, उससे अयशःकीर्तिनाम का विशेषाधिक।
   ५. आतप-उद्योत का प्रदेशाग्र अल्प, किन्तु स्वस्थान में तुल्य।
   (यहां अल्पबहुत्व किसकी अपेक्षा है? यह विचारणीय है)।
   यहां टीकाकार आचार्य ने आतप आदि प्रकृतियों में युगल विवक्षा प्रगट नहीं की है, किन्तु श्रीमद् देवेन्द्रसूरि कृत शतक टीका के अनुसार युगलपूर्वक भिन्न विवक्षा करने में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है।

३. **मोहनीयकर्म**—जघन्यपद में अप्रत्याख्यानावरण मान का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अप्रत्याख्यानावरण माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अप्रत्याख्यानावरण लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है। इसी प्रकार उससे उत्तरोत्तर के क्रम से प्रत्याख्यानावरण मान, क्रोध, माया, लोभ और अनन्तानुबंधी मान, क्रोध, माया, लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक कहना चाहिये। अनन्तानुबंधी लोभ से मिथ्यात्व का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे जुगुप्सा का प्रदेशाग्र अनन्तगुणा है, उससे भय का विशेषाधिक है, उससे हास्य-शोक का विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान में उन दोनों का परस्पर समान है, उससे रति-अरति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान में उन दोनों का भी परस्पर में तुल्य है। उनसे अन्यतर एक वेद का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे संज्वलन मान, क्रोध, माया और लोभ का प्रदेशाग्र उत्तरोत्तर विशेषाधिक है।

४. **आयुकर्म**—जघन्यपद में तिर्यंच और मनुष्यायु का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे देव और नरकायु का प्रदेशाग्र असंख्यगुणा है।

५. **नामकर्म**—इसके गति भेद में जघन्यपद में तिर्यंचगति का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे मनुष्यगति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे देवगति का प्रदेशाग्र असंख्यगुणा है, उससे नरकगति का प्रदेशाग्र असंख्यगुणा है।

जातिनामकर्म में द्वीन्द्रियादि चार जातिनामकर्मों का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे एकेन्द्रियजाति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

शरीरनामकर्म में औदारिकशरीरनामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे तैजसशरीरनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे कार्मणशरीरनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे वैक्रियशरीरनामकर्म का असंख्यात गुणा है, उससे आहारकशरीर का असंख्यात गुणा है। इसी प्रकार संघाततनामकर्म में भी समझना चाहिये।

अंगोपांगनामकर्म में जघन्यपद में औदारिकअंगोपांगनामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे वैक्रियअंगोपांगनामकर्म का प्रदेशाग्र असंख्यात गुणा है, उससे आहारकअंगोपांगनामकर्म का असंख्यात गुणा है तथा जघन्यपद में नरकगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे मनुष्यगत्यानुपूर्वी का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी तिर्यंचगत्यानुपूर्वी का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है तथा त्रसनामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे स्थावरनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है। इसी प्रकार बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण नामकर्मों का अल्पबहुत्व जानना चाहिये।

उक्त प्रकृतियों के अतिरिक्त नामकर्म की शेष प्रकृतियों का अल्पबहुत्व नहीं है।[1]

१. सारांश यह कि उक्त प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष प्रकृतियों का जघन्यपद संबंधी अल्पबहुत्व नहीं है।

६, ७. **वेदनीय और गोत्र कर्म**—इसी प्रकार सातावेदनीय, असातावेदनीय का तथा उच्चगोत्र, नीचगोत्र का भी अल्पबहुत्व नहीं है ।

८. **अन्तरायकर्म**—अन्तराय कर्म में जैसा अल्पबहुत्व उत्कृष्टपद में कहा है, वैसा ही जघन्यपद में भी जानना चाहिये ।

उत्कृष्ट, जघन्य प्रदेशाग्र होना कब संभव है ?

यहाँ यह जानना चाहिये कि जब जीव उत्कृष्ट योगस्थान में प्रवर्तता है और जब मूलप्रकृतियों तथा उत्तरप्रकृतियों का अल्पतर बंध करता है तथा जब संक्रमणकाल में अन्य प्रकृतियों के दलिकों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमण होता है[1] तब उत्कृष्ट प्रदेशाग्र संभव है। जिसका आशय यह है कि (१) उत्कृष्ट योग में वर्तमान जीव उत्कृष्ट प्रदेश ग्रहण करता है तथा (२) जब अल्पतर मूल प्रकृतियों का और उत्तर प्रकृतियों का बंध होता है तब शेष अबध्यमान प्रकृतियों से प्राप्त होने योग्य भाग भी उन बध्यमान प्रकृतियों को प्राप्त होता है तथा (३) जब अन्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमण के समय में विवक्षित बध्यमान प्रकृतियों में बहुत कर्मपुद्गल प्रवेश करते हैं । अतः इतने कारणों के होने पर उत्कृष्ट प्रदेशाग्र होना संभव है और इससे विपरीत दशा में जघन्य प्रदेशाग्र होता है ।[2]

इस प्रकार प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध का कथन समाप्त हुआ । अब स्थितिबंध और अनुभागबंध के विवेचन का अवसर प्राप्त है। इनमें भी बहुवक्तव्य होने से सर्वप्रथम अनुभागबंध की प्ररूपणा करते हैं।

३. अनुभागबंध

अनुभागबंध की प्ररूपणा के चौदह अनुयोगद्वार हैं, यथा– (१) अविभागप्ररूपणा, (२) वर्गणाप्ररूपणा, (३) स्पर्धकप्ररूपणा, (४) अन्तरप्ररूपणा, (५) स्थानप्ररूपणा, (६) कंडकप्ररूपणा, (७) षट्स्थानप्ररूपणा, (८) अधस्तनस्थानप्ररूपणा, (९) वृद्धिप्ररूपणा, (१०) समयप्ररूपणा, (११) यवमध्यप्ररूपणा, (१२) ओजोयुग्मप्ररूपणा, (१३) पर्यवसानप्ररूपणा, (१४) अल्पबहुत्व-प्ररूपणा । इनमें से पहले अविभागप्ररूपणा का कथन करते हैं ।

१. अविभागप्ररूपणा

गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएई गुणं सपच्चयओ ।
सव्वजियाणंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसुं ॥२९॥

---

१. विवक्षित प्रकृति में अन्य प्रकृति के दलिकों के संक्रमण के समय ।

२. मूल और उत्तर प्रकृतियों में प्रदेशाग्र अल्पबहुत्व दर्शक सारिणी परिशिष्ट में देखिये ।

स्थिति के अनुसार भाग की प्राप्ति मूल प्रकृतियों में सम्भव है और उत्तर प्रकृतियों में हीनाधिक भाग की प्राप्ति में क्वचित् स्नेह, क्वचित् उत्कृष्टपदरूपता, क्वचित् जघन्यपद की वक्तव्यता जिन प्रकृतियों में भिन्न-भिन्न दिखती है, वहाँ उत्कृष्टपद और जघन्यपद रूप संयोगों की प्राप्ति और जहां संभव वक्तव्यता है, वहां स्नेह की विषमता रूप हेतु संभव है। परन्तु मात्र रस या स्थिति की विषमता से उत्तर प्रकृतियों की भाग प्राप्ति की विषमता संभव नहीं है।

शब्दार्थ—**गहणसमयम्मि**–ग्रहण के समय, **जीवो**–जीव, **उप्पाएई**–उत्पन्न करता है, **गुणं**–रसाणुओं को, **सपच्चयओ**–स्वप्रत्यय से, **सव्वजियाणंतगुणे**–सब जीवों से अनन्तगुणे, **कम्मपएसेसु**–कर्मप्रदेशों में, **सव्वेसु**–सर्व ।

गाथार्थ—कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करते समय जीव अपने प्रत्यय से सर्व कर्मप्रदेशों में सब जीवों से अनन्तगुणे रसाणुओं (रस संबंधी अविभाग अंशों) को उत्पन्न करता है ।

विशेषार्थ—अनुभागबंध के कारण काषायिक अध्यवसाय हैं,[1] क्योंकि **'ठिइअणुभागं कसायाओ कुणइ'** स्थिति और अनुभाग बंध को जीव कषाय से करता है, ऐसा शास्त्रवचन है । वे काषायिक अध्यवसाय दो प्रकार के होते हैं–शुभ और अशुभ ।[2] इनमें से शुभ अध्यवसायों द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलों में दूध, खांड के रस के समान आनन्दजनक अनुभाग प्राप्त होता है और अशुभ अध्यवसायों द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलों में नीम, घोषातिकी आदि के रस के समान दुःखजनक कटुक रस उत्पन्न होता है ।

ये शुभ और अशुभ काषायिक अध्यवसाय प्रत्येक असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं, केवल शुभ अध्यवसाय विशेषाधिक जानना चाहिये । जो इस प्रकार हैं—क्रम से स्थापित जिन अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों को संक्लिश्यमान जीव क्रम से नीचे-नीचे प्राप्त करता है, उन्हीं अध्यवसायों को विशुद्धचमान जीव क्रम से ऊपर-ऊपर चढ़ता हुआ प्राप्त करता है। जैसे प्रासाद से नीचे उतरते हुए जितने सोपानस्थान (सीढ़ियां) होते हैं, चढ़ते हुए भी उतने ही सोपान होते हैं । उसी प्रकार यहाँ पर भी संक्लिश्यमान जीव के जितने अशुभ अध्यवसाय होते हैं, उतने ही विशुद्धचमान जीव के शुभ अध्यवसाय होते हैं।[3] कहा भी है—

क्रमशः स्थितासु काषायिकीषु जीवस्य भावपरिणतिषु ।
अवपतनोत्पतनाद्धे संक्लेशाद्धा विशोध्यद्धे ।।

क्रम से स्थित काषायिकी भावपरिणतियों में जीव के पतनकाल में संक्लेश-अद्धा होता है और उत्थानकाल में विशुद्धि–अद्धा होता है ।

लेकिन क्षपक जीव जिन अध्यवसायों में रहता हुआ क्षपकश्रेणी पर चढ़ता है, उनसे पुनः लौटता नहीं है । क्योंकि क्षपकश्रेणि से प्रतिपात (पतन) नहीं होता है । इस अपेक्षा से शुभ अध्यवसाय विशेषाधिक होते हैं ।

इनमें से शुभ या अशुभ किसी एक अध्यवसाय से, स्वप्रत्यय से अर्थात् अपनी आत्मा संबंधी अनुभागबंध के प्रति जो कारणभूत हैं, ऐसे स्वप्रत्यय से जीव ग्रहण समय में अर्थात् योग्य

---

१. अकाषायिक अध्यवसाय रस के कारण नहीं होने से यहां उनकी अविवक्षा है।

२. अशुभ अध्यवसाय तो प्रगट रूप से कषायजन्य हैं और शुभ अध्यवसायों में कषाय की हीनता है, तो भी कषायानुगत होने से काषायिक हैं। यहाँ कषाय शब्द से कषाय का उदय जानना चाहिये, परन्तु सत्ता नहीं।

३. अशुभ से शुभ अध्यवसाय कोई पृथक्-पृथक् नहीं हैं। संक्लेशवर्ती जीव की अपेक्षा जो अध्यवसाय अशुभ हैं, वही अध्यवसाय विशुद्धचमान जीव की अपेक्षा शुभ हैं। जैसे—मिथ्यात्वी को जो मति-अज्ञान है, वही सम्यक्त्व प्राप्त करने पर मतिज्ञान रूप हो जाता है।

पुद्गलों के आदानकाल में सर्व कर्मप्रदेशों में अर्थात् एक-एक कर्मपरमाणु पर गुणों अर्थात् रस के निर्विभाग पूर्वोक्त स्वरूप वाले अविभागी अंशों को सर्व जीवों से अनन्तगुणे उत्पन्न करता है।

उक्त कथन का आशय यह है कि जीव द्वारा ग्रहण किये जाने से पहले कर्मवर्गणा-अन्तर्वर्ती परमाणु उस प्रकार के विशिष्ट रस से युक्त नहीं होते हैं, किन्तु प्रायः[1] नीरस और एकस्वरूप वाले होते हैं, लेकिन जब वे जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तब उस ग्रहणकाल में ही उन कर्मपरमाणुओं में कषायिक अध्यवसाय के द्वारा सर्व जीवों से भी अनन्तगुणे रसाविभाग[2] उत्पन्न हो जाते हैं और उसी समय उनका अमुक भाग ज्ञानावरण, अमुक भाग दर्शनावरण आदि रूप विचित्र स्वभावरूपता को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि जीवों की और पुद्गलों की शक्ति अचिन्त्य है और यह बात असंगत भी नहीं है, क्योंकि वैसा देखा जाता है। जैसे कि शुष्क तृण आदि के परमाणु अत्यन्त नीरस होते हुए भी गाय आदि के द्वारा ग्रहण किये जाने पर विशिष्ट दूध आदि रस रूप और सप्त धातु रूप से परिणत हो जाते हैं।

शंका—जीव क्या सभी कर्मपरमाणुओं में उन रस के अविभागों को समान रूप से उत्पन्न करता है या विषम रूप से ?

समाधान—विषम रूप से उत्पन्न करता है। अर्थात् कितने ही परमाणुओं में अल्प रसाविभागों को उत्पन्न करता है, कितनों में ही उनसे अधिक रसाविभागों को और कितनों में और भी अधिक रसाविभागों को उत्पन्न करता है। जिन परमाणुओं में सबसे कम रसाविभागों को उत्पन्न करता है, वे भी सर्वजीवों से अनन्तगुणे होते हैं।[3] लेकिन उससे यह ज्ञात नहीं होता है कि किन परमाणुओं में कितने रसाविभागों को उत्पन्न करता है ? अतः इसका स्पष्ट आशय प्रगट करने के लिये वर्गणा आदि प्ररूपणाओं का कथन करते हैं। वर्गणाप्ररूपणा इस प्रकार है—

वर्गणाप्ररूपणा

सव्वप्पगुणा ते पढम वग्गणा सेसिया विसेसूणा।
अविभागुत्तरियाओ सिद्धाणमणंतभागसमा ॥३०॥

शब्दार्थ—सव्वप्पगुणा—सबसे अल्प रसाणु वाले, **ते**—उनकी (कर्म परमाणुओं की), **पढम**—प्रथम, **वग्गणा**-वर्गणा, **सेसिया**—शेष, **विसेसूणा**—विशेषहीन-विशेषहीन, **अविभागुत्तरियाओ**—एक-एक रसाणु से बढ़ती हुई, **सिद्धाणं**—सिद्धों के, **अणंतभागसमा**—अनन्तवें भाग जितनी।

१. उत्तर समय में जो रस उत्पन्न होने वाला है, पूर्व समय में उस रस की योग्यता का अस्तित्व बतलाने के लिये यहां 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया गया है।

२. रसाविभाग और स्नेहाविभाग के अन्तर का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

३. उक्त कथन का आशय यह है कि कर्मपरमाणु में कषायजनित रस के (विपाकशक्ति के) निर्विभाज्य अंश को रसाविभाग कहते हैं और एक-एक कर्मपरमाणु में चाहे वह सर्व जघन्य रसयुक्त हो अथवा सर्वोत्कृष्ट रसयुक्त हो, समस्त जीव राशि से अनन्त गुण रसाविभाग वाले होते हैं। अविभागप्ररूपणा द्वारा यही बात स्पष्ट की है।

गाथार्थ--सबसे अल्प रसाणु वाले कर्म परमाणुओं की प्रथम वर्गणा होती है। उससे शेष वर्गणायें एक-एक रसाणु से बढ़ती हुई सिद्धों के अनन्तवें भाग जितनी विशेषहीन-विशेषहीन परमाणु वाली जानना चाहिये ।

विशेषार्थ--जो परमाणु अन्य समस्त परमाणुओं की अपेक्षा सबसे कम रसाविभाग (रसाणु) युक्त होते हैं, उन सर्वाल्प गुण वाले परमाणुओं का समुदाय रूप प्रथम वर्गणा कहलाती है । इस प्रथम वर्गणा में कर्मपरमाणु सब से अधिक होते हैं । किन्तु इसके बाद की शेष वर्गणायें कर्मपरमाणुओं की अपेक्षा विशेषहीन, विशेषहीन होती हैं। जिसको इस प्रकार समझना चाहिये--प्रथम वर्गणा में जितने कर्मपरमाणु होते हैं, उसकी अपेक्षा द्वितीय वर्गणा में कर्मपरमाणु विशेषहीन होते हैं, उससे भी तृतीय वर्गणा में विशेषहीन होते हैं ।[1] इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होने तक जानना चाहिये ।

ये वर्गणायें किस प्रकार की होती हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिये गाथा में-'अविभागुत्तरियाओ' यह पद दिया गया है कि वर्गणायें एक-एक रसाविभाग से अधिक होती हैं । जैसे--प्रथम वर्गणा के परमाणुओं की अपेक्षा एक रसाविभाग से अधिक परमाणुओं का जो समुदाय है, वह दूसरी वर्गणा कहलाती है, उनसे भी एक रसाविभाग से अधिक परमाणुओं का समुदाय तीसरी वर्गणा कहलाती है। इस प्रकार एक-एक रसाविभाग की वृद्धि से वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण होती हैं। इस प्रकार वर्गणाप्ररूपणा जानना चाहिये ।[2] अब क्रमप्राप्त स्पर्धक आदि प्ररूपणाओं का कथन करते हैं ।

स्पर्धक, अन्तर और स्थान प्ररूपणा

फड्डगमणंतगुणियं, सव्वजिएहिं पि अंतरं एवं ।
सेसाणि वग्गणाणं, समाणि ठाणं पढममित्तो ॥३१॥

शब्दार्थ--**फड्डगं**-स्पर्धक, **अणंतगुणियं**-अनन्तगुणी, **सव्वजिएहिं पि**-सर्व जीवों से, **अंतरं**-अन्तर, **एवं**-इस प्रकार, **सेसाणि**-शेष, **वग्गणाणं**-वर्गणाओं का, **समाणि**-समान, **ठाणं**-स्थान, **पढमं**-प्रथम, **इत्तो**-इससे (प्रथम स्पर्धक से) ।

गाथार्थ--(अभव्यों से) अनन्तगुणी वर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है । प्रथम स्पर्धक के पश्चात् सर्व जीवों से अनन्तगुणी वर्गणाओं का अन्तर पड़ता है । इस प्रकार से वर्गणाओं के समान शेष स्पर्धक और अन्तर होते हैं, तब प्रथम (अनुभागबंध) स्थान होता है ।

---

१. उक्त कथन का आशय यह है कि पूर्व वर्गणा की अपेक्षा उत्तर वर्गणा में कर्मपरमाणु हीन-हीनतर होते जाते हैं; लेकिन परमाणुओं की हीनता से रसाविभागों की भी हीनता होती जाये, ऐसा नहीं समझना चाहिये। रसाविभागों की तो उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है।

२. वर्गणाप्ररूपणा के कथन का सारांश यह है कि समान रसाविभाग युक्त कर्मपरमाणु का समुदाय वर्गणा है, सर्वजघन्य रसाविभाग युक्त कर्मप्रदेशों का समुदाय यह प्रथम वर्गणा है, उसमें कर्मपरमाणु सर्वाधिक किन्तु रसाणु अल्प होते हैं। उससे एक रसाणु अधिक कर्मप्रदेशों का समुदाय द्वितीय वर्गणा, उसमें पूर्व वर्गणा की अपेक्षा कर्मपरमाणु हीन । इस प्रकार एक-एक रसाविभाग से बढ़ती-बढ़ती और परमाणुओं से घटती-घटती वर्गणायें जानना चाहिये।

विशेषार्थ—अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवें भाग सदृश अनन्त वर्गणाओं के समुदाय का एक स्पर्धक होता है। यह स्पर्धकप्ररूपणा है।

अब अन्तर और स्थान प्ररूपणा का कथन करते हैं—

इस प्रथम स्पर्धक के ऊपर (आगे)[1] एक रसाविभाग से अधिक परमाणु प्राप्त नहीं होते हैं, न दो से, न तीन से, न संख्यात से, न असंख्यात से और न अनन्त रसाविभागों से अधिक ही परमाणु प्राप्त होते हैं। किन्तु अनन्तानन्त अर्थात् सर्व जीवों से अनन्तगुणित रसाविभागों से अधिक परमाणु प्राप्त होते हैं। उनका समुदाय द्वितीय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा होती है। तदनन्तर एक रसाविभाग से अधिक परमाणुओं के समुदाय रूप दूसरी वर्गणा होती है, पुनः दो रसाविभागों से अधिक परमाणुओं का समुदाय तीसरी वर्गणा। इस प्रकार एक-एक रसाविभाग की वृद्धि से वर्गणायें तब तक कहनी चाहिये, जब तक कि वे अभव्यों से अनन्त गुणी और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण होती हैं। इन वर्गणाओं का समुदाय द्वितीय स्पर्धक कहलाता है। पुनः उससे भी आगे एक रसाविभाग से अधिक परमाणु प्राप्त नहीं होते हैं, न दो से, न तीन से, न संख्यात से, न असंख्यात से और न अनन्त रसाविभागों से युक्त परमाणु प्राप्त होते हैं। किन्तु अनन्तानन्त से अर्थात् सर्व जीवों से अनन्त गुणे रसाविभागों से युक्त परमाणु प्राप्त होते हैं। उनका समुदाय तीसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है। इससे आगे फिर यथाक्रम से एक-एक रसाविभाग की वृद्धि से द्वितीय आदि वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उनका प्रमाण अभव्यों से अनन्त गुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण प्राप्त होता है। उन सबका समुदाय तीसरा स्पर्धक कहलाता है। सारांश यह कि अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है। इस प्रकार के स्पर्धक तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे अभव्यों से अनंतगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण होते हैं।

इतने स्पर्धकों का समुदाय एक अनुभागबंधस्थान[2] कहलाता है। जैसा कि गाथा में कहा है—'अणंतगुणियं सव्वजिएहिं पि।' अर्थात् सर्व जीवों से अनन्तगुणित स्पर्धकों का समुदाय रूप एक अनुभागबंधस्थान होता है, इत्यादि। प्रथम स्पर्धक की अंतिम वर्गणा से द्वितीय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा का अंतर भी सर्व जीवों से अनन्त गुणित[3] जानना चाहिये। यह अन्तरप्ररूपणा है।[4] इसी प्रकार शेष स्पर्धक-अन्तर पूर्वोक्त प्रमाण जानना चाहिये।

उन स्पर्धकों को एक-एक स्पर्धक में विद्यमान वर्गणाओं के समान अर्थात् अभव्यों से अनन्त गुणित और सिद्धों के अनन्तवें भाग सदृश समझना चाहिये। यह एक, प्रथम सर्वजघन्य अनुभाग-बंधस्थान है और (मुख्य) कषायिक अध्यवसाय के द्वारा ग्रहण किये गये कर्मपरमाणुओं के रस-

१. प्रथम स्पर्धकगत अंतिम वर्गणा के रसाविभागों से ऊपर।

२. एक समय में जीव द्वारा ग्रहण किये कर्मस्कन्ध के रस के समुदाय को अनुभागबंधस्थान कहते हैं।

३. यहां अनन्तगुणितपना इस प्रकार से जानना चाहिये—पूर्व स्पर्धक की अंतिम वर्गणा में जितने रसाविभाग हैं, उनसे पर स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में सर्व जीवों से अनन्तगुण अधिक रसाविभाग हैं।

४. वस्तुतः यहां अन्तरप्ररूपणा समाप्त नहीं होती है और आगे भी सर्व स्पर्धकों में प्राप्त होती है। किन्तु अन्तर जानने की विधि समाप्त होने की अपेक्षा यह अन्तरप्ररूपणा है, कहा जाता है।

स्पर्धकों के समुदाय रूप परिमाण को अनुभागबंधस्थान कहते हैं—**अनुभागबंधस्थानं नामैकेन कषायिकेणाध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपरमाणूनां रसस्पर्धकसमुदायपरिमाणं ।**[1]

इस प्रकार स्थानप्ररूपणा जानना चाहिये । अब आगे की गाथाओं में कंडक आदि की प्ररूपणा करते हैं ।

कंडक और षट्स्थान प्ररूपणा

एत्तो अंतरतुल्लं अंतरमणंतभागुत्तरं बिइयमेवं ।
अंगुलअसंखभागो अणंतभागुत्तरं कंडं ॥३२॥

शब्दार्थ—**एत्तो**–इससे (प्रथम स्थान के बाद), **अंतरतुल्लं**–(स्पर्धक) अन्तर समान है, **अंतरं**–अन्तर, **अणंतभागुत्तरं**–अनन्त भाग से अधिक, **बिइयं**–दूसरा स्थान, **एवं**–इस प्रकार, **अंगुलअसंखभागो**–अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण, **अणंतभागुत्तरं**–अनन्तवें भाग से बढ़ता हुआ, **कंडं**-कंडक ।

गाथार्थ—इस प्रथम स्थान से दूसरे स्थान के अन्तराल में अन्तर, स्पर्धक–जितना होता है तथा दूसरा अनुभागबंधस्थान प्रथम अनुभागबंधस्थान की अपेक्षा अनन्तवें भाग से अधिक होता है । इस प्रकार अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण अनन्तभाग वृद्धि वाले अनुभागस्थानों का प्रथम कंडक होता है ।

विशेषार्थ—इस प्रथम स्थान से प्रारंभ करके द्वितीय स्थान से पहले जो अन्तर होता है, वह अन्तर तुल्य अर्थात् पूर्वोक्त प्रमाण वाले अंतर के समान जानना चाहिये । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे प्रथम स्पर्धक की अंतिम वर्गणा से द्वितीय स्पर्धक की आदि वर्गणा का अंतर सर्व जीवों से अनन्तगुणा कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी प्रथम स्थान के अंतिम स्पर्धक की अंतिम वर्गणा से द्वितीय स्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा का अंतर भी सर्व जीवों से अनंतगुणा जानना चाहिये । यह द्वितीय अनुभागबंधस्थान स्पर्धकों की अपेक्षा अनन्तभागोत्तर अर्थात् अनन्तवें भाग से अधिक होता है । अर्थात् प्रथम अनुभागबंधस्थान में जितने स्पर्धक होते हैं उनसे अनन्तवें भाग अधिक स्पर्धक द्वितीय अनुभागबंधस्थान में जानना चाहिये । इस प्रकार पूर्व में दिखाये गये प्रकार से अनन्तवें भाग से अधिक वृद्धि वाले स्थान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे अंगुल के असंख्यातवें भाग गत आकाश प्रदेशों की राशि प्रमाण होते हैं । इन सबका समुदाय एक कंडक कहलाता है। 'अणंतभागुत्तरं' अर्थात् अनन्तभागोत्तर अनुभागबंधस्थानों का समुदाय रूप होने से कंडक को भी अनन्तभागोत्तर कहा जाता है ।

इस प्रकार कंडकप्ररूपणा समझना चाहिये। अब षट्स्थानप्ररूपणा करते हैं—

---

१. उक्त कथन का आशय यह है कि किसी भी जीव को एक समय में एक वर्गणा या एक स्पर्धक रूप रस की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु अनेक वर्गणा और स्पर्धक रूप एक स्थान जितने रस की प्राप्ति होती है। उन जीवप्रदेशों से संबद्ध होने वाले सभी कर्मस्कन्ध समरसाविभाग युक्त नहीं होते हैं। उनमें हीनाधिकपना पाया जाता है। ऐसे इन सब रसाविभाग के समुदाय को एक अनुभागबंधस्थान जानना चाहिये।

उस प्रथम कंडक से आगे जो अन्य अनुभागबंधस्थान प्राप्त होता है, वह पूर्व स्थान के स्पर्धकों की अपेक्षा असंख्यातवें भाग से अधिक होता है, उससे आगे कंडक प्रमाण स्थान यथोत्तर क्रम से अनन्तवें भाग वृद्धि वाले होते हैं, उससे आगे फिर एक अन्य अनुभागबंधस्थान असंख्यातवें भाग से अधिक होता है। तदनन्तर फिर कंडक मात्र स्थान यथोत्तर अनन्तभाग वृद्धि वाले होते हैं। तत्पश्चात् फिर एक अन्य अनुभागबंधस्थान असंख्यातभाग से अधिक होता है। तत्पश्चात् फिर कंडक मात्र स्थान यथोत्तर क्रम से अनन्तभाग वृद्धि वाले होते हैं। तदनन्तर फिर असंख्यातवें भाग से अधिक एक अन्य स्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार अनन्तभागाधिक कंडक प्रमाण स्थानों से व्यवधान को प्राप्त असंख्यभागवृद्धि वाले स्थान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे भी कंडक प्रमाण हो जाते हैं और आगम की परिभाषा के अनुसार अंगुल मात्र क्षेत्र के असंख्यातवें भाग गत प्रदेशों की राशि की संख्या के प्रमाण को कंडक कहते हैं—**कंडकं च (समय-परिभाषया) अंगुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिसंख्याप्रमाणमभिधीयते।**

उस पूर्वोक्त असंख्यात भागाधिक अन्तिम अनुभागबंधस्थान से आगे यथाक्रम से अनन्तभाग-वृद्धि वाले कंडक प्रमाण अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये। तब (उसके आगे) संख्यातभाग अधिक एक अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये। तदनन्तर मूल से प्रारंभ करके जितने अनुभाग-बंधस्थान पहले अतिक्रांत हो चुके हैं, उतने ही फिर से उसी प्रकार से कहकर एक संख्यातभाग अधिक अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये। इस प्रकार ये संख्यातभाग वृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे कंडक प्रमाण होते हैं। तत्पश्चात् उक्त क्रम से फिर संख्यात-भाग अधिक स्थान के बदले संख्यात गुणाधिक एक अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये। इसके बाद फिर मूल से आरंभ करके जितने अनुभागबंधस्थान पहले अतिक्रान्त हो चुके हैं, उतने उसी प्रकार से कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर संख्यातगुणाधिक एक अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये। इसके बाद फिर मूल से आरंभ करके जितने अनुभागबंधस्थान पहले अतिक्रान्त हो चुके हैं, उतने ही अनुभागबंधस्थान उसी प्रकार कहना चाहिये। तब पुनः एक संख्यातगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। इस प्रकार से संख्यातगुणाधिक स्थान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे कंडक प्रमाण होते हैं।

तत्पश्चात् पूर्व परिपाटी से पुनः संख्यातगुणाधिक स्थान के बदले असंख्यातगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। तदनन्तर फिर मूल से आरंभ करके जितने अनुभागबंधस्थान पहले अतिक्रान्त हो चुके हैं, उतने ही उसी प्रकार फिर से कहना चाहिये। तदनन्तर फिर एक असंख्यातगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर मूल से आरंभ करके उतने ही अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये। तब पुनः एक असंख्यातगुणाधिक अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये, इस प्रकार ये असंख्यातगुणाधिक अनुभागबंधस्थान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे कंडक प्रमाण होते हैं।

तत्पश्चात् पूर्व परिपाटी से फिर असंख्यातगुणाधिक स्थान के बदले अनन्तगुणाधिक अनुभाग-बंधस्थान कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर मूल से आरंभ करके जितने अनुभागबंधस्थान पहले कहे गये हैं, उतने ही उसी प्रकार से फिर कहना चाहिये। तब पुनः अनन्तगुणाधिक अनुभाग-बंधस्थान कहना चाहिये। तदनन्तर फिर मूल से आरंभ करके उतने ही स्थान उसी प्रकार

कहना चाहिये । तत्पश्चात् फिर एक अनंतगुणाधिक अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये । इस प्रकार अनंतगुणाधिक अनुभागबंधस्थान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे कंडक प्रमाण होते हैं ।[1]

अब इसी सूत्र का अनुसरण करके आगे कहते हैं—

एगं असंखभागे - णणंतभागुत्तरं पुणो कंडं ।
एवं असंखभागु - त्तराणि जा पुव्वतुल्लाणि ।।३३।।

एगं संखेज्जुत्तरमेत्तो तीयाण तित्थिया बीयं ।
ताण वि पढमसमाइं, संखेज्जगुणोत्तरं एक्कं ।।३४।।

एत्तो तीयाणि अइत्थियाणि बिइयमवि ताणि पढमस्स ।
तुल्लाणसंखगुणियं, एक्कं तीयाण एक्कस्स ।।३५।।

बिइयं ताणि समाइं पढमस्साणंतगुणियमेगं तो ।
तीयाण इत्थियाणं ताण वि पढमस्स तुल्लाइं ।।३६।।

शब्दार्थ—एगं–एक (प्रथम कंडक से आगे), **असंखभागेण**– असंख्येयभागाधिक स्थान, **अणंतभागुत्तरं**–अनंतभागाधिक स्थान का, **पुणो**–पुनः फिर, **कंडं**–कंडक, **एवं**–इसी प्रकार, **असंखभागुत्तराणि**–असंख्यभागाधिक स्थान, **जा**–यावत्, तक, **पुव्वतुल्लाणि**–पूर्व के तुल्य (कंडक प्रमाण)।

एगं–एक, **संखेज्जुत्तरं**–संख्यातभाग वृद्धि का स्थान, **एत्तो**–तत्पश्चात्, **तीयाण**–अतिक्रमण करने के, **तित्थिया**– उतने का अतिक्रमण कर चुके तब, **बीयं**–दूसरा, **ताण वि**– वे भी (संख्यातभाग वृद्धि के स्थान भी), **पढमसमाइं**–पहले के समान, **संखेज्जगुणोत्तरं**–संख्येयगुणाधिक, **एक्कं**– एक ।

एत्तो–उससे आगे, **तीयाणि**–पहले से अतिक्रमण कर चुके उतने, **अइत्थियाणि**–अतिक्रमण करके, **बिइयमवि**–दूसरा भी स्थान (संख्येयगुणाधिक का दूसरा स्थान), **ताणि**–वह, **पढमस्स**–प्रथम, **तुल्लाण**–तुल्य, **असंखगुणियं**–असंख्यात गुणाधिक, **एक्कं**–एक, **तीयाण**–पूर्व स्थानों का अतिक्रमण करके, **एक्कस्स**–एक ।

बिइयं–दूसरा, **ताणि**–वे, **समाइं**–समान, **पढमस्स**–प्रथम के, **अणंतगुणियं**–अनन्त गुणाधिक, **एगं**–एक, **तो**–उससे आगे, **तीयाण**–पूर्वातीत स्थानों के बराबर, **इत्थियाणं**–उल्लंघन करके, **ताण वि**–वे भी, **पढमस्स**–पहले के, **तुल्लाइं**–तुल्य समान ।

गाथार्थ—प्रथम कंडक से आगे असंख्यभागाधिक एक अनुभागबंधस्थान आता है । उससे आगे पुनः अनन्तभागाधिक स्थान का कंडक आता है । इस प्रकार असंख्यभागाधिक स्थान पूर्व तुल्य अर्थात् कंडक प्रमाण हों, वहाँ तक कहना चाहिये ।

१. एक षट्स्थान में असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान होते हैं और ऐसे षट्स्थान भी असंख्यात हैं।

प्रथम संख्यातभागाधिक स्थान के आगे मूल से लेकर जितने अनुभागबंधस्थान पूर्व में अतिक्रमण कर चुके हैं, उतने ही अनुभागबंधस्थान उसी प्रकार से अतिक्रमण कर दूसरा संख्यातभागाधिक वृद्धि वाला स्थान कहना चाहिये। यह संख्यातभागाधिक स्थान भी पहले बतलाये गये प्रकार से कंडक प्रमाण होने तक कहना चाहिये। इसके आगे पूर्वोक्त क्रम से अनुभागबंधस्थान की वृद्धि करने पर एक संख्यातगुणवृद्धि वाला स्थान कहना चाहिये।

इससे (संख्यातगुणाधिक अनुभागबंधस्थान से) आगे मूल से आरंभ करके जितने अनुभागबंधस्थान पहले उल्लंघन कर चुके हैं, उतने ही अनुभागबंधस्थानों का उल्लंघन करके दूसरा संख्येयगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। पुनः संख्यातगुणाधिक स्थान से आगे उतने ही प्रमाण स्थानों की वृद्धि के आगे एक असंख्यातगुणाधिक वृद्धि वाला अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये, पुनः उससे आगे पूर्वोक्त वृद्धि क्रम से एक असंख्यात गुण से अधिक कहना चाहिये।

दूसरा असंख्यातगुणाधिक स्थान प्रथम कंडक के समान कहना चाहिये। उससे आगे एक अनन्तगुणाधिक स्थान कहना चाहिये, उससे आगे पूर्वातीत स्थानों का उल्लंघन कर पुनः अनन्तगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। इनको भी प्रथम कंडक के बराबर कहना चाहिये।

विशेषार्थ—उस प्रथम कंडक से ऊपर एक अनुभागबंधस्थान होता है, जिसे 'असंखभागेणं' असंख्येय भाग से अधिक जानना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्व अनुभागबंधस्थान-गत स्पर्धक की अपेक्षा असंख्यातभागाधिक स्पर्धकों से यह अनुभागबंधस्थान अधिक होता है। तदनन्तर पुनः 'अणंतभागुत्तरं कंडं'—यथाक्रम से अनन्तभाग वृद्धि वाले अनुभागबंधस्थानों का कंडक प्राप्त होता है। तत्पश्चात् पुनः एक असंख्यातभागाधिक अनुभागबंधस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार अनन्तभाग वृद्धि वाले कंडक के व्यवधान को प्राप्त असंख्यातभागाधिक अनुभागबंधस्थान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे पूर्वतुल्य अर्थात् कंडक प्रमाण होते हैं। तदनन्तर पुनः अनन्तभाग वृद्धि वाले अनुभागबंधस्थानों का कंडक कह कर तत्पश्चात् एक संख्येय भागोत्तर अर्थात् संख्येयभागाधिक एक अनुभागबंधस्थान जानना चाहिये।

तत्पश्चात् इस संख्यातभागाधिक स्थान से आगे मूल से लेकर जितने अनुभागबंधस्थान पहले बीत चुके हैं, उनका उल्लंघन करके आगे जाकर दूसरा संख्यातभाग से अधिक अनुभाग-बंधस्थान कहना चाहिये। उन संख्यातभाग से अधिक स्थानों को भी ऊपर दिखाये गये प्रकार से तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे प्रथम समान अर्थात् प्रथम कंडक के बराबर प्रमाण होते हैं। इससे भी आगे अनुभागबंधस्थानों की वृद्धि पूर्व परिपाटी के अनुसार कहना चाहिये, किन्तु संख्यातभागाधिक अनुभागबंधस्थान के बदले संख्येयगुणोत्तर अर्थात् संख्यात गुणी वृद्धि से अधिक अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये।

इस संख्येयगुणोत्तर अनुभागबंधस्थान से आगे मूल से प्रारंभ करके जितने अनुभागबंध-स्थान पहले अतिक्रान्त हो चुके हैं, उतने ही अनुभागबंधस्थानों का उल्लंघन करके दूसरा

संख्यातगुणाधिक अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये। ये संख्यातगुण वृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान भी तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे प्रथम अनन्तभाग वृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान कंडक के तुल्य होते हैं। तत्पश्चात् पूर्व परिपाटी से पुनः संख्यातगुणाधिक स्थान के बदले असंख्यातगुणाधिक अनुभागवृद्धि वाला एक स्थान कहना चाहिये। इसके पश्चात् मूल से प्रारंभ करके जितने स्थान व्यतीत हुए, उतने ही स्थानों का पुनः अतिक्रमण करके दूसरा असंख्येयगुणाधिक वृद्धि वाला अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये।

ये असंख्येयगुणाधिक अनुभागबंधस्थान प्रथम मूलभूत अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभागकंडक के समान होते हैं। तदनन्तर पूर्व परिपाटी से अनुभाग वृद्धि करते हुए फिर असंख्येयगुणाधिक अनुभागवृद्धि वाले बंधस्थान के स्थान पर अनन्त गुणित अर्थात् अनन्त गुणी अनुभागवृद्धि से अधिक एक अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये। तदनन्तर मूल से आरंभ करके जितने अनुभागबंधस्थान व्यतीत हुए हैं, उतने ही स्थान उल्लंघन करके दूसरा अनन्तगुणाधिक वृद्धि वाला स्थान कहना चाहिये। इस प्रकार ये अनन्तगुणाधिक वृद्धि वाले स्थान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे प्रथम अनन्तभाग वृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान कंडक के समान होते हैं।[1]

प्रश्न—तत्पश्चात् पूर्व परिपाटी से पांच वृद्धि के अनन्तर फिर अनन्तगुणाधिक अनुभागवृद्धि वाला स्थान उत्पन्न होता है या नहीं ?

उत्तर—षट्स्थानक की वृद्धि समाप्त हो चुकने से अनन्तगुणाधिक अनुभागवृद्धि वाला स्थान उत्पन्न नहीं होता है। यह प्रथम षट्स्थानक समाप्त हुआ।[2]

अब इस षट्स्थानक में (१) अनन्तभाग वृद्धि, (२) असंख्येयभाग वृद्धि, (३) संख्येयभाग वृद्धि, (४) संख्येयगुण वृद्धि, (५) असंख्येयगुण वृद्धि और (६) अनन्तगुण वृद्धि, किस प्रमाण वाले अनन्तवें भाग से या असंख्यातवें भाग से या संख्यातवें भाग से अधिक होती है अथवा किस प्रमाण वाले अनन्त, असंख्येय और संख्येय गुणाकार से वृद्धि होती है? इस जिज्ञासा का समाधान आगे की गाथा में करते हैं।

सव्वजियाणमसंखेज्जलोग संखेज्जगस्स जेट्ठस्स।
भागो तिसु गुणणा तिसु छट्ठाणमसंखिया लोगा ॥३७॥

शब्दार्थ—**सव्वजियाणं**—सर्व जीव प्रमाण से, **असंखेज्जलोग**—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण से, **संखेज्जगस्स**—संख्यात से, **जेट्ठस्स**—उत्कृष्ट, **भागो**—भागाकार, **तिसु**—प्रथम तीन वृद्धि में, **गुणणा**—गुणाकार, **तिसु**—(अंतिम) तीन वृद्धि में, **छट्ठाणं**—षट्स्थान, **असंखिया**—असंख्यात, **लोगा**—लोकाकाश प्रदेश।

१. उक्त कथन का आशय यह है कि अनन्तगुण वृद्धि रूप जो स्थान प्राप्त होता है, उसको अनन्तभाग वृद्धि की राशि प्रमाण जानना चाहिये।

२. उक्त कथन का यह आशय है कि पूर्वोक्त षट्स्थानक की परिपाटी में अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि और असंख्यातगुण वृद्धि, ये पांच वृद्धियां तब तक कहना चाहिये, जब तक कंडक से ऊपर अनन्तगुण वृद्धि कहने का स्थान आता है। किन्तु उस स्थान में अनन्तगुण वृद्धि नहीं कहना चाहिये।

गाथार्थ—सर्व जीव प्रमाण से, असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण से और उत्कृष्ट संख्यात से प्रथम तीन वृद्धियों में भागाकार एवं अंतिम तीन वृद्धियों में भी गुणाकार उक्त प्रमाण रूप जानना चाहिये तथा ये षट्वृद्धि वाले स्थान असंख्य लोकप्रदेश प्रमाण हैं ।

विशेषार्थ—आदि की तीन वृद्धियों में (अनन्तभागवृद्धि, असंख्येयभागवृद्धि, संख्येयभागवृद्धि में) अनन्त, असंख्यात और संख्यात राशियों को यथाक्रम से सर्व जीवों के, असंख्यात लोकाकाश प्रदेशों के और उत्कृष्ट संख्यात के प्रमाण जानना चाहिये और उत्तर तीन वृद्धियों में अर्थात् अनन्तगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और संख्यातगुणवृद्धि में गुणाकार भी यथाक्रम से उन्हीं सर्व जीवराशि आदि राशियों के प्रमाण का जानना चाहिये ।

उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय है कि प्रथम अनुभागबंधस्थान के प्रमाण में सर्व जीवों की संख्या के प्रमाण वाली राशि से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, वह अनन्तवां भाग यहाँ पर ग्रहण करना चाहिये । उस अनन्तवें भाग से अधिक दूसरा अनुभागबंधस्थान होता है । पुनः उस दूसरें अनुभागबंधस्थान की राशि में भी सर्व जीवों की संख्या प्रमाण राशि से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उतने से अधिक तीसरा अनुभागबंधस्थान होता है । इस प्रकार उत्तर-उत्तर जो-जो अनुभागबंधस्थान अनन्तभाग वृद्धि वाला उपलब्ध होता है, वह-वह पूर्व-पूर्व के अनुभागबंधस्थान के प्रमाण में सर्व जीव संख्या प्रमाण वाली राशि से भाग देने पर जो लब्धराशि प्राप्त होती है, उस-उस अनन्तवें भाग से अधिक-अधिक प्रमाण वाला जानना चाहिये ।

असंख्यातभागाधिक वृद्धि वाला स्थान वह है जो पिछले अनुभागबंधस्थान के प्रमाण में असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण राशि वाले असंख्यात से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त होता है, उतने असंख्यातवें भाग से अधिक को प्रकृत में ग्रहण करना चाहिये ।

संख्यातभागाधिक का अर्थ है पिछले अनुभागबंधस्थान के प्रमाण में उत्कृष्ट संख्यात का भाग देने पर जो भाग प्राप्त होता है, उतना संख्यातवां भाग प्रकृत में इष्ट है, अर्थात् उस संख्यातवें भाग से अधिक वृद्धि वाले स्थान को संख्यातभाग वृद्धि वाला अनुभागबंधस्थान जानना चाहिये ।

संख्यातगुण वृद्धि का अर्थ है पिछले अनुभागबंधस्थान के प्रमाण को उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण वाली राशि से गुणा किया जाये और गुणा करने पर जितनी राशि होती है, उतनी राशि-प्रमाण संख्यातगुण वृद्धि वाला अनुभागबंधस्थान जानना चाहिये ।

असंख्यातगुण वृद्धि का अर्थ है पिछले अनुभागबंधस्थान के प्रमाण को असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या प्रमाण राशि से गुणा किया जाये और गुणा करने पर जितनी राशि होती है, उतना प्रमाण असंख्यगुणाधिक अनुभागबंधस्थान का जानना चाहिये ।

इसी प्रकार अनन्तगुणवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान का भी अर्थ जानना चाहिये ।

प्रथम षट्स्थानक की परिसमाप्ति होने पर ऊपर अर्थात् आगे जो दूसरा अनुभागबंधस्थान अनन्तभागवृद्धि वाला प्राप्त होता है, वह द्वितीय षट्स्थानक का प्रथम अनुभागबंधस्थान जानना

चाहिये । इस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए पूर्वोक्त क्रम से दूसरा षट्स्थानक भी पूरा कहना चाहिये। इसी प्रकार शेष षट्स्थानक भी कहना चाहिये और उन्हें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की राशिप्रमाण होते हैं । इसी आशय को प्रगट करने के लिये गाथा में 'छट्ठाणमसंखिया लोगा' पद दिया है । अर्थात् षट्स्थानवृद्धि वाले अनुभाग-बंधस्थान, असंख्यात लोकाकाश प्रदेशों का जितना प्रमाण है, तत्प्रमाण होते हैं ।

प्रश्न—आपने जो प्रथम अनुभागबंधस्थान के प्रमाण को सर्व जीवराशि के प्रमाण वाली राशि से भाग दिया है, सो वह यहाँ पर रसाविभाग की अपेक्षा से अथवा परमाणुओं की अपेक्षा से अथवा स्पर्धकों की अपेक्षा से दिया है ? इनमें से रसाविभाग की अपेक्षा का भाग संभव नहीं है । क्योंकि प्रथम स्थान से, द्वितीय स्थान में भी रसाविभाग संख्यात आदि के गुणाकार से प्राप्त होते हैं । वह इस प्रकार—

प्रथम स्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में रसाविभाग अनन्त होते हैं। फिर भी असत्-कल्पना से चार वर्गणा का एक स्पर्धक माना जाये और पहली वर्गणा में रसाविभाग का प्रमाण यदि सात (७) माना जाये तो दूसरी वर्गणा में रसाविभाग आठ (८), तीसरी वर्गणा में नौ (९) और चौथी वर्गणा में दस (१०) होंगे ।[1] इस प्रकार एक स्पर्धक (७+८+९+१०=३४) चौंतीस संख्या प्रमाण रसाविभाग वाला होता है। उससे ऊपर एक-एक की उत्तरवृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु सर्व जीवों से अनन्तगुणित अधिक प्राप्त होते हैं ।

उनको असत्कल्पना से सत्रह (१७) संख्या माना जाये तो उतने रसाविभाग दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में सिद्ध होते हैं । उससे आगे उसी दूसरे स्पर्धक की दूसरी वर्गणा में अठारह (१८), तीसरी वर्गणा में उन्नीस (१९) और चौथी वर्गणा में बीस (२०) रसाविभाग प्राप्त होते हैं। यह दूसरा स्पर्धक है अर्थात् दूसरे स्पर्धक में रसाविभागों का प्रमाण (१७+१८+१९+२०=७४) चौहत्तर होता है । पुनः इससे भी आगे एक-एक की उत्तरवृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु सर्वजीवों के प्रमाण से अनन्तगुणित अधिक प्राप्त होते हैं ।

उनको यहाँ असत्कल्पना से सत्ताईस (२७) जानना चाहिये । ये सत्ताईस (२७) संख्या प्रमाण रसाविभाग तीसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में हैं। तदनन्तर दूसरी वर्गणा में अट्ठाईस (२८), तीसरी वर्गणा में उनतीस (२९) और चौथी वर्गणा में तीस (३०) रसाविभाग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इस तीसरे स्पर्धक में (२७+२८+२९+३०= ११४) एक सौ चौदह रसाविभाग प्राप्त होते हैं । इससे आगे फिर एक-एक रसाविभाग आदि की अधिक वृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु सर्व जीवों से अनन्तगुणित अधिक होते हैं ।

---

१. समान जातीय समसंख्यक पुद्गलों का समूह वर्गणा का लक्षण होने से तथा एक के अनन्तर दूसरी होने के क्रम से यहाँ पहली, दूसरी आदि वर्गणाओं में क्रमशः एक-एक संख्यावृद्धि का संकेत किया है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ।

उनको यदि असत्कल्पना से सैंतीस (३७) माना जाये तो ये चौथे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के हैं। दूसरी वर्गणा में अड़तीस (३८), तीसरी वर्गणा में उनतालीस (३९) और चौथी वर्गणा में चालीस (४०) प्राप्त होते हैं, इस प्रकार इस चौथे स्पर्धक में (३७+३८+३९+४०=१५४) एक सौ चउपन रसाविभाग प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार असत्कल्पना की अपेक्षा उपर्युक्त चार (४) स्पर्धकों वाला प्रथम अनुभाग-बंधस्थान हुआ।[1] इस प्रथम स्थान के रसाविभागों की सर्व संख्या का योग (३४+७४+११४+१५४=३७६) तीन सौ छिहत्तर होता है।

इससे (प्रथम अनुभागबंधस्थान से) आगे एक रसाविभाग की अधिक वृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु सर्व जीवों से अनन्त गुणे अधिक ही प्राप्त होते हैं।

उन्हें यदि असत्कल्पना से सैंतालीस (४७) मानें तो ये दूसरे अनुभागबंधस्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में होते हैं। इससे आगे दूसरी वर्गणा में अड़तालीस (४८), तीसरी वर्गणा में उननचास (४९) और चौथी वर्गणा में पचास (५०) रसाविभाग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इस द्वितीय स्थान के प्रथम स्पर्धक में (४७+४८+४९+५०=१९४) एक सौ चौरानवै रसाविभाग प्राप्त होते हैं। इससे आगे एक-एक की उत्तरवृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु सर्व जीवों से अनन्तगुणे अधिक रसाविभाग प्राप्त होते हैं।

उनको असत्कल्पना से सत्तावन (५७) मानें तो ये दूसरे अनुभागबंधस्थान के दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के रसाविभाग हैं। इससे आगे दूसरी वर्गणा में अट्ठावन (५८), तीसरी वर्गणा में उनसठ (५९) और चौथी वर्गणा में साठ (६०) रसाविभाग होते हैं। इस प्रकार इस द्वितीय स्थान के दूसरे स्पर्धक में (५७+५८+५९+६०=२३४) दो सौ चौंतीस रसाविभाग प्राप्त होते हैं। इससे आगे एक-एक की उत्तरवृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु सर्व जीवों से अनन्तगुणे अधिक प्राप्त होते हैं।

उन्हें असत्कल्पना से सड़सठ (६७) मान लिया जाये। ये सड़सठ दूसरे अनुभागबंधस्थान के तीसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के रसाविभाग हैं। इससे आगे दूसरी वर्गणा में अड़सठ (६८), तीसरी वर्गणा में उनहत्तर (६९) और चौथी वर्गणा में सत्तर (७०) रसाविभाग होते हैं। इस प्रकार इस दूसरे अनुभागबंधस्थान के तीसरे स्पर्धक में (६७+६८+६९+७०=२७४) दो सौ चौहत्तर रसाविभाग प्राप्त होते हैं। उससे आगे फिर एक-एक की उत्तरवृद्धि में रसाविभाग प्राप्त नहीं होते हैं। किन्तु सर्व जीवों से अनन्तगुणे अधिक प्राप्त होते हैं।

उनको असत्कल्पना से सतत्तर (७७) मान लें। ये दूसरे अनुभागबंधस्थान के चौथे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के रसाविभाग हैं। इससे आगे दूसरी वर्गणा में अठत्तर (७८), तीसरी

१. असत्कल्पना से चार वर्गणा का एक स्पर्धक और चार स्पर्धकों का एक स्थान, इस तरह वर्गणा और स्पर्धक की समसंख्या रखने का कारण यह है कि वास्तविक अनुभागस्थानों में भी जितनी वर्गणाओं का स्पर्धक होता है, उतने स्पर्धकों का एक अनुभागस्थान होता है। अतः वर्गणा और स्पर्धक की समसंख्या नहीं है।

वर्गणा में उन्यासी (७९) और चौथी वर्गणा में अस्सी (८०) रसाविभाग होते हैं। इस प्रकार इस दूसरे अनुभागबंधस्थान के चौथे स्पर्धक में (७७+७८+७९+८०=३१४) तीन सौ चौदह रसाविभाग प्राप्त होते हैं। असत्कल्पना से दूसरे अनुभागबंधस्थान के इन चारों स्पर्धकों के रसाविभाग (१९४+२३४+२७४+३१४=१०१६) एक हजार सोलह सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार प्रथम अनुभागबंधस्थान के रसाविभागों की अपेक्षा दूसरे अनुभागबंधस्थान में रसाविभाग संख्यातगुणित ही प्राप्त होते हैं। उत्तर-उत्तर के अनुभागबंधस्थान में पूर्व-पूर्व अनुभागबंधस्थान की अपेक्षा अधिक और अधिकतम ही सिद्ध होते हैं, किन्तु कहीं पर भी पूर्व-स्थान के रसाविभाग की अपेक्षा उत्तरस्थान के रसाविभाग अनन्तभाग से अधिक प्राप्त नहीं होते हैं।

इसी प्रकार परमाणुओं की अपेक्षा भी अनन्तभाग की अधिकता संभव नहीं है, क्योंकि जैसे-जैसे अनुभाग बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ही पुद्गल परमाणु भी अल्प और अल्पतर होते जाते हैं। इसलिए प्रथम अनुभागबंधस्थानगत परमाणुओं की अपेक्षा दूसरे अनुभागबंधस्थान में परमाणु कुछ कम ही प्राप्त होते हैं, अनन्तभाग से अधिक प्राप्त नहीं होते हैं। इस प्रकार आगे-आगे के अनुभागबंधस्थानों में पूर्व-पूर्व के अनुभागबंधस्थानों की अपेक्षा अल्प-अल्पतर परमाणु जानना चाहिये।

स्पर्धकों की अपेक्षा भी प्रथम अनुभागबंधस्थान आदि में सर्व जीवों की राशि के प्रमाण से भागाहार संभव नहीं है। क्योंकि प्रथम स्थानादिगत स्पर्धक अभव्यों से अनन्तगुणित और सिद्धों के अनन्तवें भाग की कल्पना से अत्यन्त अल्प होते हैं।

उत्तर—यह षट्स्थानकप्ररूपणा संयमश्रेणी आदि संबंधी सभी षट्स्थानकों में व्यापक लक्षण के रूप से कही जाती है।[1] इससे यद्यपि अनन्तगुणी वृद्धि वाले स्थानों से पूर्ववर्ती स्थानों में सर्व जीव प्रमाण वाली अनन्तराशि से स्पर्धकों की अपेक्षा भागाहार संभव नहीं है, तो भी आगे-आगे के स्थानों में तथा अन्य भी द्वितीय आदि षट्स्थानकों में और सभी संयमश्रेणी आदि के स्थानों में उक्त भागाहार का होना संभव है। इसलिये प्रश्नकर्ता के कथन से प्रकृत में कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि बहुलता से उक्त कथन सर्वत्र संभव है तथा—सर्वजीवप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते—अर्थात् सर्व जीवों प्रमाण वाली राशि के द्वारा भागाहार किया जाता है, इस वचन से भी अनन्तगुणित वृद्धि वाले स्थान से पूर्व-पूर्व के स्थानों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के स्थानों की संख्या सबसे कम अनन्तभाग से अधिक जानना चाहिये। यद्यपि पूर्व-पूर्व स्थानों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के स्थानों में कुछ हीन, हीनतर ही परमाणु प्राप्त होते हैं, तथापि अल्प, अल्पतर परमाणुओं वाली वर्गणा का होना संभव है। इसलिये ऊपर कहे हुए स्वरूप वाले स्पर्धकों की बहुलता विरुद्ध नहीं है।

इस प्रकार षट्स्थानप्ररूपणा का कथन जानना चाहिये।[2] अब अधस्तनस्थानप्ररूपणा का कथन करते हैं।

---

१. संयमश्रेणी आदि स्थानों में जिस पद्धति से सर्व षट्स्थानक की प्ररूपणा की गई है, उसी पद्धति का अनुसरण करके यह अनुभाग की षट्स्थानरूपणा भी की है।

२. षटस्थानप्ररूपणा का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में किया गया है।

अधस्तनस्थानप्ररूपणा[1]

प्रश्न—प्रथम असंख्यातभागवृद्धि वाले स्थान से नीचे कितने अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभाग-बंधस्थान होते हैं ?

उत्तर—कंडकप्रमाण होते हैं ।

प्रश्न—प्रथम संख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान से नीचे कितने असंख्यातभागवृद्धि वाले स्थान होते हैं ?

उत्तर—कंडकप्रमाण होते हैं ।

प्रश्न—प्रथम संख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान से नीचे कितने संख्यातभागवृद्धि वाले स्थान होते हैं ?

उत्तर—कंडकप्रमाण होते हैं ।

प्रश्न—प्रथम असंख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान से नीचे कितने संख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान होते हैं ?

उत्तर—कंडकप्रमाण होते हैं ।

प्रश्न—प्रथम अनन्तगुणवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान से नीचे कितने असंख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान होते हैं ?

उत्तर—कंडकप्रमाण होते हैं ।

यह उत्तरोत्तर स्थान से नीचे-नीचे के स्थानों की अधस्तनस्थानमार्गणारूप प्ररूपणा है । अब एकान्तरितमार्गणा का कथन करते हैं—

प्रश्न—प्रथम संख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान से नीचे कितने अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान होते हैं ?

उत्तर—कंडकवर्ग और कंडकप्रमाण होते हैं ।

प्रश्न—प्रथम संख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान से नीचे कितने असंख्यातभागवृद्धि वाले स्थान होते हैं ?

उत्तर—कंडकवर्ग और कंडकप्रमाण होते हैं ।

प्रश्न—प्रथम असंख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान से नीचे कितने संख्यातभाग-वृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान होते हैं ?

उत्तर—कंडकवर्ग और कंडकप्रमाण होते हैं ।

प्रश्न—प्रथम अनन्तगुणवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान से नीचे कितने संख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान होते हैं ?

१. रसस्थानों में विवक्षित वृद्धि के स्थानों की अपेक्षा नीचे आने पर अनन्तर वृद्धि के अथवा एकान्तरादिक वृद्धि स्थानों की जो विचारणा की जाती है, उसे अधस्तनस्थानप्ररूपणा कहते हैं।

उत्तर—कंडकवर्ग और कंडकप्रमाण होत हैं ।

इसी तरह पूर्वोक्त प्रकार से दो अन्तरित, तीन अन्तरित और चार अन्तरित अनुभागबंधस्थानों की मार्गणा भी अपनी बुद्धि से कर लेना चाहिये ।

इस प्रकार अधस्तनस्थानों की प्ररूपणा जानना चाहिये ।[1] अब क्रमप्राप्त वृद्धिप्ररूपणा की जाती है—

वृद्धिप्ररूपणा

वुड्ढी हाणी छक्कं, तम्हा दोण्णं पि अंतमिल्लाणं ।
अंतोमुहुत्तमावलि असंखभागो उ सेसाणं ।।३८।।

शब्दार्थ—**वुड्ढी हाणी छक्कं**–छह प्रकार की वृद्धि और हानि होती हैं, **तम्हा**–इसलिये, **दोण्हं पि**–दोनों (हानि और वृद्धि) भी, **अंतमिल्लाणं**–अन्त की, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त की, **आवलि**–आवलि के, **असंखभागो**–असंख्यातवें भाग प्रमाण, **उ**–और, **सेसाणं**–शेष की ।

गाथार्थ—छह प्रकार की वृद्धि और छह प्रकार की हानि अनुभागबंधस्थान में होती है। इसलिये उनके समय का कथन करते हैं कि इनमें से अंतिम दोनों अर्थात् अंतिम वृद्धि और अंतिम हानि का (उत्कृष्ट) काल अन्तर्मुहूर्त है और शेष पांचों वृद्धि और हानियों का (उत्कृष्ट) काल आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ।

विशेषार्थ—इस संसार में जीव अपनी परिणतिविशेष से कर्म परमाणुओं में अनुभाग की उपर्युक्त स्वरूप वाली छह प्रकार की वृद्धि और हानि को करते रहते हैं । इसलिये कौनसी वृद्धि और हानि को जीव कितने काल तक करते रहते हैं? यह जानने के लिये अवश्य ही काल का प्रमाण कहना चाहिये । उन छह वृद्धि और हानियों में अंतिम दो का अर्थात् अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि का काल अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव निरंतर अपने परिणामविशेष से प्रतिसमय पूर्व-पूर्व अनुभागबंधस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर अनुभागबंधस्थानों को अनन्तगुणी वृद्धि रूप से अथवा अनन्तगुणी हानि रूप से बांधते हैं[2] तथा शेष अर्थात् आदि की पांच वृद्धियों[3] का और पांच हानियों[4] का काल आवलिका का

१. अधस्तनस्थानप्ररूपणा का विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये ।

२. विवक्षित समय में जीव जिस अनुभागाध्यवसायस्थान में है उससे दूसरे समय में अनन्त गुणाधिक अध्यवसायस्थान में, उससे तीसरे समय में अनन्तगुणाधिक अध्यवसायस्थान में हो, इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त तक निरन्तर अनन्तगुणाधिक रूप से बढ़ते-बढ़ते हुए अध्ययसाय में रहे, वह अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण की अनन्तगुणवृद्धि जानना चाहिये। इसी प्रकार अनन्तगुणहानि भी समझ लेना चाहिये ।

३. आदि की पांच वृद्धियां इस प्रकार हैं–(१) अनन्तभाग वृद्धि (२) असंख्यभाग वृद्धि (३) संख्यभाग वृद्धि, (४) संख्यगुण वृद्धि, (५) असंख्यगुण वृद्धि ।

४. आदि की पांच हानियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) अनन्तभागहानि, (२) असंख्यातभागहानि, (३) संख्यभागहानि, (४) संख्यगुणहानि, (५) असंख्यगुणहानि ।

असंख्यातवां भाग मात्र जानना चाहिये। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आदि की पांच वृद्धि और पांच हानि को जीव निरन्तर अपने परिणामविशेष से प्रतिसमय आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र काल तक बांधते हैं।[1]

यह हानि और वृद्धि के काल का निरूपण उत्कृष्ट की अपेक्षा जानना चाहिये और जघन्य से समस्त वृद्धि और हानियों का काल एक या दो समय प्रमाण समझना चाहिये।

अब इन अनुभागस्थानों में बंध का आश्रय करके अवस्थान का काल प्रमाण कहते हैं—

समयप्ररूपणा

चउराई जावट्ठग-मेत्तो जावं दुगंतिसमयाणं ।
ठाणाणं उक्कोसो जहण्णओ सव्वहिं समओ ॥३९॥

शब्दार्थ—**चउराई**—चार समय से लेकर, **जाव**—यावत्, तक, **अट्ठगं**—आठ समय, **एत्तो**—यहां से आगे, **जावं**—यावत्, **दुगंति**—दो, **समयाणं**—समय प्रमाण, **ठाणाणं**—स्थानों का, **उक्कोसो**—उत्कृष्ट, **जहण्णओ**—जघन्य से, **सव्वहिं**—सबका, **समओ**—एक समय।

गाथार्थ—अनुभागस्थानों का चार समय से लेकर आठ समय तक और यहाँ से (आठ समय से) लेकर दो समय प्रमाण उत्कृष्ट काल है और जघन्य से सभी अनुभागस्थान एक समय की स्थिति वाले हैं।

विशेषार्थ—चार (चार की संख्या) जिस वृद्धि की आदि में हो उसे चतुरादि वृद्धि कहते हैं। वह चतुरादि समय वाली वृद्धि अवस्थित काल की नियामक रूप से आठ समय तक जानना चाहिये। पुनः इससे आगे समयों की हानि कहना चाहिये और वह हानि दो समय तक कहना चाहिये। यह चतुरादि समय वाली वृद्धि और हानि[2] अनुभागबंधस्थानों की उत्कृष्ट रूप से जानना चाहिये। जघन्य रूप से तो सभी हानियों और वृद्धियों का काल एक समय मात्र है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जिन अनुभागबंधस्थानों को जीव पुनः-पुनः उन्हें ही चार समय तक बांधते हैं, वे अनुभागबंधस्थान चतुःसामयिक कहलाते हैं। ऐसे चतुःसामयिक अनुभाग-बंधस्थान मूल से आरंभ करके असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की राशि प्रमाण होते हैं। उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान पंचसामयिक होते हैं, वे भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेश

१. जीव जिस तरह के अनुभागाध्यवसाय में रहता है, तदनुरूप रस वाले कर्मप्रदेशों का बंध करता है। इस बात को बताने के लिए यहाँ 'बांधते हैं' शब्द का प्रयोग किया है।

२. यहां चतुरादि विशेषण सिर्फ वृद्धि में आयोजित करना चाहिये अर्थात् वृद्धि तो चतुरादि समय वाली जानना चाहिये और हानि तो अष्टादि विशेषण युक्त स्वयं समझ लेना चाहिये।

राशि प्रमाण होते हैं । उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान षट्सामयिक होते हैं, वे भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण होते हैं । उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान सप्त-सामयिक होते हैं, वे भी असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की राशि प्रमाण होते हैं । उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान अष्टसामयिक होते हैं, वे भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण होते हैं, उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान सप्तसामयिक होते हैं, वे भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण होते हैं । उनसे उपरितन अनुभागबंधस्थान षट्सामयिक होते हैं, वे भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण होते हैं । इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कि द्विसामयिक अनुभागबंधस्थान प्राप्त हो ।[1]

इस प्रकार समयप्ररूपणा की गई । अब जिस वृद्धि अथवा हानि में जो अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान प्राप्त होते हैं, उनको कहते हैं—

यवमध्यप्ररूपणा

दुसु जवमज्झं थोवा-णि अट्ठसमयाणि दोसु पासेसु ।
समऊणियाणि कमसो असंखगुणियाणि उप्पिं च ॥४०॥

शब्दार्थ—**दुसु**–दो में (अनन्तगुण वृद्धि और अनन्तगुण हानि में), **जवमज्झं**–यवमध्यरूप, **थोवाणि**–अल्प हैं, **अट्ठसमयाणि**–अष्टसामयिक, **दोसु**–दोनों में, **पासेसु**–पार्श्वों (बाजुओं) में, **समऊणियाणि**–समय-समय अल्प स्थिति वाले, **कमसो**–क्रमशः, **असंखगुणियाणि**–असंख्यातगुण, **उप्पिं**–ऊपर के, **च**–और ।

गाथार्थ—अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि—इन दोनों में यवमध्यरूप अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान अल्प हैं, उनसे (अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थानों से) यवमध्य के दोनों पार्श्ववर्ती सप्त-सामयिक आदि एक-एक समयहीन अनुभागबंधस्थान क्रमशः असंख्यात गुणित होते हैं । यह ऊपर के त्रि और द्वि सामयिक अनुभागबंधस्थानों में भी जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—यवमध्य में अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि रूप दो विकल्प होते हैं । यव के मध्य के समान को यवमध्य कहते हैं यानी अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान, जिसमें अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि होती है ।[2] वह इस प्रकार समझना चाहिये कि—जैसे यव (जौ) का मध्य बीच में मोटा होता है और दोनों बाजुओं में हीन-हीनतर होता जाता है, वैसे

१. समयप्ररूपणा का सारांश यह है कि सर्व स्थानों का जघन्य काल एक समय का है और उत्कृष्ट काल निम्न प्रकार है—जघन्य स्थान से असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान चार समय की स्थिति वाले, उसके बाद के असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण पांच समय की स्थिति वाले हैं । इसी प्रकार असंख्य, असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान अनुक्रम से छह, सात, आठ समय की स्थिति वाले हैं । उससे आगे समय की हानि का कथन करना चाहिये । अर्थात् तदनन्तर के हानिगत असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान अनुक्रम से सात, छह, पांच, चार, तीन और अंतिम स्थान दो समय की स्थिति वाले जानना चाहिये ।

२. उक्त कथन का फलितार्थ यह है कि अष्टसामयिक अनुभागस्थान आरोह का चरम स्थान और अवरोह के प्रारम्भ होने का प्रथम स्थान है ।

ही यहाँ पर (अनुभागबंधस्थान में) अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान काल की अपेक्षा पृथुल (मोटे) हैं और उभय पार्श्ववर्ती सप्तसामयिक आदि अनुभागबंधस्थान काल की अपेक्षा हीन-हीनतर होते हैं। इसलिये अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान यव के मध्यभाग के समान काल की अपेक्षा पृथुल होने से उनकी यवमध्य संज्ञा है। उन अष्टसामयिक प्रथम अनुभागबंधस्थान से आरंभ करके सभी असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की राशि प्रमाण अनुभागबंधस्थान अनन्तगुणवृद्धि में और अनन्तगुणहानि में पाये जाते हैं। सप्तसामयिक अन्तिम अनुभागबंधस्थान से प्रथम अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान अनन्तगुणवृद्धि वाला होता है, उससे आगे के शेष सभी सप्तसामयिक अनुभागबंधस्थान उसकी अपेक्षा अनन्तगुणवृद्धि वाले होते हैं तथा अष्टसामयिक अन्तिम अनुभागबंधस्थान से उपरितन सप्तसामयिक अनुभागबंधस्थान भी अनन्तगुणवृद्धि वाला होता है। इसलिये उसकी अपेक्षा से पीछे के सभी अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान अनन्तगुण हानि वाले भी होते हैं। इस प्रकार अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान, अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि दोनों में पाये जाते हैं। अष्टसामयिक यह पद उपलक्षण रूप है। इसलिये आदि के चतुःसामयिक अनुभागबंधस्थान और सर्व अन्तिम द्विसामयिक अनुभागबंधस्थानों को छोड़कर शेष सभी उभय पार्श्ववर्ती पंचसामयिक आदि अनुभागबंधस्थान प्रत्येक उक्त प्रकार से अनन्तगुणवृद्धि में और अनन्तगुणहानि में जानना चाहिये।

आदि के चतुःसामयिक अनुभागबंधस्थान अनन्तगुणहानि में ही होते हैं। वह इस प्रकार—पंचसामयिक आद्य अनुभागबंधस्थान चतुःसामयिक अन्तिम अनुभागबंधस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणी वृद्धि वाला होता है और उसकी अपेक्षा पीछे के चतुःसामयिक सभी अनुभागबंधस्थान अनन्तगुणहानि में ही पाये जाते हैं। द्विसामयिक अनुभागबंधस्थान तो अनन्तगुण वृद्धि में ही होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि त्रिसामयिक अन्तिम अनुभागबंधस्थान से आदि का द्विसामयिक अनुभागबंधस्थान अनन्तगुणवृद्धि वाले ही होते हैं।

इस प्रकार यह यवमध्यप्ररूपणा जानना चाहिये।[1] अब चतुःसामयिक आदि अनुभागबंधस्थानों का अल्पबहुत्व कहते हैं—

'थोवाणि'—इत्यादि अर्थात् यवमध्य वाले अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान सबसे अल्प होते हैं। क्योंकि अति चिरकाल तक बंध के योग्य स्थान अल्प ही पाये जाते हैं। उससे उभय पार्श्ववर्ती सप्तसामयिक अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं। क्योंकि वे अल्पतर बंधकाल विषय वाले हैं, किन्तु उभय पार्श्ववर्ती सप्तसामयिक अनुभागबंधस्थान परस्पर में समान होते हैं। उनसे भी उभय पार्श्ववर्ती षट्सामयिक अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं, किन्तु वे दोनों उभय पार्श्व में परस्पर समान होते हैं। उससे भी उभय पार्श्ववर्ती पंचसामयिक अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं, किन्तु वे दोनों ही परस्पर में समान ही हैं। उनसे भी असंख्यात गुणित उभय पार्श्वर्ती चतुःसामयिक अनुभागबंधस्थान होते हैं, किन्तु स्वस्थान में वे दोनों ही परस्पर समान होते हैं।

१. यवमध्यप्ररूपणा को सरलता से समझने के लिए परिशिष्ट में दिये गये अनुभागबंध विवेचन संबंधी १४ अनुयोगद्वारों के संक्षिप्त सारांश को देखिये।

उनसे भी असंख्यात गुणित अनुभागवृद्धि वाले त्रिसामयिक अनुभागबंधस्थान होते हैं, उनसे भी असंख्यात गुणित वृद्धि वाले द्विसामयिक अनुभागबंधस्थान होते हैं ।

'दोसु पासेसु' इति–अर्थात् अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थानों से अनन्तरवर्ती दोनों पार्श्व वाले क्रम से एक-एक समय हीन वाले सप्तसामयिक आदि अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित अनुभागवृद्धि वाले तब तक कहना चाहिये, जब तक कि चतुःसामयिक अनुभागबंधस्थान प्राप्त होते हैं। उनसे ऊपर त्रिसामयिक और द्विसामयिक अनुभागबंधस्थान क्रम से असंख्यात गुणित अनुभागवृद्धि वाले कहना चाहिये ।[1]

अब सभी अनुभागबंधस्थानों के समुदाय का आश्रय करके उनकी विशेष संख्या का निरूपण करते हैं––

सुहुमगणि पवेसणया, अगणिक्काया य तेसिं कायठिई ।
कमसो असंखगुणियाण (अ) ज्झवसाणाणि चणुभागे ।।४१।।

शब्दार्थ––सुहुम–सूक्ष्म, **अगणि**–अग्निकाय में, **पवेसणया**–प्रवेश करने वाले, **अगणिक्काया**–अग्निकाय रूप, **य**–और, **तेसिं**–उनकी, **कायठिई**–कायस्थिति, **कमसो**–अनुक्रम से, **असंखगुणियाण**–असंख्यात गुणित, **अज्झवसाणाणि**–अध्यवसाय, **च**–और, **अणुभागे**–अनुभाग में ।

गाथार्थ––सूक्ष्म अग्निकाय में प्रवेश करने वाले तथा अग्निकाय रूप से स्थित जीव एवं अग्निकाय की कायस्थिति, ये तीनों अनुक्रम से असंख्यगुणित हैं और उनसे भी अनुभागबंधस्थान असंख्यात-गुणित होते हैं ।

विशेषार्थ––सूक्ष्म अग्नि में अर्थात् सूक्ष्म अग्निकायिक जीवों में प्रवेशन (उत्पत्ति) जिनका हो रहा है, वे सूक्ष्म अग्निप्रवेशक जीव कहलाते हैं तथा जो जीव अग्निकाय रूप से अवस्थित हैं, वे अग्निकायिक कहलाते हैं तथा उन अग्निकाय वाले जीवों की कायस्थिति को अग्निकाय–स्थिति-काल कहते हैं । ये तीनों अनुक्रम से असंख्यात गुणित हैं । इसी प्रकार जो अध्यवसाय अनुभागबंध के विषय में होते हैं, वे तथा कार्य में कारण के उपचार रूप से व्यवस्थित हैं, वैसे अध्यवसाय के द्वारा निवर्त्यमान अर्थात् आगे अनुभागबंधस्थान रूप से परिणमित होने वाले हैं, ऐसे अनुभाग-बंधस्थान क्रम से असंख्यात गुणित हैं । कहा भी है–

---

१. चतुःसामयिक आदि अनुभागबंधस्थानों का अल्पबहुत्व डमरूक के आकार के समान समझना चाहिये । डमरूक का आकार परिशिष्ट में देखिये । उस आकार में अष्टसामयिक विभाग के अनन्तर उभय पार्श्ववर्ती सप्तसामयिक आदि चतुःसामयिक विभाग पर्यन्त तो परस्पर तुल्य हैं, लेकिन उसके बाद के उत्तरपार्श्ववर्ती चतुःसामयिक के अनन्तर के त्रि और द्वि सामयिक में अपने से पूर्व की अपेक्षा अल्पबहुत्व जानना चाहिये ।

सुहुमनिगोयविसंता चिट्ठंता तेसि कायठिइकालो ।
कमसो असंखगुणिओ तत्तो अणुभागठाणाइं ॥[1]

सूक्ष्म अग्नि में प्रवेश करने वाले, अग्निकाय में अवस्थित और उनका कायस्थितकाल क्रम से असंख्यात गुणित प्रमाण वाला होता है और उनसे भी अनुभागस्थान असंख्यात गुणित हैं ।

इस कथन का यह भाव है कि जो जीव एक समय में सूक्ष्म अग्निकाय के मध्य में प्रवेश कर उत्पन्न होते हैं, वे सबसे कम हैं, फिर भी वे असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं । उनसे भी वे जीव असंख्यात गुणित हैं जो अग्निकाय रूप से अवस्थित हैं और उनसे भी अग्निकाय की स्थिति का काल असंख्यात गुणित होता है और उससे भी अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं ।

अब ओजोयुग्मप्ररूपणा करते हैं ।

ओजोयुग्मप्ररूपणा

ओज विषमसंख्या को और युग्म समसंख्या को कहते हैं। उनकी प्ररूपणा इस प्रकार है कि यहाँ पर किसी एक विवक्षित राशि को स्थापित करना चाहिये और उसमें कलि, द्वापर, त्रेता और कृत युग संज्ञा वाले चार से भाग देना चाहिये । भाग देने पर यदि एक शेष रहता है तो वह राशि पूर्व पुरुषों की परिभाषा के अनुसार 'कल्योज' कहलाती है, यथा–तेरह (१३) । यदि भाग देने पर दो शेष रहते हैं तो वह राशि 'द्वापरयुग्म' कहलाती है, जैसे–चौदह (१४) और यदि भाग देने पर तीन शेष रहते हैं तो वह राशि 'त्रेतौज' कहलाती है, जैसे–पन्द्रह (१५) और जब भाग देने पर कुछ भी शेष नहीं रहता है, किन्तु संपूर्ण राशि से वह राशि निःशेष हो जाती है, तब 'कृतयुग्म' कहलाती है, जैसे—सोलह (१६)।[2]

कहा भी है–

चउदस दावरजुम्मा, तेरस कलिओज तह य कडजुम्मा ।
सोलस तेओजे खलु, पन्नरसेवं खु विन्नेया ॥

अर्थ—चौदह–यह द्वापरयुग्म राशि है, तेरह–यह कल्योज राशि है, सोलह–कृतयुग्म राशि और पन्द्रह–इस राशि को त्रेतौज जानना चाहिये ।

अब इनमें अविभाग आदि जिस प्रकार की राशि रूप में हैं, उस प्रकार की राशिप्रमाण को बतलाने के लिये पर्यवसानप्ररूपणा करते हैं ।

---

१. पंचसंग्रह, बंधनकरण गाथा ५७

२. विषमसंख्या (१, ३, ५ आदि) को ओज और समसंख्या (२, ४, ६ आदि) को युग्म कहते हैं। जिस संख्या को चार से भाग देने पर १ शेष रहे, उसे कल्योज, २ शेष रहे उसे द्वापरयुग्म, ३ शेष रहे उसे त्रेतौज और कुछ भी शेष न रहे उसे कृतयुग्म कहते हैं । जैसे कि—

४) १३ (३	४) १४ (३	४) १५ (३	४) १६ (४
१२	१२	१२	१६
१ कल्योज	२ द्वापरयुग्म	३ त्रेतौज	० कृतयुग्म

पर्यवसानप्ररूपणा

कडजुम्मा अविभागा, ठाणाणि य कंडगाणि अणुभागे ।
पज्जवसाणमणंत-गुणाओ उप्पि न (अ) णंतगुणं ।।४२।।

शब्दार्थ—**कडजुम्मा**—कृतयुग्म संख्या, **अविभागा**—अविभाग, **ठाणाणि**—स्थान, **य**—और, **कंडगाणि**—कंडक, **अणुभागे**—अनुभाग में, **पज्जवसाणं**—पर्यवसान (अंत), **अणंतगुणाओ**—अनन्तगुणवृद्धि से, **उप्पि**—ऊपर, **न**—नहीं, **अणंतगुणं**—अनन्तगुणवृद्धि ।

गाथार्थ—इस अनुभाग के विषय में अविभाग, स्थान और कंडक यह कृतयुग्म राशिरूप हैं। अनन्तगुणवृद्धि के कंडक से ऊपर अनन्तगुणवृद्धि का स्थान नहीं है। इसलिये अनन्तगुणवृद्धि रूप स्थान षट्स्थानकवृद्धि का पर्यवसान अर्थात् अंतिम स्थान है ।

विशेषार्थ—अनुभाग में अर्थात् अनुभाग के विषय में अविभाग, स्थान और कंडक कृतयुग्म राशि रूप जानना चाहिये ।[1] इस प्रकार ओजोयुग्मप्ररूपणा जानना चाहिये ।

अब पर्यवसानप्ररूपणा करते हैं कि—

अनन्तगुण से अर्थात् अनन्तगुणी वृद्धि वाले कंडक से ऊपर पंचवृद्धयात्मक सभी अनुभागबंधस्थान उल्लंघन करके पुनः अनन्तगुणीवृद्धि वाला अनुभागबंधस्थान प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि वहाँ पर षट्स्थान की समाप्ति हो जाती है । इसलिये वही षट्स्थानक का पर्यवसान—सब से अंतिम स्थान है ।[2]

अब आगे की गाथा में अल्पबहुत्वप्ररूपणा करते हैं ।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा

अप्पबहुमणंतरओ, असंखगुणियाणणंतगुणमाई ।
तव्विवरीयमियरओ, संखेज्जगुणेसु संखगुणं ।।४३।।

शब्दार्थ—**अप्पबहुं**—अल्पबहुत्व, **अणंतरओ**—अनन्तरोपनिधा में, **असंखगुणियाण**—असंख्यात गुणित, **अणंतगुणं**—अनन्तगुणवृद्धि स्थानों को, **आई**—आदि में, **तव्विवरीयं**—उससे विपरीत, **इयरओ**—इतर में (परंपरोपनिधा में), **संखेज्जगुणेसु**—संख्यातगुण और संख्यातभाग वृद्धि में, **संखगुणं**—संख्यातगुण ।

गाथार्थ—अनन्तगुणवृद्धि स्थानकों को आदि में करके पश्चानुपूर्वी से अनन्तर-अनन्तर वृद्धि में (अर्थात् अनन्तरोपनिधा में) असंख्यात गुणा अल्पबहुत्व कहना चाहिये और इतर अर्थात् अनन्तरोपनिधा से दूसरी परंपरोपनिधा में विपरीत क्रम जानना चाहिये तथा संख्यातगुणवृद्धि एवं संख्यातभागवृद्धि में संख्यातगुण रूप अल्पबहुत्व कहना चाहिये ।

---

१. इसका आशय यह है कि अनुभाग के सर्व अविभागों में से समस्त अन्तर वर्गणाओं की संख्या को कम करने के पश्चात् जो अविभाग शेष रहते हैं, उस अनन्तराशि में चार से भाग दें तो शेष में शून्य ही रहता है। इसी प्रकार सभी षट्स्थानों के कंडक भी कृतयुग्मराशिरूप हैं।

२. अनन्तगुणवृद्धि के कथन की विवक्षा छह मूल वृद्धि की अपेक्षा है और यह स्थान उसके कंडक में का अंतिम स्थान जानना चाहिये, अन्यथा उत्तरवृद्धि की अपेक्षा तो सर्वांतिम स्थान अनन्तभागाधिक है।

विशेषार्थ—यह अल्पबहुत्वप्ररूपणा दो प्रकार से होती है— १. अनन्तरोपनिधा और २. परंपरोपनिधा रूप से। इनमें से पहले एक षट्स्थानक में अन्तिम स्थान[1] से प्रारंभ करके पश्चानुपूर्वी से अनन्तरोपनिधा द्वारा प्ररूपणा करते हैं—

अनन्तगुणवृद्धि रूप स्थानों को आदि में करके शेष स्थानों को असंख्यात गुणित कहना चाहिये। जैसे अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थान सबसे कम हैं, क्योंकि उनका प्रमाण एक कंडक मात्र है। उनसे असंख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं।

प्रश्न—यहाँ गुणाकार क्या है ?

उत्तर—कंडक और एक कंडकप्रक्षेप।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तर—यहाँ क्योंकि एक-एक अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थान के नीचे असंख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान कंडक प्रमाण प्राप्त होते हैं, इसलिये कंडक का गुणाकार कहा गया है तथा अनन्तगुणीवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान से कंडक के ऊपर कंडक मात्र असंख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थान प्राप्त होते हैं, किन्तु अनन्तगुणीवृद्धि वाला अनुभागबंधस्थान प्राप्त नहीं होता है, इसलिये उपरितन कंडक का अधिक प्रक्षेप किया गया है।[2]

उससे भी असंख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थानों से संख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थान असंख्यात गुणित होते हैं। उनसे भी संख्यातभाग अधिक वृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं। उनसे भी असंख्यातभाग अधिक वृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं। उनसे भी अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं। गुणाकार सर्वत्र ही कंडक और उसके ऊपर एक कंडक-प्रक्षेप है। वह इस प्रकार कि एक-एक असंख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान के नीचे पूर्व संख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान कंडक मात्र प्राप्त होते हैं। इसलिये कंडक गुणाकार है। असंख्यातगुणीवृद्धि वाले कंडक से ऊपर कंडक प्रमाण संख्यातगुणीवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान प्राप्त होते हैं। तदनन्तर असंख्येयगुणाधिक नहीं किन्तु अनन्तगुणीवृद्धि वाला ही अनुभागबंधस्थान होता है। प्रथम अनन्तगुणीवृद्धि वाले स्थान से नीचे असंख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थानों की अपेक्षा संख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थानों का विचार किया जाता है, उससे ऊपर वाले स्थानों का नहीं। इसलिये ऊपर एक ही अधिक कंडक का प्रक्षेप किया गया है। इसी प्रकार संख्यातभागवृद्धि आदि अनुभागबंधस्थानों का भी असंख्यात गुणित करने में गुणाकार की भावना जानना चाहिये।

---

१. यहां पर मूल छह वृद्धि की अपेक्षा होने से अन्तिम स्थान छठा अनन्तगुणवृद्धिरूप स्थान जानना चाहिये, परन्तु सर्वांतिम जो अनन्तभागाधिक स्थान है, वह नहीं। इसीलिये पश्चानुपूर्वी के क्रम का यहां संकेत दिया है।

२. उक्त कथन का आशय यह है कि कंडक से गुणा करने पर प्राप्त राशि में एक कंडक को जोड़ना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से अनुभागबंधस्थानों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा जानना चाहिये।[1] अब परंपरोपनिधा से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करते हैं—

'तव्विवरीयमियरओ-इति'—अर्थात् जिस क्रम से अनन्तरोपनिधा की प्ररूपणा की गई, उसके विपरीत क्रम से परंपरोपनिधा की प्ररूपणा करना चाहिये। यानि यहाँ आदि से ही प्रारंभ करके अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करना चाहिये। वह इस प्रकार—

अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान सबसे कम हैं। क्योंकि उन्हीं अनुभागबंधस्थान से आरंभ करके अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान एक कंडक प्रमाण ही प्राप्त होते हैं, अधिक नहीं। उनसे भी असंख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं। यह कैसे ? तो इसका उत्तर यह है कि अनन्तभागवृद्धि कंडक प्रमाण अनुभागबंधस्थान के ऊपर प्रथम असंख्यातभागवृद्धि वाला स्थान प्राप्त होता है, जो कि पिछले कंडक रूप अन्तिम स्थान की अपेक्षा असंख्यातभाग अधिक होता है। इसलिये उपरितन अनन्तभागवृद्धि वाला उसकी अपेक्षा अपने आप असंख्यातभागवृद्धि वाला होता है। अनन्तभागवृद्धि वाला अनुभाग-बंधस्थान उससे प्रथम होने वाले असंख्यातभागवृद्धि वाले स्थान की अपेक्षा होता है, किन्तु अनन्तभागवृद्धि वाले कंडक संबंधी अन्तिम अनुभागबंधस्थान की अपेक्षा तो असंख्यात-भाग से अधिक ही होता है। इससे उपरितन अनुभागबंधस्थान विशेष-विशेषतर रूप से अर्थात् अधिक-अधिकतर रूप से असंख्यातभाग अधिक तब तक जानना चाहिये, जब तक कि संख्यात-भाग से अधिक वृद्धि वाला अनुभागबंधस्थान प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार जिस प्रथम असंख्यातभागवृद्धि वाले स्थान से आरंभ करके प्रथम संख्यातभागवृद्धि वाले स्थान के पूर्व अपान्तराल में जितने अनुभागबंधस्थान प्राप्त होते हैं, वे सभी असंख्यातभागवृद्धि वाले ही प्राप्त होते हैं। उससे अनन्तभागवृद्धि वाले स्थानों से असंख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं।

उन संख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थानों से संख्यातभागवृद्धि वाले स्थान संख्यात गुणित हैं। यह कैसे जाना जाये ? तो इसका उत्तर यह है कि प्रथम संख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान में पिछले अनन्तर स्थान की अपेक्षा संख्यातभागवृद्धि प्राप्त होती है। तब यदि पहले भी संख्यात-भागवृद्धि वाले स्थान में संख्यातभागवृद्धि प्राप्त होती है तो उस प्रथम स्थान से उत्तरवर्ती अनन्तभागवृद्धि वाले और असंख्यातभागवृद्धि वाले स्थानों की अपने आप ही संख्यातभाग वृद्धि होती है। क्योंकि अनन्तभागवृद्धि अथवा असंख्यातभागवृद्धि पूर्व-पूर्व के अनन्तरवर्ती स्थान की अपेक्षा से होती है। प्रथम संख्यातभागवृद्धि वाले स्थान से पुनः पूर्ववर्ती अनन्तर स्थान का आश्रय करके सभी अनन्तभागवृद्धि वाले और असंख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबंधस्थान उत्तरोत्तर अधिक

१. अनन्तरोपनिधा से अल्पबहुत्वप्ररूपणा का सारांश इस प्रकार है कि अनन्तगुणवृद्धि के स्थान सबसे अल्प (कंडकमात्र) हैं। उससे असंख्यातगुणवृद्धि के असंख्यातगुण, उससे संख्यातगुणवृद्धि के असंख्यातगुण, उससे संख्यातभागवृद्धि के असंख्यातगुण, उससे असंख्यातभागवृद्धि के असंख्यातगुण, उससे अनन्तभागवृद्धि के असंख्यातगुण। गुणाकार कंडक गुण और एक कंडक प्रमाण है।

और अधिकतर संख्यातभागवृद्धि वाले होते हैं। यह अधिकतर संख्यातभागवृद्धि तब तक कहना चाहिये, जब तक कि मूल द्वितीय संख्यातभाग अधिक अनुभागबंधस्थान प्राप्त नहीं होता है।

द्वितीय मूल संख्यातभाग अधिक अनुभागस्थान दो सातिरेक संख्यातभाग से अधिक जानना चाहिये। तीसरा मूल संख्यातभाग अधिक अनुभागस्थान तीन सातिरेक संख्यातभागों से अधिक और चौथा चार सातिरेक संख्यातभागों से अधिक जानना चाहिये। इस प्रकार इसी क्रम से तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट संख्यात के समान अन्तरालों में होने वाले मूल संख्यातभागवृद्धि वाले स्थान होते हैं। अन्तराल में ये जितने स्थान हैं वे सभी संख्यात वृद्धि वाले स्थान हैं किन्तु एक सर्व अन्तिम स्थान से कम जानना चाहिये। क्योंकि उत्कृष्ट संख्यातवां असंख्यभागवृद्धि वाला स्थान संख्यात गुणित होता है अर्थात् दुगना होता है। इस कारण अन्तिम स्थान संख्यातभागवृद्धि की गणना में छोड़ दिया जाता है तथा यहाँ जितने असंख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागस्थान पहले कहे हैं, वे सब अन्तर-अन्तर में होने वाले संख्यातभागवृद्धि वाले स्थानों के अन्तराल में प्राप्त होते हैं। ये एक-एक के अन्तर में होने वाले मूल संख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागस्थान प्रस्तुत अनुभागस्थानों की विचारणा में उत्कृष्ट संख्यात के समान प्रमाण वाले ग्रहण किये जाते हैं। केवल वही एक सर्व अन्तिम संख्यातभागवृद्धि वाला अनुभागस्थान छोड़ा जाता है। इसलिये असंख्यातभागवृद्धि वाले स्थानों से संख्यातभागवृद्धि वाले अनुभाग बंध स्थान संख्यात गुणित ही होते हैं।

उनसे भी संख्यातगुणीवृद्धि वाले अनुभागस्थान संख्यात गुणित होते हैं। वे कैसे ? तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रथम संख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागस्थान से पूर्ववर्ती जो अनन्तर स्थान है, उसकी अपेक्षा आगे अन्तर-अन्तर में होने वाले मूल संख्यातभागवृद्धि वाले अनुभाग स्थान उत्कृष्ट संख्यात के तुल्य उल्लंघन करके आगे जाने पर अन्तिम अनुभागस्थान कुछ अधिक दुगुना पाया जाता है, तत्पश्चात् फिर उतने ही स्थान जाकर के अन्तिम अनुभागस्थान सातिरेक तिगुना प्राप्त होता है। इसी प्रकार चतुर्गुण स्थान भी जानना चाहिये। इस प्रकार उत्कृष्ट संख्यातगुणीवृद्धि प्राप्त होने तक कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर उत्कृष्ट संख्याततुल्य स्थान आगे जाकर जो अन्तिम अनुभागस्थान एक गुण अधिक होता है, वह जघन्य असंख्यातगुण वाला स्थान कहलाता है। उससे आगे संख्यातभागवृद्धि वाले स्थानों से संख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थान संख्यात गुणित ही होते हैं। इसीलिये गाथा में कहा है—संखेज्जक्खेसु संखगुणं—अर्थात् संख्यात में यानी संख्यात-भागवृद्धि वाले संख्यातगुण रूप अनुभागस्थानों में संख्येयगुण अर्थात् अनुभाग संख्यातगुणित कहना चाहिये।

उन संख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थानों से भी असंख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थान असंख्यात गुणित होते हैं। यह कैसे कहा ? तो उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि पूर्वोक्त अनन्तरवर्ती जघन्य असंख्यात गुणित अनुभागस्थान से परे सभी अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यात-भागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागस्थान असंख्यात गुणित प्राप्त होते हैं। इसलिये संख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थानों से असंख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागस्थान असंख्यात

गुणित होते हैं। उनसे भी अनन्तगुणीवृद्धि वाले स्थान असंख्यात गुणित होते हैं। यह कैसे ? तो इसका उत्तर है कि यहाँ प्रथम अनन्तगुणीवृद्धि वाले स्थान से आरंभ करके षट्स्थानक की समाप्ति पर्यन्त जितने स्थान होते हैं, वे सभी अनन्तगुणवृद्धि वाले होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—यदि प्रथम अनन्तगुणीवृद्धि वाला अनुभागस्थान पिछले अन्तरवर्ती स्थान की अपेक्षा अनन्त गुणों से अधिक होता है तो उससे उत्तरवर्ती अनन्तभागवृद्धि आदि वाले अनुभाग-स्थान उसकी अपेक्षा स्वतः अनन्तगुणवृद्धि वाले होते हैं। जितने अनुभागस्थान पहले उल्लंघन किये जा चुके हैं, उतने ही स्थान एक-एक अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थानों के अन्तर-अन्तर में होने वाले स्थानों के अन्तराल में होते हैं। वे अन्तरस्थान कंडक प्रमाण होते हैं। इसलिये पहले कहे गये असंख्यातगुणवृद्धि वाले स्थानों से अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थान असंख्यात गुणित होते हैं।

इस प्रकार परंपरोपनिधा से अल्पबहुत्व प्ररूपणा का कथन जानना चाहिये[1] और अल्पबहुत्व-प्ररूपणा करने के साथ ही अनुभागबंधस्थानों का विवेचन भी पूर्ण होता है।[2]

अब इन अनुभागबंधस्थानों में निष्पादक रूप से जीव जिस रीति से रहते हैं, उसकी प्ररूपणा करने का अवसर प्राप्त है। इस विषय में निम्नलिखित आठ अनुयोगद्वार हैं—

(१) प्रत्येक स्थान में जीव प्रमाण–प्ररूपणा, (२) अन्तरस्थान-प्ररूपणा, (३) निरंतरस्थान-प्ररूपणा, (४) नाना जीव-कालप्रमाण–प्ररूपणा, (५) वृद्धि–प्ररूपणा, (६) यवमध्य–प्ररूपणा, (७) स्पर्शना–प्ररूपणा, (८) अल्पबहुत्व–प्ररूपणा। इन आठ अनुयोगों में से प्रथम एक-एक स्थान में नाना जीवों के प्रमाण व अन्तर का निरूपण करते हैं।

प्रत्येक स्थान में जीवप्रमाण और अन्तर प्ररूपणा

थावरजीवाणंता, एक्केक्के तसजिया असंखेज्जा।
लोगासिमसंखेज्जा, अंतरमह थावरे नत्थि ॥४४॥

शब्दार्थ—**थावरजीवा**–स्थावरजीव, **अणंता**–अनन्त, **एक्केक्के**–एक-एक अध्यवसायस्थान में, **तसजिया**-त्रसजीव, **असंखेज्जा**–असंख्यात, **लोगासिमसंखेज्जा**-असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण, **अंतरं**–अन्तर, **अह**–तथा, **थावरे**–स्थावरयोग्य अध्यवसायों में, **नत्थि**–(अंतर) नहीं है।

गाथार्थ—अनुभागबंध के योग्य एक-एक अध्यवसायस्थान पर बंधक रूप से स्थावर जीव अनन्त और त्रसजीव असंख्य पाये जाते हैं। पुनः त्रसजीवप्रायोग्य अध्यवसायस्थानों में असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण का अन्तर रहता है तथा स्थावरप्रायोग्य अध्यवसायस्थानों में अन्तर नहीं रहता है।

---

१. परंपरोपनिधा से अल्पबहुत्वप्ररूपणा का सारांश यह है कि अनन्तभागवृद्धि के स्थान सबसे कम, उससे असंख्यातभागवृद्धि के स्थान असंख्यातगुण, उससे संख्यातभागवृद्धि के स्थान संख्यातगुण, उससे संख्यात-गुणवृद्धि वाले स्थान संख्यातगुण, उससे असंख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान असंख्यातगुण, उससे अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थान असंख्यातगुण।

२. अनुभागबंध-विवेचन संबंधी १४ अनुयोगद्वारों का सारांश परिशिष्ट में देखिये।

विशेषार्थ—स्थावर जीवों के अनुभागबंध के योग्य एक-एक अनुभागबंधस्थान पर अनन्त स्थावर जीव बंधक के रूप में पाये जाते हैं, किन्तु त्रस जीवों के बंधयोग्य एक-एक अनुभागबंधस्थान पर जघन्य से एक-दो और उत्कृष्ट से असंख्यात अर्थात् एक आवलिका के असंख्यातवें भाग के जितने समय होते हैं, उनके प्रमाण असंख्यात त्रस जीव प्राप्त होते हैं ।

इस प्रकार यह एक-एक स्थान में जीवों के प्रमाण की प्ररूपणा है।[1] अब दूसरी अंतरस्थान प्ररूपणा करते हैं ।

अन्तरस्थान की प्ररूपणा[2] के लिए गाथा में 'लोगासिमित्यादि' पद कहा है । जिसका अर्थ यह है कि इन त्रस जीवों के असंख्यात लोक अर्थात् असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण अनुभागबंधस्थानों का अन्तर होता है, अर्थात् इतने अनुभागबंधस्थान त्रस जीवों के बंध को प्राप्त नहीं होते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि त्रसयोग्य अर्थात् त्रस जीवों के बंधयोग्य जितने अनुभागबंधस्थान हैं, वे सभी बंध को प्राप्त नहीं होते हैं । वे अनुभागस्थान जघन्यपद की अपेक्षा एक या दो और उत्कृष्टपद की अपेक्षा असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण होते हैं और स्थावर जीवों के बंधने योग्य अनुभागस्थानों में अन्तर नहीं है । क्योंकि सभी स्थान स्थावरों के योग्य हैं, अर्थात् स्थावर जीवों के द्वारा सदा ही अपने योग्य सभी अनुभागस्थान बांधे जाते हुए प्राप्त होते हैं । यह कैसे जाना ? तो इसका उत्तर यह है कि संसार में स्थावर जीव अनन्त हैं किन्तु स्थावरों के बंधयोग्य अनुभागस्थान असंख्यात ही हैं । इसलिये उनमें अन्तर प्राप्त नहीं होता है । यह अन्तरप्ररूपणा का अभिधेय है ।[3]

इस तरह प्रतिस्थान जीवों के प्रमाण और अन्तरस्थान की प्ररूपणा करने के बाद आगे की गाथा में निरन्तरस्थान और नानाजीवकाल प्ररूपणा का विवेचन करते हैं ।

निरन्तरस्थान एवं नानाजीवकाल प्ररूपणा

आवलि असंखभागो, तसा निरंतरं अहेगठाणम्मि ।
नाणा जीवा एवइ-कालं एगिंदिया निच्चं ॥४५॥

---

१. उक्त जीवप्रमाणप्ररूपणा का सारांश यह है कि स्थावरप्रायोग्य एक-एक अनुभागबंधस्थान में अनन्त स्थावर जीव पाये जाते हैं । उनमें जघन्य, उत्कृष्ट का भेद नहीं है और त्रसप्रायोग्य एक-एक अनुभागबंधस्थान में जघन्य से एक, दो और उत्कृष्ट से आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण त्रस जीव पाये जाते हैं।

२. पंक्ति रूप में स्थापित अध्यवसायों के मध्य में जो बंधरहित स्थानों का अन्तर पड़ता है उस पंक्तिगत अन्तर की प्ररूपणा करने को अन्तरप्ररूपणा कहते हैं। जैसे ●●●●○○○○●●●● इस स्थापना में जो खुले हुए गोलाकार शून्य हैं वे बंधरहित स्थान के दर्शक यानी अन्तर रूप हैं। अन्तरप्ररूपणा में पंक्तिबद्ध अन्तर को ग्रहण किया जाता है, किन्तु जुदे-जुदे बिखरे हुए बंधशून्यस्थान के समुदाय की अपेक्षा अन्तरप्ररूपणा नहीं समझना चाहिये।

३. उक्त कथन का सारांश यह है कि स्थावरप्रायोग्य अनु. स्थानों में अन्तर नहीं होता है और त्रसप्रायोग्य अनु. स्थानों में जघन्य से १, २ और उत्कृष्ट से असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण स्थानों का अन्तर होता है, अर्थात् उतने स्थान बंधशून्य होते हैं ।

शब्दार्थ—**आवलिअसंखभागो**–आवलिका का असंख्यातवां भाग, **तसा**–त्रस जीव, **निरंतरं**–निरंतर, **अह**–तथा, **एगठाणम्मि**–एक स्थान में, **नाणा**–अनेक, **जीवा**–त्रस जीव, **एवइ**–इतने ही, **कालं**–समय, **एगिंदिया**–एकेन्द्रिय जीव, **निच्चं**–नित्य बंधक ।

गाथार्थ—त्रस जीवों द्वारा निरन्तर बध्यमान स्थान आवलिका के असंख्यात भाग प्रमाण हैं तथा अनेक त्रस जीवों की अपेक्षा भी एक स्थान का बंधकाल इतना ही है और स्थावरप्रायोग्य एक-एक अनुभागस्थान में एकेन्द्रिय जीव नित्य यानी सर्वकाल बंधक रूप से पाये जाते हैं ।

विशेषार्थ—यहाँ गाथा में आगत 'तसा' यह प्रथमान्त पद तृतीया विभक्ति के अर्थ में है। अर्थात् बंध का आश्रय करके त्रसजीवों के द्वारा निरन्तर बध्यमान स्थान आवलिका के असंख्यातवें भाग काल प्रमाण होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि त्रस जीवों के द्वारा निरन्तर बांधे जाने वाले अनुभागबंधस्थान जघन्य रूप से दो या तीन पाये जाते हैं और उत्कृष्ट रूप से आवलिका के असंख्यातवें भागप्रमाण काल तक पाये जाते हैं। यह कैसे जाना जाये ? तो इसका उत्तर यह है कि त्रस जीव अल्प हैं और त्रसप्रायोग्य अनुभागबंधस्थान असंख्यात हैं । इसलिये त्रस जीवों के द्वारा सभी स्थान क्रम से निरंतर बांधे जाने वाले के रूप में प्राप्त नहीं होते हैं । किन्तु उत्कर्ष से भी यथोक्त प्रमाण ही अर्थात् आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने प्रमाण ही पाये जाते हैं । यह निरन्तरस्थानप्ररूपणा का आशय है ।[1]

अब नाना जीवों की अपेक्षा कालप्ररूपणा करते हैं । इसके लिये गाथा में 'अहेगठाणम्मि' इत्यादि पद कहा है । अर्थात् एक-एक अनुभागबंधस्थान नाना जीवों के द्वारा बांधा जाता हुआ कितने काल तक उनसे अविरहित पाया जाता है, ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं कि त्रसप्रायोग्य एक-एक अनुभागबंधस्थान पर नाना प्रकार के त्रस जीव जघन्य से एक समय तक और उत्कर्ष से 'एवइकालं' अर्थात् इतने काल तक जिसका कि स्वरूप पहले कहा गया है, उस आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र काल तक निरंतर बंधक रूप से पाये जाते हैं । उससे परे अवश्य ही वह अनुभागबंधस्थान बंधशून्य हो जाता है। उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि एक-एक त्रसप्रायोग्य अनुभागबंधस्थान अन्य-अन्य त्रस जीवों के द्वारा निरंतर बांधा जाता हुआ जघन्य से एक समय या दो समय तक पाया जाता है और उत्कर्ष से आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक पाया जाता है ।

'एगिंदिया निच्चं' स्थावरप्रायोग्य एक-एक अनुभागबंधस्थान पर नाना प्रकार के एकेन्द्रिय जीव नित्य अर्थात् सर्वकाल अविरहित रूप से बंध करने वाले पाये जाते हैं अर्थात् स्थावरप्रायोग्य कोई भी अनुभागस्थान कदाचित् भी स्थावर जीवों के द्वारा बंधशून्य नहीं होता है । इस कथन का

---

१ यहां 'निरंतर' शब्द बध्यमान स्थानों के अनन्तरानन्तरत्व का दर्शक है कि त्रस जीव द्वारा निरंतर बांधे जाने वाले अनु० स्थान कितने हो सकते हैं ? किन्तु कालबोधक नहीं है। त्रस जीव द्वारा निरन्तर बध्यमान अनु० स्थान जघन्य से एक, दो और उत्कृष्ट से आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। निरंतरस्थानप्ररूपणा का विचार त्रस जीवों में संभव है। स्थावर जीव तो सदैव एक जैसा बंध करते रहते हैं।

अभिप्राय यह है कि एक-एक स्थावरप्रायोग्य अनुभागबंधस्थान अन्य-अन्य स्थावर जीवों के द्वारा निरंतर बांधा जाता हुआ सर्वकाल में पाया जाता है, कदाचित् भी बंधरहित नहीं होता है।

इस प्रकार नाना जीवों का आश्रय करके कालप्ररूपणा की गई।[1] अब वृद्धिप्ररूपणा का अवसर है।

वृद्धिप्ररूपणा

इस प्ररूपणा के दो अनुयोगद्वार हैं, यथा-- १. अनन्तरोपनिधा और २. परंपरोपनिधा। इसमें से पहले अनन्तरोपनिधा के माध्यम से वृद्धिप्ररूपणा करते हैं--

थोवा जहन्नठाणे, जा जवमज्झं विसेसओ अहिआ।
एत्तो हीणा उक्कोसगं ति जीवा अणंतरओ ॥४६॥

शब्दार्थ--थोवा-अल्प, थोड़े, **जहन्नठाणे**-जघन्य अनुभागस्थान में वर्तमान जीव, **जा**-यावत्, पर्यन्त, तक, **जवमज्झं**- यवमध्य, **विसेसओ**-विशेष, **अहिया**-अधिक, **एत्तो**-यहाँ से, **हीणा**-हीन, **उक्कोसगं ति**-उत्कृष्ट स्थान तक, **जीवा**-जीव, **अणंतरओ**-अनन्तरपने से।

गाथार्थ--जघन्य अनुभागबंधस्थान पर जीव सबसे कम होते हैं और उससे आगे यवमध्य तक के स्थानों में अनन्तर रूप से विशेष-विशेष अधिक होते हैं। यहाँ से आगे उत्कृष्ट स्थान तक हीन-हीनतर होते हैं।

विशेषार्थ--जघन्य अनुभागबंधस्थान पर बंधक रूप से वर्तमान जीव सबसे थोड़े होते हैं, उससे द्वितीय अनुभागबंधस्थान पर जीव विशेषाधिक होते हैं, उससे भी तृतीय अनुभागबंधस्थान पर विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार यह क्रम तब तक कहना चाहिये, जब तक कि 'जवमज्झं' अर्थात् यवमध्य रूप सर्व अनुभागस्थानों का अष्टसामयिक मध्यभाग प्राप्त होता है। उससे ऊपर पुनः जीव अनन्तर-अनन्तर क्रम से विशेषहीन-विशेषहीन तब तक कहना चाहिये, जब तक (हानि की अपेक्षा) उत्कृष्ट द्विसामयिक अनुभागबंधस्थान प्राप्त हो।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा की गई, अब परंपरोपनिधा से प्ररूपणा करते हैं--

गंतूणमसंखेज्जे, लोगे दुगुणाणि जाव जवमज्झं।
एत्तो य दुगुणहीणा, एवं उक्कोसगं जाव ॥४७॥

शब्दार्थ--गंतूणं-उल्लंघन, अतिक्रमण कर, **असंखेज्जे**-असंख्यात, **लोगे**-लोकप्रमाण, **दुगुणाणि**-दुगुने, **जाव**-यावत्, तक के; **जवमज्झं**-यवमध्य, **एत्तो**-इसके बाद, **य**-और **दुगुणहीणा**- द्विगुण-द्विगुणहीन, **एवं**-इस प्रकार, **उक्कोसगं**-उत्कृष्टस्थान, **जाव**-तक।

---

१. नाना जीवापेक्षा कालप्रमाणप्ररूपणा का यह आशय है कि त्रसप्रायोग्य एक-एक अनुभागबंधस्थान अन्य-अन्य त्रस जीवों द्वारा जघन्य से निरन्तर एक या दो समय और उत्कृष्ट से आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक निरन्तर रूप से बंधते हैं और स्थावरप्रायोग्य अनु० स्थान अन्य-अन्य स्थावर जीव निरन्तर सदैव बांधते रहते हैं।

गाथार्थ—असंख्यात लोकप्रमाण स्थानों का उल्लंघन कर जीव दुगुने पाये जाते हैं। यह अनन्तर-अनन्तर का क्रम यवमध्य तक जानना चाहिये। उसके आगे दुगुणहीन जीव प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह क्रम उत्कृष्ट अनुभागबंधस्थान तक जानना चाहिये।

विशेषार्थ—जघन्य अनुभागबंधस्थान का बंध करने वाले से आगे अर्थात् जघन्य अनुभाग-बंधस्थान से आरंभ करके असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण स्थानों का उल्लंघन करके जो आगे का अनुभागबंधस्थान प्राप्त होता है, उसके बंध करने वाले जीव 'द्विगुणवृद्धा' द्विगुणवृद्धि वाले यानी दुगुने (द्विगुण जितने अधिक) होते हैं। तदनन्तर फिर उतने ही अनुभागबंधस्थानों का अतिक्रमण करके जो अग्रिम अनुभागबंधस्थान प्राप्त होता है, उसके बंधक भी द्विगुणवृद्धि वाले होते हैं। इस प्रकार यह द्विगुणवृद्धि तब तक कहना चाहिये, जब तक यवमध्य प्राप्त होता है। उससे आगे असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण स्थानों का उल्लंघन करके जो आगे का अनुभाग-बंधस्थान प्राप्त होता है, उसके बंधक जीव पिछले कहे गये जीवों से द्विगुणहीन, अर्थात् आधे होते हैं। तदनन्तर, फिर उतने ही स्थानों का उल्लंघन करके प्राप्त होने वाले ऊपर के अनुभाग-बंधस्थान के बंधक जीव द्विगुणहीन अर्थात् आधे होते हैं। इस प्रकार यह द्विगुणहानि अपने-अपने योग्य सर्वोत्कृष्ट अनुभागबंधस्थान प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

अब द्विगुण वृद्धि-हानिरूप स्थान कितने हैं, इसको स्पष्ट करते हैं—

नाणंतराणि आवलिय असंखभागो तसेसु इयरेसुं।
एगंतरा असंखिय गुणाइं ठाणंतराइं तु ॥४८॥

शब्दार्थ—**नाणंतराणि**—नाना प्रकार के अन्तरस्थान, **आवलिय**—आवलिका के, **असंखभागो**—असंख्यातवें भाग प्रमाण, **तसेसु**—त्रसजीवों में, **इयरेसुं**—इतर (स्थावर) जीवों में, **एगंतरा**—एक अन्तर के स्थानों से, **असंखियगुणाइं**—असंख्यातगुण, **ठाणंतराइं**—अन्तर वाले स्थान, **तु**—और।

गाथार्थ—त्रसकाय जीवों में आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण अन्तर (वृद्धि और हानि के अपान्तराल में विद्यमान) प्राप्त होते हैं और स्थावर जीवों में एक अन्तर के स्थानों से असंख्यात-गुण अन्तर प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—नाना अन्तर अर्थात् नाना प्रकार के द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले अपान्तराल रूप जो स्थान हैं, वे त्रसकाय जीवों में आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने प्रमाण होते हैं।[1]

प्रश्न—आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र ही अनुभागबंधस्थान त्रस जीवों के द्वारा निरन्तर बध्यमान प्राप्त होते हैं, यह पहले कहा गया है,[2] तब फिर त्रस जीवों में द्विगुणवृद्धि और द्विगुण-

१. दो द्विगुणवृद्धि और दो द्विगुणहानि के जो अन्तराल होते हैं, उनमें असंख्यलोकप्रमाण अनुभागबंधस्थान हैं, वैसे आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण अन्तरालों में जितने अनुभागबंधस्थान हैं, वे सब त्रस-जीवप्रायोग्य हैं।

२. गाथा ४५ में।

हानि वाले स्थान यथोक्त प्रमाण अर्थात् आवलिका के असंख्यातवें भागप्रमाण कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार तो एक भी द्विगुणवृद्धि अथवा द्विगुणहानि प्राप्त नहीं होती है।[1]

उत्तर––इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि पहले आवलिका के असंख्यातवें भागमात्र स्थान त्रस जीवों के द्वारा निरन्तर बध्यमान रूप से प्राप्त होते हैं, यह कहा गया है, किन्तु यहां पर तो आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र स्थानों से परवर्ती बध्यमान स्थान वर्तमान में प्राप्त नहीं होते हैं, तथापि कदाचित् प्राप्त होते हैं और उन स्थानों में जीव उत्कृष्टपद में क्रम से विशेषाधिक पाये जाते हैं। इसलिए यथोक्त प्रमाण वाले द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले स्थान विरोध को प्राप्त नहीं होते हैं।

इतर अर्थात् स्थावर जीवों में त्रसकायिक संबंधी एक अन्तर से असंख्यात गुणित नाना रूप अन्तर अर्थात् द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले स्थान होते हैं। उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि त्रसकायिक जीवों के दो द्विगुणवृद्धि अथवा दो द्विगुणहानि के एक अपान्तराल में जितने स्थान होते हैं, उनसे असंख्यात गुणित द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले स्थान स्थावर जीवों के होते हैं।[2]

त्रस जीवों में द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले स्थान अल्प होते हैं। एक द्विगुणवृद्धि अथवा द्विगुणहानि के अपान्तराल से जो स्थान होते हैं, वे उनसे असंख्यातगुणित होते हैं। स्थावर जीवों के तो दो द्विगुणवृद्धि अथवा दो द्विगुणहानि इन दोनों के ही अपान्तराल में जो स्थान होते हैं, वे अल्प हैं और द्विगुणवृद्धि तथा द्विगुणहानि वाले अन्तराल स्थान उनसे असंख्यात गुणित होते हैं, यह वृद्धिप्ररूपणा की परंपरोपनिधा का अभिप्राय है।[3]

इस प्रकार वृद्धिप्ररूपणा का विवेचन किया गया। अब यवमध्यप्ररूपणा करते हैं।

यवमध्यप्ररूपणा

यवमध्य के अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान शेष स्थानों की अपेक्षा असंख्यातवें भाग मात्र होते हैं तथा यवमध्य के अधोवर्ती स्थान अल्प हैं और उनसे यवमध्य के उपरिवर्ती स्थान असंख्यात गुणित होते हैं। कहा भी है––

---

१. उक्त कथन का आशय यह है कि यदि ४५वीं गाथा के अनुसार त्रस जीवों में अनुभागस्थानों की प्राप्ति मानें तो एक भी अन्तराल प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि एक अन्तराल में अनुभागस्थान तो असंख्यातलोक प्रमाण कहे हैं और पूर्व में त्रसजीव में आवलिका के असंख्यातभागप्रमाण अनुभागस्थान कहे हैं।

२. उक्त कथन का आशय यह है कि त्रसकायिक जीवों के दो द्विगुणवृद्धि अथवा दो द्विगुणहानि के एक अन्तर में जितने अनुभागस्थान हैं, उनसे असंख्यातगुण अन्तर स्थावरकाय जीवों में प्राप्त होते हैं।

३. उक्त परंपरोपनिधा के विवेचन का सारांश यह है कि जघन्य अनुभागस्थानबंधक जीवों की अपेक्षा उस स्थान से असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण स्थान का उल्लंघन करने के अनन्तर प्राप्त स्थान में बंधक रूप से पाये जाने वाले जीव दुगने, उससे आगे उतने स्थानों का अतिक्रमण करने के बाद दुगने, इस प्रकार यवमध्य (अष्टसामयिकस्थानों) तक कहना चाहिये और उससे आगे उतने-उतने स्थानों के अतिक्रमण से द्विगुणहीन, द्विगुणहीन करते हुए उत्कृष्ट स्थान तक जानना। त्रस जीवों में द्विगुण हानि और वृद्धि के स्थान आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण और स्थावर जीवों में असंख्यात लोकाकाशप्रदेश से असंख्यात गुण हैं।

जवमज्झे ठाणाइं, असंखभागो उ सेसठाणाणं।
हेठम्मि होंति थोवा, उवरिम्मि असंखगुणियाणि ।।[1]

अर्थ—यवमध्य में अनुभागस्थान शेष स्थानों के असंख्यातवें भाग होते हैं तथा यवमध्य से नीचे के स्थान अल्प होते हैं और ऊपर असंख्यातगुणित होते हैं।

इस प्रकार यवमध्यप्ररूपणा करने के अनन्तर अब स्पर्शना और अल्पबहुत्व प्ररूपणा करते हैं।

स्पर्शना और अल्पबहुत्व प्ररूपणा

फासणकालो तीए, थोवो उक्कोसगे जहन्ने उ।
होइ असंखेज्जगुणो, य उ कंडगे तत्तिओ चेव ।।४९।।
जवमज्झ कंडगोवरि, हेट्ठो जवमज्झओ असंखगुणो।
कमसो जवमज्झुवरिं, कंडगहेट्ठा य तावइओ ।।५०।।
जवमज्झुवरि विसेसो, कंडगहेट्ठा य सव्वहिं चेव।
जीवप्पाबहुमेवं, अज्झवसाणेसु जाणेज्जा ।।५१।।

शब्दार्थ—**फासणकालो**—स्पर्शनाकाल, **तीए**—अतीतकाल में, **थोवो**—सबसे कम, **उक्कोसगे**—उत्कृष्ट स्थान में, **जहन्ने उ**—और जघन्य स्थान में तो, **होइ**—होता है, **असंखेज्जगुणो**—असंख्यात गुणा, **य**—और, **उ**—तो, **कंडगे**—कंडक में, **तत्तिओ**—उतना, **चेव**—ही।

जवमज्झ—यवमध्य स्थान का, **कंडगोवरि**—कंडक के ऊपर, **हेट्ठो**—नीचे के, **जवमज्झओ**—यवमध्य से, **असंखगुणो**—असंख्यात गुण, **कमसो**—क्रमशः, **जवमज्झुवरिं**—यवमध्य से ऊपर, **कंडगहेट्ठा**—कंडक से नीचे के, **य**—और, **तावइओ**—उतने ही।

जवमज्झुवरि—यवमध्य से ऊपर के, **विसेसो**—विशेषाधिक, **कंडगहेट्ठा**—कंडक के अधोवर्ती, **य**—और, **सव्वहिं**—समस्त स्थानों का, **चेव**—और इस प्रकार, **जीवप्पाबहुं**—जीवों का अल्पबहुत्व, **एवं**—इस तरह, **अज्झवसाणेसु**—अध्यवसायों में, **जाणेज्जा**—जानना चाहिये।

गाथार्थ—(एक जीव की अपेक्षा) अतीतकाल में उत्कृष्ट (द्विसामयिक स्थानों का) स्पर्शनाकाल सबसे कम है, उससे जघन्य (अर्थात् आद्य चतुःसामयिक) स्थान का स्पर्शनाकाल असंख्यात गुणा है। उससे कंडक में (उत्तरवर्ती चतुःसामयिक) स्थानों का स्पर्शनाकाल उतना ही अर्थात् तुल्य है।

उस यवमध्य रूप अष्टसामयिक स्थान का तथा कंडक के उपरिवर्ती त्रिसामयिक स्थान का तथा यवमध्य के पूर्ववर्ती सप्त, षट् और पंच सामयिक स्थानों का स्पर्शनाकाल अनुक्रम से असंख्यात गुणा है। उससे कंडक के पूर्ववर्ती और यवमध्य के उत्तरवर्ती सप्त, षट् और पंच सामयिक स्थानों का स्पर्शनाकाल तुल्य है।

१. पंचसंग्रह, बंधनकरण गाथा ६७

उससे यवमध्य के उत्तरवर्ती (सप्तसामयिक आदि सर्व) स्थानों का स्पर्शनाकाल विशेषाधिक है। उससे कंडक के पूर्ववर्ती सभी अर्थात् उत्तर त्रिसामयिक से पूर्व चतुःसामयिक तक के स्थानों का एक जीव संबंधी स्पर्शनाकाल विशेषाधिक है। इसी प्रकार अध्यवसायस्थानों में जीवों का अल्पबहुत्व भी जानना चाहिये।

विशेषार्थ—अतीत काल में एक जीव के उत्कृष्ट अर्थात् द्विसामयिक अनुभागबंधस्थान में स्पर्शनाकाल अल्प है। इसका आशय यह है कि भूतकाल में परिभ्रमण करते हुए जीव के द्वारा द्विसामयिक अनुभागबंधस्थान अल्प ही स्पर्श किये गये हैं। जघन्य अनुभागबंधस्थान में अर्थात् प्राथमिक चतुःसामयिक स्थानों में अतीतकाल में स्पर्शनाकाल असंख्यात गुणा है और 'कंडगे तत्तिओ चेव'—कंडक में भी उतना ही है, अर्थात् उपरितन चतुःसामयिक अनुभागबंधस्थान में भी उतना ही है, जितना कि आद्य चतुःसामयिक स्थानों का है। इससे यवमध्य में अर्थात् अष्टसामयिक अनुभागस्थानों में स्पर्शनाकाल असंख्यात गुणित है। उससे कंडक के अर्थात् उपरिवर्ती चतुःसामयिक स्थानों के समुदाय रूप स्थान के उपरिवर्ती स्थानों में अर्थात् त्रिसामयिक अनुभागबंधस्थानों में स्पर्शनाकाल असंख्यात गुणित है। उससे यवमध्य के अधोवर्ती पंचसामयिक, षट्सामयिक और सप्तसामयिक अनुभागबंधस्थानों में स्पर्शनाकाल असंख्यात गुणा है, किन्तु स्वस्थान में स्पर्शनाकाल परस्पर समान है। इससे आगे क्रमशः यवमध्य के उपरिवर्ती चतुःसामयिक स्थान के समुदाय रूप कंडक के अधोवर्ती सभी अनुभागबंधस्थानों में जघन्य चतुःसामयिक पर्यन्त स्पर्शनाकाल समुदित रूप से विशेषाधिक है। उससे सभी अनुभागबंधस्थानों में स्पर्शनाकाल विशेषाधिक है।

इस प्रकार स्पर्शनाप्ररूपणा का कथन जानना चाहिये। सरलता से समझने के लिये जिसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रारूप में किया है—

एक जीव की अपेक्षा अनुभागस्थानों का स्पर्शनाकाल

क्रम	स्थान का नाम	समय	क्रम	स्थान का नाम	समय
१.	द्विसामयिक स्थानों का	सर्वाल्प	८	यवमध्य से पूर्व सप्तसामयिक का	पूर्वतुल्य
२.	प्रथम चतुःसामयिक का	असंख्यात गुण	९	कंडक से पूर्व के पंचसामयिक का	,,
३.	कंडक (उत्तर चतुःसामयिक) का	पूर्वतुल्य	१०	,, षट्सामयिक का	,,
४.	अष्टसामयिक का	असंख्य गुण	११	,, सप्तसामयिक का	,,
५.	त्रिसामयिक का	,,	१२	यवमध्य से उत्तर के सर्वस्थानों का	विशेषाधिक
६.	यवमध्य से पूर्व पंचसामयिक का	,,	१३	कंडक से पूर्व के सर्वस्थानों का	,,
७.	यवमध्य से पूर्व षट्सामयिक का	पूर्वतुल्य	१४	सर्वस्थानों का	,,

अब अल्पबहुत्वप्ररूपणा करते हैं—जीवप्पाबहुं इत्यादि। अर्थात् जिस प्रकार स्पर्शनाकाल का अल्पबहुत्व कहा है, उसी प्रकार अनुभागबंधस्थानों के निमित्तभूत अध्यवसायों में वर्तमान जीवों का भी अल्पबहुत्व जानना चाहिये। वह इस प्रकार है—

द्विसामयिक अनुभागबंध के कारणभूत उत्कृष्ट अध्यवसायों म वर्तमान जीव अल्प होते हैं । उनसे चतुःसामयिक अनुभागबंध के कारणभूत जघन्य अर्थात् आदि के अध्यवसायों में जीव असंख्यात गुणित होते हैं और इतने ही जीव उपरिवर्ती चतुःसामयिक अनुभागबंधस्थान के कारणभूत अध्यवसायों में होते हैं । उससे भी यवमध्य कल्प अनुभागबंधस्थानों के कारणभूत अध्यवसायों में वर्तमान जीव असंख्यात गुणित होते हैं । उनसे भी त्रिसामयिक अनुभागबंधस्थानों के निमित्तभूत अध्यवसायों में वर्तमान जीव असंख्यात गुणित होते हैं । उनसे भी आदि के पंचसामयिक, षट्सामयिक और सप्तसामयिक अनुभागबंधस्थानों के कारणभूत अध्यवसायों में वर्तमान जीव असंख्यात गुणित होते हैं और इतने ही उपरिवर्ती पंचसामयिक, षट्सामयिक और सप्तसामयिक अनुभागबंधस्थानों के निमित्तभूत अध्यवसायों में वर्तमान जीव पाये जाते हैं । इससे यवमध्य के उपरिवर्ती समस्त अनुभागबंधस्थानों के निमित्तभूत अध्यवसायों में वर्तमान जीव विशेषाधिक होते हैं । इनसे भी उपरिवर्ती पंचसामयिक पर्यन्त प्राथमिक चतुःसामयिक आदि समस्त अनुभागबंधस्थानों के कारणभूत अध्यवसायों में वर्तमान जीव विशेषाधिक होते हैं । इनसे भी सभी अनुभागबंधस्थानों के कारणभूत अध्यवसायों में वर्तमान जीव विशेषाधिक होते हैं ।[1]

इस प्रकार अनुभागबंधस्थानों में और उनके कारणभूत अध्यवसायों में जिस प्रकार से जीव पाये जाते हैं, उसकी प्ररूपणा करने के बाद अब एक-एक स्थितिबंधस्थान के अध्यवसाय में नाना जीवों की अपेक्षा कितने अनुभागबंधाध्यवसाय प्राप्त होते हैं, इसका निरूपण करते हैं—

एक्केक्कम्मि कसायो-दयम्मि लोगा असंखिया होंति ।
ठिइबंधट्ठाणेसु वि, अज्झवसाणाण ठाणाणि ।।५२।।

शब्दार्थ—**एक्केक्कम्मि**—एक-एक, **कसायोदयम्मि**—कषायोदय में, **लोगा**—लोक, **असंखिया**—असंख्यात, **होंति**—होते हैं, **ठिइबंधट्ठाणेसु**—स्थितिबंधस्थानों में, **वि**—भी, **अज्झवसाणाण**—अध्यवसायों के, **ठाणाणि**—स्थान ।

गाथार्थ—(स्थितिस्थान हेतुभूत) एक-एक कषायोदय में असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागबंध के अध्यवसायस्थान होते हैं और सर्व स्थितिबंधस्थानों में भी प्रत्येक के ऊपर असंख्यात लोकप्रमाण अध्यवसायस्थान प्राप्त होते हैं ।

विशेषार्थ—स्थितिस्थान के कारणभूत एक-एक कषायोदय में नाना जीवों की अपेक्षा कृष्णादि लेश्याजनित परिणामविशेषरूप अनुभागबंधाध्यवसाय असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं । अर्थात्

१. उक्त कथन का आशय यह है कि किस प्रकार के अनुभागबंध में वर्तमान जीव अल्पाधिक होते हैं, उसकी विचारणा इस अल्पबहुत्वप्ररूपणा में की गई है । यह अल्पबहुत्व स्पर्शनाकाल के अल्पबहुत्व के समान समझना चाहिये । अर्थात् द्विसामयिक अध्यवसायों में वर्तमान जीव अल्प होते हैं, उससे प्रथम चतुःसामयिक अध्यवसायों में वर्तमान असंख्यातगुणे । इसी प्रकार क्रमशः उत्तरोत्तर अंतिम चौदहवें स्थान तक कथन करना चाहिये ।

असंख्यात लोकाकाशप्रदेशों का जितना प्रमाण होता है, उतने ही होते हैं, क्योंकि शास्त्रों में ऐसा कहा है कि—

'सकषायोदया हि कृष्णादिलेश्यापरिणामविशेषा अनुभागबंधहेतवः'—कषायोदय से होने वाले कृष्णादि लेश्याओं के परिणामविशेष अनुभागबंध के कारण हैं तथा जघन्यस्थिति से प्रारंभ करके उत्कृष्टस्थिति तक जितने समय होते हैं, उतने ही स्थिति के स्थान होते हैं। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि किसी भी कर्म की जो सर्व जघन्यस्थिति होती है, वह एक स्थितिस्थान कहलाता है। वही एक समय अधिक होने पर दूसरा स्थितिस्थान कहलाता है। वही दो समय अधिक होने पर तीसरा स्थितिस्थान कहलाता है। इस प्रकार एक-एक समय की वृद्धि करते हुए उत्कृष्टस्थिति प्राप्त होने तक स्थितिस्थान कहना चाहिये। इस प्रकार ये स्थितिस्थान असंख्यात होते हैं। उन असंख्य स्थितिस्थानों में प्रत्येक एक-एक स्थितिबंधस्थान में तीव्र, तीव्रतर और मंद, मंदतर आदि कषायोदयविशेषरूप अध्यवसायस्थान असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण होते हैं।

अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की वृद्धिमार्गणा

अब अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की वृद्धिमार्गणा का विचार करते हैं। वह दो प्रकार की है—अनन्तरोपनिधा रूप और परंपरोपनिधा रूप। इनमें से पहले अनन्तरोपनिधा की रीति से आगे की गाथा में वृद्धिमार्गणा का कथन करते हैं—

थोवाणि कसाउदये, अज्झवसाणाणि सव्वडहरम्मि।
बिइयाइ विसेसहिया–णि जाव उक्कोसगं ठाणं ॥५३॥

शब्दार्थ—**थोवाणि**–अल्प, **कसाउदये**–कषायोदय में, **अज्झवसाणाणि**–अध्यवसाय, **सव्वडहरम्मि**–सर्व जघन्य, **बिइयाइ**–दूसरे, **विसेसहियाणि**–विशेषाधिक, **जाव**–तक, **उक्कोसगं**–उत्कृष्ट, **ठाणं**–स्थान।

गाथार्थ—सर्व जघन्य कषायोदय में (अनुभागबंध) अध्यवसायस्थान अल्प होते हैं। उससे आगे दूसरे आदिक कषायोदयस्थानों पर विशेषाधिक-विशेषाधिक उत्कृष्ट कषायोदयस्थान प्राप्त होने तक जानना चाहिये।

विशेषार्थ—'सव्वडहरम्मि'–अर्थात् सर्व जघन्य कषायोदय में जो कि स्थितिबंध का कारण है, उसमें कृष्णादि लेश्याओं के परिणामविशेषरूप अनुभागबंधाध्यवसायस्थान अल्प प्राप्त होते हैं, उससे दूसरे, तीसरे आदि कषायोदयस्थान पर उत्तरोत्तर विशेषाधिक-विशेषाधिक तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थितिबंध का अध्यवसायस्थान प्राप्त होता है। इसका आशय यह है कि सर्व जघन्य प्रथम कषायोदयस्थान की अपेक्षा दूसरे कषायोदयस्थान पर अनुभागबंधाध्यवसाय-स्थान विशेषाधिक होते हैं, उससे भी तीसरे पर विशेषाधिक होते हैं, उससे भी चौथे पर विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट कषायोदय रूप स्थितिबंधाध्यवसायस्थान तक कहना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से वृद्धिमार्गणा का कथन करने के बाद अब परंपरोपनिधा से वृद्धिमार्गणा का कथन करते हैं—

गंतूणमसंखेज्जे, लोगे दुगुणाणि जाव उक्कोसं।
आवलिअसंखभागो, नाणागुणवुड्ढिठाणाणि ॥५४॥

शब्दार्थ—**गंतूणं**—अतिक्रमण करने के बाद, **असंखेज्जे**—असंख्यात, **लोगे**—लोक प्रमाण स्थान, **दुगुणाणि**—दुगुने, **जाव**—पर्यन्त, तक, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **आवलिअसंखभागो**—आवलि के असंख्यातवें भाग, **नाणागुणवुड्ढि**—नाना गुणवृद्धि वाले, **ठाणाणि**—स्थान।

गाथार्थ—प्रथम कषायोदय से असंख्यात लोक प्रमाण स्थानों का अतिक्रमण करने के बाद जो आगे का कषायोदयस्थान आता है, उसमें अनुभागबंधाध्यवसायस्थान दुगुने हो जाते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट कषायोदयस्थान तक कहना चाहिये। इस प्रकार ये नाना गुणवृद्धि वाले स्थान आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।

विशेषार्थ—जघन्य कषायोदय से आरंभ करके असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण कषायोदय-स्थानों का अतिक्रमण करके जो स्थितिबंधाध्यवसायस्थान प्राप्त होता है, उस पर अनुभाग-बंधाध्यवसायस्थान जघन्य कषायोदयस्थान संबंधी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अपेक्षा दुगुने हो जाते हैं। इससे आगे फिर उतने ही कषायोदयस्थानों का उल्लंघन करके जो ऊपर स्थिति-बंधाध्यवसायस्थान प्राप्त होता है, वहाँ पर अनुभागबंधाध्यवसायस्थान दुगुने हो जाते हैं। इस प्रकार पुनः-पुनः वहाँ तक कहना चाहिये, जहाँ उत्कृष्ट कषायोदयस्थान प्राप्त होता है।

इन स्थानों के अन्तर-अन्तर में जो नाना रूप द्विगुण-द्विगुण वृद्धि वाले स्थान होते हैं, वे कितने होते हैं? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि 'आवलिअसंखभागो' आवलिका के असंख्यातवें भाग अर्थात् आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने प्रमाण ये द्विगुणवृद्धि वाले स्थान होते हैं।

अब पूर्वोक्त वृद्धिमार्गणा को प्रकृतियों में घटित करते हैं—

सव्वासुभपगईणं, सुभपगईणं विवज्जयं जाण।
ठिइबंधट्ठाणेसु वि, आउगवज्जाण पगडीणं ॥५५॥
पल्लासंखियभागं, गंतुं दुगुणाणि आउगाणं तु।
थोवाणि पढमबंधे, ठिइयाइ[1] असंखगुणियाणि ॥५६॥

शब्दार्थ—**सव्वासुभपगईणं**—समस्त अशुभ प्रकृतियों की, **सुभपगईणं**—शुभ प्रकृतियों की, **विवज्जयं**—विपरीत, **जाण**—जानना चाहिये, **ठिइबंधट्ठाणेसु**—स्थितिबंधस्थानों में, **वि**—भी, **आउगवज्जाण**—आयु-कर्म के सिवाय, **पगडीणं**—प्रकृतियों की।

१. 'बिइयाइ' इति, पाठान्तर। यह पाठान्तर उपयुक्त ज्ञात होता है।

पल्लासंखियभागं–पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण, **गंतु**–उल्लंघन करने के बाद, **दुगुणाणि**–दुगुने, **आउगाणं**–आयुकर्म के, **तु**–तो, **थोवाणि**–अल्प, **पढमबंधे**–प्रथम स्थितिबंध में, **ठिइयाइ**–द्वितीय आदि स्थितिबंध में, **असंखगुणियाणि**–असंख्यात गुण ।

गाथार्थ––(पूर्वोक्त वृद्धि) अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा कही गई है और शुभ प्रकृतियों की वृद्धि-प्ररूपणा उससे विपरीत जानना चाहिये तथा आयुकर्म के सिवाय सभी शुभाशुभ प्रकृतियों के स्थितिबंधस्थानों में भी वृद्धिप्ररूपणा कषायोदयवत् जानना चाहिये ।

पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिबंधस्थानों का उल्लंघन करने के अनन्तर जो-जो स्थितिबंधस्थान प्राप्त होते हैं, उनमें दुगुने, दुगुने अनुभागबंधस्थान होते हैं तथा आयुकर्म के प्रथम स्थितिबंध में अनुभागबंधस्थान अल्प होते हैं और द्वितीय आदि स्थानों में असंख्यात गुणित, असंख्यात गुणित अनुभागबंधस्थान होते हैं ।

विशेषार्थ––सभी अशुभ प्रकृतियों में अर्थात् ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नौ नोकषाय, नरकायु, पंचेन्द्रियजाति को छोड़कर शेष चार जाति, समचतुरस्र को छोड़कर शेष पांच संस्थान, वज्रऋषभनाराच को छोड़कर शेष पांच संहनन, कृष्ण, नील वर्ण, दुरभिगंध, तिक्त, कटु रस, कर्कश, गुरु, रूक्ष, शीत स्पर्श रूप अशुभवर्णादि नवक, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, अप्रशस्त विहायोगति, उपघात, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नीचगोत्र और अंतरायपंचक, इन सतासी (८७) पाप प्रकृतियों के अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की वृद्धिमार्गणा पूर्वोक्त अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की वृद्धिमार्गणा के समान जानना चाहिये । तथा––

'सुभपगईणं' इत्यादि, शुभ प्रकृतियों की अर्थात् सातावेदनीय, तिर्यंचायु मनुष्यायु, देवायु, देवगति, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, शरीरपंचक, संघातपंचक, बंधनपंचदशक, समचतुरस्र-संस्थान, अंगोपांगत्रय, वज्रऋषभनाराचसंहनन, शुभवर्णादि एकादश,[1] देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, पराघात, अगुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर, उच्चगोत्र, इन उनहत्तर (६९) प्रकृतियों की वृद्धिमार्गणा विपरीत जानना चाहिये । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है––

उत्कृष्ट कषायोदय होने पर अनुभागबंधाध्यवसायस्थान सबसे कम होते हैं । द्विचरम कषायोदयस्थान पर विशेषाधिक होते हैं, त्रिचरम कषायोदयस्थान पर विशेषाधिक होते हैं, चतुःचरम

१. शुभ वर्णादि एकादश के नाम इस प्रकार हैं––
वर्ण––श्वेत, पीत, लोहित,
गंध––सुरभिगंध,
रस––कषाय, आम्ल, मधुर,
स्पर्श––लघु, मृदु, स्निग्ध, उष्ण ।

कषायोदयस्थान पर विशेषाधिक होते हैं । इस प्रकार सर्व जघन्य कषायोदयस्थान प्राप्त होने तक कहना चाहिये

यह अनन्तरोपनिधा से अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की वृद्धिमार्गणा का कथन जानना चाहिये । अब परंपरोपनिधा से वृद्धिमार्गणा को स्पष्ट करते हैं—

उत्कृष्ट कषायोदयस्थान से आरंभ करके असंख्यात लोकाकाशप्रदेश राशि प्रमाण कषायोदयस्थानों का अधोभाग में अतिक्रमण करने के अनन्तर अधोभाग में जो दूसरा कषायोदयस्थान आता है, उसमें अनुभागबंधाध्यवसायस्थान उत्कृष्ट कषायोदयस्थान संबंधी अनुभागबंधाध्यवसायस्थान की अपेक्षा दुगुने हो जाते हैं । फिर उतने ही कषायोदयस्थानों का अतिक्रमण करने के अनन्तर जो दूसरा अधोवर्ती कषायोदयस्थान प्राप्त होता है, उसमें अनुभागबंधाध्यसायस्थान दुगुने होते हैं । इस प्रकार पुनः-पुनः जघन्य कषायोदयस्थान प्राप्त होने तक कहना चाहिये । जो अंतर-अंतर में नाना प्रकार के द्विगुणवृद्धि स्थान हैं वे आवलिका के असंख्येयभाग में जितने समय होते हैं, उतने प्रमाण होते हैं । ये आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र शुभ प्रकृतियों के और अशुभ प्रकृतियों के प्रत्येक द्विगुणवृद्धि स्थान अल्प हैं और इनसे भी एक द्विगुणवृद्धि के अपान्तराल में रहे हुए कषायोदयस्थान असंख्यात गुणित होते हैं ।

इस प्रकार स्थितिबंध के कारणभूत अध्यवसायों में अनुभागबंध के कारणभूत अध्यवसायों का निरूपण किया गया । अब स्थितिबंधस्थानों में अनुभागबंध की प्ररूपणा करते हैं—

'ठिइबंधे' इत्यादि अर्थात् स्थितिबंधस्थानों में भी आयुकर्म की प्रकृतियों को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों के कषायोदयस्थानों में अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों के समान अनुभागबंधस्थान जानना चाहिये । इसका स्पष्टीकरण यह है कि—

आयुर्वर्जित (नरकायु को छोड़कर) पूर्वोक्त छियासी (८६) अशुभ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति में अनुभागबंधस्थान असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण होते हैं । वे वक्ष्यमाण स्थानों की अपेक्षा सबसे कम हैं । उससे द्वितीय स्थिति में अनुभागबंधस्थान विशेषाधिक हैं । उससे भी तृतीय स्थिति में अनुभागबंधस्थान विशेषाधिक हैं । इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर विशेषाधिक अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये तथा पूर्वोक्त उनहत्तर (६९) शुभ प्रकृतियों में से आयुत्रिक (तिर्यंच, मनुष्य, देव आयु) को छोड़कर शेष ६६ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में अनुभागबंधस्थान यद्यपि असंख्यात लोकाकाशप्रदेश राशि प्रमाण हैं तथापि वे वक्ष्यमाण स्थानों की अपेक्षा सब से कम हैं । उनसे एक समय कम उत्कृष्टस्थिति में अनुभागबंधस्थान विशेषाधिक होते हैं । उनसे भी दो समय कम उत्कृष्टस्थिति में अनुभागबंधस्थान विशेषाधिक होते हैं । इस प्रकार इस विशेषाधिक क्रम से जघन्यस्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये ।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से स्थितिबंधस्थानों में अनुभागबंध की वृद्धिमार्गणा का कथन किया गया । अब परंपरोपनिधा से उसकी वृद्धिमार्गणा का कथन करते हैं—

पूर्वोक्त आयुर्वर्जित छियासी (८६) अशुभ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति से आरंभ करके पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिस्थानों का अतिक्रमण करके जो दूसरा स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमें अनुभागबंधस्थान जघन्यस्थिति संबंधी अनुभागबंधस्थानों से दुगुने होते हैं, उससे फिर उतने ही स्थितिस्थान अतिक्रमण करके जो नया स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमें अनुभागबंधस्थान दुगुने होते हैं। इस प्रकार पुनः-पुनः उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये, तथा--

पूर्वोक्त आयुर्वर्जित छियासठ (६६) शुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति से आरंभ करके पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिस्थानों का उल्लंघन करके जो नया अधोवर्ती स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमें अनुभागबंधस्थान उत्कृष्ट स्थितिस्थान संबंधी अनुभागबंधस्थानों से दुगुने होते हैं। तदनन्तर पुनः उतने ही स्थितिस्थान नीचे उतर कर जो अधोवर्ती नया स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमें अनुभागबंधस्थान दुगुने होते हैं। इसी प्रकार इसी क्रम से जघन्य स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

ये शुभ प्रकृतियों के और अशुभ प्रकृतियों के प्रत्येक के द्विगुणवृद्धिस्थान आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने प्रमाण होते हैं तथा ये द्विगुणवृद्धिस्थान अल्प हैं। क्योंकि उनका प्रमाण आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र है। उनसे एक द्विगुणवृद्धि के अपान्तराल में स्थितिस्थान असंख्यात गुणित होते हैं। क्योंकि उनका प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र होता है, तथा--

चारों आयुकर्मों की जघन्य स्थिति में अनुभागबंधस्थान सब से कम होते हैं। उससे एक समय अधिक जघन्यस्थिति में अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं। उससे भी द्विसमय अधिक जघन्यस्थिति में अनुभागबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं। इसी प्रकार इसी क्रम से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक असंख्यात गुणित अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये।

इस प्रकार परंपरोपनिधा से स्थितिबंधस्थानों में अनुभागबंध की वृद्धिमार्गणा का कथन जानना चाहिये।

अब अनुभागबंधस्थानों की तीव्रता और मंदता का ज्ञान कराने के लिये अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि का निरूपण करते हैं।

अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि

घाईणमसुभवण्णरसगंधफासे जहन्न ठिइबंधे।
जाणज्झवसाणाइं तदेगदेसो य अन्नाणि ॥५७॥

पल्लासंखियभागो जावं बिइयस्स होइ बिइयम्मि।
आ उक्कस्सा एवं उवघाए वा वि अणुकड्ढी ॥५८॥

शब्दार्थ--**घाईणं**-घाति प्रकृतियों के, **असुभवण्णरसगंधफासे**-अशुभ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श, **जहन्न**-जघन्य, **ठिइबंधे**-स्थितिबंध में, **जाण**-जानो, **अज्झवसाणाइं**-अनुभागबंधाध्यवसायस्थान, **तदेगदेसो**-उनका एक देश, **य**-और, **अन्नाणि**-अन्य (अनुभागबंधाध्यवसायस्थान)।

पल्लासंखियभागो–पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण. **जावं**–तक, **बिइयस्स**–दूसरे स्थितस्थान के, **होई**–होती है, **बिइयम्मि**–दूसरे स्थान में, **आ उक्कस्सा**–इस तरह उत्कृष्ट स्थितिस्थान तक, **एवं**–इस प्रकार, **उवघाए**–उपघात नामकर्म में, **वा**–और, **वि**–भी, **अणुकड्ढी**–अनुकृष्टि।

गाथार्थ––घातिप्रकृतियों तथा अशुभ वर्ण, रस, गंध और स्पर्श, इन प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान हैं, उनका एक देश तथा अन्य भी अनुभागबंधाध्यवसायस्थान द्वितीय स्थितिबंध में जानना चाहिये।

इस प्रकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों का उल्लंघन करने पर प्रथम स्थितिस्थान के अध्यवसायों की अनुकृष्टि समाप्त होती है। तदनन्तर (प्रथम स्थितिस्थान की अनुकृष्टि पूर्ण होने के बाद) दूसरे स्थितिबंध के अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि दूसरे स्थान में समाप्त होती है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थितिस्थान तक कहना चाहिये। उपघात नामकर्म में भी इसी प्रकार अनुकृष्टि जानना चाहिये।

विशेषार्थ––यहाँ पर प्रायः[1] ग्रंथिदेश में वर्तमान अभव्य जीव के जो जघन्य स्थितिबंध होता है, वहाँ से स्थिति की वृद्धि होने पर कही जाने वाली अनुकृष्टि[2] का अनुसरण करना चाहिये। अर्थात् यहाँ जो स्थिति की वृद्धि में अनुकृष्टि कही जायेगी, वह प्रायः ग्रंथिदेश में वर्तमान अभव्य जीव के जघन्य स्थितिबंध से प्रारम्भ करके कहना चाहिये। परन्तु निम्नलिखित प्रकृतियों के विषय में यह विशेषता है कि––

सातावेदनीय, मनुष्यद्विक, देवद्विक, तिर्यंचद्विक, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, प्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र, और नीचगोत्र इन तेईस प्रकृतियों की अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से नीचे भी अनुकृष्टि का अनुसरण करना चाहिये।

---

१. कुछ एक प्रकृतियों की अनुकृष्टि अभव्य के जघन्य स्थितिबंध से भी पहले (हीनतर स्थितिबंध से) प्रारम्भ होती है, इसी बात को स्पष्ट करने के लिये यहां 'प्रायः' शब्द रखा है।

२. प्रकृतियों को चार वर्गों में विभाजित करके प्रत्येक वर्ग में अनुकृष्टि, तीव्रमंदत्व और स्वस्थान में तुल्यता का विचार किया है––१. अपरावर्तमान अशुभप्रकृति वर्ग, २. अपरावर्तमान शुभप्रकृति वर्ग, ३. परावर्तमान शुभप्रकृति वर्ग, ४. परावर्तमान अशुभप्रकृति वर्ग। इन वर्गों में ग्रहीत प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं––

१. अपरावर्तमान अशुभ प्रकृति––पैंतालीस घाति प्रकृतियां, अशुभ वर्णादि नवक, उपघातनाम। कुल पचवन प्रकृतियां।

२. अपरावर्तमान शुभ प्रकृति––पराघात, पन्द्रह बंधन, पांच शरीर, पांच संघातन, तीन अंगोपांग, शुभवर्णादि ग्यारह, तीर्थंकर, निर्माण, अगुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत। कुल छियालीस प्रकृतियां।

३. परावर्तमान शुभ प्रकृति––सातावेदनीय, स्थिरादि षट्क, उच्चगोत्र, देवद्विक, मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, प्रशस्तविहायोगति। कुल सोलह प्रकृतियां।

४. परावर्तमान अशुभ प्रकृति––असातावेदनीय, स्थावरदशक, नरकद्विक, अप्रशस्तविहायोगति, एकेन्द्रिय आदि चार जातियां, प्रथम संस्थान और संहनन को छोड़कर शेष पांच संस्थान और पांच संहनन। कुल अट्ठाईस प्रकृतियां।

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नव नोकषाय, अन्तरायपंचक ये घातिकर्म की (४५) प्रकृतियां तथा अशुभ गंध, वर्ण, रस और स्पर्श अर्थात् कृष्ण, नील ये दो अशुभ वर्ण, दुरभिगंध, तिक्त, कटुक ये दो अशुभ रस, गुरु, कर्कश, रुक्ष, शीत, ये चार अशुभ स्पर्श रूप अशुभ वर्णादिनवक, उपघातु कुल पचवन (५५) प्रकृतियों[1] के जघन्य स्थितिबंध में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका एकदेश दूसरे स्थितिबंध में भी रहता है तथा अन्य भी अनुभागबंधाध्यवसायस्थान रहते हैं।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि जघन्य स्थितिबंध के प्रारम्भ में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी अनुभागबंधाध्यवसायस्थान दूसरे स्थितिबंध के प्रारम्भ में पाये जाते हैं तथा अन्य[2] भी होते हैं। इसी प्रकार दूसरे स्थितिबंध के प्रारम्भ में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी अनुभागबंधाध्यवसायस्थान तृतीय स्थितिबंध के प्रारम्भ में पाये जाते हैं तथा अन्य भी होते हैं। तृतीय स्थितिबंध के प्रारंभ में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी चतुर्थ स्थितिबंध के आरम्भ में पाये जाते हैं तथा अन्य भी होते हैं। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं। यहाँ पर अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों का अन्त होता है, वहाँ जघन्य स्थितिबंध के प्रारम्भ में होने वाले अनुभागबंधाध्यवसाय स्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। (और जहाँ पर जघन्य स्थितिबंध के प्रारंभ में होने वाले अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त होती है—)

उसके अनन्तर उपरितन स्थितिबंध में द्वितीय स्थितिबंध के प्रारम्भ में होने वाले अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये गाथा में कहा गया है कि—**'बिइयस्स होइ बिइयम्मि'** यानी द्वितीय स्थितिबंध सम्बन्धी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि दूसरे स्थान पर अर्थात् जहाँ जघन्य स्थितिबंध के प्रारम्भ में होने वाले अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त होती है, उसके अनन्तरवर्ती स्थान पर समाप्त हो जाती है। तीसरे स्थितिबंध के प्रारम्भ में होने वाले अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि उसके अनन्तरवर्ती स्थान पर समाप्त होती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कि ऊपर कही गई प्रकृतियों की अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति[3] प्राप्त होती है। इसी बात को बतलाने के लिये गाथा में **'आ उक्कसा एवं'** यह पद कहा है। अर्थात् इसी प्रकार से उक्त प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि जानना चाहिये तथा **जिस** प्रकार से घातिकर्मों की प्रकृतियों की अनुकृष्टि कही है, उसी प्रकार उपघात नामकर्म में भी अनुकृष्टि जानना चाहिये।

---

१. ये सभी प्रकृतियां अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग की हैं।

२. 'अन्य' का आशय यह है कि प्रथम स्थितिबंधगत सर्व अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों में का कोई भी अनुभागबंधाध्यवसायस्थान न हो किन्तु उनसे व्यतिरिक्त दूसरे अनुभागबंधाध्यवसायस्थान हों।

३. कर्म प्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति आगे स्थितिबंध प्रकरण में बताई जा रही है।

अनुकर्षण या अनुवर्तन को अनुकृष्टि कहते हैं। अर्थात् पूर्व स्थितिस्थान सम्बन्धी अनुभाग-बंधाध्यवसायस्थानों का उत्तरसमयवर्ती स्थितिस्थानों में अनुवर्तन, प्रापण (पाये जाने) के सम्बन्ध में विचार करना अनुकृष्टि कहलाता है।

घातिकर्म और उपघात नामकर्म प्रकृतियों में अनुकृष्टि का विचार करने के बाद अब आगे की गाथाओं में अन्य प्रकृतियों की अनुकृष्टि का क्रम बतलाते हैं—

परघाउज्जोउस्सासायवधुवनाम तणुउवंगाणं ।
पडिलोमं सायस्स उ उक्कोसे जाणि समऊणे ॥५९॥
ताणि य अन्नाणेवं ठिइबंधो जा जहन्नगमसाए ।
हेट्ठुज्जोयसमेवं परित्तमाणीण उ सुभाणं ॥६०॥

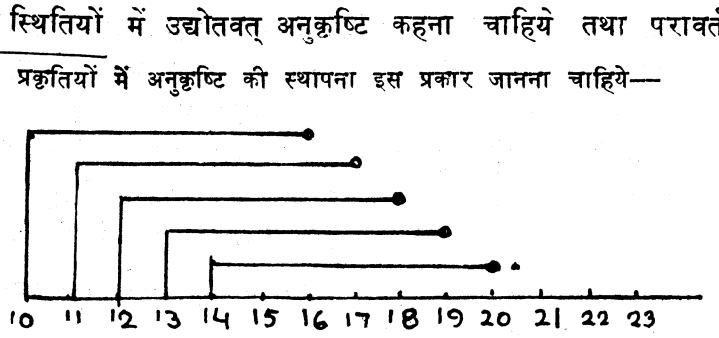
शब्दार्थ—परघाउज्जोउस्सासायव–पराघात, उद्योत, उच्छ्वास, आतप, **धुवनाम**–नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां, **तणु**–पांच शरीर आदि, **उवंगाणं**–अंगोपांगत्रिक, **पडिलोमं**–प्रतिलोम (पश्चानुपूर्वी) से, **सायस्स**–सातावेदनीय की, **उ**–तथा, **उक्कोसे**–उत्कृष्ट स्थितिस्थान में, **जाणि**–जितने, **समऊणे**–समयोन (एक समय कम)।

ताणि–वे, **य**–और, **अन्नाणि**–अन्य, **एवं**–इस प्रकार, **ठिइबंधो**–स्थितिबंध, **जा**–तक, **जहन्नगं**–जघन्य स्थितिस्थान, **असाए**–असाता वेदनीय की, **हेट्ठुज्जोयसमं**–नीचे के स्थितिस्थानों में उद्योत के समान, **एवं**–इस तरह, **परित्तमाणीण**– परावर्तमान, **उ**–और, **सुभाणं**–शुभ प्रकृतियों की।

गाथार्थ—पराघात, उद्योत, उच्छ्वास, आतप तथा नामकर्म की ध्रुवबंधिनी नौ प्रकृतियों की और पांच शरीर आदि, तीन अंगोपांग प्रकृतियों की अनुकृष्टि प्रतिलोमक्रम (पश्चानुपूर्वीक्रम) से जानना चाहिये तथा सातावेदनीय की अनुकृष्टि उत्कृष्ट स्थिति से पाश्चात्य स्थितियों में 'वे सब और अन्य अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं' इस प्रकार कहना चाहिये।

इसी प्रकार असातावेदनीय के जघन्य स्थितिबंध तक 'वे सब और अन्य स्थान'[1] इस प्रकार कह कर उससे पूर्व स्थितियों में उद्योतवत् अनुकृष्टि कहना चाहिये तथा परावर्तमान सभी शुभ

१. असत्कल्पना से प्रकृतियों में अनुकृष्टि की स्थापना इस प्रकार जानना चाहिये—



इस स्थापना में १० समयात्मक स्थान अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान हैं, ११ से लेकर आगे १५ तक के अंक पल्य के असंख्यातभाग प्रमाण स्थितियों के तथा यही ११,१२,१३ आदि अंक द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि स्थितिस्थान के भी दर्शक हैं और १० समयात्मक प्रथम स्थितिस्थान से उठी रेखा रूप अनुकृष्टि १५ समयात्मक स्थितिस्थान तक आकर बिन्दु रूप में समाप्त हुई। अर्थात् वहाँ दस समय से प्रारम्भ हुई अनुकृष्टि समाप्त हो गई। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

प्रकृतियों की अनुकृष्टि सातावेदनीय के अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि के समान जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पराघात, उद्योत, उच्छ्वास, आतप, शुभवर्णादि एकादश (११) एवं अगुरुलघु, निर्माण आदि रूप नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां और 'तणु उवंगाणं' इस पद में आये हुए तनु (शरीर) पद से शरीर, संघातन और बंधन भी ग्रहण किये गये हैं, इसलिये पांच शरीर, पांच संघातन और पन्द्रह बन्धन, इन पच्चीस और अंगोपांगत्रिक कुल मिलाकर इन पैंतालीस प्रकृतियों की अनुकृष्टि प्रतिलोमक्रम से कहना चाहिये।[1] जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

उपर्युक्त पैंतालीस प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंधस्थान के प्रारम्भ में जो अनुभाग-बंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनके असंख्यातवें भाग को छोड़कर शेष सभी स्थान एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रारम्भ में पाये जाते हैं तथा और भी अन्य स्थान प्राप्त होते हैं। एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रारम्भ में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी स्थान दो समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में पाये जाते हैं एवं अन्य भी स्थान होते हैं। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियां अधो-अधो भाग में अतिक्रान्त होती हैं। यहाँ पर उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरंभ में होने वाले अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की प्रत्येक स्थितिस्थान पर असंख्यातवां-असंख्यातवां भाग छोड़ने से अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है।[2] इसके अनन्तर अधोवर्ती स्थितिस्थान में एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में होने वाले अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। उससे भी अधोवर्ती स्थितिस्थान में दो समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में होने वाले अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पूर्वोक्त सभी (४५) प्रकृतियों की अपनी-अपनी जघन्य स्थिति प्राप्त होती है।

'सायस्स उ उक्कोसे' इत्यादि अर्थात् सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति को बांधने वाले जीव के जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, वे एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रारम्भ में भी होते हैं और अन्य भी होते हैं। जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में होते हैं, वे दो समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रारम्भ में भी होते हैं तथा अन्य भी होते हैं। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक असातावेदनीय का जघन्य स्थितिबंध प्राप्त होता है।[3] इसका अभिप्राय यह है कि जितने प्रमाण वाली

१. अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ कर नीचे जघन्य स्थितिस्थानों में समाप्त होती है, यह प्रतिलोम का आशय है।

२. अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण की स्थितियों में से अन्तिम स्थितिबंध में।

३. असातावेदनीय के अभव्य सम्बन्धी जघन्य अनुभागबंधप्रायोग्य उत्कृष्ट स्थितिबंध से सातावेदनीय की अनुकृष्टि का प्रारम्भ करके असाता के जघन्य अनुभागबंधप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध तक कहकर अनुकृष्टि का अनुक्रम बदलना चाहिये।

स्थितियां असातावेदनीय के जघन्य अनुभागबंध के योग्य हैं[1] और सातावेदनीय के साथ परिवर्तित परिवर्तित[2] होकर बंधती हैं, उतने प्रमाण वाली सातावेदनीय की स्थितियों में 'वे और अन्य भी अनुभागबंधाध्यवसायस्थान' होते हैं, इस क्रम का अनुसरण करना चाहिये तथा 'हेट्ठुज्जोयसमं' अर्थात् इसके नीचे[3] उद्योतनामकर्म के समान कहना चाहिये। इसका आशय यह हुआ कि जैसा पहले उद्योत के अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों का कथन किया है, उसी प्रकार यहाँ पर भी कहना चाहिये और वह इस प्रकार—असातावेदनीय के जघन्य स्थितिबंध से अधोवर्ती स्थितिस्थान में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, वे कुछ तो उपरितन स्थिति-स्थान सम्बन्धी ही होते हैं और कुछ अन्य होते हैं। उससे भी अधोवर्ती स्थितिस्थान में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, वे कुछ तो पूर्ववर्ती स्थितिस्थान सम्बन्धी होते हैं और कुछ अन्य होते हैं। इस क्रम से नीचे-नीचे अधोमुख रूप से तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं। वहाँ पर असातावेदनीय के जघन्य स्थितिबंध के तुल्य[4] स्थितिस्थानों सम्बन्धी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त होती है।

इस समग्र कथन का सारांश यह है कि असातावेदनीय के जघन्य स्थितिबंध के समान स्थिति-स्थान वाले अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों के अधो-अधोवर्ती एक-एक स्थितिस्थान में असंख्यातवां भाग विच्छिन्न करने पर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों के व्यतीत होने पर पूर्ण रूप से अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। तदनन्तर असातावेदनीय के जघन्य बंध के तुल्य स्थिति-स्थान से अधोवर्ती स्थितिस्थान सम्बन्धी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि पल्योपम के असं-ख्यातवें भाग मात्र स्थान से अधोवर्ती स्थितिस्थान पर समाप्त हो जाती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक सातावेदनीय की जघन्यस्थिति प्राप्त होती है तथा—

'एवं परित्तमाणीण उ सुभाणं' अर्थात् जैसे सातावेदनीय की अनुकृष्टि का कथन किया है, उसी प्रकार मनुष्यद्विक, देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, प्रशस्त-विहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र रूप इन सभी परावर्तमान पन्द्रह शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि एक-एक प्रकृति का नामोच्चारण करके कहना चाहिये।

अब असातावेदनीय की अनुकृष्टि का कथन करते हैं—

जाणि असायजहन्ने, उदहिपुहुत्तं ति ताणि अण्णाणि।
आवरणसमुप्पेवं, परित्तमाणीणमसुभाणं ॥६१॥

शब्दार्थ—जाणि—जो, **असाय**—असातावेदनीय, **जहन्ने**—जघन्य में, **उदहिपुहुत्तं ति**—सागरोपम पृथक्त्व स्थितिस्थान तक, **ताणि**—वे, **अन्नाणि**—अन्य, **आवरणसमुप्प**—ऊपर ज्ञानावरण के समान, **एवं**—इस प्रकार, **परित्तमाणीणं**—परावर्तमान **असुभाणं**—अशुभ प्रकृतियों की।

---

१. शतपृथक्त्व सागरोपम प्रमाण।
२. साता और असाता वेदनीय ये दोनों प्रकृतियां परावर्तमान हैं। अतः साता का बंध करके असाता का और असाता का बंध करके साता का, इस प्रकार इनका बंधक्रम चलता रहता है।
३. असातावेदनीय के जघन्य अनुभागप्रायोग्य स्थितिबंध के पश्चात्।
४. अर्थात् जघन्य अनुभागप्रायोग्य जितने स्थितिस्थान हैं, उतने प्रमाण।

गाथार्थ—असातावेदनीय के जघन्य स्थितिबंध से शतपृथक्त्वसागरोपम प्रमाण स्थितिबंधस्थान तक 'वे सब और अन्य' इस क्रम से और उससे ऊपर ज्ञानावरण के समान अनुकृष्टि जानना तथा जैसे असातावेदनीय की अनुकृष्टि है, उसी तरह समस्त परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की भी अनुकृष्टि जानना चाहिये।

विशेषार्थ—असातावेदनीय की जघन्य स्थितिबंध के प्रारम्भ में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, वे एक समय अधिक जघन्य स्थितिबंध के आरम्भ में भी होते हैं और अन्य भी होते हैं। जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान एक समय अधिक जघन्य स्थितिबंध के आरम्भ में होते हैं, वे दो समय अधिक जघन्य स्थितिबंध के आरम्भ में भी होते हैं और अन्य भी होते हैं। इस प्रकार इसी क्रम से सागरोपमशतपृथक्त्व[1] प्रमाण स्थितिबंध प्राप्त होने तक कहना चाहिये। जितनी सातावेदनीय की स्थितियों में 'वे ही और अन्य' अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि का क्रम कहा है, उसी क्रम से उतने ही प्रमाण वाली असातावेदनीय की स्थितियों में भी जघन्य स्थिति से आरम्भ करके 'वे ही और अन्य' अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि कहना चाहिये। इतनी ही स्थितियां सर्व जघन्य अनुभागबंध के योग्य होती हैं। क्योंकि इतनी स्थितियां सातावेदनीय से परिवर्तित हो-होकर बंधती हैं। परावर्तमान परिणाम प्रायः मंद होता है, इसलिये स्थितियों में जघन्य अनुभागबंध संभव है। इसके ऊपर तो जीव केवल असातावेदनीय को ही बांधता है और वह भी तीव्रतर परिणाम से। अतएव वहाँ पर जघन्य अनुभागबंध सम्भव नहीं है।

अब जघन्य अनुभागबंध से ऊपर की स्थितियों की अनुकृष्टि को स्पष्ट करते हैं कि 'आवरणसमुप्पि ति' अर्थात् इससे आगे की स्थितियों का जैसा क्रम ज्ञानावरणादि का कहा है, उसी प्रकार 'तदेकदेश[2] और अन्य' इस प्रकार से ही कहना चाहिये। वह इस प्रकार—असातावेदनीय की जघन्य अनुभागबंध के योग्य स्थितियों की जो चरम स्थिति है, उसके बंध के आरम्भ में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका एकदेश उससे उपरिवर्ती स्थितिबंध के आरम्भ में रहता है एवं अन्य भी अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं। पुनः उससे भी उपरितन स्थितिबंध के आरम्भ में प्राक्तन स्थितिस्थान संबंधी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों का एकदेश रहता है और अन्य भी अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं। यहाँ पर जघन्य अनुभागबंध के योग्य अन्तिम स्थिति सम्बन्धी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। तदनन्तर उससे भी उपरितन स्थितिबंध में जघन्य अनुभागबंध के योग्य दूसरी स्थिति संबंधी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार असातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

---

१. पृथक्त्व शब्द का आशय बहुत्ववाचक मानकर सैकड़ों सागरोपम यह अर्थ करना चाहिये—ऐसा उपयुक्त प्रतीत होता है। यहां पृथक्त्व शब्द किस प्रयोजन से प्रयुक्त हुआ है, यह स्पष्ट नहीं है। क्योंकि पृथक्त्व शब्द २ से ९ तक की संख्या के लिये प्रयोग किया जाता है। विशेष स्पष्टीकरण विज्ञजन करने की कृपा करें।

२. तदेकदेश अर्थात् उन अनुभागाध्यवसायस्थानों में से एक असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सर्व अनुभागाध्यवसायस्थान।

अब शेष परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि के बारे में संकेत करते हैं—

'एवं परित्तमाणीणमसुभाणं' अर्थात् जिस प्रकार असातावेदनीय के अनुभागाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि कही, उसी प्रकार शेष नरकद्विक, पंचेन्द्रियजाति को छोड़कर शेष एकेन्द्रिय आदि चार जाति, प्रथम संस्थान को छोड़कर शेष पांच संस्थान, प्रथम संहनन को छोड़कर शेष पांच संहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति—इन सत्ताईस (२७) परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की एक-एक का नामोच्चारण करके अनुकृष्टि कहना चाहिये।

अब तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि का कथन करते हैं—

सेकाले सम्मत्तं, पडिवज्जंतस्स सत्तमखिईए।
जो ठिइबंधो हस्सो, इत्तो आवरणतुल्लो य ॥६२॥
जा अभवियपाउग्गा, उप्पिमसायसमया उ आजेट्ठा।
एसा तिरियगतिदुगे, नीयागोए य अनुकड्ढी ॥६३॥

शब्दार्थ—**सेकाले**—उस अनन्तर समय में, **सम्मत्तं**—सम्यक्त्व, **पडिवज्जंतस्स**—प्राप्त करनेवाल, **सत्तमखिईए**—सप्तम पृथ्वी के नारक का, **जो ठिइबंधो**—जो स्थितिबंध, **हस्सो**—ह्रस्व, जघन्य, **इत्तो**—उससे, **आवरणतुल्लो**—ज्ञानावरण के समान, **य**—और।

जा—तक, **अभवियपाउग्गा**—अभव्यप्रायोग्य, **उप्पि**—ऊपर, **असायसमया**—असातावेदनीय के समान, **उ**—और, **आ जेट्ठा**—उत्कृष्ट पर्यन्त, **एसा**—यह, **तिरियगतिदुगे**—तिर्यंचगतिद्विक, **नीयागोए**—नीचगोत्र की, **य**—और, **अनुकड्ढी**—अनुकृष्टि।

गाथार्थ—अनन्तर समय में सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले सप्तम नरक पृथ्वी के जीव के जो जघन्य स्थितिबंध होता है, उस स्थितिबंध से प्रारम्भ करके अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध तक तो तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि ज्ञानावरणादिवत् और उससे ऊपर उत्कृष्ट स्थितिबंध तक की अनुकृष्टि असातावेदनीयवत् कहना चाहिये।

विशेषार्थ—सप्तम पृथ्वी में वर्तमान नारक जीव जो अनन्तर समय में सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला है, उसके जो जघन्य स्थितिबंध होता है, उससे ऊपर का स्थितिबंध अनुकृष्टि की अपेक्षा आवरण अर्थात् ज्ञानावरण के समान जानना चाहिये[1] और वह तब तक, जब तक कि अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध हो। इनमें पहले तिर्यंचगति की अनुकृष्टि का विचार करते हैं—

सप्तम पृथ्वी में वर्तमान और सम्यक्त्व प्राप्त करने के अभिमुख नारकी के तिर्यंचगति की जघन्य स्थिति को बांधते हुए जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर अन्य सभी स्थान द्वितीय स्थितिबंध के आरम्भ में होते हैं तथा अन्य भी होते हैं।

१. अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध तक के सब स्थितिबंध अनुकृष्टि की अपेक्षा आवरणतुल्य हैं, अर्थात् उतने स्थितिस्थानों की अनुकृष्टि आवरणवत् समझना चाहिये।

द्वितीय स्थिति को बांधते हुए जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर अन्य सभी स्थान तृतीय स्थितिबंध के आरम्भ में होते हैं और अन्य भी होते हैं। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं। यहाँ पर जघन्य स्थिति संबंधी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इससे उपरितन स्थितिबंध के आरम्भ में द्वितीय स्थितिस्थान सम्बन्धी अनुभाग-बंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है, इससे भी उपरितन स्थितिबंध के आरम्भ में तृतीय स्थिति सम्बन्धी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इस प्रकार इसी क्रम से अभव्य जीवों के योग्य जघन्य स्थितिबंध प्राप्त होने तक कहना चाहिये। तदनन्तर—

'उप्पिमसायसमया उ आ जेट्ठा' अर्थात् इससे ऊपर अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से आरम्भ करके उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक असातावेदनीय के समान अनुकृष्टि जानना चाहिये। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अभव्य जीवों के योग्य जघन्य स्थितिबंध में जो अनुभागबंधाध्यवसाय-स्थान होते हैं, वे सब और दूसरे भी उससे उपरितन स्थिति में होते हैं। इस ऊपर की स्थिति में जो अनुभागाध्यवसायस्थान हैं वे सब और अन्य भी अनुभागाध्यवसायस्थान उससे ऊपर की स्थिति में होते हैं। इस प्रकार इसी क्रम से सागरोपम शतपृथक्त्व तक कहना चाहिये। ये प्रायः अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध विषयक स्थितियां हैं। ये स्थितियां मनुष्यगति रूप प्रतिपक्षी प्रकृति के साथ परावर्तित, परावर्तित होकर बंधती हैं, परावर्तित होकर बंधते समय प्रायः परिणाम मंद होते हैं। इसलिये ये स्थितियां जघन्य अनुभागबंध विषयक हैं।

इन स्थितियों की चरम स्थिति में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी अनुभागबंधाध्यवसायस्थान उससे उपरितन स्थितिबंध के प्रारम्भ में होते हैं तथा अन्य भी होते हैं। वहाँ पर भी जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी स्थान उससे उपरितन स्थितिबंध के आरम्भ में पाये जाते हैं और अन्य भी पाये जाते हैं। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं। यहाँ पर जघन्य अनुभागबंध विषयक चरम स्थिति सम्बन्धी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इससे उपरितन स्थितिबंध में जघन्य अनुभागबंध विषयक चरम स्थिति के अनन्तर की स्थिति वाले अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इस प्रकार इसी क्रम से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

'एसा तिरिय·····इति' अर्थात् यह कही गई अनुकृष्टि तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी रूप तिर्यग्गतिद्विक और नीचगोत्र में जानना चाहिये। यानी जैसे तिर्यंचगति में अनुकृष्टि का विचार किया, उसी प्रकार तिर्यंचानुपूर्वी और नीचगोत्र में स्वयमेव समझ लेना चाहिये।

अब त्रसादिचतुष्क की अनुकृष्टि का कथन करते हैं—

तसबायरपज्जत्तगपत्तेयगाण परघायतुल्लाउ ।
जाव ट्ठारसकोडाकोडी हेट्ठा य साएणं ॥६४॥

शब्दार्थ—**तसबायरपज्जत्तगपत्तेयगाण**–त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक की, **परघायतुल्लाउ**–पराघात के तुल्य, **जाव**–तक, **ट्ठारसकोडाकोडी**–अठारह कोडाकोडी, **हेट्ठा**–नीचे की, **य**–और, **साएणं**–सातावेदनीय के तुल्य।

गाथार्थ—त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्म की उत्कृष्ट से अठारह कोडाकोडी सागरोपम तक पराघात नामकर्म के तुल्य और उससे नीचे की स्थितियों की अनुकृष्टि सातावेदनीय की अनुकृष्टि के समान कहना चाहिए।

विशेषार्थ—त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्म की अनुकृष्टि पराघात नामकर्म के समान जानना चाहिये। वह अनुकृष्टि उपरितन स्थितिस्थान से आरम्भ करके नीच-नीचे उतरते हुए अठारह कोडाकोडी सागरोपम स्थिति प्राप्त होने तक जानना और उसके नीचे सातावेदनीय के समान अनुकृष्टि कहना चाहिये। इस प्रकार सामान्य से कथन करने के पश्चात् त्रसनामकर्म की अनुकृष्टि का विचार करते हैं—

त्रसनामकर्म के उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़ कर शेष सभी स्थान एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में पाये जाते हैं तथा अन्य भी होते हैं। एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में भी जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़ कर शेष सभी स्थान दो समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में भी पाये जाते हैं तथा अन्य भी होते हैं। इस प्रकार इसी क्रम से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियां व्यतीत होने तक कहना चाहिये। यहां पर उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। उससे भी अधोवर्ती स्थितिस्थान में एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। उससे भी अधोवर्ती स्थितिस्थान में दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इस प्रकार नीचे-नीचे उतरते हुए तब तक कहना चाहिये, जब तक कि नीचे अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति रहती है।[1]

उससे आगे अठारह कोडाकोडी सागरोपम की चरम स्थिति में जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, वे सब उससे अधोवर्ती स्थितिबंध के आरम्भ में होते हैं और अन्य भी होते हैं और जो अधोवर्ती स्थितिबंध के आरम्भ में अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, वे सभी उससे भी अधोवर्ती स्थितिबंध के आरम्भ में होते हैं एवं अन्य भी होते हैं। इस प्रकार इसी क्रम से तब तक कहना चाहिये, जब तक अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध विषयक स्थावर नामकर्म सम्बन्धी स्थिति के प्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं। इसके अनन्तर अधस्तन स्थितिस्थान में प्राक्तन अनन्तर स्थितिस्थानसम्बन्धी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों का असंख्यातवां भाग

१. अर्थात् १८ सागरोपम तक सातावेदनीयवत् अनुकृष्टि कहना चाहिये।

छोड़ कर शेष सभी स्थान होते हैं और अन्य भी होते हैं। उससे भी अधस्तनतर स्थितिबंध में प्राक्तन अनन्तर स्थितिस्थान सम्बन्धी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों का असंख्यातवां भाग छोड़ कर शेष सभी स्थान होते हैं, अन्य भी होते हैं। इसे तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं।

यहां पर जघन्य अनुभागबंधविषयक स्थावरनामकर्म सम्बन्धी स्थिति के प्रमाणरूप से अवस्थित स्थितियों की प्रथम स्थिति के जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान हैं, उनकी अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। उससे अधोवर्ती स्थितिस्थान में द्वितीय स्थितिस्थान सम्बन्धी अनुभाग-बंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इस प्रकार इसी क्रम से जघन्य स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

इसी प्रकार बादर, पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्मों की अनुकृष्टि की विवेचना करना चाहिये। अब तीर्थंकर नामकर्म की अनुकृष्टि एवं अनुभागबंध सम्बन्धी तीव्रमंदता बतलाते हैं।

अनुभागबंध सम्बन्धी तीव्रमंदता

तणुतुल्ला तित्थयरे, अणुकड्ढी तिव्वमंदया एत्तो।
सव्वपगईण नेया, जहन्नयाई अणंतगुणा ॥६५॥

शब्दार्थ—**तणुतुल्ला**—शरीर नामकर्म के समान, **तित्थयरे**—तीर्थंकर नामकर्म में, **अणुकड्ढी**—अनुकृष्टि, **तिव्वमंदया**—तीव्रमंदता, **एत्तो**—अब, **सव्वपगईण**—सर्व प्रकृतियों की, **नेया**—जानना चाहिये, **जहन्नयाई**—जघन्यादि स्थितियों में, **अणंतगुणा**—अनन्तगुण।

गाथार्थ—तीर्थंकर नामकर्म के अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों में शरीरनामकर्म के समान अनुकृष्टि जानना चाहिये। अब सर्व प्रकृतियों के अनुभाग की तीव्रता-मंदता कहते हैं। जो जघन्य से लेकर उत्तरोत्तर स्थितियों में अनन्तगुण होता है।

विशेषार्थ—पूर्व में जैसे शरीर नामकर्म में अनुकृष्टि कही है, उसी प्रकार तीर्थंकर नामकर्म में अनुकृष्टि जानना चाहिये।[1]

अब अनुभाग की तीव्रमंदता का कथन करते हैं कि—

सभी प्रकृतियों की अपने-अपने जघन्य अनुभागबंध से आरम्भ करके उत्कृष्ट अनुभागबंध तक प्रत्येक स्थितिबंध में अनन्तगुणी तीव्रता-मंदता कहनी चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण यह है—उत्तरोत्तर स्थितिबंध में अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इसमें अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग जघन्य स्थिति से आरम्भ करके ऊर्ध्वमुखी क्रम से अनन्तगुणा कहना चाहिये तथा शुभ प्रकृतियों का अनुभाग उत्कृष्ट स्थिति से आरम्भ करके अधोमुख रूप से जघन्य स्थिति प्राप्त होने तक अनन्तगुणा

१. सुगमता से समझने के लिये अनुकृष्टिप्ररूपणा का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

कहना चाहिये। यह सामान्य रूप से तीव्रता-मंदता का कथन किया। अब विस्तार से उसका विवेचन करते हैं—

घातिकर्मों और अप्रशस्त वर्ण, गंध, रस, स्पर्श तथा उपघात नाम, इन पचपन प्रकृतियों की स्थिति में जघन्य अनुभाग सबसे अल्प होता है, उससे द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है, उससे भी तीसरी स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार निवर्तनकंडक प्राप्त होने तक कहना चाहिये। जहां पर जघन्य स्थितिबंध के आरम्भ में होने वाले अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि समाप्त होती है, वहां तक के मूल से आरम्भ करके पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों को निवर्तनकंडक कहते हैं—**निवर्तनकंडकं नाम यत्र जघन्यस्थितिबंधारम्भभाविनामनुभागबंधाध्यवसायस्थानानानुकृष्टिः परिसमाप्ता तत्पर्यन्ता मूलत आरभ्य स्थितयः पल्योपमासंख्येयभागमात्रप्रमाणा उच्यन्ते**। अर्थात् इन स्थितियों के समुदाय को निवर्तनकंडक जानना चाहिये।

निव्वत्तणा उ एक्किक्कस्स, हेट्ठोवरिं तु जेट्ठियरे।
चरमठिईणुक्कोसो, परित्तमाणीण उ विसेसा ॥६६॥

शब्दार्थ—निव्वत्तणा—निवर्तनकंडक से, **एक्किक्कस्स**—एक-एक, **हेट्ठोवरिं**—नीचे ऊपर की, **तु**—और, **जेट्ठियरे**—उत्कृष्ट और इतर (जघन्य), **चरमठिईणुक्कोसो**—अंतिम स्थितियों में चरम उत्कृष्ट, **परित्तमाणीण**—परावर्तमान, **उ**—और, **विसेसा**—विशेष।

गाथार्थ—निवर्तनकंडक से एक नीचे की और एक ऊपर की स्थिति में उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा उत्कृष्ट स्थिति तक कहना चाहिये और अंतिम निवर्तनकंडक की स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणित ही कहना चाहिये। परावर्तमान प्रकृतियों में कुछ विशेषता है।

विशेषार्थ—निवर्तनकंडक की चरम स्थिति में जघन्य अनुभाग से जघन्य स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा होता है। उससे कंडक के ऊपर की प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग अनंत गुणा होता है, उससे द्वितीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा होता है। उससे नीचे की तृतीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे कंडक के ऊपर की तृतीय स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार एक नीचे की स्थिति और एक ऊपर की स्थिति में यथाक्रम से उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग अनन्तगुण रूप से तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा प्राप्त होता है।

कंडक प्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अभी भी अनुक्त है, शेष सभी कह दिया गया है। अब कंडक प्रमाण स्थितियों के उत्कृष्ट अनुभाग को बतलाते हैं कि उस सर्वोत्कृष्ट स्थिति के जघन्य अनुभाग से कंडक प्रमाण स्थितियों की प्रथम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा कहना चाहिये। उससे भी अनन्तरवर्ती उपरितन स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार निरन्तर क्रम से उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण रूप से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये। इसी बात को बतलाने के लिए गाथा में 'चरमठिईणुक्कोसो' यह पद दिया है। जिसका अर्थ

यह है कि कंडक प्रमाण जो चरम स्थितियां हैं और जिनका प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र है, उनका उत्कृष्ट अनुभाग निरन्तर अनन्त गुण रूप से जानना चाहिये।

शुभ प्रकृतियों के अनुभाग की तीव्रमंदता

अब शुभ प्रकृतियों के अनुभाग की तीव्रमंदता कहने का अवसर प्राप्त है। जिसे पराघात प्रकृति को अधिकृत करके बतलाते हैं।

पराघात प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति के जघन्य पद में जघन्य अनुभाग सबसे कम होता है, उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता, उससे भी दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं, अर्थात् निवर्तनकंडक अतिक्रांत होता है। उससे उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा होता है। उससे निवर्तन-कंडक के नीचे की प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है, उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति में अनुभाग अनन्त गुणा होता है, उससे निवर्तनकंडक से नीचे की द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पराघात की जघन्य स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा प्राप्त होता है।

कंडक प्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अभी भी अनुक्त है, जिसे अब बतलाते हैं—

उससे—जघन्य स्थिति से—आरम्भ करके ऊपर कंडक प्रमाण स्थितियों का अतिक्रमण करके चरम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा कहना चाहिये। उससे अधस्तन स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक जघन्य स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा प्राप्त होता है।

इसी प्रकार पांच शरीर, पांच संघात, पन्द्रह बन्धन, तीन अंगोपांग, प्रशस्त वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि ग्यारह, अगुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, निर्माण और तीर्थंकर, इन पैंतालीस प्रकृतियों के अनुभाग की भी तीव्र-मंदता जानना चाहिये।

अब परावर्तमान प्रकृतियों के अनुभाग की तीव्रता-मंदता में जो विशेषता है, उसे बतलाते हैं— परित्तमाणीण उ विसेसो। वह इस प्रकार—

जितनी स्थितियों के अनुभागबंधाध्यवसायस्थान 'वे ही होते हैं और अन्य भी होते हैं,' इस प्रकार से जो अनुकृष्टि कही जाती है, उतनी सभी स्थितियों का भी जघन्य अनुभाग उतना ही जानना चाहिये और उससे आगे 'वह तथा अन्य' इस प्रकार के अनुकृष्टि विषयक अनुभाग से परे जघन्य अनुभाग यथोत्तर क्रम से अनन्तगुणा-अनन्तगुणा तब तक कहना चाहिये, जब तक कि कंडक के असंख्यात बहुभाग व्यतीत होते हैं और एक भाग शेष रहता है।[1] इसी बात को ग्रंथकार आगे की गाथा में स्पष्ट करते हैं—

१. अल्पबहुत्व के साथ तुलनात्मक स्पष्टीकरण यथास्थान आगे देखिये।

ताणन्नणि त्ति परं, असंखभागाहिं कंडगेक्काण ।
उक्कोसियरा नेया, जा तक्कंडकोवरि समत्ती ।।६७।।

शब्दार्थ—**ताणन्नाणि त्ति**—वे सब और अन्य इस अनुकृष्टि से, **परं**—आगे, **असंखभागाहिं**—असंख्यात भाग जाने के बाद, **कंडगेक्काण**—एक कंडक का, **उक्कोसियरा**—उत्कृष्ट और जघन्य, **नेया**—जानना चाहिये, **जा**—तक, **तक्कंडकोवरि**—उस ऊपर के कंडक की, **समत्ती**—पूर्णता, समाप्ति होती है।

गाथार्थ—'वे सब और अन्य अनुभाग होते हैं' इस प्रकार की अनुकृष्टि से आगे एक कंडक के असंख्यात भाग व्यतीत हो जाने तक कंडक प्रमाण स्थितियों की एक-एक स्थिति का यथाक्रम से उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग अनंतगुणा जानना चाहिये, जहाँ तक ऊपर के कंडक की पूर्णता होती है ।

विशेषार्थ—'वे सब और अन्य अनुभाग होते हैं'—इस प्रकार की अनुकृष्टि से आगे कंडक के असंख्यात भागों से ऊपर कंडक प्रमाण स्थितियों की एक-एक स्थिति का यथाक्रम से उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा जानना चाहिये। इस कथन का तात्पर्य यह है कि—

वे सब और अन्य अनुभाग रूप अनुकृष्टि से आगे जघन्य अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुणा तब तक कहना चाहिये, जब तक कंडक प्रमाण स्थितियों के असंख्यात बहुभाग व्यतीत होते हैं और एक भाग शेष रहता है। तत्पश्चात् जिस स्थिति से आरम्भ करके 'वे सब और अन्य' इस प्रकार की अनुकृष्टि आरम्भ हुई है, वहाँ से लेकर कंडक प्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुण रूप से कहना चाहिये, तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कह कर निवृत्त हुए, उससे उपरिवर्ती स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण जानना चाहिये। इस प्रकार एक-एक स्थिति के जघन्य अनुभाग और उत्कृष्ट अनुभाग की तीव्रता-मंदता को एक-एक कंडक के प्रति तब तक कहना चाहिये, जब तक जघन्य अनुभाग विषयक स्थितियों की 'वे सब और अन्य' अनुभाग रूप अनुकृष्टि से परे कंडक पूर्ण होता है ।

उत्कृष्ट अनुभाग सागरोपमशतपृथक्त्व तुल्य होते हैं । उससे ऊपर जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उसके पश्चात् एक उत्कृष्ट अनुभाग, उसके पश्चात् एक जघन्य अनुभाग, उसके बाद एक उत्कृष्ट अनुभाग, इस क्रम से तब तक कहना चाहिये, जब तक जघन्य अनुभाग विषयक सभी स्थितियां समाप्त होती हैं।

उत्कृष्ट अनुभाग विषयक कंडक प्रमाण स्थितियां अभी अनुक्त हैं, शेष सभी कह दी गई हैं । इसलिये उनका उत्कृष्ट अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुण कहना चाहिये । इस बात को बतलाने के लिये 'जा तक्कंडकोवरि समत्ती' यह पद दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि तब तक उन जघन्य अनुभागों को जो कंडक के उपरिवर्ती हैं, उनकी समाप्ति तक इसी क्रम से कहना चाहिये । जिसका स्पष्टीकरण यह है—

अनुक्रम से अनन्तगुण, अनन्तगुण रूप से कही गई जघन्य अनुभाग विषयक स्थितियों के कंडक से ऊपर एक-एक उत्कृष्ट अनुभाग से अन्तरित जघन्य अनुभाग तब तक कहना चाहिये,

जब तक उन सबकी समाप्ति होती है। तब जो कंडक प्रमाण उत्कृष्ट अनुभाग केवल अवशिष्ट रहते हैं, वे भी उत्तरोत्तर अनन्त गुणित क्रम से तब तक कहना चाहिये, जब तक उन सबकी समाप्ति होती है।

इस प्रकार यह गाथा का अर्थ सम्पूर्ण हुआ। अब साता और असाता वेदनीय के अनुभाग की तीव्रता और मंदता का विचार करते हैं—

सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अनुभाग सबसे अल्प है। उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अनुभाग उतना ही है, दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति में भी जघन्य अनुभाग उतना ही है। इस प्रकार नीचे-नीचे उतर कर तब तक पूर्व तुल्य जघन्यानुभाग कहना चाहिये, जब तक सागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं। उससे अधोवर्ती स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी अधोवर्ती स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कंडक के असंख्यात बहुभाग व्यतीत होते हैं और एक भाग शेष रहता है। ये सब असंख्यात भागहीन कंडकप्रमाण स्थितियां साकारोपयोग इस संज्ञा से व्यवहृत की जाती हैं, क्योंकि इनका बंध साकारोपयोग से ही होता है। इससे आगे उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण कहना चाहिये। उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे भी दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार नीचे-नीचे उतरते हुए उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा तब तक कहना चाहिये, जब तक कंडकप्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं।

तदनन्तर जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे अधोवर्ती स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। तत्पश्चात् पूर्वोक्त उत्कृष्ट अनुभाग विषयक स्थितियों के नीचे कंडकप्रमाण स्थितियों में उत्कृष्ट अनुभाग क्रम से अनन्तगुणा कहना चाहिये। तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कह कर निवृत्त हुए, उससे अधोवर्ती स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर कंडकप्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार एक-एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कंडकप्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण रूप से तब तक कहना चाहिये, जब तक जघन्य अनुभाग विषयक एक-एक स्थितियों की 'वे सब और अन्य' इस प्रकार की अनुकृष्टि से परे कंडक पूर्ण होता है और उत्कृष्ट अनुभाग विषयक स्थितियां सागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाण होती हैं। उससे आगे की[1] एक स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उस सागरोपमशतपृथक्त्व से अधोवर्ती स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। तत्पश्चात् फिर पूर्वोक्त स्थितिस्थान से अधोवर्ती स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उस सागरोपमशतपृथक्त्व से अधोवर्ती द्वितीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार एक-एक जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग को अनन्त गुणित रूप से कहते हुए सर्व जघन्य स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

१. अर्थात् जिस स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे नीचे।

कंडकप्रमाण स्थितियों के उत्कृष्ट अनुभाग अभी भी अनुक्त हैं, शेष सबका कथन कर दिया गया है। उनके लिये भी यह समझ लेना चाहिये कि नीचे-नीचे के क्रम से उनको अनन्त गुणित तब तक कहना चाहिये, जब तक सर्व जघन्य स्थिति प्राप्त होती है।

इसी प्रकार मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, प्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र, इन पन्द्रह प्रकृतियों की तीव्रमंदता भी समझ लेना चाहिये।

अब असातावेदनीय के अनुभाग की तीव्रता-मंदता का कथन करते हैं—

असातावेदनीय की जघन्य स्थिति में जघन्य अनुभाग सबसे कम है। द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग उतना ही होता है। तृतीय स्थिति में भी जघन्य अनुभाग उतना ही होता है। इस प्रकार सागरोपमशतपृथक्त्व तक कहना चाहिये। उससे उपरितन स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कंडक के असंख्यात बहुभाग व्यतीत होते हैं और एक शेष रहता है। उससे असातावेदनीय की जघन्य स्थिति में उत्कृष्ट पद में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी द्वितीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी तृतीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कंडकप्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं। तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए उससे उपरितन स्थिति-स्थान में जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है। तत्पश्चात् पूर्वोक्त उत्कृष्ट अनुभाग विषयक कंडक से ऊपर प्रथम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी द्वितीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त-गुणा उससे भी तृतीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक फिर कंडकप्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं। तदनन्तर जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उसके उपरितन स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। तत्पश्चात् फिर पूर्वोक्त दो कण्डकों से ऊपर कंडकप्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुणा कहना चाहिये। इस प्रकार एक-एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कंडक-प्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण रूप से तब तक कहना चाहिये, जब तक कि जघन्य अनुभाग विषयक एक-एक स्थिति का 'वे सब और अन्य' इस प्रकार की अनुकृष्टि से परे कंडक पूर्ण होता है।

यहाँ उत्कृष्ट अनुभाग विषयक स्थितियां सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण हैं। उनसे ऊपर एक स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण कहना चाहिये, उसके पश्चात् सागरोपमशतपृथक्त्व से उपरितन स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण होता है। तत्पश्चात् फिर पूर्वोक्त स्थितिस्थान से उपरितन स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण होता है। तदनन्तर सागरोपमशत-पृथक्त्व से ऊपर द्वितीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण होता है। इस प्रकार एक-एक जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग को अनन्तगुण तब तक कहते जाना चाहिये, जब तक कि असाता-वेदनीय की सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। कंडक प्रमाण स्थितियों के उत्कृष्ट अनुभाग अभी

भी अनुक्त हैं और शेष का कथन किया जा चुका है। अतएव वे भी उत्तरोत्तर अनन्त गुणित क्रम से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

इसी प्रकार (असातावेदनीय के अनुभाग की तीव्रता-मंदता के अनुरूप) नरकगति, नरकानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति को छोड़ कर शेष चार जाति, प्रथम संस्थान और प्रथम संहनन को छोड़कर शेष पांच संस्थान और पांच संहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति, इन सत्ताईस प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता कहना चाहिये।

अब तिर्यंचगति के अनुभाग की तीव्रता-मंदता का कथन करते हैं—

सप्तम पृथ्वी में वर्तमान नारकी के सर्व जघन्य स्थितिस्थान के जघन्य पद में जघन्य अनुभाग सबसे कम होता है, उससे द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे तृतीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, इस प्रकार निवर्तनकंडक व्यतीत होने तक कहना चाहिये। उससे जघन्य स्थिति के उत्कृष्ट पद में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे निवर्तनकंडक के ऊपर प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे द्वितीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे कंडक के ऊपर द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे तृतीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के नीचे चरम स्थिति प्राप्त होती है।

अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के नीचे कंडकप्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अभी भी अनुक्त है और शेष कह दिया गया है। अब उस अनुक्त अनुभाग का कथन करते हैं—

उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग विषयक प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग उतना ही होता है, तृतीय स्थिति में भी जघन्य अनुभाग उतना ही होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं। इन स्थितियों का पूर्व पुरुषों ने 'परावर्तमानजघन्यअनुभागबंधप्रायोग्य' यह नाम दिया है। इन स्थितियों के ऊपर प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे भी तृतीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक निवर्तनकंडक के असंख्यात बहुभाग व्यतीत होते हैं और एक भाग शेष रहता है।

तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से उत्कृष्ट अनुभाग कहकर निवृत्त हुए थे, उससे उपरितन स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी उपरितन द्वितीय स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी तृतीय स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के नीचे की चरम स्थिति प्राप्त होती है।

तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे उपरितन स्थिति-स्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध विषयक प्रथम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है । उससे भी द्वितीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है । इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कंडकप्रमाण स्थितियां व्यतीत होती हैं ।

तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे उपरितन स्थिति-स्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा है, उससे भी अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के विषय में कंडक से ऊपर फिर कंडकप्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुणा कहना चाहिये। इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कंडकप्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग कहते हुए तब तक कथन करना चाहिये, जब तक अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के विषय में चरम स्थिति प्राप्त होती है । तदनन्तर जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे उपरितन स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है । उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के ऊपर प्रथम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे ऊपर पूर्वोक्त जघन्य अनुभागबंध सम्बन्धी स्थितियों से उपरितन द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे पूर्वोक्त उत्कृष्ट अनुभाग से उपरितन स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है । इस प्रकार एक स्थिति के जघन्य और एक स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग को तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्त-गुणा प्राप्त होता है । कंडक प्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अभी भी अनुक्त है और शेष सब कह दिया। अतः उस उत्कृष्ट अनुभाग को जानने के लिये तदनन्तर वे अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्त गुणित तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है ।

इसी प्रकार तिर्यंचानुपूर्वी और नीचगोत्र के अनुभाग की तीव्रता-मंदता का भी कथन करना चाहिये ।

अब त्रसनामकर्म के अनुभाग की तीव्रता-मंदता कहते हैं—

त्रसनामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति के जघन्यपद में जघन्य अनुभाग सबसे कम होता है, उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है । इस प्रकार नीचे-नीचे उतरते हुए जघन्य अनुभाग गुणित रूप से तब तक कहना चाहिये, जब तक कंडकप्रमाण स्थितियां व्यतीत हो जाती हैं । उससे उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है ।

तत्पश्चात् कंडक से नीचे प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे कंडक के अधोवर्ती द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है । इस प्रकार अठारह कोडाकोडी सागरोपम की उपरितन

स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये । अठारह कोडाकोडी सागरोपम के ऊपर कंडकप्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अभी भी अनुक्त है, शेष सब कह दिया । अब उसको भी यहाँ स्पष्ट करते हैं ।

तत्पश्चात् उससे अठारह कोडाकोडी सागरोपम सम्बन्धी उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अनुभाग उतना ही होता है, दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अनुभाग उतना ही होता है । इस प्रकार नीचे-नीचे उतरते हुए तब तक कहना चाहिये, जब तक अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध प्राप्त होता है । उससे अधोवर्ती प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कंडक के असंख्यात बहुभाग व्यतीत होते हैं और एक भाग शेष रहता है ।

तदनन्तर अठारह कोडाकोडी सागरोपमों से ऊपर कंडकप्रमाण स्थितियों की चरम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे द्वि-चरम समयस्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे त्रि-चरम समयस्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार नीचे-नीचे उतरते हुए तब तक कहना चाहिये, जब तक कंडक व्यतीत होता है। अर्थात् अठारह कोडाकोडी सागरोपमों के ऊपर अनन्तरवर्ती स्थिति व्यतीत होती है ।

तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे अधस्तन स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है । तत्पश्चात् फिर अठारह कोडाकोडी सागरोपम सम्बन्धी अन्तिम स्थिति से आरम्भ करके नीचे कंडकप्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा कहना चाहिये । तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे अधोवर्ती स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है । तदनन्तर फिर पूर्वोक्त कंडक से नीचे कंडकप्रमाण स्थितियों का नीचे-नीचे उत्कृष्ट अनुभाग क्रम से अनन्तगुण कहना चाहिये । इस प्रकार एक स्थिति के जघन्य अनुभाग को और कंडकप्रमाण स्थितियों के उत्कृष्ट अनुभागों को तब तक कहना चाहिये, जब तक अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के विषय में जघन्य स्थिति प्राप्त होती है ।

तदनन्तर जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए थे, उससे अधस्तन स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे अभव्यप्रायोग्य अनुभागबंध सम्बन्धी स्थान से नीचे प्रथम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है । तत्पश्चात् पूर्वोक्त जघन्य अनुभाग से नीचे की स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंधस्थिति से नीचे द्वितीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार एक स्थिति के जघन्य अनुभाग और एक स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग को कहते हुए तब तक नीचे-नीचे उतरना चाहिये, जब तक जघन्य स्थिति प्राप्त होती है । कंडकप्रमाण स्थितियों के उत्कृष्ट अनुभाग अभी अनुक्त हैं, शेष सबका कथन किया जा चुका है। इसलिये वे भी नीचे-नीचे क्रम से अनन्तगुणित रूप से तब तक कहना चाहिये, जब तक जघन्य स्थिति प्राप्त होती है ।

इसी प्रकार बादर, पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्म के अनुभाग की भी तीव्रता-मंदता कहना चाहिये।[1]

इस प्रकरण में (शुभाशुभ प्रकृतियों के अनुभागों में) सादि-अनादिप्ररूपणा, स्वामित्व, घातिसंज्ञा, स्थानसंज्ञा, शुभाशुभप्ररूपणा, प्रत्ययप्ररूपणा और विपाकप्ररूपणा जिस प्रकार शतक में कही गई है, तदनुरूप यहाँ कहना चाहिये।

इस प्रकार अनुभागबंध का कथन समाप्त होता है। अब स्थितिबंध के निरूपण का अवसर प्राप्त होने से उसका विचार प्रारम्भ करते हैं।

४ स्थितिबंध

इसमें चार अनुयोगद्वार हैं—(१) स्थितिस्थानप्ररूपणा, (२) निषेकप्ररूपणा, (३) अबाधाकंडकप्ररूपणा, (४) अल्पबहुत्वप्ररूपणा। इनमें से पहले स्थितिस्थानप्ररूपणा करते हैं—

ठिइबंधट्ठाणाइं, सुहुमअपज्जत्तगस्स थोवाइं।
बायरसुहुमेयरबिति-चउरिंदिय असण्णीणं ॥६८॥
संखेज्जगुणाणि कमा, असमत्तियरे य बिंदियाइम्मि।
नवरमसंखेज्जगुणाइं संकिलेसाइं (य) सव्वत्थ ॥६९॥

शब्दार्थ—**ठिइबंधट्ठाणाइं**—स्थितिबंधस्थान, **सुहुम**—सूक्ष्म, **अपज्जत्तगस्स**—अपर्याप्त के, **थोवाइं**—अल्प, **बायरसुहुमेयर**—बादर, सूक्ष्म और इतर, **बितिचउरिंदिय**—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय, **असण्णीणं**—असंज्ञी और संज्ञी।

संखेज्जगुणाणि—संख्यातगुण, **कमा**—अनुक्रम से, **असमत्तियरे**—अपर्याप्त और पर्याप्त, **य**—और, **बिंदियाइम्मि**—द्वीन्द्रिय में, **नवरं**—परन्तु, **असंखेज्जगुणाइं**—असंख्यात गुण, **संकिलेसाइं**—संक्लेशस्थान, **सव्वत्थ**—सर्वत्र।

गाथार्थ—सूक्ष्म अपर्याप्तक जीव के स्थितिस्थानक सबसे अल्प होते हैं, उससे बादर अपर्याप्त, सूक्ष्म पर्याप्त, बादर पर्याप्त, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय पर्याप्त, त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त—के स्थितिस्थान क्रम से संख्यात गुणित होते हैं। परन्तु बादर अपर्याप्त एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय अपर्याप्त जीव के स्थितिस्थान असंख्यात गुणित होते हैं तथा उक्त सब भेदों (जीवसमासों) में संक्लेशस्थान सर्वत्र उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित जानना चाहिये।

विशेषार्थ—इस प्रकरण में जघन्य स्थिति से आरम्भ करके उत्कृष्ट स्थिति तक जितने समय होते हैं, उतने प्रमाण ही स्थितिस्थान होते हैं। जिसका अभिप्राय यह है—

---

१. अल्पबहुत्व से समझने के लिये तीव्रता-मंदता की स्थापना का प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

जघन्य स्थिति का एक पहला स्थान है, वही एक समय अधिक होने पर द्वितीय स्थितिस्थान होता है। दो समय अधिक होने पर तीसरा स्थितिस्थान होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

ये स्थितिस्थान सूक्ष्म अपर्याप्तक जीव के सबसे कम होते हैं (१)। उनसे अपर्याप्त बादर के संख्यातगुणे होते हैं (२)। उनसे सूक्ष्म पर्याप्तक के संख्यात गुणित होते हैं (३)। उनसे पर्याप्त बादर के संख्यात गुणित हैं (४)।

ये सभी स्थान पल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने प्रमाण जानना चाहिये।

पर्याप्त बादर जीव के स्थितिस्थानों से अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव के स्थितिस्थान असंख्यात गुणित होते हैं (५)। यह कैसे जाना जाये तो इसका उत्तर यह है कि अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जीवों के स्थितिस्थान पल्योपम के संख्येय भागगत समय प्रमाण होते हैं और पाश्चात्य अर्थात् पर्याप्त बादर के स्थितिस्थान पल्योपम के असंख्यातवें भागगत समय प्रमाण होते हैं। इसलिये उन पर्याप्त बादर जीवों के स्थितिस्थानों से द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के स्थितिस्थान असंख्यात गुणित ही सिद्ध होते हैं।

अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जीवों के स्थितिस्थानों से पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीवों के स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं (६)। उनसे त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक के स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं (७)। उनसे त्रीन्द्रिय पर्याप्तक के स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं (८)। उनसे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक के स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं (९)। उनसे चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक के स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं (१०)। उनसे असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीव के स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं (११)। उनसे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं (१२)। उनसे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक के स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं (१३)। उनसे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं (१४)। इस प्रकार 'असमत्तियरे य' अर्थात् असमाप्त-अपर्याप्त और इतर अर्थात् पर्याप्त बादर आदि जीवों के स्थितिस्थान क्रम से संख्यात गुणित कहना चाहिये। केवल एकेन्द्रियों के स्थितिस्थान कहने के अनन्तर द्वीन्द्रिय के अपर्याप्त रूप प्रथम भेद में स्थितिबंधस्थान असंख्यात गुणित कहना चाहिये और असंख्यात गुणित होने का कारण पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

जीवभेदों में संक्लेशस्थान

अब पूर्वोक्त चौदह भेदों में संक्लेशस्थानों को बतलाते हैं—

'संकिलेसाइं सव्वत्थ' अर्थात् उपर्युक्त सभी चौदह जीव भेदों में संक्लेशस्थान असंख्यात गुणित कहना चाहिये। द्वीन्द्रिय के अपर्याप्त लक्षण वाले प्रथम भेद में ही स्थितिस्थान असंख्यगुण कहना

चाहिये, उसका यहाँ कथन नहीं किया है । परन्तु यहाँ तो सर्व भेदों में संक्लेशस्थान असंख्यात गुणित होते हैं, यह गाथागत 'य' चकार का आशय है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) सूक्ष्म अपर्याप्तक के संक्लेशस्थान सबसे कम होते हैं । (२) उससे बादर अपर्याप्त के संक्लेशस्थान असंख्यात गुणित होते हैं । (३) उससे पर्याप्त सूक्ष्म जीव के संक्लेशस्थान असंख्यात गुणित होते हैं । (४) उससे पर्याप्त बादर जीवों के संक्लेशस्थान असंख्यात गुणित होते हैं । (५) उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के संक्लेशस्थान असंख्यात गुणित होते हैं । इसी प्रकार पर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त एवं पर्याप्त त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय के संक्लेशस्थान क्रम से उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित जानना चाहिये ।

प्रश्न—यह कैसे समझें कि सर्व जीव भेदों में संक्लेशस्थान असंख्यात गुणित होते हैं ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि सूक्ष्म अपर्याप्तक के जघन्य स्थितिबंध के आरम्भ में जो संक्लेशस्थान होते हैं, उनमें एक समय अधिक जघन्य स्थितिबंध के आरम्भ मे संक्लेशस्थान विशेषाधिक होते हैं, उनसे भी दो समय अधिक जघन्य स्थितिबंध के आरम्भ में संक्लेश-स्थान विशेषाधिक होते हैं, इस प्रकार तव तक कहना चाहिये, जव तक उसी जीव की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है और उस उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में संक्लेशस्थान जघन्य स्थिति सम्वन्धी संक्लेशस्थानों की अपेक्षा असंख्यात गुणित पाये जाते हैं । जव यह स्थिति है, तव अपने आप ही अपर्याप्त बादर जीव के संक्लेशस्थान अपर्याप्त सूक्ष्म जीव सम्वन्धी संक्लेशस्थानों की अपेक्षा असंख्यात गुणित होते हैं । वह इस प्रकार कि अपर्याप्त सूक्ष्म जीव सम्वन्धी स्थिति-स्थान की अपेक्षा वादर अपर्याप्त जीव के स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं और स्थितिस्थान की वृद्धि होने पर संक्लेशस्थान की वृद्धि होती ही है । इसलिये जव सूक्ष्म अपर्याप्त जीव के अति अल्प भी स्थितिस्थानों में जघन्य स्थितिस्थान सम्बन्धी संक्लेशस्थानों की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थितिस्थान में संक्लेशस्थान असंख्यात गुणित होते हैं, तव बादर अपर्याप्त जीवों के स्थिति-स्थानों में सूक्ष्म अपर्याप्त जीव के स्थितिस्थानों की अपेक्षा असंख्यात गुणित स्वयमेव होते हैं । इसी प्रकार आगे भी सभी जीवभेदों में संक्लेशस्थानों का[1] असंख्यात गुणत्व जान लेना चाहिये ।

जैसे संक्लेशस्थान असंख्यात गुणित क्रम से होते हैं, उसी प्रकार उत्तरोत्तर जीवभेदों में विशुद्धिस्थान भी जानना चाहिये । जिसका संकेत आगे की गाथा में 'एमेव विसोहीओ'—पद से किया गया है । जिसका कारण सहित विशेष स्पष्टीकरण वहाँ गाथा की व्याख्या के प्रसंग में किया जा रहा है । सरलता से समझने के लिये जीव भेदों में स्थितिस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान का प्रारूप इस प्रकार है—

१. स्थितिबंध के हेतुभूत जो काषायिक अध्यवसायस्थान हैं, वे संक्लेशस्थान कहलाते हैं। जीवभेदों में संक्लेशस्थानों की तरह विशुद्धिस्थान हैं, परन्तु विशुद्धिस्थान स्थितिबंध में हेतुभूत न होने से उनकी यहां विवक्षा नहीं की है, मात्र संक्लेशस्थानों की ही विवक्षा की है ।

क्रम	जीवभेद	स्थितिस्थान	संक्लेशस्थान	विशुद्धिस्थान
१.	सूक्ष्म अपर्याप्त	पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण सर्वस्तोक	सबसे अल्प	सबसे अल्प
२.	बादर अपर्याप्त	उससे संख्यात गुण	असंख्यात गुण	असंख्यात गुण
३.	सूक्ष्म पर्याप्त	उससे संख्यात गुण	,,	,,
४.	बादर पर्याप्त	उससे संख्यात गुण	,,	,,
५.	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	उससे असंख्यात गुण	,,	,,
६.	,, पर्याप्त	उससे संख्यात गुण	,,	,,
७.	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	उससे ,,	,,	,,
८.	,, पर्याप्त	उससे ,,	,,	,,
९.	चतुरि. अपर्याप्त	उससे ,,	,,	,,
१०.	,, पर्याप्त	उससे ,,	,,	,,
११.	असंज्ञी पंचे. अपर्याप्त	उससे ,,	,,	,,
१२.	,, ,, पर्याप्त	उससे ,,	,,	,,
१३.	संज्ञी पंचे. अपर्याप्त	उससे ,,	,,	,,
१४.	,, ,, पर्याप्त	उससे ,,	,,	,,

प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति

एमेव विसोहीओ विग्घावरणेसु कोडिकोडीओ ।
उदही तीसमसाते अद्धं थीमणुयदुगसाए ।।७०।।

शब्दार्थ—**एमेव**—इसी तरह, **विसोहीओ**—विशुद्धिस्थान, **विग्घावरणेसु**—अन्तराय और आवरणद्विक की, **कोडिकोडीओ**—कोडाकोडी, **उदही**—सागरोपम, **तीसं**—तीस, **असाते**—असातावेदनीय की, **अद्धं**—अर्ध, **थीमणुयदुगसाए**—स्त्रीवेद, मनुष्यद्विक और सातावेदनीय की ।

गाथार्थ—विशुद्धिस्थान भी इसी प्रकार जानना चाहिये। अन्तराय, आवरणद्विक तथा असातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम है तथा स्त्रीवेद, मनुष्यद्विक और सातावेदनीय की आधी अर्थात् पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की है ।

विशेषार्थ—'एमेव विसोहीओ त्ति' अर्थात् जैसे संक्लेशस्थान असंख्यात गुणित क्रम से पहले कहे जा चुके हैं, उसी प्रकार असंख्यात गुणित रूप से विशुद्धिस्थान भी कहना चाहिये। क्योंकि संक्लेश को प्राप्त होने वाले जीव के जो संक्लेशस्थान हैं, वे ही विशुद्धि को प्राप्त होने वाले जीव के विशुद्धिस्थान होते हैं । इसके लिये पूर्व में विस्तार से कहा जा चुका है, इसलिये यहाँ

पुनरावृत्ति नहीं करते हैं । अतएव पूर्वोक्त चौदह जीवभेदों में सर्वत्र विशुद्धिस्थान भी संक्लेश-स्थानों के समान असंख्यात गुणित कहना चाहिये ।

प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति

अब उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का प्रतिपादन करने के लिये गाथा में 'विग्घ त्ति' आदि पद कहे गये हैं । जिनका अर्थ यह है कि अन्तराय और आवरणद्विक अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण । इनमें अन्तराय कर्म की पांचों प्रकृति, पांचों ज्ञानावरण प्रकृति, नौ दर्शनावरण प्रकृति और असातावेदनीय, इन बीस (२०) प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम होती है ।[1]

प्रस्तुत में दो प्रकार की स्थिति जानना चाहिये– १. कर्मरूपतावस्थानलक्षणा[2] २. और अनुभव-योग्या[3]। इनमें से कर्मरूप से अवस्थान लक्षण वाली स्थिति को अधिकृत करके यहाँ जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण वाली स्थिति का कथन जानना चाहिये और जो अनुभवप्रायोग्य स्थिति होती है, वह अबाधाकाल से हीन होती है। जिन कर्मों की स्थिति जितने ,कोडाकोडी सागरोपम होती है, उनका अबाधाकाल उतने ही वर्षशतप्रमाण होता है। जैसे––मतिज्ञानावरण कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम है, तो उसका उत्कृष्ट अबाधाकाल तीसवर्षशत अर्थात् तीन हजार वर्ष जानना चाहिये । क्योंकि जो मतिज्ञानावरण कर्म उत्कृष्ट स्थिति का बांधा हो तो वह तीन हजार वर्ष तक अपने उदय से जीव को कोई भी बाधा उत्पन्न नहीं करता है । अबाधाकाल[4] से रहित जो शेष स्थिति होती है, उतनी स्थिति में कर्मदलिकों का निषेक[5] होता

---

१. यहां ग्रंथकार ने उत्तर प्रकृतियों को लेकर उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है। इनमें जिस उत्तरप्रकृति की सबसे अधिक स्थिति हो, वही उस मूल कर्मप्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति समझना चाहिये । इस दृष्टि से मूल कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति निम्न प्रकार है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोडाकोडी सागरोपम, आयु की तेतीस सागरोपम और मोहनीय की ७० कोडाकोडी सागरोपम और नाम, गोत्र की २० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है ।

२. बंधने के बाद जब तक कर्म आत्मा के साथ ठहरता है, उतने काल के परिमाण को कर्मरूपतावस्थानलक्षणास्थिति कहते हैं ।

३. अबाधाकाल से रहित उदयोन्मुखी स्थिति अनुभवयोग्यास्थिति कहलाती है।

४. अबाधाकाल में कर्मदलिकों की निर्जरा न होने से उसमें निषेकरचना नहीं होती है । किसी-किसी कर्म की अबाधाकाल के अन्तर्गत रहते हुए भी उद्वर्तना आदि से होने वाली प्रक्रिया भी अबाधाकाल की प्रक्रिया में होती है। जिसका यहां ग्रहण नहीं किया है। प्रबुद्ध पाठक उसका अनुसंधान कर लें।

५. अबाधाकाल के बाद एक-एक समय में उदय आने योग्य द्रव्य के प्रमाण को निषेक कहते हैं। आयुकर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मों की अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति में से उन-उनका अबाधाकाल घटा कर जो शेष रहता है, उतने काल के जितने समय होते हैं, उतने ही उस कर्म के निषेक जानना चाहिये। लेकिन आयुकर्म की अबाधा पूर्व भव में व्यतीत हो जाने से नवीन भव के प्रारम्भ से निषेक-रचना होती है।

है, अर्थात् अबाधाकाल से रहित शेष स्थिति ही अनुभव के योग्य होती है। इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण आदि प्रकृतियों का और शेष उपर्युक्त प्रकृतियों का अबाधाकाल और अबाधाकालहीन कर्मदलिक-निषेक जानना चाहिये।

स्त्रीवेद, मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी), सातावेदनीय की पूर्वोक्त स्थिति प्रमाण की आधी उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिये। अर्थात् स्त्रीवेदादि चारों प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति (३० कोडाकोडी सागरोपम की आधी) पन्द्रह (१५) कोडाकोडी सागरोपम जानना चाहिये। इन चारों प्रकृतियों का अबाधाकाल पन्द्रहसौ (१५००) वर्ष है और अबाधाकाल से हीन शेष स्थिति कर्म-दलिकनिषेक रूप होती है।[1]

तिविहे मोहे सत्तरि, चत्तालीसा य वीसई य कमा।
दस पुरिसे हासरई, देवदुगे खगइचेट्ठाए॥७१॥

शब्दार्थ—**तिविहे**–त्रिविध, तीनों प्रकार के, **मोहे**–मोहनीय की, **सत्तरि**–सत्तर, **चत्तालीसा**–चालीस, **य**–और, **वीसई**–बीस, **य**–और, **कमा**–अनुक्रम से, **दस**–दस, **पुरिसे**–पुरुषवेद, **हासरई**–हास्य और रति, **देवदुगे**–देवद्विक, **खगइचेट्ठाए**–शुभविहायोगति।

गाथार्थ—तीनों प्रकार के मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति अनुक्रम से सत्तर, चालीस और बीस कोडाकोडी सागरोपम तथा पुरुषवेद, हास्य, रति, देवद्विक और प्रशस्त (शुभ) विहायोगति की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम होती है।

विशेषार्थ—त्रिविध मोहनीय की अर्थात् मिथ्यात्व रूप दर्शनमोहनीय, सोलह कषाय रूप कषाय-मोहनीय तथा नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा रूप नोकषायमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति यथाक्रम से सत्तर (७०), चालीस (४०) और बीस (२०) कोडाकोडी सागरोपम होती है। इनका अबाधाकाल भी यथाक्रम से सात हजार (७०००), चार हजार (४०००) और दो हजार (२०००) वर्ष प्रमाण होता है। इनका कर्मदलिकनिषेक अपने-अपने अबाधाकाल से हीन होता है।

इस गाथा में पुरुषवेद, हास्य और रति प्रकृति का पृथक् रूप से स्थितिबंध कहा गया है तथा स्त्रीवेद का पूर्व गाथा में उत्कृष्ट स्थितिबंध कह दिया गया है, इसलिये यहाँ पर नोकषाय मोहनीय के ग्रहण से नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा प्रकृति का ही ग्रहण करना चाहिये।

'दस पुरिसेत्यादि' अर्थात् पुरुषवेद, हास्य, रति, देवगति, देवानुपूर्वी रूप देवद्विक और खगति-चेष्टा अर्थात् प्रशस्तविहायोगति इन छह (६) प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम होती है। इन कर्म प्रकृतियों का अबाधाकाल दशवर्षशत अर्थात् एक हजार (१०००) वर्ष है और इस अबाधाकाल से हीन शेष स्थिति कर्मदलिकनिषेक रूप जानना चाहिये।

---

१. यहां और आगे की गाथाओं में कर्म प्रकृतियों का जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, उसका बंध केवल पर्याप्तक संज्ञी जीव ही कर सकते हैं। अतः यह स्थिति पर्याप्तक संज्ञी जीवों की अपेक्षा समझना चाहिये। शेष जीव उस-उस स्थिति में से कितनी-कितनी स्थिति बांधते हैं, इसका निर्देश यथास्थान आगे किया जा रहा है।

थिरसुभपंचग उच्चे, चेवं संठाणसंघयणमूले ।
तब्बीयाइ बिवुड्ढी, अट्ठारस सुहुमविगलतिगे ।।७२।।
तित्थगराहारदुगे, अंतो बीसा सनिच्चनामाणं ।
तेत्तीसुदही सुरनारयाउ, सेसाउ पल्लतिगं ।।७३।।

शब्दार्थ––**थिरसुभपंचग उच्चे**–स्थिर, शुभपंचक, उच्चगोत्र की, **च**–और, **एवं**–इसी प्रकार, **संठाणसंघयणमूले**–मूल (प्रथम) संस्थान और संहनन की, **तब्बीयाइ**–उनके द्वितीयादिक **बिवुड्ढी**–दो-दो की वृद्धि, **अट्ठारस**–अठारह, **सुहुमविगलतिगे**–सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिक की ।

तित्थगराहारगदुगे––तीर्थंकर और आहारकद्विक को, **अंतो**–अंतःकोडाकोडी सागरोपम, **बीसा**–बीस, **सनिच्चनामाणं**–नीचगोत्र सहित शेष नामकर्म प्रकृतियों की, **तेत्तीसुदही**–तेतीस सागरोपम, **सुरनारयाऊ**–देव और नरकायु की, **सेसाउ**–शेष दो आयु की, **पल्लतिगं**–तीन पल्य ।

गाथार्थ––स्थिर, शुभपंचक, उच्चगोत्र, प्रथम संस्थान और प्रथम संहनन, इन नौ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है तथा द्वितीयादि संस्थान और संहननों में क्रमशः दो-दो कोडाकोडी सागरोपम की वृद्धि रूप उत्कृष्टस्थिति है और सूक्ष्मत्रिक एवं विकलत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है ।

तीर्थंकर और आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम है । नामकर्म की शेष प्रकृतियों और नीचगोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है । देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम और तिर्यंच व मनुष्यायु की तीन पल्योपम प्रमाण होती है ।

विशेषार्थ––'थिर त्ति'–स्थिरनाम, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय यशःकीर्ति रूप शुभपंचक, उच्चगोत्र तथा 'संठाणसंघयणमूले त्ति' मूल अर्थात् समचतुरस्र नामक प्रथम संस्थान और प्रथम वज्रऋषभनाराचसंहनन की उत्कृष्ट स्थिति इसी प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त दस कोडाकोडी सागरोपम[1] प्रमाण जानना चाहिये । उक्त प्रकृतियों का अबाधाकाल दसवर्षशत अर्थात् एक हजार वर्ष है । इनका कर्मदलिकनिषेक अबाधाकाल हीन शेष स्थिति प्रमाण है ।

तत्पश्चात् 'तब्बीयाइ बिवुड्ढी' अर्थात् उन संस्थानों और संहननों के मध्य में जो द्वितीय, तृतीय आदि संस्थान और संहनन हैं, उनमें क्रमशः दो-दो सागरोपम की वृद्धि रूप उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिये । जिसका आशय यह है कि दूसरे संस्थान (न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान) और संहनन (ऋषभनाराचसंहनन) की उत्कृष्टस्थिति बारह (१२) कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है तथा बारह

१. पल्योपम और सागरोपम के बारे में शास्त्रों में कहा है कि चार कोस के लंबे, चौड़े और गहरे कुएं में युगलिया जीवों के केशों के असंख्य खण्ड करके उन्हें खूब दबा-दबा कर भरा जाये और फिर सौ-सौ वर्ष बाद एक-एक खण्ड निकाला जाये, निकालते-निकालते जब वह कुआं खाली हो जाये तब एक पल्योपम काल होता है। (इसमें असंख्य वर्ष लगते हैं) और दस कोडाकोडी पल्योपम का एक सागरोपम काल होता है। विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में किया गया है।

सौ वर्ष अवाधाकाल है एवं अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है। तीसरे संस्थान (सादिसंस्थान) और संहनन (नाराचसंहनन) की उत्कृष्ट स्थिति चौदह कोडाकोडी सागरोपम की है, इनका अबाधाकाल चौदहसौ वर्ष का है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है। चौथे संस्थान (वामनसंस्थान) और संहनन (अर्धनाराचसंहनन) की उत्कृष्ट स्थिति सोलह कोडाकोडी सागरोपम की है। इनका अबाधाकाल सोलहसौ वर्ष है और अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है। पांचवें संस्थान (कुब्जसंस्थान) और संहनन (कीलिकासंहनन) की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है। इनका अबाधाकाल अठारहसौ वर्ष है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है। छट्ठे संस्थान (हुंडकसंस्थान) और संहनन (सेवार्तसंहनन) की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है और इनका अवाधाकाल दो हजार वर्ष है तथा अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

'अट्ठारस सुहुमविगलतिगे' अर्थात् सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण रूप सूक्ष्मत्रिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति रूप विकलत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। इनका अबाधाकाल अठारह सौ वर्ष है तथा अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

'तित्थगराहारदुगे त्ति' अर्थात् तीर्थंकरनाम और आहारकशरीर, आहारकअंगोपांग रूप आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोडाकोडी[1] सागरोपम प्रमाण होती है और इनका अवाधाकाल अन्तर्मुहूर्त होता है तथा अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

'वीसा सनिच्चनामाणं' अर्थात् नीचगोत्र एवं नामकर्म की जो प्रकृतियां शेष रही हुई हैं, यथा—नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचद्विक (तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी) एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, तैजस, कार्मण, औदारिक, वैक्रिय शरीर नामकर्म[2] औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श[3] अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत,

---

१. अन्तःकोडाकोडी—देशोन कोडाकोडी (एक कोडाकोडी में से कुछ न्यून)। एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर प्राप्तराशि को कोडाकोडी कहते हैं।

२. बंधन और संघात नामकर्म के अवान्तर भेदों की स्थिति अपने अपने नाम वाले शरीरनाम की स्थिति के बराबर समझना चाहिये—स्थित्युदयबंधकालाः संघातबंधनानां स्वशरीरतुल्या ज्ञेया।

—कर्मप्रकृति, यशो. टीका

३. कर्मप्रकृति में तो वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदों की स्थिति नहीं बतलाई है, परन्तु पंचसंग्रह में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

सुक्किलसुरभिमहुराण दस उ तह सुभ चउण्हफासाणं।
अड्ढाइज्जपवुड्ढी अम्बिलहालिद्दपुव्वाणं॥

—उत्कृष्ट स्थितिबंधद्वार ३३

शुक्लवर्ण, सुरभिगंध, मधुररस, मृदु, स्निग्ध, लघु, उष्ण स्पर्शों की दस कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। आगे प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक रस की स्थिति अढाई कोटि-कोटि सागरोपम अधिक-अधिक जानना चाहिये। अर्थात् हरितवर्ण और आम्लरस नाम की उत्कृष्ट स्थिति साढ़े बारह कोडाकोडी सागर प्रमाण है। लालवर्ण और कषायरस नाम की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागर प्रमाण है। नीलवर्ण और कटुकरस नाम की उत्कृष्ट स्थिति साढ़े सत्रह कोडाकोडी सागर प्रमाण है और इनके अतिरिक्त शेष भेदों, कृष्णवर्ण, तिक्तरस, दुर्गन्ध, गुरु, कर्कश, रूक्ष, शीत स्पर्श नाम की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है।

अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण, कुल मिलाकर छत्तीस(३६) प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम होती है । इनका अबाधाकाल दो हजार वर्ष है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

'तेत्तीसुदही सुरनारयाउ' अर्थात् देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम होती है । जो पूर्वकोटि वर्ष के त्रिभाग से अधिक है । इनका अबाधाकाल पूर्वकोटि का त्रिभाग है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है । 'सेसाउ पल्लतिगं' अर्थात् शेष रही जो मनुष्यायु और तिर्यंचायु हैं, उनकी उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि के त्रिभाग से अधिक तीन पल्योपम होती है। इनका अबाधाकाल पूर्व[1] कोटि का त्रिभाग है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है । यह पूर्वकोटि की अधिकता चारों गतियों में गमन के योग्य उत्कृष्ट स्थिति बांधने वाले तिर्यंच और मनुष्यों की अपेक्षा जानना चाहिये । क्योंकि इनका ही आश्रय करके यह ऊपर कही गई उत्कृष्ट स्थिति और पूर्वकोटि का त्रिभाग रूप अबाधाकाल प्राप्त होता है ।

बंधक जीवों के आश्रय से आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति

अब असंज्ञी पंचेन्द्रिय आदि बंधक जीवों के आश्रय से आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का प्रतिपादन करते हैं—

आउचउक्कुक्कोसो, पल्लासंखेज्जभागममणेसु ।
सेसाण पुव्वकोडि, साउतिभागो अबाहा सिं ।।७४।।

शब्दार्थ—**आउचउक्कुक्कोसो**—आयुचतुष्क का उत्कृष्ट बंध, **पल्लासंखेज्जभागं**—पल्य का असंख्यातवां भाग, **अमणेसु**—असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में, **सेसाण**—शेष जीवों का, **पुव्वकोडी**—पूर्वकोटिवर्ष, **साउतिभागो**—स्व-स्व आयु का तीसरा भाग, **अबाहा**—अबाधा, **सिं**—इनके ।

गाथार्थ—असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव चारों आयु कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण और शेष जीव परभव की आयु का उत्कृष्ट स्थितिबंध अपने-अपने भव सम्बन्धी आयु के त्रिभाग से अधिक पूर्वकोटिवर्ष प्रमाण करते हैं । वहीं उनके वर्तमान भव का त्रिभाग अबाधाकाल होता है ।

विशेषार्थ—अमनस्क अर्थात् असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव यदि परभव सम्बन्धी चारों आयु प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध करते हैं तो उनकी वह उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि के त्रिभाग से अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण होती है । उनका अबाधाकाल पूर्वकोटि का त्रिभाग है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है । शेष पर्याप्त और अपर्याप्त

१. ज्योतिष्करण्डक ६३ में पूर्व का प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—
पुव्वस्स उ परिमाणं सयरी खलु होंति सयसहस्साइं ।
छप्पणं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं ।।
अर्थात् ७० लाख, ५६ हजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व होता है।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों का और अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव यदि परभव सम्बन्धी उत्कृष्ट स्थिति का बंध करते हैं, तो उनका वह उत्कृष्ट स्थितिबंध अपने-अपने भव के त्रिभाग से अधिक पूर्वकोटिवर्ष प्रमाण जानना चाहिये। इनका अबाधाकाल अपने-अपने भव का त्रिभाग है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

कर्मों के उत्कृष्ट अबाधाकाल का परिमाण

वाससहस्समबाहा, कोडाकोडीदसगस्स सेसाणं।
अणुवाओ अणुवट्टणगाउसु छम्मासिगुक्कोसो ॥७५॥

शब्दार्थ—**वाससहस्सं**—एक हजार वर्ष, **अबाहा**—अबाधा, **कोडाकोडी**—कोडाकोडी, **दसगस्स**—दस सागरोपम की, **सेसाणं**—शेष की, **अणुवाओ**—अनुपात से, **अणुवट्टणगाउसु**—अनपवर्तनीय आयु की **छम्मासिगुक्कोसो**—छह मास की उत्कृष्ट।

गाथार्थ—दस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति का अबाधाकाल एक हजार वर्ष होता है। इसी अनुपात से शेष स्थितियों का अबाधाकाल जानना चाहिये। अनपवर्तनीय आयु वाले जीवों की आयु का अबाधाकाल उत्कृष्ट छह मास होता है।

विशेषार्थ—अब आयुकर्म को छोड़कर शेष सब कर्मों के अबाधाकाल के परिमाण का प्रतिपादन करते है। दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितियों का अबाधाकाल एक हजार (१०००) वर्ष होता है। शेष बारह, चौदह, पन्द्रह, सोलह, अठारह, बीस, तीस, चालीस और सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितियों का अबाधाकाल इसी अनुपात से अर्थात् त्रैराशिक रीति से जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जब दस कोडाकोडी सागरोपम वाली स्थितियों का अबाधाकाल एक हजार वर्ष का प्राप्त होता है, तब बारह कोडाकोडी सागरोपम वाली स्थितियों का अबाधाकाल बारहसौ (१२००) वर्ष और चौदह कोडाकोडी सागरोपम वाली स्थितियों का अबाधाकाल चौदहसौ (१४००) वर्ष प्राप्त होता है। इसी प्रकार सभी स्थितियों के उत्कृष्ट अबाधाकाल को समझ लेना चाहिये।

'अणुवट्टणगाउसु ति' अर्थात् अनपवर्तनीय[1] आयु वाले जो देव, नारक और असंख्यात वर्ष की

१. आयु के दो प्रकार हैं—अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय। बाह्यनिमित्त से जो आयु कम हो जाती है, उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जल में डूबने, शस्त्रघात, विषपान आदि बाह्य कारणों से अपनी बंधी हुई आयु को अन्तर्मुहूर्त में भोग लेना, आयु का अपवर्तन है। ऐसी आयु को अकालमृत्यु भी कहते हैं। जो आयु किसी भी कारण से कम न हो, जितने काल तक के लिये बांधी गई है, उतने काल तक भोगी जाये, वह अनपवर्तनीय आयु है।

उपपात जन्म वाले नारक, देवों के अतिरिक्त तद्भवमोक्षगामी, उत्तम पुरुष (तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि) और असंख्यात वर्ष जीवी मनुष्य तीस अकर्मभूमियों, छप्पन अंतर्द्वीपों में और कर्मभूमियों में उत्पन्न युगलिक हैं और असंख्यात वर्ष जीवी तिर्यंच उक्त क्षेत्रों के अलावा ढाई द्वीप के बाहर द्वीप, समुद्रों में भी पाये जाते हैं। ये सभी अनपवर्तनीय आयु वाले हैं और शेष अपवर्तनीय आयु वाले हैं।

आयु वाले तिर्यंच, मनुष्य हैं, उनके परभव की आयु के उत्कृष्ट बंध में परभव की आयु की उत्कृष्ट अबाधा छह मास प्रमाण जानना चाहिये।[1]

कितने ही आचार्य युगलधर्मी (युगलिक), भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंचों का अबाधाकाल पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण मानते हैं। जैसा कि कहा है—

पलियासंखिज्जंसं जुगधम्माणं वयंतण्णे ॥[2]

अर्थात् अन्य आचार्य युगलधर्मियों की आयुष्य का अबाधाकाल पल्योपम का असंख्यातवां भाग कहते हैं।[3]

इस प्रकार सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का कथन किया जा चुका है। अब उनकी जघन्य स्थिति को बतलाते हैं।

कर्मप्रकृतियों की जघन्य स्थिति

भिन्नमुहुत्तं आवरण–विग्घंदंसणचउक्कलोभंते।
बारस सायमुहुत्ता, अट्ठ य जसकित्तिउच्चेसु ॥७६॥
दो मासा अद्धद्धं, संजलणे पुरिस अट्ठ वासाणि।
भिन्नमुहुत्तमबाहा, सव्वासिं सव्वहिं हस्से ॥७७॥

शब्दार्थ—**भिन्नमुहुत्तं**–भिन्नमुहूर्त अर्थात् अन्तर्मुहूर्त, **आवरण**–ज्ञानावरण, **विग्घं**–अन्तराय, **दंसणचउक्कं**–दर्शनावरणचतुष्क, **लोभंते**–अन्तिम (संज्वलन) लोभ, **बारस**–बारह, **साय**–सातावेदनीय, **मुहुत्ता**–मुहूर्त, **अट्ठ**–आठ, **य**–और, **जसकित्ति**–यशःकीर्ति, **उच्चेसु**–उच्चगोत्र।

---

१. आयुकर्म की अबाधा के सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने योग्य है कि अबाधा के लिये जो नियम बताया गया है कि एक पूर्व कोडाकोडी सागर की स्थिति में सौ वर्ष अबाधाकाल होता है, वह नियम आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की ही अबाधा निकालने के लिये है। आयुकर्म की अबाधा स्थिति के अनुपात पर अवलंबित नहीं है। इसका कारण यह है कि अन्य कर्मों का बंध तो सर्वदा होता रहता है। किन्तु आयुकर्म का बंध अमुक-अमुक काल में ही होता है। गति के अनुसार वे अमुक-अमुक काल निम्नप्रकार हैं—मनुष्य और तिर्यंचगति में जब भुज्यमान आयु के दो भाग बीत जाते हैं, तब परभव की आयु के बंध का काल उपस्थित होता है। जैसे किसी मनुष्य की आयु ९९ वर्ष की है तो उसमें से ६६ वर्ष बीतने पर वह मनुष्य परभव की आयु बांध सकता है। उससे पहले उसके आयुकर्म का बंध नहीं हो सकता है। इसी से कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों के बध्यमान आयुकर्म का अबाधाकाल एक पूर्वकोटि का तीसरा भाग है। क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य, तिर्यंच की आयु एक पूर्वकोटि की होती है और उसके त्रिभाग में परभव की आयु बंधती है। लेकिन भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच तथा देव और नारक अपनी-अपनी आयु के छह मास शेष रहने पर परभव की आयु बांधते हैं। इसी से ग्रंथकार ने अनपवर्तनीय आयु वालों का बध्यमान आयु का अबाधाकाल छह मास बताया है।

२. पंचसंग्रह, पंचम द्वार गा. ४१

३. आयुबंध और उसकी अबाधा के सम्बन्ध में मतभेद को दर्शाते हुए पंचसंग्रह में पंचम द्वार गाथा ३७-४१ तक रोचक चर्चा की है। जिसको परिशिष्ट में देखिये।

दोमासा–दो मास, **अद्धद्धं**–अर्ध-अर्ध, **संजलणे**–संज्वलनत्रिक की, **पुरिस**–पुरुषवेद, **अट्ठवासाणि**–आठ वर्ष की, **भिन्नमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त, **अबाहा**–अवाधा, **सव्वासिं**–सर्व प्रकृतियों की, **सव्वहिं**–समस्त, **हस्से**–जघन्य स्थितिबंध में।

गाथार्थ––ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अंतिम (संज्वलन) लोभ की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है तथा सातावेदनीय की बारह मुहूर्त्त एवं यशःकीर्ति और उच्चगोत्र की आठ मुहूर्त है।

संज्वलन क्रोध की दो मास और शेष मान, माया की अर्ध-अर्ध न्यून और पुरुषवेद की आठ वर्ष की जघन्य स्थिति है और सर्व प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध में अबाधा अन्तर्मुहूर्त है।

विशेषार्थ––'भिन्नमुहुत्तं ····'अर्थात् पांचों ज्ञानावरण, पांचों अन्तराय, चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल इन चारों दर्शनावरण और सबसे अंतिम लोभ अर्थात् संज्वलन लोभ की जघन्य स्थिति भिन्नमुहूर्त अर्थात् अन्तर्मुहूर्त होती है। इनका अबाधाकाल भी अन्तर्मुहूर्त है। अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक है।

सातावेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है[1] और अन्तर्मुहूर्त अबाधाकाल है एवं अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है। यहाँ पर कषाययुक्त सातावेदनीय की जघन्य स्थिति का प्रतिपादन अभीष्ट है। इसलिये बारह मुहूर्त जघन्य स्थिति कही है। अन्यथा तो सातावेदनीय की जघन्य स्थिति सयोगिकेवली आदि में दो समय प्रमाण[2] भी पाई जाती है।

यशःकीर्ति और उच्चगोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है। अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

संज्वलन कषायों की जघन्य स्थिति दो मास और इसके बाद अर्ध-अर्ध होती है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि संज्वलन क्रोध की दो मास जघन्य स्थिति है, संज्वलन मान की जघन्य स्थिति उससे आधी अर्थात् एक मास होती है और संज्वलन माया की जघन्य स्थिति उससे आधी अर्थात् अर्धमास––एक पक्ष है। पुरुषवेद की जघन्य स्थिति आठ वर्ष की है। इन सभी प्रकृतियों का अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

अबाधाकाल का प्रमाण प्रतिपादन करने के लिये 'भिन्नेत्यादि' पद कहा गया है। उसका अर्थ यह है कि पूर्वोक्त और आगे वक्ष्यमाण सभी प्रकृतियों के सभी जघन्य स्थितिबंध में अबाधाकाल भिन्नमुहूर्त जानना चाहिये। जो कि पहले प्रतिपादित किया गया है और आगे भी कहा

---

१. उत्तराध्ययन ३३/२० में सातावेदनीय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कही है।

२. ग्यारह, बारह और तेरह, इन तीन गुणस्थानों में सातावेदनीय प्रथम समय बंधती है, दूसरे समय में अनुभव की जाती है और तीसरे समय में निर्जरा हो जाती है। इसलिये बंध और अनुभव के दो समय सत्तारूप माने जाते हैं। निर्जरा के समय को कर्म की सत्ता नहीं कहा जाता है। इसी दृष्टि से सातावेदनीय की जघन्य स्थिति दो समय भी कही गई है।

जायेगा । अर्थात् अभी तक जिन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध बताया है और आगे भी जिनका बतलाने वाले हैं, उन सबका अबाधाकाल भिन्नमुहूर्त समझना चाहिये ।[1]

अब आयुकर्म के भेदों और अन्य प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का प्रतिपादन करते हैं—

खुड्डागभवो आउसु, उववायाउसु समा दससहस्सा ।
उक्कोसा संखेज्जा-गुणहीण आहारतित्थयरे ।।७८।।

शब्दार्थ—**खुड्डागभवो**–क्षुद्रकभव प्रमाण, **आउसु**–मनुष्य, तिर्यंचायु की, **उववायाउसु**–उपपात आयुवालों (देव-नारक) की, **समा**–वर्ष, **दससहस्सा**–दस हजार, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट से, **संखेज्जा**–संख्यात, **गुणहीण**–गुणहीन, **आहारतित्थयरे**–आहारकद्विक और तीर्थंकर नाम की ।

गाथार्थ—मनुष्य और तिर्यंचायु की जघन्य स्थिति क्षुद्रकभव (क्षुल्लकभव) प्रमाण है । औपपातिक देव और नारकियों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और आहारकद्विक एवं तीर्थंकर प्रकृति की जघन्य स्थिति उत्कृष्ट स्थिति से संख्यात गुणहीन होती है ।

विशेषार्थ—'खुड्डागभवो त्ति'–अर्थात् तिर्यंचायु और मनुष्यायु की जघन्य स्थिति क्षुल्लकभव प्रमाण है ।

क्षुल्लकभव का क्या प्रमाण है ? तो उसका प्रमाण कुछ अधिक दो सौ छप्पन (२५६) आवलिका प्रमाण है । अब इसी बात का स्पष्टीकरण करते हैं—एक मुहूर्त दो घटिका प्रमाण होता है, उसमें हृष्ट-पुष्ट और निरोग जीव के तीन हजार सात सौ तिहत्तर (३७७३) प्राणापान

---

१. यहां जघन्य अबाधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बताई है । जघन्य स्थितिबंध में जो अबाधाकाल होता है, उसे जघन्य अबाधा और उत्कृष्ट स्थितिबंध में जो अबाधाकाल होता है, उसे उत्कृष्ट अबाधा कहते हैं । किन्तु यह परिभाषा आयु के अतिरिक्त शेष सात कर्मों तक सीमित है, जिनकी अबाधा स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार होती है । लेकिन आयुकर्म की तो उत्कृष्ट स्थिति में भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थिति में भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है । क्योंकि उसका अबाधाकाल स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार नहीं होता है, जैसा कि ऊपर संकेत किया है । अतः आयुकर्म की अबाधा के चार विकल्प होते हैं–१. उत्कृष्ट स्थितिबंध में उत्कृष्ट अबाधा, २. उत्कृष्ट स्थितिबंध में जघन्य अबाधा, ३. जघन्य स्थितिबंध में उत्कृष्ट अबाधा और ४. जघन्य स्थितिबंध में जघन्य अबाधा । इन विकल्पों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जब कोई मनुष्य अपनी पूर्वकोटि की आयु में तीसरा भाग शेष रहने पर तेतीस सागर की आयु बांधता है, तब उत्कृष्ट स्थितिबंध में उत्कृष्ट अबाधा होती है और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहने पर तेतीस सागर की स्थिति बांधता है तो उत्कृष्ट स्थितिबंध में जघन्य अबाधा होती है तथा जब कोई मनुष्य एक पूर्वकोटि वर्ष का तीसरा भाग शेष रहते हुए परभव की जघन्य स्थिति बांधता है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी हो सकती है, तब जघन्य स्थिति में उत्कृष्ट अबाधा होती है और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने पर परभव की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बांधता है, तो जघन्य स्थिति में जघन्य अबाधा होती है । अतः आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति में भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थिति में भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है ।

(श्वासोच्छ्वास) होते हैं और एक प्राणापान में कुछ अधिक सत्रह क्षुल्लकभव[1] और एक मुहूर्त में ६५,५३६ क्षुल्लकभव होते हैं।[2] यहाँ पर भी 'सव्वहिं हस्से' इस वचन के अनुसार सभी प्रकृतियों का अन्तर्मुहूर्त अबाधाकाल होता है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

उपपात आयु वाले देव और नारकों के आयुष्य की जघन्य स्थिति दस हजार (१०,०००) वर्ष प्रमाण है और अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है तथा अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

अब तीर्थंकर और आहारकद्विक की जघन्य स्थिति बतलाने के लिए कहते हैं–'उक्कोसेत्यादि' अर्थात् तीर्थंकरनाम और आहारकशरीर, आहारकअंगोपांग नामकर्म की जो उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण पहले कही गई है, वही संख्यात गुणित हीन जघन्य स्थिति होती है, फिर भी वह अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ही होती है।

शंका––तीर्थंकर नामकर्म तीर्थंकरभव की प्राप्ति से पूर्व तीसरे भव में बंधता है, जैसा कि कहा है––

बज्झइ तं तु य भयवओ तइयभवो सक्कइत्ताणं।[3]

अर्थात् भगवान् तीर्थंकर प्रकृति को तीन भव पूर्व बांधते हैं। इसलिये इस वचन के अनुसार तीर्थंकर प्रकृति की जो जघन्य स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कही है, वह कैसे सम्भव है ?

समाधान––आगम का अभिप्राय नहीं समझने क कारण उक्त कथन अयोग्य है। क्योंकि 'वज्झइ तं तु' इत्यादि कथन निकाचना की अपेक्षा किया गया है। अन्यथा तीन भव से पहले भी तीर्थंकर प्रकृति बांधी जा सकती है। जैसा कि विशेषणवती ग्रंथ में कहा है––

कोडाकोडीअयरोवमाण तित्थयरनामकम्मठिई।
बज्झइ य तं अणंतरभवम्मि तइयम्मि निद्दिट्ठं॥[4]

अर्थात् अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण जो तीर्थंकर नामकर्म की स्थिति अनन्तर अर्थात् पिछले तीसरे भव में बंधती है, ऐसा कहा गया है, सो वह कैसे सम्भव है ? इसका समाधान करते हुए उसी स्थान पर कहा है कि

जं बज्झइत्ति भणियं तत्थ निकाइज्जइ त्ति नियमोऽयं।
तदवंझफलं नियमा भयणा अनिकाइयावत्थे॥[5]

---

१. आवश्यक टीका में कहा है कि क्षुल्लकभवग्रहण वनस्पतिकाय में सम्भव है।
२. एक मुहूर्तगत ६५,५३६ क्षुल्लकभव राशि में मुहूर्तगत प्राणापान राशि ३७७३ से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त होता है, उतने एक प्राणापान में क्षुल्लकभव होते हैं। भाग देने पर १७ तो पूरे और १३९५ शेष रहते हैं। इसीलिये यहां एक प्राणापान में कुछ अधिक सत्रह क्षुल्लकभव होने का संकेत किया है।
३. आवश्यक निर्युक्ति १८०
४. विशेषणवती (जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण), गा. ७८
५. विशेषणवती, गा. ८०

अर्थात् अनन्तर तीसरे भव में बंधती है, ऐसा जो कहा गया है, वह बंध की अपेक्षा नहीं किन्तु निकाचना की अपेक्षा कहा है, ऐसा यह नियम है और इसी अर्थ को ग्रहण करना चाहिये। निकाचित करने के पश्चात् निश्चय से वह अबंध्यफल अर्थात् अवश्य विपाकफल देती है। किन्तु अनिकाचित अवस्था में जो जिननामकर्म का बंध है, उसके फल का नियम नहीं है।

इस प्रकार विशेषणवती ग्रंथ में उक्त शंका का समाधान किया है।

शंका—यदि तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य स्थिति भी अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है तो उतनी स्थिति को पूरा करना तिर्यंचभवों में परिभ्रमण किये बिना शक्य नहीं है और तिर्यंचगति में तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता वाला जीव कितने काल तक रहेगा? यदि वह अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण रहता है तो ऐसा मानने में आगम से विरोध आता है। क्योंकि आगम में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाले जीव का तिर्यंचगति में होने का निषेध किया गया है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि निकाचित किये गये तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता का ही आगम में निषेध किया गया है। जैसा कि कहा है—

जमिह निकाइयतित्थं, तिरियभवे तं निसेहियं संतं।
इयरम्मि नत्थि दोसो, उव्वट्टोवट्टणासज्झे ॥[1]

इस गाथा का अर्थ इस प्रकार है कि इस प्रवचन में जो तीर्थंकर नामकर्म निकाचित अर्थात् अवश्य वेदन करने रूप से स्थापित किया गया है, उस स्वरूप से विद्यमान का ही तिर्यंचगति में निषेध किया गया है। किन्तु इतर अर्थात् अनिकाचित तीर्थंकर नामकर्म का जो कि उद्वर्तना और अपवर्तना करण के योग्य है, उसका तिर्यंचभव में पाये जाने में भी कोई दोष नहीं है।

इस तीर्थंकर नामकर्म का अबाधाकाल भी अन्तर्मुहूर्त है, उससे परे दलिकरचना सम्भव होने से प्रदेशोदय अवश्य ही सम्भव है।[2] (विपाकोदय तो तेरहवें गुणस्थान में ही सम्भव है)।

अब पूर्वोक्त प्रकृतियों से शेष रही प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का निरूपण करते हैं—

वग्गुक्कोसठिईणं, मिच्छत्तुक्कोसगेण जं लद्धं।
सेसाणं तु जहन्नो, पल्लासंखेज्जगेणूणो ॥७९॥

शब्दार्थ—वग्गुक्कोसठिईणं—अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति को, **मिच्छत्तुक्कोसगेण**—मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति द्वारा भाग देने पर, **जं**—जो, **लद्धं**—लब्ध प्राप्त हो, **सेसाणं**—शेष प्रकृतियों की, **तु**—और, **जहन्नो**—जघन्य, **पल्लासंखेज्जगेणूणो**—पल्य के असंख्यातवें भाग कम।

---

१. पंचसंग्रह, पंचमद्वार गा. ४४

२. जिननामकर्म के प्रदेशोदय से ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति होती है। जिननाम का बंध मनुष्यगति में ही होता है।

गाथार्थ––स्व वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त होता है, उसमें से पल्य का असंख्यातवां भाग कम करने पर वह शेष प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध है ।

विशेषार्थ––'वग्गुक्कोस त्ति' अर्थात् यहाँ ज्ञानावरण कर्म की प्रकृतियों के समुदाय को ज्ञानावरणवर्ग कहते हैं । इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म के प्रकृतिसमुदाय को दर्शनावरणवर्ग, वेदनीय के प्रकृतिसमुदाय को वेदनीयवर्ग, दर्शनमोहनीय के प्रकृतिसमुदाय को दर्शनमोहनीय-वर्ग, चारित्रमोहनीय के प्रकृतिसमुदाय को चारित्रमोहनीयवर्ग, नोकषायमोहनीय प्रकृति-समुदाय को नोकषायमोहनीयवर्ग, नामकर्म के प्रकृतिसमुदाय को नामकर्मवर्ग, गोत्रकर्म के प्रकृतिसमुदाय को गोत्रकर्मवर्ग और अन्तराय के प्रकृतिसमुदाय को अन्तरायकर्मवर्ग कहते हैं । इन वर्गों की जो अपनी-अपनी तीस कोडाकोडी सागरोपम आदि रूप उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उसमें से पल्य का असख्यातवां भाग कम करने पर पहले कही गई प्रकृतियों में से शेष रही प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये । जैसे कि––

दर्शनावरण और वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है, उसमें मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर और 'शून्यं शून्येन पातयेत्' इस वचन के अनुसार शून्य को शून्य से काट देने पर ३/७ सागरोपम लब्ध प्राप्त होता है, उसको पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन करने पर पांचों निद्राओं (दर्शनावरण कर्म की प्रकृतियों) और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति हो जाती है । इसी प्रकार मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन ७/७ भाग है, अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम एक सागरोपम प्रमाण है । संज्वलनकषायचतुष्क को छोड़कर शेष बारह कषायों की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग से न्यून ४/७ सागरोपम होती है तथा नोकषाय-मोहनीय की, नामकर्म और गोत्रकर्म की अपनी-अपनी बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण रूप उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो २/७ सागरोपम भाग लब्ध प्राप्त होता है, उसमें पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन करने पर वही भाग पुरुषवेद को छोड़कर शेष आठ नोकषायों की तथा देवद्विक, नरकद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, यशःकीर्ति और तीर्थंकर नामकर्म को छोड़कर शेष नामकर्म[1] की प्रकृतियों की एवं नीचगोत्र की जघन्य स्थिति है ।

---

१. शेष नामकर्म की प्रकृतियों में वर्णचतुष्क भी है। उनकी सामान्य से २/७ सागर जघन्य स्थिति बतलाई है। इसका कारण यह है कि बंध अवस्था में वर्णादि चार लिये जाते हैं, उनके अपने-अपने अवान्तर भेद नहीं लिये जाते हैं। नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर होती है, अतः चारों की जघन्य स्थिति सामान्य से २/७ सागर ही समझना चाहिये। इनके अवान्तर भेदों की अपेक्षा प्रत्येक की जघन्य स्थिति का प्रमाण पंचसंग्रह, पंचमद्वार गाथा ४८ की टीका में स्पष्ट किया गया है।

वैक्रियषट्क अर्थात् देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अंगोपांग की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन और सहस्रगुणित २/७ सागरोपम जघन्य स्थिति होती है । क्योंकि इस वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति का बंध करने वाले असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव होते हैं और वे ही उक्त प्रमाण वाली जघन्य स्थिति को बांधते हैं, जैसा कि कहा है—

वेउव्वियछक्के तं सहस्सताडियं जं असण्णिणो तीसं ।
पलियासंखंसूणं ठिइ अबाहूणियनिसेगो ।।[1]

इसका अर्थ यह है कि वर्गोत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने रूप गणित के इस करणसूत्र से जो २/७ लब्ध होता है, उसे सहस्रताड़ित अर्थात् एक हजार (१०००) से गुणा करके फिर उसे पल्योपम के असंख्यातवें अंश अर्थात् भाग से कम करें तब जो प्रमाण होता है, वह उक्त स्वरूप वाले वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये । ऐसा क्यों ? तो इसका उत्तर यह है कि जिस कारण से इन वैक्रियषट्क लक्षण वाले कर्मों की असंज्ञी पंचेन्द्रिय ही जघन्य स्थिति का बंध करते हैं और वे इतनी ही जघन्य स्थिति को बांधते हैं, इससे कम नहीं बांधते हैं । उक्त कर्मों का अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और अबाधाकाल से हीन जो कर्मस्थिति है, तत्प्रमाण कर्मदलिकनिषेक होता है ।[2]

एकेन्द्रियादि जीवों की जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति व स्थितिबंध का अल्पबहुत्व

एसेगिंदियडहरो, सव्वासिं ऊणसंजुओ जेट्ठो ।
पणवीसा पन्नासा, सयं सहस्सं च गुणकारो ।।८०।।
कमसो विगल असन्नीण, पल्लसंखेज्जभागहा इयरो ।
विरए देसजइदुगे, सम्मचउक्के य संखगुणो ।।८१।।
सन्नीपज्जत्तियरे, अब्भितरओ य कोडिकोडीओ ।
ओघुक्कोसो सन्निस्स, होइ पज्जत्तगस्सेव ।।८२।।

शब्दार्थ—**एस**—यह पूर्वोक्त, **एगिंदियडहरो**—एकेन्द्रिय का जघन्य, **सव्वासिं**—सर्व प्रकृतियों का, **ऊणसंजुओ**—न्यून की स्थिति संयुक्त करने से, **जेट्ठो**—उत्कृष्ट, **पणवीसा**—पच्चीस, **पन्नासा**—पचास, **सयं**—सौ, **सहस्सं**—हजार, **च**—और, **गुणकारो**—गुणाकार ।

कमसो—क्रमशः, **विगल असन्नीण**—विकलेन्द्रिय और असंज्ञी का, **पल्लसंखेज्जभागहा**—पल्योपम के संख्यातवें भागहीन, **इयरो**—इतर (जघन्य), **विरए**— सर्वविरत का, **देसजइदुगे**—देशविरतद्विक का, **सम्मचउक्के**—सम्यक्त्वचतुष्क का, **य**—और, **संखगुणो**—संख्यात गुणित ।

---

१. पंचसंग्रह, पंचमद्वार गा० ४९

२. सरलता से सारांश समझने के लिये मूल एवं उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबंध और उनकी अबाधा का प्रारूप परिशिष्ट में देखिये ।

सन्नीपज्जत्तियरे–सज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त का, **अब्भितरओ**–अभ्यन्तर, अन्दर, **य**–और, **कोडिकोडीओ**–कोडाकोडी के, **ओघुक्कोसो**–ओघ से उत्कृष्ट प्रमाण, **सन्निस्स**–संज्ञी का, **होइ**–है, **पज्जत्तगस्सेव**–पर्याप्त का ।

गाथार्थ––पूर्व में जो स्थितिबंध कहा है, वह एकेन्द्रिय जीवों का जघन्य स्थितिबंध जानना चाहिये तथा पल्योपम का जो असंख्यातवां भाग कम किया जाता है, उससे संयुक्त स्थिति उनकी उत्कृष्ट होती है । उसको क्रम से पच्चीस, पचास, सौ और हजार से गुणा करने पर––

यथाक्रम से विकलेन्द्रिय और असंज्ञी जीवों की उत्कृष्ट स्थिति होती है और उसमें से पल्य का संख्यातवां भाग कम करने पर उनकी इतर (जघन्य) स्थिति होती है । सर्वविरत, देशविरतद्विक, सम्यक्त्वचतुष्क में स्थितिबंध क्रमशः संख्यात गुणित है ।

संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त का स्थितिबंध संख्यात गुणा है और यहाँ तक के सब स्थितिबंध एक कोडाकोडी सागरोपम के अभ्यन्तर हैं अर्थात् अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण हैं और संज्ञी पर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबंध ओघ से उत्कृष्ट प्रमाण है ।

विशेषार्थ––वैक्रियषट्क, आहारकद्विक और तीर्थंकर प्रकृति को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों का पूर्वोक्त 'वग्गुक्कोस·····पलिओवमासंखेज्जभागेणूणो' इत्यादि लक्षण वाला स्थितिबंध एकेन्द्रियों का[1] 'डहर' अर्थात् जघन्य जानना चाहिये । जिसका स्पष्ट आशय इस प्रकार है––

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय इन कर्मों की जो उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है, उसमें मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर सागरोपम के ३/७ भाग लब्ध होते हैं, उन्हें पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन करने पर जो प्रमाण प्राप्त होता है, उतनी जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय जीव ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय और अंतरायपंचक की बांधते हैं, उससे कम नहीं। इसी प्रकार से वे ही एकेन्द्रिय जीव मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम प्रमाण और कषायमोहनीय की ४/७ सागरोपम पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन बांधते हैं । नोकषायों की तथा वैक्रियषट्क, आहारकद्विक और तीर्थंकर प्रकृति को छोड़कर शेष नामकर्म की प्रकृतियों की और गोत्रकर्म की दोनों प्रकृतियों की जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय ही पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के २/७ भाग बांधते हैं और 'ऊणसंजुओ जेट्ठ त्ति' अर्थात् उस जघन्य स्थितिबंध में कम किये गये पल्योपम के असंख्यातवें भाग को संयुक्त किये जाने पर वही एकेन्द्रियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध जानना चाहिये । जैसे––ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय और अन्तरायपंचक इन बीस प्रकृतियों का सागरोपम का ३/७ भाग परिपूर्ण उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है।

---

१. सर्व प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध कहने के प्रकरण में एकेन्द्रियादिक के जघन्य, उत्कृष्ट स्थितिबंध को कहने का कारण यह है कि एकेन्द्रियादिक के जघन्योत्कृष्ट स्थितिबंध को बतलाने में ही सामान्यापेक्षा प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध का भी अन्तर्गत रूप से और विशेषापेक्षा यथाप्रसंग एकेन्द्रियादिक जीवों के स्थितिबंध का भी कथन हो जाता है।

इस प्रकार एकेन्द्रियों के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध का कथन जानना चाहिये ।[1]

अब विकलेन्द्रियों के जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बंध का विचार करते हैं—

'पणवीसेत्यादि' अर्थात् एकेन्द्रियों का जो उत्कृष्ट स्थितिबंध है, वही पच्चीस आदि के गुणाकार से गुणित किये जाने पर क्रमशः द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय लक्षण वाले विकलेन्द्रियों का और असंज्ञी पंचेन्द्रियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध जानना चाहिये। वह इस प्रकार है—

एकेन्द्रियों का जो उत्कृष्ट स्थितिबंध है, उसे पच्चीस से गुणा करने पर द्वीन्द्रियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है । एकेन्द्रियों का वही उत्कृष्ट स्थितिबंध पचास से गुणा करने पर त्रीन्द्रियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है और हजार से गुणा करने पर असंज्ञी पंचेन्द्रियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है तथा 'पल्लसंखेज्जभागहा इयरो' अर्थात् द्वीन्द्रिय आदि जीवों का अपना-अपना जो उत्कृष्ट स्थितिबंध है वह पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन करने पर इतर अर्थात् जघन्य स्थितिबंध जानना चाहिये ।

स्थितिबंध का अल्पबहुत्व

अब सभी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंधों के अल्पबहुत्व का विचार करते हैं—

१. सूक्ष्मसंपराय यति का जघन्य स्थितिबंध सबसे कम होता है।

२. उससे बादर पर्याप्तक का जघन्य स्थितिबंध असंख्यात गुणा होता है।

३. उससे भी सूक्ष्म पर्याप्तक का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है।

---

१. एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबंध के बारे में कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह के मत में अन्तर है। जहाँ तक प्रकृतियों की जघन्य स्थिति प्राप्त करने के लिये उनकी उत्कृष्ट स्थिति में भाग देने का सम्बन्ध है, वहां तक तो दोनों में समानता है। लेकिन उसके बाद अन्तर आ जाता है। कर्मप्रकृति में तो यह बताया है कि अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की ७० कोडाकोडी सागर की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जो लब्ध आता है, वह एकेन्द्रिय की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थितिबंध है और उसमें पल्य का असंख्यातवां भाग कम करने पर जघन्यस्थिति है। लेकिन पंचसंग्रह के मतानुसार वर्ग में नहीं, किन्तु प्रत्येक प्रकृति की अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति में भाग देने पर जो लब्ध आता है, वह एकेन्द्रिय की अपेक्षा से जघन्य स्थिति होती है और उसमें पल्य का असंख्यातवां भाग जोड़ने पर उसकी उत्कृष्ट होती है।

इसी बात को बताने के लिये उपाध्याय यशोविजय जी ने कर्मप्रकृति की 'वग्गुक्कोसठिईण..... (गा. ७९) की टीका में पंचसंग्रह के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है—'पंचसंग्रहे तु वर्गोत्कृष्ट स्थितिर्विभजनीयतया नाभिप्रेता' किन्तु 'सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं' (पंचमद्वार, गा. ४८) इति ग्रंथेन 'स्वस्वोत्कृष्टस्थितिर्मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या भागे हृते यल्लभ्यते तदेव जघन्यस्थितिपरिमाणमुक्तं' अर्थात् पंचसंग्रह में तो अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में भाग नहीं दिया जाता है, किन्तु अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो लब्ध आता है, वही जघन्य स्थिति का परिमाण होता है।

४. उससे भी अपर्याप्तक बादर का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है।
५. उससे भी अपर्याप्त सूक्ष्म का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है।
६. उससे भी उसी का (अपर्याप्त सूक्ष्म का) उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।
७. उससे भी अपर्याप्त बादर का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।
८. उससे भी सूक्ष्म पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।
९. उससे भी बादर पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।
१०. उससे भी द्वीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।
११. उससे उसी के (द्वीन्द्रिय के) अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है।
१२. उससे भी उसी द्वीन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।
१३. उससे भी द्वीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।
१४. उससे भी त्रीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।
१५. उससे भी उसी त्रीन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है।
१६. उससे भी त्रीन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।
१७. उससे भी त्रीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।
१८. उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।
१९. उससे भी अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है।
२०. उससे भी अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।
२१. उससे भी पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।
२२. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।
२३. उससे भी असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है।
२४. उससे भी असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।
२५. उससे भी असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।
२६. उससे संयत का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है। 'विरए' इत्यादि विरत अर्थात् संयत म जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध कह ही दिया है। उससे (संयत के उत्कृष्ट स्थितिबंध से देश-यतिद्विक अर्थात् देशविरत के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध तथा सम्यक्त्वचतुष्क अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि के पर्याप्त और अपर्याप्त और प्रत्येक के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध करने वालों का स्थितिबंध यथाक्रम संख्यात गुणा कहना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—
२७. संयत के उत्कृष्ट स्थितिबंध से देशविरत का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा होता है।
२८. उससे देशविरत का ही उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

२९. उससे पर्याप्त अविरत सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३०. उससे भी अपर्याप्त अविरत सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३१. उससे भी अपर्याप्त अविरत सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३२. उससे भी पर्याप्त अविरत सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यातगुणा है।

३३. पूर्वोक्त अविरत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक के उत्कृष्ट स्थितिबंध से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३४. उससे भी संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३५. उससे भी संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है तथा 'अब्भितरओ यं त्ति' अर्थात् संयत के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तक का उत्कृष्ट स्थितिबंध, यह सब एक कोडाकोडी सागरोपम के भीतर ही जानना चाहिये और एकेन्द्रिय आदि के सब जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध का परिमाण पूर्व में ही पृथक्-पृथक् कह दिया है। तथा—

३६. उससे अर्थात् अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबंध जो पहले ओघ—सामान्य से कहा गया है, वही जानना चाहिये।[1]

इन जीवभेदों में स्थितिबंध के प्रमाण और अल्पबहुत्व को निम्नलिखित प्रारूप द्वारा सरलता से समझा जा सकता है—

क्रम	जीवभेद का नाम	बंधप्रकार	स्थितिबंध का प्रमाण	अल्पबहुत्व
१.	सूक्ष्मसंपराय यति	जघन्य	अन्तर्मुहूर्त	सबसे अल्प
२.	बादर पर्याप्त	,,	$\frac{1}{9}$ सागरोपम, पल्योपम का असंख्यातवां भाग हीन	असंख्यगुण
३.	सूक्ष्म पर्याप्त	,,	$\frac{1}{9}$ सागरोपम, पल्योपम का असंख्यातवां भाग हीन	विशेषाधिक
४.	बादर अपर्याप्त	,,	$\frac{1}{9}$ सागरोपम, पल्योपम का असंख्यातवां भाग हीन	,,
५.	सूक्ष्म अपर्याप्त	,,	$\frac{1}{9}$ सागरोपम, पल्योपम का असंख्यातवां भाग हीन	,,
६.	,, ,,	उत्कृष्ट	$\frac{1}{9}$ सागरोपम	,,
७.	बादर अपर्याप्त	,,	$\frac{1}{9}$ सागरोपम	,,
८.	सूक्ष्म पर्याप्त	,,	$\frac{1}{9}$ सागरोपम	,,
९.	बादर पर्याप्त	,,	$\frac{1}{9}$ सागरोपम	,,
१०.	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	जघन्य (२५—)	$\frac{25}{9}$ सागरोपम, पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन	संख्यात गुणा

१. बीस कोडाकोडी सागरोपम, ७० कोडाकोडी सागरोपम इत्यादि ओघ (सामान्य) स्थितिबंध कहा है, तत्प्रमाण जानना चाहिये।

क्रम	जीवभेद का नाम	बंधप्रकार	स्थितिबंध का प्रमाण	अल्पबहुत्व
११.	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	जघन्य	३$\frac{४}{७}$ सागरोपम पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन	विशेषाधिक
१२.	,, ,,	उत्कृष्ट	३$\frac{४}{७}$ सागरोपम ,,	,,
१३.	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	,,	३$\frac{४}{७}$ सागरोपम	,,
१४.	त्रीन्द्रिय पर्याप्त	जघन्य (५०–)	७$\frac{१}{७}$ सागरोपम पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन	संख्यातगुण
१५.	,, अपर्याप्त	,,	७$\frac{१}{७}$ सागरोपम, पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन	विशेषाधिक
१६.	,, ,,	उत्कृष्ट	७$\frac{१}{७}$ सागरोपम ,,	,,
१७.	,, पर्याप्त	,,	७$\frac{१}{७}$ सागरोपम	,,
१८.	चतुरि. ,,	जघन्य (१००–)	१४$\frac{२}{७}$ सागरोपम, पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन	संख्यातगुण
१९.	चतुरि. अपर्याप्त	,,	१४$\frac{२}{७}$ सागरोपम, पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन	विशेषाधिक
२०.	,, ,,	उत्कृष्ट	१४$\frac{२}{७}$ सागरोपम ,,	,,
२१.	चतुरि. पर्याप्त	,,	१४$\frac{२}{७}$ सागरोपम	,,
२२.	असंज्ञी पंचे. पर्याप्त	जघन्य (१०००–)	१४२$\frac{६}{७}$ सागरोपम, पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन	संख्यातगुण
२३.	,, ,, अपर्याप्त	,,	१४२$\frac{६}{७}$ सागरोपम, पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन	विशेषाधिक
२४.	असंज्ञी पंचे. अपर्याप्त	उत्कृष्ट	१४२$\frac{६}{७}$ सागरोपम ,,	,,
२५.	,, ,, पर्याप्त	,,	१४२$\frac{६}{७}$ सागरोपम	,,
२६.	संयत	,,	अन्तःकोडाकोडी सागरोपम	संख्यातगुण
२७.	देशविरत	जघन्य	,, ,, ,, ,,	,,
२८.	,, ,,	उत्कृष्ट	,, ,, ,, ,,	,,
२९.	अवि. सम्य. पर्याप्त	जघन्य	,, ,, ,, ,,	,,
३०.	,, ,, अपर्याप्त	,,	,, ,, ,, ,,	,,
३१.	,, ,, ,,	उत्कृष्ट	,, ,, ,, ,,	,,
३२.	अवि. सम्य. पर्याप्त	,,	,, ,, ,, ,,	,,
३३.	मिथ्यात्वी पर्याप्त	जघन्य	,, ,, ,, ,,	,,
३४.	,, अपर्याप्त	,,	,, ,, ,, ,,	,,
३५.	,, ,,	उत्कृष्ट	,, ,, ,, ,,	,,
३६.	,, पर्याप्त	,,	१० क्रोडाकोडी सागरोपम	,,

नोट–१. यहाँ स्थितिबंध एवं अल्पबहुत्व उसी प्रकृति की अपेक्षा बताया है, जिसकी उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागर प्रमाण है। अन्य प्रकृति की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थितिबंध पृथक्-पृथक् होगा।

२. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के स्थितिबंध में जो संख्या की अधिकता बतलाई है, वह एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध में क्रमशः पच्चीस, पचास, सौ और हजार से गुणा करने पर प्राप्त राशि जानना चाहिये।

३. यहाँ संयत का उत्कृष्ट स्थितिबंध बताया है और जघन्य स्थितिबंध सूक्ष्मसंपराय यति जितना जानना चाहिये।

४. 'संयत' से संज्ञी पंचेन्द्रिय के स्थितिबंध का क्रम प्रारम्भ होता है। संयम और देशविरति पर्याप्त अवस्था में धारण कर सकते हैं। अतः उनमें पर्याप्त-अपर्याप्त का विकल्प नहीं है।

५. गाथा में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध ओघवत् कहा है। लेकिन यहाँ सरलता से समझने के लिये पृथक्-पृथक् स्पष्ट कर दिया है।

निषेकप्ररूपणा

इस प्रकार स्थितिबंधप्ररूपणा की गई। अब क्रमप्राप्त निषेकप्ररूपणा का विचार करते हैं। उसमें दो अनुयोगद्वार हैं—अनन्तरोपनिधा और परंपरोपनिधा। इनमें से पहले अनन्तरोपनिधा की प्ररूपणा करते हैं—

मोत्तूण सगमबाहे, पढमाए ठिइए बहुतरं दव्वं।
एत्तो विसेसहीणं, जावुक्कोसं ति सव्वेसिं ॥८३॥

शब्दार्थ—मोत्तूण—छोड़कर, **सगमबाहे**—अपनी अबाधा, **पढमाए ठिइए**—प्रथम स्थिति में, **बहुतरं**—अधिक, **दव्वं**—द्रव्य, **एत्तो**—इससे आगे, **विसेसहीणं**—विशेष हीन-हीन, **जावुक्कोसं ति**—उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त, **सव्वेसिं**—सब प्रकृतियों में।

गाथार्थ—जीव सब प्रकृतियों में उनकी अबाधा को छोड़कर प्रथम स्थिति में बहुत द्रव्य देता है, इससे आगे के स्थितिस्थानों में विशेष हीन-हीन उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त जानना चाहिये।

विशेषार्थ—सभी बध्यमान कर्मों में अपनी-अपनी अबाधाकाल को छोड़कर उससे ऊपर दलिकनिक्षेप (निषेकरचना) करता है। उसमें से एक समय लक्षण वाली प्रथम स्थिति में बहुत अधिक कर्मदलिक का निक्षेप करता है और 'एत्तो विसेसहीणं ति' अर्थात् इस प्रथम स्थिति से ऊपर द्वितीय आदि एक-एक समय प्रमाण वाली स्थितियों में विशेषहीन-विशेषहीन कर्मदलिक का निक्षेप करता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

प्रथम स्थिति से द्वितीय स्थिति में विशेषहीन कर्मदलिकों का प्रक्षेप करता है, उससे भी तृतीय स्थिति में विशेषहीन प्रक्षेप करता है, उससे भी चतुर्थ स्थिति में विशेषहीन प्रक्षेप करता है।

इस प्रकार विशेषहीन-विशेषहीन निक्षेप करने का क्रम तब तक कहना चाहिये, जब तक उस समय में बांधे जाने वाले कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का चरम समय प्राप्त होता है।[1]

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा की प्ररूपणा जानना चाहिये। अब परंपरोपनिधाप्ररूपणा करते हैं—

पल्लसंखिय भागं, गंतुं दुगुणूणमेवमुक्कोसा।
नाणंतराणि पल्लस्स, मूलभागो असंखतमो ॥८४॥

शब्दार्थ—**पल्लासंखिय भागं**—पल्योपम के असंख्यातवें भाग, **गंतुं**—अतिक्रमण करने पर, **दुगुणूणं**—द्विगुणहीन, **एवं**—इस प्रकार, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट स्थिति, **नाणंतराणि**—नाना अन्तर जानना, **पल्लस्स**—पल्योपम के, **मूलभागो**—वर्गमूल के, **असंखतमो**—असंख्यातवें भाग प्रमाण।

गाथार्थ—पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों का अतिक्रमण करने पर द्विगुण-हानिस्थान तथा नाना अंतर पल्योपम के वर्गमूल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।

विशेषार्थ—अबाधाकाल से ऊपर प्रथम स्थिति में जो कर्मदलिक निषक्त-निक्षिप्त किये जाते हैं, उनकी अपेक्षा समय-समय रूप द्वितीय, तृतीय आदि स्थितियों में विशेषहीन-विशेषहीन दलिकों का निक्षेपण करते हुए पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों के अतिक्रान्त हो जाने पर निक्षिप्यमाण दलिक 'दुगुणूणं' द्विगुणहीन अर्थात् आधे हो जाते हैं। तत्पश्चात् इससे भी ऊपर उक्त स्थान की अपेक्षा विशेषहीन, विशेषहीनतर निक्षिप्यमाण दलिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों के अतिक्रान्त होने पर आधे हो जाते हैं। इस प्रकार अर्ध-अर्ध हानि से तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। अर्थात् स्थिति का चरम समय आता है।

इस प्रकार ये द्विगुणहानि वाले स्थान कितने होते हैं? इसको बतलाने के लिये कहा है—'नाणंतराणि पल्लस्स' अर्थात् नाना प्रकार के जो अन्तर यानी अन्तर-अन्तर से द्विगुणहानि के स्थान उत्कृष्ट स्थितिबंध में पल्योपम सम्बन्धी प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने समय प्रमाण होते हैं।[2] कहा भी है—

---

१. उक्त कथन का आशय यह है कि अबाधाकाल समाप्त होने के अनन्तर पहले समय में कर्मदलिकों का निषेक किया जाता है, उनका प्रमाण अधिक होता है, दूसरे समय में उससे कम। इसी प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक बद्ध कर्मदलिकों की स्थिति पूर्ण होती है। इसको असत्कल्पना से इस प्रकार समझा जा सकता है—जैसे २५ समय स्थितिबंध वाले कर्म के १०५० परमाणु बंधे हैं। उनका पांच समय का अबाधाकाल है। अबाधाकाल बीतने के बाद पहले समय में अर्थात् छट्ठे समय में १००, सातवें समय में ९५, आठवें समय में ९०, इस प्रकार यावत् पच्चीसवें समय में ५ पांच परमाणु उदय में आकर वह कर्म निःसत्ताक होता है।

२. उक्त कथन का आशय यह है कि उत्कृष्ट स्थितिबंध तक अथवा उसके अन्त्य समय तक में पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग के समय जितने द्विगुणहानि स्थान होते हैं। जैसे कि २० कोडाकोडी सागरोपम, ७० कोडाकोडी सागरोपम इत्यादि जिस कर्म का जो उत्कृष्ट स्थितिबंध है, उस उत्कृष्ट स्थितिबंध में पूर्वोक्त प्रमाण वाली हानि होती है, परन्तु जघन्य स्थितिबंध अथवा कितने ही मध्यम स्थितिबंध में पूर्वोक्त प्रमाण वाली हानियां संभव नहीं हैं।

पलिओवमस्स मूला, असंखभागम्मि जत्तिया समया।
तावइया हाणीओ, ठिइबंधुक्कोसए नेया।।

अर्थात् पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतनी ही द्विगुणहानियां उत्कृष्ट स्थितिबंध में जानना चाहिये।

प्रश्न—मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होने से द्विगुणहानियां भले ही सम्भव हों, किन्तु आयुकर्म की स्थिति तो तेतीस सागरोपम मात्र होने से इतनी हानियां कैसे सम्भव हैं?

उत्तर—यहाँ असंख्यातवां भाग भी असंख्य भेद रूप होता है। क्योंकि असंख्यात के भी असंख्यात भेद होते हैं, इसलिये पल्योपम के वर्गमूल का असंख्यातवां भाग आयुकर्म में अतीव अल्पतर ग्रहण किया गया है। इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं है।

ये सब द्विगुणहानि के स्थान अल्प होते हैं और एक द्विगुणहानि के अन्तराल में निषेकस्थान असंख्यात गुणित होते हैं।

इस प्रकार से निषेकप्ररूपणा का कथन जानना चाहिये।[1]

अब अबाधाकंडकप्ररूपणा करते हैं—

अबाधाकंडकप्ररूपणा

मोत्तूण आउगाइं, समए समए अबाहहाणीए।
पल्लासंखियभागं, कंडं कुण अप्पबहुमेसिं ।।८५।।

शब्दार्थ—**मोत्तूण**—छोड़कर, **आउगाइं**—आयुकर्म को, **समए-समए**—समय-समय, **अबाहहाणीए**—अबाधाहानि होने पर, **पल्लासंखियभागं**—पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण, **कंडं कुण**—कंडक-कंडक हीन, **अप्पबहुं**—अल्पबहुत्व, **एसिं**—इनका।

गाथार्थ—आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों में अबाधा एक-एक समय हीन होने पर उत्कृष्ट स्थिति में से पल्योपम के असंख्यातवें भाग रूप कंडक-कंडक प्रमाणहीन होते हैं। इनमें अल्पबहुत्व इस प्रकार है।

विशेषार्थ—मोत्तूण त्ति—अर्थात् चारों आयुकर्म को छोड़कर शेष सभी कर्मों की अबाधा में एक-एक समय की हानि होने पर पल्योपम के असंख्यातवें भाग रूप कंडक उत्कृष्ट स्थिति से लगाकर हीन-हीन किया जाता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उत्कृष्ट अबाधा में वर्तमान जीव पूरी उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है, अथवा एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है, अथवा दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है, अथवा तीन समय कम इत्यादि इस प्रकार एक-एक समय कम करते हुए पल्योपम के असंख्यातवें भाग से

१. स्थितिबंध, अबाधा और निषेकरचना का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

हीन उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है और यदि पुनः एक समय कम उत्कृष्ट अबाधा होती है तो वह नियम से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण कंडक से हीन ही उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है और एक समयहीन अथवा दो समयहीन इत्यादि क्रम से पल्योपम के असंख्यातवें भाग रूप कंडकहीन उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है। यदि उत्कृष्ट अबाधा पुनः दो समय से हीन हो तो नियम से पल्योपम के असंख्यातवें भाग रूप वाले दो कंडकों से हीन उत्कृष्ट स्थिति को बाँधता है और उसे भी वह एक समयहीन अथवा दो समयहीन यावत् पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन स्थिति को बांधता है। इस प्रकार जितने समयों से हीन अबाधा होती है, उतने ही पल्योपम के असंख्यातवें भाग लक्षण वाले कंडकों से कम स्थिति जानना चाहिये। इस प्रकार यावत् एक ओर जघन्य अबाधा होती है और दूसरी ओर जघन्य स्थिति प्राप्त होती है, वहाँ तक यह विवक्षा जानना चाहिये। इस प्रकार अबाधागत एक-एक समय की हानि से स्थिति के कंडकहानि की प्ररूपणा जानना चाहिये।[1]

अल्पबहुत्व की प्ररूपणा के लिये गाथा में 'अप्पबहुमेसिं' यह पद दिया है। अर्थात् इन वक्ष्यमाण पदों का अल्पबहुत्व कहना चाहिये। लेकिन किन पदों का अल्पबहुत्व कहना चाहिये? ऐसा पूछने पर कहते हैं--

बंधाबाहाणुक्कसियरं, कंडक अबाहबंधाणं।
ठाणाणि एक्कनाणंतराणि अत्थेण कंडं च ॥८६॥

शब्दार्थ--**बंधाबाहाण**-स्थितिबंध, अबाधा, **उक्कसियरं**-उत्कृष्ट, इतर (जघन्य), **कंडक**-कंडकस्थान, **अबाह**-अबाधास्थान, **बंधाणं**-स्थितिबंध के, **ठाणाणि**-स्थान, **एक्कनाणंतराणि**-एक नाना अन्तर, **अत्थेण कंडं**-अर्थकंडक का, **च**-और।

गाथार्थ--उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबंध, अबाधा, कंडकस्थान, अबाधास्थान, स्थितिबंधस्थान, एक नाना अंतर, द्विगुणहानिस्थान और अर्थकंडक, इनका (अल्पबहुत्व कहना चाहिये)।

विशेषार्थ--बंधाबाहाणुक्कसियरं ति--अर्थात् १. उत्कृष्ट स्थितिबंध, २. जघन्य स्थितिबंध, ३. उत्कृष्ट अबाधा, ४. जघन्य अबाधा, ५. कंडकस्थान, ६. अबाधास्थान, ७. स्थितिबंधस्थान, ८. एक द्विगुणहानि के बीच का अन्तर, ९. द्विगुणहानिस्थान रूप अन्तर और १०. अर्थकंडक, इन दस के अल्पबहुत्व का कथन करना चाहिये। अर्थकंडक का लक्षण इस प्रकार है--**जघन्याऽबाधाहीनया उत्कृष्टाऽबाधया जघन्यस्थितिहीनाया उत्कृष्टस्थितेर्भागे हृते सति यावान् भागो लभ्यते तावान् अर्थेन कंडकमित्युच्यते इत्याम्नायिका व्याख्यानयन्ति**--जघन्य अबाधा से

१. असत्कल्पना से उक्त कथन का स्पष्टीकरण यह है कि जैसे १०० समय स्थितिक कर्म की १० समय अबाधा है, तो १००, ९९, ९८, ९७, ९६, ९५, ९४, ९३, ९२ और ९१ समय के स्थितिबंध में अवश्य ही १० समय की अबाधा होगी, तदनन्तर ९०, ८९ आदि ८१ तक की १० स्थितियों का बंध हो, वहां तक ९ समय की अबाधा होगी। इसी तरह १० से १ समय तक स्थिति में १ समय रूप जघन्य अबाधा होगी।

हीन उत्कृष्ट अबाधा के द्वारा जघन्य स्थिति से हीन उत्कृष्ट स्थिति में भाग देने पर जितना भाग प्राप्त होता है, उतना वह भाग अर्थकंडक[1] कहलाता है, ऐसा आम्नायिकों (कर्मसिद्धान्तवादियों) का कथन है।

पंचसंग्रह में इस अर्थकंडक के स्थान पर अबाधाकंडक स्थान पद प्रयुक्त किया है। वहां पर मूल टीकाकार ने इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है–'अबाधा च कंडकानि चाबाधाकंडकं, तस्य स्थानानि अबाधाकंडकस्थानानि' अर्थात् अबाधा और कंडक इन दोनों का समाहार अबाधाकंडक है और उसके स्थान अबाधाकंडकस्थान कहलाते हैं। अर्थात् अबाधा और कंडक इन दोनों के स्थान की संख्या अबाधाकंडकस्थान जानना चाहिये।

अब इन दसों स्थानों का अल्पबहुत्व कहते हैं

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त का आयु व्यतिरिक्त सात कर्मों में स्थितिबंध आदि का अल्पबहुत्व

१. संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक या अपर्याप्तक बंधक जीवों में आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों को जघन्य अबाधा सबसे कम है। जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है।

२.३. उससे अबाधास्थान और कंडकस्थान असंख्यात गुणित होते हैं। किन्तु ये दोनों परस्पर समान होते हैं। जिसका आशय इस प्रकार है––जघन्य अबाधा को आदि करके उत्कृष्ट अबाधा के अंतिम समय को व्याप्त कर जितने समय प्राप्त होते हैं, उतने अबाधास्थान होते हैं। जैसे–जघन्य अबाधा यह एक स्थान है, एक समय अधिक वही जघन्य अबाधा द्वितीय अबाधास्थान कहलाता है। दो समय अधिक अबाधा तृतीय अबाधास्थान है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट अबाधा का अंतिम समय प्राप्त होता है। इतने ही अबाधाकंडक होते हैं। क्योंकि जघन्य अबाधा से आरम्भ करके समय-समय एक कंडक प्राप्त होता है। यह बात पूर्व में कही जा चुकी है।

४. उन अबाधाकंडकों से उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक होती है, क्योंकि उसमें जघन्य अबाधा का प्रवेश हो गया है।

५. उस उत्कृष्ट अबाधा से दलिकनिषेकविधि में द्विगुणहानिस्थान असंख्यात गुणित होते हैं, क्योंकि वे पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग गत समय प्रमाण होते हैं।

६. उनसे एक द्विगुण हानि के अन्तर में निषेकस्थान असंख्यात गुणित होते हैं, क्योंकि उनका परिमाण असंख्यात पल्योपम वर्गमूल प्रमाण होता है।

७. उनसे भी अर्थकंडक असंख्यात गुणित होता है।

---

१. उक्त कथन का आशय यह है कि अबाधास्थानों द्वारा स्थितिस्थानों को भाग देने पर जो एक अबाधाकंडकवर्ती सर्व स्थितिप्रमाण भाग प्राप्त हो, उसे अर्थकंडक कहते हैं। अथवा अर्थकंडक अर्थात् एक अबाधाकंडक।

८. उससे जघन्य स्थितिबंध असंख्यात गुणा होता है, क्योंकि उसका प्रमाण अन्तःकोडाकोडी सागरोपम है। क्योंकि श्रेणी पर नहीं चढ़ने वाले भी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जघन्य रूप से भी अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ही स्थितिबंध करते हैं।

९. उस जघन्य स्थितिबंध से भी स्थितिबंधस्थान संख्यात गुणित हैं। उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय के स्थितिबंधस्थान कुछ अधिक उनतीस (२९) गुणित होते हैं, मिथ्यात्वमोहनीय के स्थितिबंधस्थान कुछ अधिक उनहत्तर (६९) गुणित होते हैं और नाम व गोत्र के स्थितिबंधस्थान कुछ अधिक उन्नीस (१९) गुणित होते हैं।

१०. उनसे उत्कृष्ट स्थिति विशेषाधिक होती है, क्योंकि उसमें जघन्य स्थिति और अबाधा का प्रवेश हो जाता है।

सरलता से समझने के लिये जिनका प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	स्थान का नाम	अल्पबहुत्व	प्रमाण
१.	जघन्य अबाधा	अल्प, उससे	अन्तर्मुहूर्त प्रमाण
२.	अबाधास्थान	असंख्यात गुणा	उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्तहीन ७००० वर्ष समयप्रमाण
३.	कंडकस्थान	अबाधा स्थान प्रमाण	,, ,, ,, ,, ,, ,,
४.	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक	७००० वर्ष प्रमाण, क्योंकि उसमें जघन्य अबाधा का प्रवेश हो गया है
५.	द्विगुणहानिस्थान	असंख्यात गुण	पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग समयप्रमाण
६.	निषेकस्थान (एक द्विगुणहानि में)	,, ,,	असंख्यात पल्योपम वर्गमूल प्रमाण
७.	अर्थकंडक	,, ,,	पल्यो० का असंख्यातवां भाग
८.	जघन्य स्थितिबंध	,, ,,	अन्तःकोडाकोडी प्रमाण (श्रेणिरहित)
९.	स्थितिबंधस्थान	संख्यात गुण	अन्तर्मुहूर्तहीन ७० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण
१०.	उत्कृष्ट स्थितिबंध	विशेषाधिक	७० कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण

संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय का आयुकर्म में उत्कृष्ट स्थितिबंधादि स्थानों का अल्पबहुत्व—

१. संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों में प्रत्येक के आयु की जघन्य अबाधा सबसे कम है।

२. उससे जघन्य स्थितिबंध संख्यातगुणा है, जो क्षुल्लकभव रूप होता है।

३. उससे अबाधास्थान संख्यात गुणित हैं, क्योंकि वे जघन्य अबाधा से रहित पूर्वकोटि के त्रिभाग प्रमाण होते हैं।

४. उनसे भी उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक है, क्योंकि उसमें जघन्य अबाधा का भी प्रवेश हो जाता है।

५. उससे द्विगुणहानिस्थान असंख्यात गुणित होते हैं, क्योंकि वे पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भागगत समयप्रमाण होते हैं।

६. उससे भी एक द्विगुणहानि के अन्तर में निषेकस्थान असंख्यात गुणित होते हैं। इस विषयक उक्ति का पूर्व में संकेत किया जा चुका है।

७. उनसे स्थितिबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं।

८. उनसे भी उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक होता है, क्योंकि उसमें जघन्य स्थिति और अबाधा का प्रवेश हो जाता है।

स्पष्टता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	स्थाननाम	अल्पबहुत्व		प्रमाण
१.	जघन्य अबाधा	अल्प,	उससे	असंख्यात समयप्रमाण अन्तर्मुहूर्त
२.	जघन्य स्थितिबंध	संख्यातगुण	,,	क्षुल्लकभव (२५६ आवली)
३.	अबाधास्थान	,, ,,	,,	जघन्य अबाधाहीन पूर्वकोटित्रिभाग
४.	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक	,,	पूर्वकोटित्रिभाग
५.	द्विगुणहानिस्थान	असंख्यातगुण	,,	पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग प्रमाण
६.	निषेकस्थान	,, ,,	,,	असंख्यात पल्योपम वर्गमूल प्रमाण (पल्योपम का असंख्यातवां भाग)
७.	स्थितिस्थान	,, ,,	,,	क्षुल्लकभवहीन ३३ सागरोपम प्रमाण
८.	उत्कृष्ट स्थितिबंध	विशेषाधिक		३३ सागरोपम

संज्ञी-असंज्ञी पर्याप्त रहित शेष १२ जीवभेदों का आयुकर्म में स्थितिबंध आदि का अल्पबहुत्व—

१. पंचेन्द्रिय संज्ञी, असंज्ञी अपर्याप्तकों में और चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक-अपर्याप्तकों में प्रत्येक के आयु की जघन्य अबाधा सबसे कम है।

२. उससे जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा होता है, क्योंकि वह क्षुल्लकभव रूप है।

३. उससे अबाधास्थान संख्यात गुणित होते हैं।

४. उनसे भी उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक होती है।

५. उससे भी स्थितिबंधस्थान संख्यात गुणित होते हैं, क्योंकि वे जघन्य स्थिति से कम पूर्व-कोटि प्रमाण होते हैं।

६. उससे उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक होता है, क्योंकि उसमें जघन्य स्थिति और अबाधा का प्रवेश हो जाता है।

इनकी स्पष्टता के लिये प्रारूप निम्नप्रकार है—

क्रम	स्थाननाम	अल्पबहुत्व	प्रमाण
१.	जघन्य अबाधा	सर्वस्तोक, उससे	अन्तर्मुहूर्त प्रमाण (कुछएक आवलीप्रमाण)
२.	जघन्य स्थितिबंध	संख्यात गुण ,,	क्षुल्लकभव (२५६ आवलीप्रमाण)
३.	अबाधास्थान	,, ,, ,,	अन्तर्मुहूर्तहीन ७३३३$\frac{1}{3}$ वर्ष
४.	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक	७३३३$\frac{1}{3}$ वर्ष
५.	स्थितिबंधस्थान	संख्यात गुणित ,,	अन्तर्मुहूर्तहीन पूर्वकोटि प्रमाण
६.	उत्कृष्ट स्थितिबंध	विशेषाधिक	पूर्वकोटिप्रमाण

संज्ञीद्विकहीन शेष १२ जीवभेदों का आयु रहित सात कर्मों में स्थितिबंध आदि का अल्पबहुत्व—

१.२. असंज्ञी पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक-अपर्याप्तकों में आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के प्रत्येक के अबाधास्थान और कंडक सबसे कम होते हैं। किन्तु वे परस्पर समान हैं। वे आवलिका के असंख्यातवें भाग समयप्रमाण होते हैं।

३. उनसे जघन्य अबाधा असंख्यात गुणी होती है, क्योंकि इसका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

४. उससे भी उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक है, क्योंकि उसमें जघन्य अबाधा का भी प्रवेश है।

५. उससे द्विगुणहानिस्थान असंख्यात गुणित हैं।

६. उससे एक द्विगुणहानि के अन्तर में निषेकस्थान असंख्यात गुणित होते हैं।

७. उनसे अर्थकंडक असंख्यात गुणा है।

८. उससे भी स्थितिबंधस्थान असंख्यात गुणित होते हैं, क्योंकि उनका प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग गत समयप्रमाण है।

९. उनसे भी जघन्य स्थितिबंध असंख्यात गुणा है।

१०. उससे भी उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है, क्योंकि वह पल्योपम के असंख्यातवें भाग से अधिक है।

सरलता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	स्थाननाम	अल्पबहुत्व	प्रमाण
१.	अबाधास्थान	अल्प	आवली के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण
२.	कंडकस्थान	पूर्ववत् (अर्थात् अल्प) उससे	आवली के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण
३.	जघन्य अबाधा	असंख्यातगुण ,,	अन्तर्मुहूर्त प्रमाण
४.	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक ,,	,, ,,
५.	द्विगुणहानिस्थान	असंख्यातगुण ,,	
६.	निषेकस्थान	,, ,, ,,	
७.	अर्थकंडक	,, ,, ,,	
८.	स्थितिस्थान	,, ,, ,,	पल्योपम के असंख्यातवें भागगत समयप्रमाण
९.	जघन्य स्थितिबंध	,, ,, ,,	$\frac{1}{7}$ सागरोपम, पल्योपम का असंख्यातवां भाग हीन
१०.	उत्कृष्ट स्थितिबंध	विशेषाधिक अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग से अधिक	१ सागरोपम यावत् १००० सागरोपम

इस प्रकार जीवभेदों में अल्पबहुत्व का कथन समझना चाहिये।

इन प्रारूपों में आगत अर्थकंडक असंख्यात गुणा कैसे होता है, समझ नहीं सके हैं। विद्वज्जनों से इसकी स्पष्टता की अपेक्षा है। १२ जीवभेदों के प्रारूपों में मुख्यतया एकेन्द्रिय की अपेक्षा अल्पबहुत्व समझना चाहिये।

स्थितिबंध के अध्यवसायस्थानों की प्ररूपणा

अब स्थितिबंध के अध्यवसायस्थानों की प्ररूपणा करते हैं। उसमें तीन अनुयोगद्वार हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) स्थितिसमुदाहार[1] (२) प्रकृतिसमुदाहार[2] और (३) जीवसमुदाहार[3]। प्रतिपादन, व्याख्या करने को समुदाहार कहते हैं। इनमें से भी स्थितिसमुदाहार में तीन अनुयोगद्वार होते हैं, यथा–(१) प्रगणना[4] (२) अनुकृष्टि[5] और (३) तीव्रमंदता[6]। इनमें से पहले प्रगणना की प्ररूपणा करते हैं—

१. स्थितिस्थानों के विषय में स्थितिबंधाध्यवसायस्थान सम्बन्धी व्याख्या करने को स्थितिसमुदाहार कहते हैं।
२. कर्मप्रकृतियों के विषय में स्थितिबंधाध्यवसायों की प्ररूपणा करना प्रकृतिसमुदाहार है।
३. जीव के विषय में स्थितिबंधाध्यवसायों की व्याख्या करना जीवसमुदाहार कहलाता है।
४. प्रत्येक स्थितिस्थान में स्थितिबंधाध्यवसायों की गणना करना प्रगणना है।
५. कौन से स्थितिस्थान में किस स्थितिस्थानसम्बन्धी कितने स्थितिबंधाध्यवसायस्थान कितने स्थितिस्थानों में (कब तक) विभक्त किये जाते हैं, उसे अनुकृष्टि कहते हैं।
६. किन स्थितिस्थानों के विषय में स्थितिबंधाध्यवसायों की परस्पर तीव्रता-मंदता कितनी गुणी कहना, उसे तीव्रमंदता कहते हैं।

प्रगणनाप्ररूपणा

ठिइबंधे ठितिबंधे, अज्झवसाणाणसंखया लोगा ।
हस्सा विसेसवुड्ढी, आऊणमसंखगुणवुड्ढी ।।८७।।

शब्दार्थ—**ठिइबंधे ठितिबंधे**–स्थितिबंध, स्थितिबंध में, **अज्झवसाणाणसंखया**–अध्यवसाय-स्थान असंख्यात, **लोगा**–लोकाकाश प्रदेश, **हस्सा**–जघन्य, अल्प, **विसेसवुड्ढी**–विशेषवृद्धि, **आऊणं**–आयु में, **असंखगुणवुड्ढी**–असंख्यातगुण वृद्धि ।

गाथार्थ—स्थितिबंध, स्थितिबंध अर्थात् प्रत्येक स्थितिबंध में अध्यवसायस्थान[1] असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। वे जघन्य स्थितिबंध में सबसे कम होते हैं और उसके बाद आगे के द्वितीयादि स्थितिस्थानों में विशेषवृद्धि तथा आयुकर्म में असंख्यात गुणवृद्धि होती है।

विशेषार्थ—यहाँ सभी कर्मों की जघन्य स्थिति से परे उत्कृष्ट स्थिति के चरम समय तक जितने समय होते हैं, उतने स्थितिस्थान जघन्य स्थिति सहित प्रत्येक कर्म के होते हैं। एक-एक स्थितिस्थान के बांधे जाने में उसके बंध के कारणभूत काषायिक अध्यवसाय नाना जीवों की अपेक्षा असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण जानना चाहिये। यहाँ दो प्रकार की प्ररूपणा है—अनन्तरोपनिधा रूप और परंपरोपनिधा रूप। इनमें से पहले अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा करते हैं—

'हस्सा विसेसवुड्ढी' अर्थात् आयुकर्म को छोड़कर शेष कर्मों के ह्रस्व-जघन्य स्थितिबंध से परे द्वितीयादिक स्थितिस्थानबंधों में विशेषवृद्धि यानी विशेषाधिक वृद्धि जानना चाहिये। जैसे—ज्ञानावरण की जघन्य स्थिति में उस बंध के कारणभूत अध्यवसाय नाना जीवों की अपेक्षा असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। वे अन्य की अपेक्षा सबसे कम होते हैं। उनसे द्वितीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं, उनसे भी तृतीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये। इसी प्रकार सभी कर्मों में भी कहना चाहिये। लेकिन—

'आऊणमसंखगुणवुड्ढी' अर्थात् आयुकर्म के चारों भेदों में जघन्य स्थिति से लेकर प्रत्येक स्थितिबंध पर असंख्यात गुणी वृद्धि कहना चाहिये। जैसे—आयु की जघन्य स्थिति में उसके बंध के कारणभूत अध्यवसाय असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं, जो सबसे कम हैं। उनसे द्वितीय स्थिति में असंख्यात गुणित होते हैं। उनसे भी ततीय स्थिति में असंख्यात गुणित होते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति तक कहना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा की। अब परंपरोपनिधा से उनकी प्ररूपणा करते हैं—

---

१. यहाँ अध्यवसाय शब्द का अर्थ स्थितिबंधाध्यवसायस्थान समझना चाहिये, किन्तु अनुभागबंधाध्यवसायस्थान नहीं ।

पल्लासंखियभागं गतुं दुगुणाणि जाव उक्कोसा ।
नाणंतराणि अंगुल-मूलच्छेयणमसंखतमो ।।८८।।

शब्दार्थ—**पल्लासंखियभागं**–पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण, **गंतुं**–अतिक्रमण करने पर, **दुगुणाणि**–द्विगुणवृद्धिस्थान, **जाव**–पर्यन्त, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट, **नाणंतराणि**–नाना अन्तर (द्विगुणवृद्धि-स्थान), **अंगुल** अंगुल के, **मूलच्छेयणं**–वर्गमूल के अर्धच्छेद के, **असंखतमो**–असंख्यातवें भाग प्रमाण ।

गाथार्थ—जघन्य स्थितिस्थान से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों का उल्लंघन करने पर द्विगुणवृद्धिस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त जानना चाहिये। इस प्रकार के नाना अंतर–द्विगुणवृद्धिस्थान अंगुल के वर्गमूल के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।

विशेषार्थ—आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की जघन्य स्थिति में जितने अध्यवसाय-स्थान होते हैं, उनसे पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों का उल्लंघन करने पर दूसरे–अनन्तर स्थितिस्थान में अध्यवसायस्थान दुगुने होते हैं। उनसे भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति-स्थानों का उल्लंघन करने पर प्राप्त अनन्तरवर्ती स्थितिस्थानों में अध्यवसायस्थान दुगुने होते हैं। इस प्रकार यह द्विगुणवृद्धि तब तक कहना चाहिए, जब तक कि उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। एक द्विगुणवृद्धि के अन्तराल में स्थिति के स्थान पल्योपम के वर्गमूल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं और नाना द्विगुणवृद्धिस्थान अंगुलवर्गमूल के छेदनक के असंख्यतम भाग प्रमाण होते हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है कि अंगुल प्रमाण क्षेत्रगत प्रदेशराशि का जो प्रथम वर्गमूल है, वह मनुष्यों की राशि प्रमाण लाने की[1] कारणभूत छियानवें (९६) की राशि की छेदनविधि से (भागविधि, भागाकार करने की रीति से) तब तक छेदन किया जाता है, जब तक कि उसका दूसरा भाग नहीं होता है। उन छेदनकों के असंख्यातवें भाग में जितने छेदनक होते हैं, उतने में जितने आकाश-प्रदेशों की राशि होती है, उतने प्रमाण नाना द्विगुण (वृद्धि) स्थान होते हैं।[2]

इस प्रकार प्रगणना का कथन जानना चाहिये।

अनुकृष्टिविचार

अब अनुकृष्टि का विचार करते हैं। वह यहाँ नहीं होती है। जिसका कारण यह है कि ज्ञानावरणकर्म के जघन्य स्थितिबंध में जो अध्यवसायस्थान कारणभूत होते हैं, उनसे द्वितीय स्थिति-

१. मनुष्य की संख्या लाने के लिये २ के अंक का ९६ बार गुणाकार करने से मनुष्य की संख्या प्राप्त होती है। जैसे २×२×२×२×२×२ इस प्रकार ९६ बार दो के अंकों को लिखकर गुणाकार करने पर २९ अंक रूप मनुष्यसंख्या प्राप्त होती है। इसलिये यहाँ ९६ अंक को मनुष्यसंख्या का हेतु कहा है।

२. असत्कल्पना से ९२१६०००००००००० के वर्गमूल ९६००००० को ९६ से भाग देने पर १००००० उसका असंख्यात रूप १०० से भाग देने पर १००० द्विगुणवृद्धिस्थान होते हैं।

बंध में अन्य होते हैं, उनसे भी तृतीय स्थितिबंध में अन्य होते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये। इसी प्रकार सभी कर्मों के अध्यवसायस्थान जानना चाहिये।

अब तीव्रमंदता कहने का अवसर प्राप्त है। लेकिन उसका कथन आगे किये जाने से अभी उसे स्थगित करते हैं।

इस प्रकार स्थितिसमुदाहार का विचार पूर्ण हुआ।

प्रकृतिसमुदाहार

अब प्रकृतिसमुदाहार का कथन करते हैं। इसमें दो अनुयोगद्वार होते हैं--प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। इनमें से प्रमाणानुगम में ज्ञानावरण कर्म के सर्वस्थितिबंधों में कितने अध्यवसायस्थान होते हैं? तो इस प्रश्न के उत्तर में बतलाते हैं कि असंख्यात लोकाकाश प्रदेशों का जितना प्रमाण होता है, उतने अध्यवसायस्थान होते हैं। इसी प्रकार सभी कर्मों के अध्यवसायस्थान जानना चाहिये। अब अल्पबहुत्व का कथन करते हैं कि--

ठिइदीहयाए कमसो, असंखगुणियाणणंतगुणणाए।
पढम जहण्णुक्कोसं बितिय जहन्नाइया चरमा ॥८९॥

शब्दार्थ--**ठिइदीहयाए**-स्थिति की दीर्घता में, **कमसो**-अनुक्रम से, **असंखगुणियाण**-असंख्यात गुणे, **णंतगुणणाए**-अनन्तगुण, **पढम**-प्रथम, **जहण्णुक्कोसं**-जघन्य, उत्कृष्ट, **बितिय**-द्वितीय, तृतीय, **जहन्नाइया**-जघन्यादि, **चरमा**-चरम स्थान तक।

गाथार्थ--स्थिति की दीर्घता में क्रम से अध्यवसायस्थान असंख्यातगुण, असंख्यातगुण होते हैं और जघन्य अध्यवसाय से उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार जघन्य स्थिति से आरम्भ करके द्वितीय, तृतीय आदि अन्तिम स्थितिस्थान तक प्रत्येक स्थान में जघन्य से उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुणा तथा प्रथम स्थिति के उत्कृष्ट अध्यवसाय से द्वितीय स्थिति का जघन्य अध्यवसाय अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति तक जानना चाहिये।

विशेषार्थ--स्थिति की दीर्घता के क्रम से अध्यवसायस्थान असंख्यात गुणित कहना चाहिये। जिस कर्म की स्थिति जिस क्रम से दीर्घ होती है, उस क्रम से उस कर्म के अध्यवसायस्थान असंख्यात गुणित कहना चाहिये। जिसका आशय इस प्रकार है कि आयुकर्म के स्थितिबंधाध्यवसायस्थान सबसे कम होते हैं, इनसे भी नाम, गोत्र के स्थितिबंधाध्यवसायस्थान असंख्यात गुणित होते हैं।

शंका--यह पूर्व में बताया गया है कि आयुकर्म के स्थितिस्थानों में यथोत्तर क्रम से असंख्यात गुणी वृद्धि होती है और नाम, गोत्र के स्थितिस्थानों में वृद्धि विशेषाधिक होती है, तब आयु की अपेक्षा नाम और गोत्र के अध्यवसायस्थान असंख्यात गुणित कैसे सम्भव हैं?

समाधान--आयुकर्म की जघन्य स्थिति में अध्यवसायस्थान अतीव अल्प होते हैं। किन्तु नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति में अध्यवसायस्थान बहुत अधिक होते हैं तथा आयुकर्म के स्थितिस्थान अल्प होते हैं और नाम, गोत्र के स्थितिस्थान बहुत अधिक होते हैं। इसलिये कोई दोष (विरोध) नहीं है।

नाम, गोत्र कर्मों के स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय कर्मों के स्थितिबंधाध्यवसायस्थान असंख्यात गुणित होते हैं। यह कैसे होते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि इन कर्मों में पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों के उल्लंघन करने पर द्विगुण-वृद्धि पाई जाती है और ऐसा होने पर एक-एक पल्योपम के अंत में असंख्यात गुणित स्थितिबंधाध्यवसाय क्यों नहीं पाये जायेंगे ? फिर तो दस कोडाकोडी सागरोपम की क्या बात ? अर्थात् अवश्य पाये जायेंगे।[1] उक्त ज्ञानावरण आदि कर्मों के स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों से कषायमोहनीय के स्थितिबंधाध्यवसायस्थान असंख्यात गुणित होते हैं। उनसे भी दर्शनमोहनीय के स्थितिबंधाध्यवसायस्थान असंख्यात गुणित होते हैं।

इस प्रकार प्रकृतिसमुदाहार का कथन जानना चाहिये।

अब स्थितिसमुदाहार में जो पहले तीव्रमंदता नहीं कही गई थी, उसका कथन करते हैं—

'अणंतेत्यादि' अर्थात् प्रथम स्थिति में जो जघन्य स्थितिबंधाध्यवसायस्थान होता है, उससे उसी स्थिति में जो उत्कृष्ट स्थितिबंधाध्यवसायस्थान है, वह अनन्त गुणित अनुभाग वाला होता है, उससे द्वितीय स्थिति में जघन्य स्थितिबंधाध्यवसायस्थान अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार चरम अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति में चरम स्थितिबंधाध्यवसायस्थान उक्त क्रम से अनन्त गुणा कहना चाहिये। जैसे ज्ञानावरण कर्म की जघन्य स्थिति में जो जघन्य स्थितिबंधाध्यवसायस्थान है, वह सबसे मन्द अनुभाग वाला होता है, उससे उसी जघन्य स्थिति का उत्कृष्ट अध्यवसायस्थान अनन्तगुणा होता है। उससे भी द्वितीय स्थिति में जघन्य स्थितिबंधाध्यवसायस्थान अनन्तगुणा होता है, उससे भी उसी द्वितीय स्थिति में उत्कृष्ट अध्यवसायस्थान अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंधाध्यवसायस्थान अनन्तगुणित रूप से तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट स्थिति में चरम स्थितिबंधाध्यवसायस्थान अनन्तगुणा प्राप्त होता है।

इस प्रकार स्थितिसमुदाहार और प्रकृतिसमुदाहार का पूर्ण रूप से कथन किया गया। अब जीवसमुदाहार का कथन करते हैं।

जीवसमुदाहार

बंधंती धुवपगडी, परित्तमाणिगसुभाण तिविहरसं।
चउ तिग बिट्ठाणगयं, विवरीयतिगं च असुभाणं ॥९०॥

शब्दार्थ—बंधंती–बांधते हुए, **धुवपगडी**–ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों, **परित्तमाणिग**–परावर्तमान, **सुभाण**–शुभ प्रकृतियों का, **तिविहरसं**, त्रिविध रस, **चउतिगबिट्ठाणगयं**–चतुः–त्रि– द्विस्थानिक, **विवरीयतिगं**–विपरीत क्रम से त्रिक, **च**–और, **असुभाणं**–अशुभ प्रकृतियों का।

१. नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति २० कोडाकोडी सागरोपम और ज्ञानावरणादि चार कर्मों की ३० कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, इस प्रकार नाम, गोत्र से ज्ञानावरणादि की स्थिति १० कोडाकोडी सागर अधिक है। अतः उस अधिक स्थिति के कारण नाम, गोत्र से ज्ञानावरणादि चार कर्मों के अध्यवसायों का असंख्यातगुणत्व होना स्वाभाविक ही है।

गाथार्थ—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों को बांधते हुए परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक और द्विस्थानिक रस बांधता है और अशुभ प्रकृतियों का विपरीत क्रम से त्रिक अर्थात् द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रस बांधता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, अन्तरायपंचक इन सैंतालीस (४७) ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों को बांधते हुए जीव सातावेदनीय, देवगति, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय-जाति, वैक्रिय, आहारक, औदारिक शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, अंगोपांगत्रिक, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रसदशक, तीर्थंकर, नरकायु को छोड़कर शेष आयुत्रिक, उच्चगोत्र रूप चौंतीस परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का तीन प्रकार का, यथा चतुःस्थानगत, त्रिस्थानगत और द्विस्थानगत रस-अनुभाग बांधते हैं। यहाँ शुभ प्रकृतियों का रस क्षीर आदि के रस के समान और अशुभ प्रकृतियों का रस घोषातिकी, नीम आदि के रस के समान जानना चाहिये। जैसा कि कहा है—घोसाडइनिबुवमो असुभाण सुभाण खीरखंडुवमो।

क्षीर आदि का जो स्वाभाविक रस है, वह एकस्थानिक रस कहलाता है। दो कर्ष प्रमाण रसों को औटाने पर जो एक कर्ष प्रमाण रस अवशिष्ट रहता है, वह द्विस्थानिक रस कहलाता है। तीन कर्ष प्रमाण रसों को औटाने पर जो एक कर्ष प्रमाण रस शेष रहता है, वह त्रिस्थानिक रस है और चार कर्ष प्रमाण रसों के औटाने पर जो एक कर्ष प्रमाण रस शेष रहता है, वह चतुःस्थानिक रस कहलाता है। एकस्थानगत रस भी जलकण, बिन्दु, चुल्लू, प्रसृति, अंजलि, करक, कुंभ, द्रोण आदि प्रमाण जल के प्रक्षेपण करने से मंद, मंदतर आदि असंख्य भेद रूप हो जाता है। इसी प्रकार द्विस्थानगत आदि रसों में भी असंख्य भेदरूपता कहनी चाहिये। इसी के अनुसार कर्मों के रसों में भी एकस्थानगत, द्विस्थानगत आदि रसों की तीव्रता-मंदता अपनी बुद्धि से जान लेना चाहिये। एकस्थानगत रस से कर्मों के द्विस्थानगत आदि रस यथोत्तर अनन्तगुण, अनन्तगुण कहना चाहिये। जैसा कि कहा है—'अणंतगुणिया कमेणियरे'—एकस्थानिक से द्विस्थानिक आदि रस क्रम से अनन्तगुणित रस वाले होते हैं।[1]

केवलज्ञानावरण को छोड़कर चारों ज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण के अतिरिक्त शेष चक्षु-आदि तीन दर्शनावरण, पुरुषवेद, संज्वलनचतुष्क, अन्तरायपंचक, इन सत्रह (१७) प्रकृतियों का चारों ही प्रकार का रसबंध संभव है। अर्थात् इन सत्रह प्रकृतियों का रस एकस्थानगत भी होता है, द्विस्थानगत भी होता है, त्रिस्थानगत भी होता है और चतुःस्थानगत भी होता है। इन सत्रह प्रकृतियों से शेष रही सभी शुभ और अशुभ प्रकृतियों का रस द्विस्थानगत, त्रिस्थानगत और चतुःस्थानगत होता है। किन्तु कदाचित् भी एकस्थानगत नहीं होता है, यह वस्तुस्थिति है।

शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानगत आदि के क्रम से रस की त्रिविधता का प्रतिपादन कर अब अशुभ प्रकृतियों की त्रिविधता को कहते हैं—'विवरीयतिगं च असुभाणं' अर्थात् उन्हीं ध्रुवप्रकृतियों (अर्थात्

१. यह अनन्तगुणरूपता रस के समुदाय की अपेक्षा समझना चाहिये, किन्तु अनन्तरोपनिधा परिपाटी से नहीं।

ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों) को बांधते हुए यदि परावर्तमाना (३९) अशुभ प्रकृतियों[1] को जीव बांधते हैं, तब उनका अनुभाग विपरीतत्रिक के क्रम से बांधते हैं, जैसे द्विस्थानगत, त्रिस्थानगत और चतुःस्थानगत। यहाँ पर ध्रुव प्रकृतियों की जघन्य स्थिति को बांधता हुआ बंध को प्राप्त होने वाली परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानगत रस को बांधता है और अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानगत रस को बांधता है। ध्रुव प्रकृतियों की अजघन्य स्थिति बांधता हुआ बंध को प्राप्त होने वाली शुभ प्रकृतियों के अथवा अशुभ प्रकृतियों के यथायोग्य त्रिस्थानगत रस को बांधता है और ध्रुव प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को बांधता हुआ शुभ प्रकृतियों के द्विस्थानगत रस को और अशुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानगत रस को बांधता है। इसलिये शुभ प्रकृतिगत रस की त्रिविधता के क्रम की अपेक्षा अशुभ प्रकृतियों के रस की त्रिविधता के क्रम को विपरीतक्रम वाला कहा गया है। सरलता से जिसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रारूप द्वारा समझा जा सकता है—

ध्रुवबंधिनी के स्थितिबंध में	शुभप्रकृति का रसबंध	अशुभप्रकृति का रसबंध
जघन्य स्थितिबंध में	चतुःस्थानगत	द्विस्थानगत
अजघन्य (मध्यम) स्थितिबंध में	त्रिस्थानगत	त्रिस्थानगत
उत्कृष्ट स्थितिबंध में	द्विस्थानगत	चतुःस्थानगत

शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानिक आदि के रसबंधक

कौन जीव शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानगत, त्रिस्थानगत और द्विस्थानगत रस को बांधते हैं? इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिये कहते हैं—

सव्वविसुद्धा बंधंति, मज्झिमा संकिलिट्ठतरगा य।
धुवपगडि जहन्नठिइं, सव्वविसुद्धा उ बंधंति ॥९१॥
तिट्ठाणे अजहण्णं, बिट्ठाणे जेट्ठगं सुभाण कमा।
सट्ठाणे उ जहन्नं, अजहन्नुक्कोसमियरासिं ॥९२॥

शब्दार्थ—**सव्वविसुद्धा**–अतिविशुद्ध, **बंधंति**–बांधते हैं, **मज्झिमा**–मध्यम परिणाम वाले, **संकिलिट्ठतरगा**–संक्लिष्टतर परिणाम वाले, **य**–और, **धुवपगडि**–ध्रुवप्रकृति की, **जहन्नठिइं**–जघन्य स्थिति को, **सव्वविसुद्धा**–सर्वविशुद्ध, **उ**–और, **बंधंति**–बांधते हैं।

तिट्ठाणे–त्रिस्थानिक, **अजहण्णं**–अजघन्य (मध्यम) स्थिति वाले, **बिट्ठाणे**–द्विस्थानिक, **जेट्ठगं**–उत्कृष्ट स्थिति, **सुभाण**–शुभ की, **कमा**–क्रम से, **सट्ठाणे**–स्वस्थान में (स्वविशुद्धि

१. असातावेदनीय, वेदत्रिक, हास्य, रति, अरति, शोक, नरकायु, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक आदिजातिचतुष्टय, आदि के संस्थान, संहनन को छोड़कर शेष पांच संस्थान, संहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावरदशक, नीचगोत्र।

अनुसार) उ–तथा, **जहन्नं**–जघन्य, **अजहन्नुक्कोसं**–अजघन्य (मध्यम) और उत्कृष्ट, **इयरासिं**–इतर (अशुभ) में।

गाथार्थ––सर्वविशुद्ध मध्यम परिणामी और संक्लिष्टतर परिणाम वाले जीव क्रमशः परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक और द्विस्थानिक तथा परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का द्वि, त्रि और चतुःस्थानिक रस बांधते हैं तथा जो अति विशुद्ध परिणामी शुभ प्रकृतियों का चतुःस्थानिक रस बांधते हैं, वे ध्रुव प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बांधते हैं। त्रिस्थानिक रस बांधते हुए मध्यम स्थिति और द्विस्थानिक रस बांधते हुए उत्कृष्ट स्थिति बांधते हैं तथा स्वविशुद्धि के अनुसार परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का द्वि, त्रि और चतुःस्थानिक रस बांधने पर ध्रुवबंधिनी प्रकृति की अनुक्रम से जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति बांधते हैं।

विशषार्थ––जो सर्व विशुद्ध जीव हैं, वे परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानगत रस को बांधते हैं। जो मध्यम परिणाम वाले जीव हैं, वे त्रिस्थानगत रस को बांधते हैं और जो संक्लिष्टतर परिणाम वाले जीव हैं, वे द्विस्थानगत रस को बांधते हैं और तद्योग्य भूमिका के अनुसार जो सर्व विशुद्ध जीव हैं, वे पुनः परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों को बांधते हैं, तो वे उन प्रकृतियों के द्विस्थानगत रस को उत्पन्न करते हैं। मध्यम परिणाम वाले त्रिस्थानगत रस को और संक्लिष्टतर परिणाम वाले चतुःस्थानगत रस को बांधते हैं।

अब स्थितिबंध की अपेक्षा इनका विचार करते हैं कि–'धुवपगडीत्यादि' अर्थात् जो सर्वविशुद्ध जीव हैं, वे शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानगत रस को बांधते हैं, वे ध्रुव प्रकृतियों की जघन्य स्थिति को बांधते हैं। यहाँ पर 'तिट्ठाणे' यह षष्ठी विभक्ति के अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है। अतः परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानगत रस के बंधक जो जीव हैं, वे ध्रुव प्रकृतियों की अजघन्य अर्थात् मध्यम स्थिति को बांधते हैं और जो द्विस्थानगत रस के बंधक जीव हैं, वे ध्रुव प्रकृतियों की ज्येष्ठ अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति को बांधते हैं तथा जो इतर अर्थात् परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानगत रस को बांधते हैं, वे ध्रुव प्रकृतियों की जघन्य स्थिति को स्व-स्थान में अपनी विशुद्धि की भूमिका के अनुसार[1] बांधते हैं अर्थात् परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानगत रसबंध की कारणभूत विशुद्धि के अनुसार जघन्य स्थिति को बांधते हैं किन्तु अति जघन्य स्थिति को नहीं बांधते हैं। ध्रुवप्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध एकान्तविशुद्धि में ही सम्भव है। किन्तु उस समय परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का बंध सम्भव नहीं है और जो पुनः परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानगत रस के बंधक जीव हैं, वे ध्रुव प्रकृतियों की अजघन्य स्थिति को बांधते हैं तथा जो परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानगत रस को बांधते हैं, वे ध्रुव प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को उत्पन्न करते हैं।

---

१. इसका आशय यह है कि जिस जीव को जिस प्रकार की स्वयोग्य उत्कृष्ट विशुद्धि हो सकती है तदनुसार।

जीव-परिणामानुसार रसबंध और स्थितिबंध को सरलता से समझाने वाला प्रारूप इस प्रकार है—

जीवपरिणाम	परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का रसबंध	परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का रसबंध	ध्रुव प्रकृतियों का स्थितिबंध
अतिविशुद्ध	चतुःस्थानिक	द्विस्थानिक	जघन्य स्थितिबंध
मध्यमविशुद्ध	त्रिस्थानिक	त्रिस्थानिक	मध्यम स्थितिबंध
अतिसंक्लिष्ट	द्विस्थानिक	चतुःस्थानिक	उत्कृष्ट स्थितिबंध

इस विषय में दो प्रकार की प्ररूपणा है–अनन्तरोपनिधा और परंपरोपनिधा । उनमें से पहले दो गाथाओं में अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा करते हैं—

थोवा जहन्नियाए, होंति विसेसाहिओदहिसयाइं ।
जीवा विसेसहीणा, उदहिसयपुहुत्त[1] मो[2] जाव ।।९३।।
एवं तिट्ठाणकरा, बिट्ठाणकरा य आ सुभुक्कोसा ।
असुभाणं बिट्ठाणे, तिचउट्ठाणे य उक्कोसा ।।९४।।

शब्दार्थ—थोवा–स्तोक-अल्प, **जहन्नियाए**–जघन्य स्थितिबंध में, **होंति**–होते हैं, **विसेसाहिओदहिसयाइं**–सैकड़ों सागरोपम तक विशेषाधिक, **जीवा**–जीव, **विसेसहीणा**–विशेषहीन, **उदहिसयपुहुत्त**–बहुत से सागरोपम शत–सैकड़ों सागरोपम, **जाव**–तक ।

एवं–इसी प्रकार, **तिट्ठाणकरा**–त्रिस्थानिक, **बिट्ठाणकरा**–द्विस्थानिक, **य**–और, **आ सुभुक्कोसा**–शुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति तक, **असुभाणं**–अशुभ प्रकृतियों के, **बिट्ठाणे**–द्विस्थानिक, **तिचउट्ठाणे**–त्रिस्थानिक, चतुःस्थानिक, **च**–और, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट स्थिति ।

गाथार्थ—ध्रुव प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध में वर्तमान जीव अल्प होते हैं । उससे द्वितीयादिक स्थितियों में विशेष-विशेष अधिक होते हैं, सैकड़ों सागरोपम प्राप्त होने तक । तत्पश्चात् सैकड़ों सागरोपम तक विशेष-विशेषहीन होते हैं ।

इसी प्रकार परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानिक और द्विस्थानिक रसबंधक जीव प्रत्येक स्थितिस्थान में विशेषाधिक और पीछे विशेषहीन जानना चाहिये, उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक । परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रसबंध करने वाले जीव प्रत्येक स्थिति पर विशेषाधिक और विशेषहीन उत्कृष्ट स्थिति तक कहना चाहिये ।

१. यहाँ पुहुत्त (पृथक्त्व) शब्द बहुत्ववाचक है । जैसा कि कर्मप्रकृतिचूर्णि में कहा है—पुहुत्तसद्दो बहुत्तवाचोति ।
२. 'मो' शब्द पादपूर्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

विशेषार्थ—शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानगत रस के बंधक जो ज्ञानावरण आदि ध्रुव प्रकृतियों की जघन्य स्थिति में बंधक रूप से वर्तमान जीव हैं, वे अल्प होते हैं। उनसे द्वितीय स्थिति में वर्तमान जीव विशेषाधिक होते हैं। उनसे भी तृतीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार तब तक विशेषाधिक-विशेषाधिक कहना चाहिये, जब तक बहुत से सागरोपम शत (सैकड़ों सागरोपम) व्यतीत होते हैं। उससे आगे विशेषहीन-विशेषहीन तब तक कहना चाहिये, जब तक कि विशेषहानि में भी 'उदहिसयपुहुत्तं ति' अर्थात् बहुत से सागरोपम व्यतीत होते हैं।

इसी प्रकार परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानगत रस को उत्पन्न करते हुए ध्रुव प्रकृतियों के स्वप्रायोग्य[1] जघन्य स्थिति में बंधक रूप से वर्तमान जीव अल्प होते है। उससे द्वितीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं। उससे भी तृतीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक बहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते हैं। उससे आगे विशेषहीन-विशेषहीन तब तक कहना चाहिये, जब तक विशेषहानि में भी बहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते हैं तथा परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के द्विस्थानगत रस को उत्पन्न करने वाले ध्रुव प्रकृतियों की स्वप्रायोग्य जघन्य स्थिति में बंधक रूप से वर्तमान जीव अल्प होते हैं। उससे द्वितीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं, उससे भी तृतीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक बहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते हैं। उससे आगे विशेषहीन-विशेषहीन तब तक कहना चाहिये, जब तक विशेषहानि में भी बहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते हैं। परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के 'द्विस्थानगत रसबंधक जीव,' इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक उन परावर्तमान स्वप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति[2] प्राप्त होती है, अर्थात् सब उत्कृष्ट स्थितिगत द्विस्थानिक रसबंधक जीव (प्राप्त होते) हैं।

'असुभाणं इत्यादि' अर्थात् अशुभ परावर्तमान प्रकृतियों के पूर्व निरूपित क्रम के अनुसार सर्वप्रथम द्विस्थानगत रसबंधक कहना चाहिये। तदनन्तर त्रिस्थानगत रसबंधक कहना चाहिये, तत्पश्चात् चतुःस्थानगत रसबंधक कहना चाहिये और ये भी तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। उक्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानगत रसबंधक होते हुए ध्रुव प्रकृतियों की स्वप्रायोग्य जघन्य स्थिति में बंधक रूप से वर्तमान जीव अल्प होते हैं, उससे द्वितीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं, उससे भी तृतीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार विशेषाधिक-विशेषाधिक तब तक कहना चाहिये, जब तक बहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते हैं। उससे आगे विशेषहीन-विशेषहीन तब तक कहना चाहिये, जब तक विशेषहानि में भी बहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते हैं। अशुभ परावर्तमान प्रकृतियों के त्रिस्थानगत रसबंधक होते हुए ध्रुव प्रकृतियों की स्वप्रायोग्य जघन्य स्थिति

१. यहाँ स्वप्रायोग्यरूपता जीव परिणामों (अध्यवसायों) की अपेक्षा जानना चाहिये, किन्तु प्रकृति की अपेक्षा नहीं।

२. यहाँ उत्कृष्ट स्थिति प्रकृतिप्रायोग्य नहीं किन्तु द्विस्थानिक रसबंधप्रायोग्य उत्कृष्ट स्थिति समझना चाहिये।

में बंधक रूप से वर्तमान जीव अल्प होते हैं। उससे द्वितीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं। उससे तृतीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार पूर्व के समान तब तक कहना चाहिये, जब तक विशेषहानि में भी बहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते हैं तथा अशुभ परावर्तमान प्रकृतियों के चतुःस्थानगत रसबंधक होते हुए ध्रुव प्रकृतियों की स्व-प्रायोग्य जघन्य स्थिति में बंधक रूप से वर्तमान जीव अल्प होते हैं, उससे द्वितीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं, उससे भी तृतीय स्थिति में विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक बहुत सागरोपम शत व्यतीत होते हैं। तत्पश्चात् विशेषहीन-विशेषहीन तब तक कहना चाहिये, जब तक विशेषहानि से भी बहुत सागरोपम शत व्यतीत होते हैं। अशुभ परावर्तमान प्रकृतियों के चतुःस्थानगत रसबंधक भी इसी प्रकार विशेषहीन-विशेषहीन तब तक कहना चाहिये, जब तक उन अशुभ परावर्तमान प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, अर्थात् ये सब जीव उत्कृष्ट स्थितिगत (चतुःस्थानकप्रायोग्य उत्कृष्ट स्थितिगत) चतुःस्थानक रस के बंधक होते हैं।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा की गई। अब परंपरोपनिधा से प्ररूपणा करते हुए कहते हैं--

पल्लासंखियमूलानि, गंतुं दुगुणा य दुगुणहीणा य।
नाणंतराणि पल्लस्स, मूलभागो असंखतमो ॥९५॥

शब्दार्थ--**पल्लासंखियमूलानि**--पल्योपम के असंख्यात वर्गमूल प्रमाण, **गंतुं**--अतिक्रमण होने पर, **दुगुणा**--द्विगुणाधिक, **य** और, **दुगुणहीणा**--द्विगुणहीन, **य**--और, **नाणंतराणि**--नाना प्रकार के अंतर, **पल्लस्स**--पल्योपम के, **मूलभागो**--वर्गमूल का, **असंखतमो**--असंख्यातवां भाग।

गाथार्थ--पल्योपम के असंख्यात वर्गमूल प्रमाण स्थिति का अतिक्रमण करने पर जीवों की संख्या द्विगुणाधिक और द्विगुणहीन हो जाती है तथा ये नाना अंतर पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।

विशेषार्थ--परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानगत रसबंधक ध्रुव प्रकृतियों के जघन्य स्थिति में बंधक रूप से वर्तमान जीवों की अपेक्षा जघन्य स्थिति से आगे जो पल्योपम के असंख्यात वर्गमूल हैं, उन पल्योपम के असंख्यात वर्गमूलों में जितने समय होते हैं, तावत् प्रमाण स्थितियों का उल्लंघन करके अनन्तरवर्ती स्थिति में वर्तमान जीव दुगुने होते हैं, उससे आगे और भी पल्योपम के असंख्यात वर्गमूल प्रमाण स्थितियों का उल्लंघन करके जो अनन्तर स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमें जो जीव हैं, वे दुगुने होते हैं। इस प्रकार दुगुने-दुगुने तब तक कहना चाहिये, जब तक बहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते हैं। उनसे आगे पल्योपम के असंख्यात वर्गमूल प्रमाण स्थितियों का उल्लंघन करके जो अन्य स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमें अर्थात् विशेषवृद्धिगत चरम स्थिति में बंधक रूप से वर्तमान जो जीव हैं, उनकी अपेक्षा द्विगुणहीन होते हैं अर्थात् आधे होते हैं। उससे आगे फिर पल्योपम के असंख्यात वर्गमूल प्रमाण स्थितियों का उल्लंघन करके प्राप्त होने वाले अन्य स्थितिस्थान में जीव आधे होते हैं। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक द्विगुणहानि में भी बहुत से सागरोपम शत व्यतीत हों।

इसी प्रकार परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानगत रसबंधक और द्विस्थानगत रसबंधक जीव भी जानना चाहिये तथा अशुभ परावर्तमान प्रकृतियों के द्विस्थानगत रसबंधक, त्रिस्थानगत रसबधक और चतुःस्थानगत रसबंधक कहना चाहिये ।

एक द्विगुणवृद्धि के अन्तराल में और द्विगुणहानि के अन्तराल में स्थितिस्थान पल्योपम के असंख्यात वर्गमूल प्रमाण होते हैं। अर्थात् पल्योपम के असंख्यात वर्गमूलों में जितने समय होते हैं तावत् प्रमाण स्थितिस्थान होते हैं । नाना अंतर अर्थात् नाना रूप द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि स्वरूप स्थान पल्योपम सम्बन्धी प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, तावत् प्रमाण होते हैं। नाना द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले स्थान अल्प होते हैं तथा उनसे एक द्विगुणवृद्धि के अन्तराल में और एक द्विगुणहानि के अन्तराल में स्थितिस्थान असंख्यात गुणित होते हैं।[1]

रसयवमध्य से प्रकृतियों के स्थितिस्थानादिकों का अल्पबहुत्व

अणगारप्पाउग्गा, बिट्ठाणगया उ दुविहपगडीणं ।
सागारा सव्वत्थ वि, हिट्ठा थोवाणि जवमज्झा ।।९६।।
ठाणाणि चउट्ठाणा, संखेज्जगुणाणि उवरिमेवंति ।
तिट्ठाणे बिट्ठाणे, सुभाणि एगंतमीसाणि ।।९७।।
उवरिं मिस्साणि जहन्नगो सुभाणं तओ विसेसहिओ ।
होइऽसुभाण जहण्णो संखेज्जगुणाणि ठाणाणि ।।९८।।
बिट्ठाणे जवमज्झा हेट्ठा एगंत मीसमाणुवरिं ।
एवं तिचउट्ठाणे, जवमज्झाओ य डायठिई ।।९९।।
अंतो कोडाकोडी, सुभबिट्ठाण जवमज्झओ उवरिं ।
एगंतगा विसिट्ठा, सुभजिट्ठा डायट्ठिइजेट्ठा ।।१००।।

शब्दार्थ—**अणगारप्पाउग्गा**–अनाकारोपयोगयोग्य, **बिट्ठाणगया उ**–द्विस्थानगत ही, **दुविह पगडीणं**–दोनों प्रकार की प्रकृतियों के (परा० शुभाशुभ प्रकृतियों के), **सागारा**–साकारोपयोगयोग्य, **सव्वत्थ वि**–सर्वत्र भी, **हिट्ठा**–नीचे, **थोवाणि**–अल्प, **जवमज्झा**–यवमध्य से ।

ठाणाणि–स्थितिस्थान, **चउट्ठाणा**–चतुःस्थानगत रस के, **संखेज्जगुणाणि**–संख्यात गुणे, **उवरिं**–ऊपर, **एवंति**–इसी तरह, **तिट्ठाणे**–त्रिस्थानगत में, **बिट्ठाणे**–द्विस्थानगत में, **सुभाणि**–शुभ प्रकृतियों के, **एगंत**–एकान्तयोग्य, **मीसाणि**–मिश्रयोग्य ।

उवरिं–ऊपर, **मिस्साणि**–मिश्रयोग्य, **जहन्नगो**–जघन्य स्थितिबंध, **सुभाणं**–शुभ प्रकृतियों के, **तओ**–उससे, **विसेसहिओ**–विशेषाधिक, **होइ**–होते हैं, **असुभाणं**–अशुभ प्रकृतियों के, **जहण्णो**–जघन्य, **संखेज्जगुणाणि**–संख्यात गुणे, **ठाणाणि**–स्थान ।

---

१. यहाँ सर्व अन्तरों में रहे हुए सर्व स्थितिस्थानों की अपेक्षा से ही असंख्यात गुणरूपता सम्भव है किन्तु एक अन्तराल के सर्व स्थितिस्थानों की अपेक्षा असंख्यात गुणपना सम्भव नहीं है ।

बिट्ठाणे––द्विस्थान गत में, **जवमज्झा**–यवमध्य से, **हेट्ठा**–नीचे, **एगंत**–एकान्त साकारोपयोगयोग्य, **मीसगाण**–मिश्र, **उवरिं**–ऊपर, **एवं**–इस प्रकार, **तिचउट्ठाणे**–त्रिस्थानिक, चतुःस्थानिक में, **जवमज्झाओ**–यवमध्य से, **य**–और, **डायठिई**–डायस्थिति में ।

अंतोकोडाकोडी––अन्तःकोडाकोडी, **सुभ**–शुभ प्रकृतियों के, **बिट्ठाण**–द्विस्थानिक, **जवमज्झाओ**–यवमध्य से, **उवरिं**–ऊपर, **एगंतगा**–एकान्त साकारोपयोगयोग्य, **विसिट्ठा**–विशेषाधिक, **सुभजिट्ठा**–शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट, **डायट्ठिइ**–डायस्थिति, **जेट्ठा**–उत्कृष्ट ।

गाथार्थ––शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की प्रकृतियों का अनाकारप्रायोग्य द्विस्थानिक रस ही होता है और सर्वत्र अर्थात् द्वि, त्रि और चतुः स्थानिक रस साकारोपयोगयोग्य है । शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानिक रस के यवमध्य से नीचे स्थितिस्थान सबसे अल्प हैं और ऊपर संख्यात गुणे हैं । इसी प्रकार से त्रिस्थानिक रस के विषय में नीचे और ऊपर जानना चाहिये । द्विस्थानिक के यवमध्य से नीचे एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थान संख्यात गुणे, मिश्रयोग्य संख्यात गुणे हैं । उससे ऊपर अर्थात् यवमध्य से ऊपर मिश्रयोग्य संख्यात गुण हैं । उससे आगे परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है । उससे परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है । उससे परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानिक रस में यवमध्य से नीचे एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं । उससे यवमध्य से नीचे मिश्रस्थान संख्यात गुणे हैं । उससे यवमध्य के ऊपर मिश्रस्थान संख्यात गुणे हैं । उससे ऊपर एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं । इसी प्रकार त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक में यवमध्य से ऊपर और नीचे तथा 'डायस्थिति' और त्रिस्थानिक यवमध्य से नीचे और ऊपर के स्थितिस्थान अनुक्रम से संख्यात गुणे हैं । इसी प्रकार चतुःस्थानिक यवमध्य से नीचे के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं । उससे चतुःस्थानिक यवमध्य से ऊपर की डायस्थिति संख्यात गुणी है । उससे अन्तःकोडाकोडी संख्यात गुणी है । उससे परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के द्विस्थानिक यवमध्य से ऊपर एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं । उससे शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है । उससे डायस्थिति विशेषाधिक है । उससे उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है ।

विशेषार्थ––'अणगार त्ति'–दोनों ही प्रकार की अर्थात् परावर्तमान शुभ और अशुभ प्रकृतियों का रस अनाकारप्रायोग्य है, यानी बंध के प्रति अनाकारोपयोगयोग्य है । अर्थात् बंध के आश्रयभूत तथाविध मंद परिणामों के योग्य है । वह नियमतः द्विस्थानगत रस ही है, अन्य नहीं है । यहाँ गाथागत 'तु' शब्द एवकार (निश्चय) के अर्थ में है । कहा भी है 'तुः स्याद् भेदेऽवधारणे'–अर्थात् तु शब्द भेद के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और अवधारण (निश्चय) के अर्थ में भी । यहाँ निश्चय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । 'साकार' अर्थात् साकारोपयोग के योग्य यानी बंध के आश्रयभूत तीव्र परिणामों के योग्य । वे परिणाम सर्वत्र अर्थात् द्विस्थानिक आदि में भी पाये जाते हैं । इसका आशय

यह है कि द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रसबंध के आश्रयभूत होने से साकारोपयोग-प्रायोग्य हैं ।[1]

अब सभी स्थितिस्थानों के अल्पबहुत्व का कथन करते हैं—

१. परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानक रसयवमध्य[2] से नीचे के स्थितिस्थान सबसे अल्प होते हैं ।

२. उनसे चतुःस्थानक रसयवमध्य से ऊपर के स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं ।

३. उनसे भी परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के स्थितिस्थान त्रिस्थानक रसयवमध्य से नीचे संख्यात गुणित होते हैं ।

४. उनसे भी त्रिस्थानक रसयवमध्य से ऊपर के स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं ।
इसी प्रकार संख्यात गुणित क्रम से नीचे और ऊपर त्रिस्थानक रस में भी स्थितिस्थान कहना चाहिये—एवं तिट्ठाणे त्ति ।

५. उनसे भी परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक रसयवमध्य से नीचे के स्थितिस्थान जो एकान्त साकारोपयोग के योग्य हैं, वे संख्यात गुणित होते हैं ।

६. उनसे भी द्विस्थानक रसयवमध्य से नीचे और पाश्चात्य स्थानों से ऊपर जो स्थितिस्थान हैं, वे मिश्र अर्थात् साकार और अनाकार उपयोग के योग्य हैं और वे संख्यात गुणित होते हैं ।

७. उनसे भी द्विस्थानक रसयवमध्य के ऊपर मिश्र स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं ।

८. उनसे भी परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणित होता है ।

९. उससे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है ।

१०. उससे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के ही द्विस्थानक रसयवमध्य से नीचे के जो स्थिति-स्थान हैं, वे एकान्त साकारोपयोग के योग्य हैं और संख्यात गुणित होते हैं ।

११. उससे उन्हीं परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक रसयवमध्य से नीचे और पाश्चात्य स्थानों से ऊपर मिश्र स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं ।

---

१. उक्त कथन का फलितार्थ यह हुआ कि चतुःस्थानक और त्रिस्थानक रस तो साकारोपयोगप्रायोग्य ही हैं और द्विस्थानक रस अनाकार-साकार—उपयोग उभयप्रायोग्य हैं ।

२. चतुःस्थानप्रायोग्य प्रथम स्थिति से सैकड़ों सागरोपम तक प्रत्येक स्थितिस्थान में चतुःस्थानक रसबंधक जीव विशेषाधिक-विशेषाधिक और वहाँ से आगे सैकड़ों सागरोपम तक विशेषहीन, हीनतर रूप से कहे हैं । उससे स्थितिस्थानों में चतुःस्थानक रसबंधक जीवों की वृद्धि, हानि यवाकार हो जाती है, इसलिए वही यव यहाँ और अन्यत्र ग्रहण करना चाहिये ।

१२. उनसे भी उन्हीं परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक रसयवमध्य से ऊपर मिश्र-स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं ।

१३. उनसे भी ऊपर एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान संख्यात गुणित होते हैं ।

१४. उनसे भी उन्हीं परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानक रसयवमध्य से नीचे के स्थिति-स्थान संख्यात गुणित होते हैं ।

१५. उनसे भी उन्हीं परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानक रसयवमध्य के ऊपर के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते हैं ।

१६. उनसे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के ही चतुःस्थानक रसयवमध्य से नीचे के स्थितिस्थान संख्यात गुणित हैं ।

१७. उनसे भी यवमध्य से ऊपर डायस्थिति[1] संख्यात गुणी होती है।

१८. उस डायस्थिति से भी अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति संख्यात गुणी होती है।

१९. उससे भी परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक रसयवमध्य के ऊपर जो मिश्र स्थिति-स्थान हैं, उनके ऊपर एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान संख्यात गुणित होत हैं ।

२०. उनसे भी परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक होता है ।

२१. उससे भी अशुभ परावर्तमान प्रकृतियों की बद्ध डायस्थिति विशेषाधिक होती है । क्योंकि जिस स्थितिस्थान से 'मांडूकप्लुति न्याय' से अर्थात् मेंढक के कूदने के समान दीर्घ (लंबी) छलांग देकर जो स्थिति बांधी जाती है, यहाँ से लेकर वहाँ तक की वह स्थिति यहाँ पर

---

१. जिस स्थितिस्थान से अपवर्तनाकरण के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, उतनी स्थिति को 'डायस्थिति' कहते हैं—'यतः स्थितिस्थानादपवर्तनाकरणवशेनोत्कृष्टां स्थिति याति तावती स्थितिर्डायस्थितिरित्युच्यते।'—कर्मप्रकृति, आ. मलयगिरि टीका। इसका आशय यह है कि उत्कृष्ट स्थिति को अपवर्तनाकरण के द्वारा अपवर्तित कर जो उत्कृष्ट स्थिति हो, वह अपवर्तना द्वारा की गई उत्कृष्ट स्थिति कहलाती है । जैसे कि १०० समयात्मक उत्कृष्ट स्थिति को अपवर्तित करके ११ से ९० समय तक की तो, उसमें १०० समय की स्थिति को अपवर्तित करके ११ समयात्मक करना अपवर्तनाकरण द्वारा की गई जघन्य स्थिति और १२ से लेकर ८९ समयों तक में कोई भी स्थिति मध्यम स्थिति कहलायेगी और इसी १०० समय की स्थिति को ९० समयात्मक करना यह 'अपवर्तनाकरण द्वारा उत्कृष्ट स्थिति की' कहा जायेगा। यहाँ विवक्षित यवमध्य से ऊपर के स्थितिस्थानों में जो उत्कृष्ट स्थिति की, उसका ग्रहण करना चाहिये, किन्तु समग्र का ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि समग्र से तो किंचिदून कर्मस्थिति प्रमाण अंतर पड़कर अन्तःकोडाकोडी सागर जितनी होती है । जिससे अंतर बड़ा हो जाता है और यहाँ तो लघु अंतर ग्रहण करना है । जैसे कि १०० समयात्मक उत्कृष्ट स्थिति की अपवर्तना द्वारा ९० समयात्मक जो उत्कृष्ट स्थिति की, जिसमें ९१ से १०० तक की १० स्थितियां अपवर्तना द्वारा की गई उत्कृष्ट स्थिति की डायस्थिति की कहलायेंगी ।

बद्धडायस्थिति कही गई है। वह उत्कर्ष से अन्तःकोडीकोडी सागरोपम से हीन सम्पूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण जानना चाहिये। वह इस प्रकार--अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिबंध को करके पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है, अन्यथा नहीं।

२२. उस बद्धडायस्थिति से परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक होता है।

उक्त विवेचन को सरलता से समझने के लिये प्रकृतियों के स्थितिस्थानादिकों के अल्पबहुत्व का प्रारूप इस प्रकार है--

क्रम	प्रकृतियों का	रसयवमध्य से	नीचे के या ऊपर के	स्थितिस्थानादिकों का	अल्पबहुत्व
१.	शुभ परावर्तमान	चतुःस्थानक	नीचे के	स्थितिस्थान	अल्प
२.	,,	,,	ऊपर के	,,	संख्यात गुण
३.	,,	त्रिस्थानक	नीचे के	,,	,,
४.	,,	,,	ऊपर के	,,	,,
५.	,,	द्विस्थानक	नीचे के	साकार० स्थितिस्थान	,,
६.	,,	,,	,,	मिश्र ,,	,,
७.	,,	,,	ऊपर के	मिश्र ,,	,,
८.	,,	—	—	जघन्य स्थिति	,,
९.	अशुभ परावर्तमान	—	—	,,	विशेषाधिक
१०.	,,	द्विस्थानक	नीचे के	साकार० स्थितिस्थान	संख्यात गुण
११.	,,	,,	,,	मिश्र ,,	,,
१२.	,,	,,	ऊपर के	,, ,,	,,
१३.	,,	,,	,,	साकार० ,,	,,
१४.	,,	त्रिस्थानक	नीचे के	स्थितिस्थान	,,
१५.	,,	,,	ऊपर के	,,	,,

क्रम	प्रकृतियों का	रसयव मध्य से	नीचे के या ऊपर के	स्थितिस्थानादिकों का	अल्पबहुत्व
१६.	अशुभ परावर्तमान	चतुःस्थानक	नीचे के	स्थितिस्थान	संख्यातगुण
१७.	,,	,,	,,	डायस्थिति (अप.)	,,
१८.	—	—	—	अन्तःकोडाकोडी सागर के समय	,, ,,
१९.	शुभ परावर्तमान	द्विस्थानक	उपर्युपरि	साकार० स्थितिस्थान	,,
२०.	,,	—	—	उत्कृष्ट स्थिति	,,
२१.	अशुभ परावर्तमान	—	—	बद्धडायस्थिति	विशेषाधिक
२२.	,,	—	—	उत्कृष्ट स्थिति	,,

रसबंध में जीवों का अल्पबहुत्व

अब पूर्वोक्त रसबंध में जीवों का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

संखेज्जगुणा जीवा, कमसो एएसु दुविहपगईणं ।
असुभाणं तिट्ठाणे सव्वुवरि विसेसओ अहिया ।।१०१।।

शब्दार्थ—**संखेज्जगुणा**–संख्यात गुण, **जीवा**–जीव, **कमसो**–अनुक्रम से, **एएसु**–इन रसस्थानों में, **दुविहपगईणं**–दोनों प्रकार की प्रकृतियों का, **असुभाणं**–अशुभ प्रकृतियों का, **तिट्ठाणे**–त्रिस्थानिक में, **सव्वुवरि**–सबसे ऊपर, **विसेसओ**–विशेष से, **अहिया**–अधिक ।

गाथार्थ—दोनों प्रकार (शुभ और अशुभ) की प्रकृतियों के इन रसस्थानकों में जीव क्रम से संख्यात गुणित होते हैं। किन्तु सबसे ऊपर अशुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानक में जीव विशेषाधिक होते हैं।

विशेषार्थ—परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानक रसबंधक जीव सबसे कम होते हैं। उनसे त्रिस्थानक रसबंधक जीव संख्यात गुणित होते हैं। उनसे भी द्विस्थानक रसबंधक जीव संख्यात गुणित होते हैं। उनसे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक रसबंधक जीव संख्यात गुणित होते हैं। उनसे भी चतुःस्थानक रसबंधक जीव संख्यात गुणित होते हैं। उनसे भी त्रिस्थानक रसबंधक जीव विशेषाधिक होते हैं। जैसा कि गाथा में कहा है—'असुभाणं ····' इत्यादि। अर्थात् अशुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानक रस के बंधक जीव सबसे ऊपर विशेषाधिक कहना चाहिये ।

सरलता से समझने के लिये इस कथन का स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रारूप में किया जाता है—

क्रम	परावर्तमान शुभ प्रकृति के	प्रमाण	क्रम	परावर्तमान अशुभ प्रकृति के	प्रमाण
१.	चतुःस्थानक रसबंधक जीव	अल्प, उनसे	४.	द्विस्थानक रसबंधक	संख्यात गुण उनसे
२.	त्रिस्थानक रसबंधक जीव	संख्यात गुण ,,	५.	चतुःस्थानक रसबंधक	,, ,, ,,
३.	द्विस्थानक रसबंधक जीव	,, ,, ,,	६.	त्रिस्थानक रसबंधक	विशेषाधिक ,,

इस प्रकार से बंधनकरण का समग्र विचार करने के पश्चात् उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एवं बंधणकरणं, परूविए सह हि बंधसयगेणं ।
बंधविहाणाहिगमो, सुहमभिगंतुं लहुं होइ ॥१०२॥

शब्दार्थ—एवं–इस प्रकार से, **बंधणकरणे**–बंधनकरण की, **परूविए**–प्ररूपणा करने पर, **सह**–साथ, **हि**–निश्चितरूप, **बंधसयगेणं**–बंधशतक के साथ, **बंधविहाण**–बंध का विधान, **अहिगमो**–अवबोध, ज्ञान, **सुहुमभिगंतु**–सुखपूर्वक (सरलता से) जानने के इच्छुक को । **लहु**–शीघ्र, **होइ**–होता है ।

गाथार्थ—इस प्रकार से बंधशतक के साथ बंधनकरण की प्ररूपणा करने पर सरलता से जानने के इच्छुक को बंधविधान का ज्ञान सुखपूर्वक शीघ्र प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से इस बधनकरण की बंधशतक नामक ग्रंथ के साथ प्ररूपणा करने पर (इस कथन के द्वारा ग्रंथकार ने बंधशतक और इस कर्मप्रकृति, इन दोनों ग्रंथों का एक कर्तृत्व प्रगट किया है, ऐसा जानना चाहिये) बंधविधान जो पूर्वगत है, उसको सरलता-पूर्वक जानने के इच्छुक भव्य जीव को बंधविधान का ज्ञान शीघ्र हो जाता है ।

इस प्रकार बंधनकरण का विवेचन समाप्त हुआ ।

卐
卐卐卐
卐

परिशिष्ट

१. नोकषायों में कषायसहचारिता का कारण
२. संहनन, संस्थान के दर्शकचित्र
३. बादर और सूक्ष्म नामकर्म का स्पष्टीकरण
४. पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्म का स्पष्टीकरण
५. प्रत्येक, साधारण नामकर्म विषयक ज्ञातव्य
६. सम्यक्त्व, हास्य, रति, पुरुषवेद को शुभप्रकृति मानने का अभिमत
७. कर्मों के रसविपाक का स्पष्टीकरण
८. गुणस्थानों में बंधयोग्य प्रकृतियों का विवरण
   (अ) सम्यक्त्वी के आयुबंध का स्पष्टीकरण
९. शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होने पर भी एक-स्थानक रसबंध न होने का कारण
१०. गुणस्थानों में उदययोग्य प्रकृतियों का विवरण
११. ध्रुवबंधी आदि इकतीस द्वार यंत्र प्रारूप
१२. जीव की वीर्यशक्ति का स्पष्टीकरण
१३. लोक का घनाकार समीकरण करने की विधि
१४. असत्कल्पना द्वारा योगस्थानों का स्पष्टीकरण दर्शक प्रारूप
१५. योग संबन्धी प्ररूपणाओं का विवेचन
१६. वर्गणाओं के वर्णन का सारांश एवं विशेषावश्यकभाष्यगत व्याख्या का स्पष्टीकरण
१७. नामप्रत्ययस्पर्धक और प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणाओं का सारांश
१८. मोदक के दृष्टान्त द्वारा प्रकृतिबंध आदि चारों अंशों का स्पष्टीकरण
१९. मूल और उत्तर प्रकृतियों में प्रदेशाग्राल्पबहुत्वदर्शक सारिणी
२०. रसाविभाग और स्नेहाविभाग के अंतर का स्पष्टीकरण

२१. असत्कल्पना द्वारा षट्स्थानकप्ररूपणा का स्पष्टीकरण
२२. षट्स्थानक में अधस्तनस्थान प्ररूपणा का स्पष्टीकरण
२३. अनुभागबंध-विवेचन संबन्धी १४ अनुयोगद्वारों का सारांश
२४. असत्कल्पना द्वारा अनुकृष्टिप्ररूपणा का स्पष्टीकरण
(१) अपरावर्तमान ५५ अशुभप्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप
(२) अपरावर्तमान ४६ शुभप्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप
(३) परावर्तमान २८ अशुभप्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप
(४) परावर्तमान १६ शुभप्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप
(५) तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि का प्रारूप
(६) त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का प्रारूप
२५. असत्कल्पना द्वारा तीव्र-मंदता की स्थापना का प्रारूप
(१) अपरावर्तमान ५५ अशुभप्रकृतियों की तीव्रता-मंदता
(२) अपरावर्तमान ४६ शुभप्रकृतियों की तीव्रता-मंदता
(३) परावर्तमान १६ शुभप्रकृतियों की तीव्रता-मंदता
(४) परावर्तमान २८ अशुभप्रकृतियों की तीव्रता-मंदता
(५) त्रसचतुष्क की तीव्रता-मंदता
(६) तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की तीव्रता-मंदता
२६. पल्योपम और सागरोपम का स्वरूप
२७. आयुबंध और उसकी अबाधा संबन्धी पंचसंग्रह में आगत चर्चा का सारांश
२८. मूल एवं उत्तर प्रकृतियों क स्थितिबंध एवं अबाधाकाल का प्रारूप
२९. स्थितिबंध, अबाधा और निषेकरचना का स्पष्टीकरण
३०. गाथाओं की अकारादि-अनुक्रमणिका
३१. प्रकरणगत विशिष्ट एवं पारिभाषिक शब्दों की सूची

१. नोकषायों में कषायसहचारिता का कारण

सामान्यापेक्षा हास्यादि नव नोकषायें अनन्तानुबंधीक्रोधादि संज्वलनलोभ पर्यन्त सोलह कषायों की मुख्य–गौण भाव से सहायक अर्थात् उत्तेजक (उद्दीपक) होने से कषाय कहलाती हैं। क्योंकि सामान्यरूप से छठे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान तक संज्वलनकषायचतुष्क के उदय की मुख्यता रहती है। अतः उस अवस्था में भी उन गुणस्थानों तक नोकषायमोहनीय संज्वलनचतुष्क को भी कुछ उत्तेजना देने वाली बन सकती है। इस दृष्टिभेदापेक्षा सामान्यरूप से सभी कषायों के साथ रहने वाली और उनको प्रेरणा देने वाली होने से इन नोकषायों में कषायरूपता कही गई है। नोकषायों को कषायरूप प्राप्त करने में कषायों का सहकार आवश्यक है और उनके संसर्ग से ही नोकषायों की अभिव्यक्ति होती है। वैसे वे निष्क्रिय-सी हैं। केवल नोकषाय प्रधान नहीं हैं।

नोकषायों में कषाय व्यपदेश करने की उक्त सामान्य दृष्टि समझ लेने के बाद अब विशेषापेक्षा उनको अनन्तानुबंधी क्रोध आदि बारह कषायों के साथ सहचारी मानने के कारण को स्पष्ट करते हैं।

विशेषापेक्षा नव नोकषायों का अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) रूप बारह कषायों के साथ साहचर्य मानने का कारण यह है कि चौथे, पांचवें, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती जो मनुष्य आगे चलकर क्षपकश्रेणि आरंभ करने की स्थिति में होते हैं, वे सबसे पहले क्षपकश्रेणि की तैयारी के लिये अनन्तानुबंधीचतुष्क का एक साथ क्षय करते हैं और उसके शेष अनन्तवें भाग को मिथ्यात्व में स्थापन करके मिथ्यात्व और उस शेष अंश का एक साथ नाश करते हैं। उसके बाद इसी प्रकार क्रमशः सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करते हैं। जब सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति एक आवलिका मात्र बाकी रह जाती है, तब सम्यक्त्व मोहनीय की स्थिति आठ वर्ष प्रमाण बाकी रहती है। उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण खंड कर-करके खपाते हैं। जब उसके अंतिम स्थितिखंड को खपाते हैं, तब उस क्षपक को कृतकरण कहते हैं। इस कृतकरण काल में यदि कोई जीव मरता है तो वह चारों गतियों में से किसी भी गति में उत्पन्न हो सकता है। यदि क्षपकश्रेणि का प्रारम्भक बद्धायु जीव है तो अनन्तानुबंधी के क्षय के पश्चात् उसका मरण होना संभव है। उस अवस्था में मिथ्यात्व का उदय होने पर वह जीव पुनः अनन्तानुबंधी का बंध करता है। क्योंकि मिथ्यात्व के उदय में अनन्तानुबंधी नियम से बंधती है। किन्तु मिथ्यात्व का क्षय हो जाने पर पुनः अनन्तानुबंधी के बंध का भय नहीं रहता है। बद्धायु होने पर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नहीं करता तो अनन्तानुबंधी कषाय और दर्शनमोह का क्षय करने के बाद वहीं ठहर जाता है। चारित्रमोह के क्षपण का प्रयत्न नहीं करता है।

यह बात तो हुई बद्धायु क्षपकश्रेणि के प्रारम्भक की। किन्तु यदि अबद्धायु होता है तो वह उस श्रेणि को समाप्त करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है। यह अबद्धायु मनुष्य चौथे आदि चार गुणस्थानों में से किसी एक में अनन्तानुबंधीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक का क्षय कर देता है और उसके बाद चारित्रमोहनीय के क्षय के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणों को करता है।

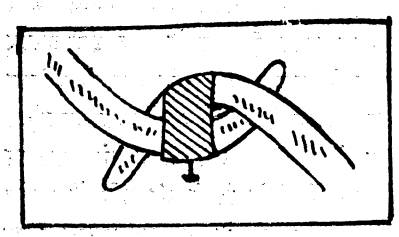
अपूर्वकरण के प्रसंग में स्थितिघात वगैरह के द्वारा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय की आठ प्रकृतियों का इस तरह क्षय किया जाता है कि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में उनकी स्थिति पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र रह जाती है। अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग बीत जाने पर स्त्यानर्द्धित्रिक, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, एकेन्द्रिय आदि चार जाति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्योत, इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति उद्वलना संक्रमण के द्वारा उद्वलना होने पर पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र रह जाती है। उसके बाद गुण-संक्रमण के द्वारा बध्यमान प्रकृतियों में उनका प्रक्षेप कर-करके उन्हें बिल्कुल क्षीण कर दिया जाता है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षय का प्रारम्भ पहले ही कर दिया जाता है, किन्तु अभी तक

वह क्षीण नहीं होती हैं कि अन्तराल में पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियों का क्षपण किया जाता है। उनके क्षय के पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायों का भी अन्तर्मुहूर्त में ही क्षय कर दिया जाता है।

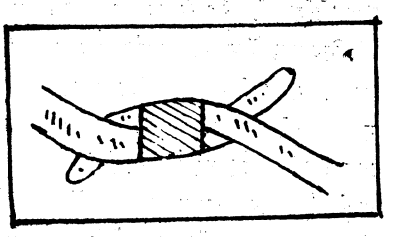
उसके पश्चात् नव नोकषायों और चार संज्वलन कषायों में अन्तरकरण करता है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और हास्यादि छह नोकषायों का क्षपण करता है। उसके बाद पुरुषवेद के तीन खंड करके दो खंडों का एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खंड को संज्वलन क्रोध में मिला देता है। यह क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाले के लिये है। यदि स्त्री श्रेणि आरोहण करती है तो पहले नपुंसकवेद का क्षपण करती है। उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, छह नोकषाय और स्त्रीवेद का क्षपण करती है और यदि कृतनपुंसक श्रेणि आरोहण करता है तो उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, छह नोकषाय और नपुंसकवेद का क्षपण अन्त में होता है। वेद का क्षपण होने के बाद संज्वलनचतुष्क का उक्त प्रकार से क्षपण करता है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अबद्धायुष्क क्षपक अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यावरण कषायों का क्षय होते ही संज्वलनकषायचतुष्क का क्षय प्रारम्भ करने के पूर्व वेदत्रिक और हास्यादि छह नोकषायों का क्षपण करता है। नोकषायों की सत्ता तभी तक रहती है, जब तक आदि की बारह कषायें क्षय नहीं होती हैं। इसीलिये नव नोकषायों का साहचर्य आदि की बारह कषायों के साथ बतलाया है।

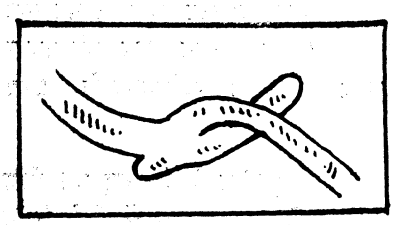
२. संहनन के दर्शक चित्र



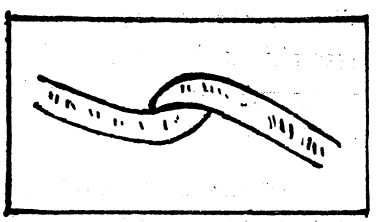
वज्रऋषभनाराच



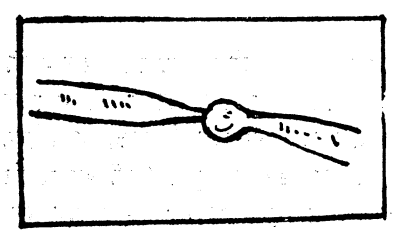
ऋषभनाराच



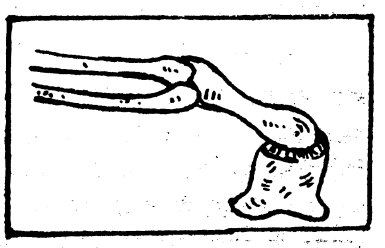
नाराच



अर्धनाराच



कीलिका



सेवार्त

३. बादर और सूक्ष्म नामकर्म का स्पष्टीकरण

जिसे आंखें देख सकें, इतना ही बादर का अर्थ नहीं है। क्योंकि एक-एक बादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर आंखों से नहीं देखा जा सकता है। किन्तु बादर नामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न करता है, जिससे बादर पृथ्वीकाय आदि जीवों के शरीरसमुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट करता है, उससे वे शरीर दृष्टिगोचर होते हैं।

यद्यपि बादर नामकर्म जीवविपाकिनी प्रकृति है, किन्तु यह प्रकृति शरीर के पुद्गलों के माध्यम से जीव में बादर परिणाम को उत्पन्न करती है। जिससे वे दृष्टिगोचर होते हैं और जिन्हें इस कर्म का उदय नहीं होता, ऐसे सूक्ष्मजीव समुदाय में एकत्रित हो जायें, तो भी वे दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

बादर नामकर्म को जीवविपाकिनी प्रकृति होने पर भी शरीर के पुद्गलों के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति का कारण यह है कि जीवविपाकिनी प्रकृति का शरीर में प्रभाव दिखाना विरुद्ध नहीं है। जैसे क्रोध जीवविपाकिनी प्रकृति है, लेकिन उसका उद्रेक भौंहों का टेड़ा होना, आंखों का लाल होना, ओठों की फड़फड़ाहट इत्यादि परिणामों द्वारा प्रगट रूप में दिखाई देता है। सारांश यह है कि कर्म की शक्ति विचित्र है, इसलिये बादर नामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न कर देता है, जिससे उनके शरीरसमुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रगट हो जाती है और वे शरीर दृष्टिगोचर होते हैं।

४. पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्म का स्पष्टीकरण

जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं, जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने और उनका आहार-निहार और शरीर आदि के रूप में बदल देने का कार्य होता है। अर्थात् पुद्गलों के उपचय से जीव की पुद्गलों को ग्रहण करने तथा परिणमाने की शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं।

इहभव सम्बन्धी शरीर का त्याग करने के बाद परभव सम्बन्धी शरीर ग्रहण करने के लिये जीव उत्पत्ति-स्थान में पहुंचकर कार्मणशरीर द्वारा जिन पुद्गलों को प्रथम समय में ग्रहण करता है, उनके आहारपर्याप्ति आदि रूप छह विभाग होते हैं और उनके द्वारा एक साथ छहों पर्याप्तियों का बनना प्रारम्भ हो जाता है अर्थात् प्रथम समय में ग्रहण किये हुए पुद्गलों के छह भागों में से एक-एक भाग लेकर प्रत्येक पर्याप्ति का बनना प्रारंभ हो जाता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रमशः होती है।

इसको एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि जैसे छह सूत कातने वाली स्त्रियों ने एक साथ रूई कातना प्रारम्भ किया, किन्तु उनमें से मोटा सूत कातने वाली जल्दी पूरा कर लेती है और बारीक कातने वाली देर में पूरा करती है। इसी प्रकार पर्याप्तियों का प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है, किन्तु पूर्णता अनुक्रम से होती है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीन शरीरों में पर्याप्तियां होती हैं। इनमें इनकी पूर्णता का क्रम इस प्रकार समझना चाहिये—

औदारिक शरीरवाला जीव पहली पर्याप्ति एक समय में पूर्ण करता है और इसके बाद अन्तर्मुहूर्त में दूसरी, इसके बाद तीसरी। इसी प्रकार क्रमशः अन्तर्मुहूर्त, अन्तर्मुहूर्त के बाद चौथी, पांचवीं, छठी पर्याप्ति पूर्ण करता है।

वैक्रिय और आहारक शरीर वाले जीव पहली पर्याप्ति एक समय में पूर्ण कर लेते हैं और उसके बाद अन्तर्मुहूर्त में दूसरी पर्याप्ति पूर्ण करते हैं और उसके बाद तीसरी, चौथी, पांचवीं और छठी पर्याप्ति अनुक्रम से

एक-एक समय में पूरी करते हैं; किन्तु देव पांचवीं और छठी—इन दोनों पर्याप्तियों को अनुक्रम से पूर्ण न कर एक साथ एक समय में पूरी कर लेते हैं।

पर्याप्तियों के नाम इसप्रकार हैं—

१. आहारपर्याप्ति, २. शरीरपर्याप्ति, ३. इन्द्रियपर्याप्ति, ४. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, ५. भाषापर्याप्ति और ६. मनपर्याप्ति।

उक्त छहों पर्याप्तियों में अनुक्रम से एकेन्द्रिय जीव के आदि की चार (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के उक्त आहार आदि पर्याप्तियां के साथ भाषा-पर्याप्ति के मिलाने से पांच तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आहारादि मन पर्यन्त छह पर्याप्तियां होती हैं।

पर्याप्त जीवों के दो भेद होते हैं- लब्धि-पर्याप्त और करण-पर्याप्त। जो जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके मरते हैं, पहले नहीं, वे लब्धि-पर्याप्त हैं और करण-पर्याप्त के दो अर्थ हैं। पहला—करण का अर्थ है इन्द्रियां, तब जिन जीवों ने इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण कर ली है, वे करणपर्याप्त हैं। क्योंकि आहार और शरीर पर्याप्ति पूर्ण किये बिना इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नहीं हो सकती है, इसलिये तीनों पर्याप्तियां ली गई हैं। दूसरा—जिन जीवों ने अपने-अपने योग्य पर्याप्तियां पूर्ण कर ली हैं, वे करणपर्याप्त हैं।

अपर्याप्त नामकर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों के निर्माण करने में समर्थ नहीं होता है।

पर्याप्त की तरह अपर्याप्त जीवों के भी दो भेद हैं—लब्ध्यपर्याप्त और करणापर्याप्त। जो जीव अपनी पर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही मरते हैं वे लब्ध्यपर्याप्त हैं, किन्तु आगे की पर्याप्ति पूर्ण करने वाले हैं, उन्हें करणापर्याप्त कहते हैं। लब्ध्यपर्याप्त जीव भी आहार, शरीर और इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरा करते हैं, पहले नहीं। क्योंकि आगामी भव की आयु का बंध करके ही सब जीव मरा करते हैं और आयु का बंध उन्हीं जीवों को होता है, जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय—ये तीन पर्याप्तियां पूर्ण कर ली हैं।

५. प्रत्येक-साधारण नामकर्म विषयक ज्ञातव्य

जिस कर्म के उदय से प्रत्येक जीव का भिन्न-भिन्न (पृथक्-पृथक्) शरीर उत्पन्न होता है, उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं। अर्थात् शरीर नामकर्म के उदय से रचा गया जो शरीर, जिसके निमित्त से एक आत्मा के उपभोग का कारण होता है, यानी एक-एक शरीर एक-एक आत्मा का आश्रयस्थान होता है, उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं और बहुत-सी आत्माओं के उपभोग हेतु शरीर जिसके निमित्त से होता है, वह साधारण नामकर्म है।

इन साधारण शरीरधारी अनन्त जीवों के जीवन-मरण, आहार, श्वासोच्छ्वास आदि परस्पराश्रित होते हैं। अर्थात् साधारण जीवों की साधारण आहार आदि चार पर्याप्तियां और साधारण ही जन्म-मरण, श्वासोच्छ्वास, अनुग्रह और उपघात आदि होते हैं। जब एक की आहार, शरीर, इन्द्रिय और आनपान पर्याप्ति पूर्ण होती है, उसी समय उस शरीर में रहने वाले अनन्त जीवों की भी हो जाती है। जिस समय एक श्वासोच्छ्वास लेता, आहार ग्रहण करता या अग्नि, विष से उपहत होता है तो उसी समय शेष अनन्त जीवों के भी श्वासोच्छ्वास, आहार, उपघात आदि होते हैं। इस प्रकार साधारण जीवों के आहारादि का ग्रहण, जीवन-मरण आदि कार्य सदृश—समान काल में होते हैं। लेकिन प्रत्येक जीवों के आहारादिक का एक-दूसरे के साथ बंधन नहीं है और उनका अपना-अपना काल—समय है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के तो प्रत्येक नामकर्म का उदय होने से उनका पृथक्-पृथक् शरीर होता है और एकेन्द्रिय जीवों में भी पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों के

प्रत्येक नामकर्म का उदय होने से अलग-अलग शरीर होते हैं। लेकिन वनस्पतिकायिक जीवों में प्रत्येक और साधारण नामकर्म दोनों का उदय पाया जाता है। अर्थात् वनस्पतिकायिक जीव साधारण और प्रत्येक शरीरधारी दोनों प्रकार के होते हैं। प्रत्येकशरीरधारी वनस्पति बादर होती है।

प्रत्येक और साधारण वनस्पतियों की पहिचान के कुछ उपाय ये हैं—

जिन वनस्पतियों की शिरा, संधि, पर्व अप्रकट हो, मूल, कन्द, त्वचा, नवीन कोपल, टहनी, पत्र, फूल तथा बीजों को तोड़ने से समान भंग हो जाते हों और कंद, मूल, टहनी या स्कन्ध की छाल मोटी हो, उसको साधारण और इससे विपरीत को प्रत्येक वनस्पति जानना चाहिये।

किसी वृक्ष की जड़ साधारण होती है, किसी का स्कन्ध साधारण होता है, किसी के पत्ते साधारण होते हैं, किसी के पर्व (गांठ) का दूध अथवा किसी के फल साधारण होते हैं। इनमें से किसी के तो मूल, पत्ते, स्कन्ध, फल, फूल आदि अलग-अलग साधारण होते हैं और किसी के मिले हुए पूर्ण रूप से साधारण होते हैं। मूली, अदरक, आलू, अरबी, रतालू, जमीकन्द साधारण हैं।

६. सम्यक्त्व, हास्य, रति, पुरुषवेद को शुभप्रकृति मानने का अभिमत

इन चारों प्रकृतियों को शुभ मानने के बारे में यह आशय माना जा सकता है कि ये चारों प्रकृतियां पुण्यबंध की हेतुभूत भी हैं। अतः कारण में कार्य का उपचार करके इन चारों को पुण्यप्रकृति के नाम से सम्बोधित किया गया है, यह भी संगत लगता है।

यद्यपि सम्यक्त्वमोहनीय मोहकर्म की प्रकृति है। लेकिन ये प्रकृति नम्बर वाले चश्मे की तरह है। सम्यक्त्व श्रद्धान में बाधक नहीं है, बल्कि साधक है। यद्यपि नम्बर वाला चश्मा भी आवारक है, किन्तु अन्य आवारक तत्त्वों की तरह आवारक नहीं है, बल्कि ये नेत्र की रोशनी को प्रोज्ज्वलित करने में निमित्तभूत भी बनता है। इसी प्रकार की स्थिति सम्यक्त्वमोहनीयकर्म की मानी जा सकती है। हाँ, क्षायिक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा भले ही आवारक माना जाये, परन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की दृष्टि में सहायक है और आत्मा को ऊर्ध्वमुखी करने में बहुत दूर तक इसका योगदान रहा हुआ है।

इसकी (क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की) उपलब्धि होने पर वीतराग देव प्ररूपित तत्त्वों की जानकारी से मनुष्य स्वाभाविक रूप से सात्विक हास्य को प्राप्त होता है। अंधकार में भटकते हुए मनुष्य को प्रकाश मिलने पर हर्ष की भी प्राप्ति होती है। यह हर्ष मोह का भेद होते हुए भी बाधक नहीं होता है और पुण्य का हेतु भी बनता है।

जब व्यक्ति को सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की श्रद्धा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वभाव से उपलब्ध होती है, उसी समय देव, गुरु, धर्म के प्रति आत्मा में अनुरक्ति पैदा होती है। यह अनुरक्ति भी प्रशस्त रति का रूप कहा जा सकता है। प्रशस्त राग से आत्मा को वीतराग देव के मार्ग पर अनुगमन करने का उत्साह उत्पन्न होता है। परिणाम-स्वरूप देशव्रतों, महाव्रतों को अंगीकार करता हुआ ऊपर के गुणस्थानों में आरोहण करता है। संज्वलनचतुष्क कषाय छठे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक रही हुई अवश्य है, परन्तु इस कषाय की उपस्थिति अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में आत्मा को बढ़ने में किसी प्रकार की बाधा पैदा नहीं करती है। बल्कि अष्टम गुणस्थान में उपशम, क्षपक श्रेणि की गति से नवम् एवं दशम् गुणस्थान तक आत्मा पहुँच जाती है। वैसे ही प्रशस्त राग यानि सुदेव, सुगुरु, सुधर्म के प्रति जो राग है वह आत्मा को पवित्रता की ओर मोड़ने वाला है। इसीलिए श्रावकों के कई विशेषणों का उल्लेख करते हुए भगवती सूत्र में एक विशेषण ये भी आया है–**अट्ठिमिज्जापेमाणु-रागरत्ता**–(उनकी हड्डियां और मज्जा धर्मप्रेमराग से अनुरक्त थीं)। यही प्रशस्त रति की स्थिति है।

रति के दो भेद किये जा सकते हैं— १. अधोमुखीरति, जिसमें पुत्र, स्त्री, परिजन, सम्पत्ति आदि के प्रति आसक्ति रूप रति रहती है। यह आत्मा को अधोगति में ले जाने वाली है और २. ऊर्ध्वमुखीरति, जो आध्यात्मिक धरातल पर गुरुजनों के साथ प्रशस्तराग रूप रति है, वह प्रशस्त कहलाती है और पुण्य बंध का कारण भी बनती है। जैसे कि वैमानिक देवायु के बंध के लिये बताया है:—

सरागसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६/२०

पुरुषवेद ये आपेक्षिक दृष्टि से मोह की हलकी अवस्था है। शास्त्रकारों ने वेद की दृष्टि से पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद को क्रमशः तृणाग्नि, करीषाग्नि, दवदाह—यह तीन प्रकार की उपमा देकर ध्वनित किया है कि तृणाग्नि के तुल्य रूप की प्रधानता से पुरुषवेद का प्रसंग आता है और ये पुरुषवेद मोह की स्वल्पता की अवस्था में माना गया है। तीव्र मोह की अपेक्षा मन्द मोह की स्थिति में शुभ परिणाम का भाव भी आ सकता है और शुभ परिणाम पुण्य के हेतु हैं—

शुभः पुण्यस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६/३

इसका बंध नौवें गुणस्थान तक चलता है। जबकि स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का आदि के दो गुण-स्थानों तक बंध होता है। इसके अतिरिक्त एक कारण ये भी रहा हुआ कि ठाणांग सूत्र के १०वें ठाणे में "पुरुषाजेष्ठ" यह पद आत्मा के साथ संयुक्त हुआ है। जिसका अर्थ यह है कि पुरुष ज्येष्ठ, बड़ा माना गया है। इससे यह फलित होता है कि मोह का जितना हलकापन होगा, उतना ही ऊर्ध्वगमन बनेगा। इसलिये वह भी पुण्य का हेतु सिद्ध होता है।

विशुद्ध अध्यवसाय और मोह की अल्पता के कारण अनिवृत्तिबादरगुणस्थान में पुरुषवेद में एकस्थानक तक रसबंध भी संभव है।

इस दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में इन चार प्रकृतियों को पूर्वाचार्यों ने पुण्यप्रकृति के रूप में गिनाया है, यह संभव लगता है। विद्वज्जन चिन्तन की गहन दृष्टि से चिन्तन करें, यह अपेक्षा है।

७. कर्मों के रसविपाक का स्पष्टीकरण

बंध को प्राप्त कर्मपुद्गलों में फल देने की शक्ति को रस कहते हैं। अतः रस (फलदान शक्ति) की दृष्टि से कर्मों के विपाक (उदय) का विचार करने अर्थात् कर्मप्रकृतियों की फलदान शक्ति की योग्यता, क्षमता बतलाने को रसविपाक कहते हैं। आशय यह है कि जीव के साथ बंधन से पूर्व कर्म परमाणुओं में किसी प्रकार का विशिष्ट रस नहीं रहता है, उस समय वे नीरस और एक रूप (कार्मणवर्गणा रूप) रहते हैं। किन्तु जब वे जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तब ग्रहण करने के समय में ही जीव के कषाय रूप परिणामों का निमित्त पाकर उनमें अनन्तगुण रस पड़ जाता है। जो जीव के गुणों का घात करता है। जैसे सूखी घास नीरस होती है, किन्तु ऊंटनी, भैंस, गाय और बकरी के पेट में जाकर वह दूध आदि रस में परिणत होती है तथा उनके रसों में चिकनाई की हीनाधिकता देखी जाती है। अर्थात् उस सूखी घास को खाकर ऊंटनी खूब गाढ़ा दूध देती है और उसमें चिकनाई बहुत अधिक रहती है। भैंस के दूध में उससे कम गाढ़ापन और चिकनाई रहती है। गाय के दूध में उससे भी कम गाढ़ापन और चिकनाई होती है। इस प्रकार जैसे एक ही प्रकार की घास आदि भिन्न-भिन्न पशुओं के पेट में जाकर भिन्न-भिन्न रस रूप परिणत होती है, उसी प्रकार एक ही प्रकार के कर्मपरमाणु भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न रस वाले हो जाते हैं और उदय काल में अपने फल का वेदन कराते हैं।

जैसे ऊंटनी के दूध में अधिक शक्ति होती है और बकरी के दूध में कम, उसी तरह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की प्रकृतियों का रस तीव्र भी होता है और मंद भी होता है। संक्लेश परिणामों से अशुभ प्रकृतियों में तीव्र रसबंध होता है और विशुद्ध भावों से शुभ प्रकृतियों में तीव्र रसबंध होता है तथा इसके विपरीत भावों से उनमें मंद रसबंध होता है। अर्थात् विशुद्ध भावों से अशुभ प्रकृतियों में और संक्लेश भावों से शुभ प्रकृतियों में मंद रसबंध होता है।

अशुभ प्रकृतियों के रस को नीम आदि वनस्पतियों के कटुक रस की उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे नीम का रस कटुक होता है, उसी तरह अशुभ प्रकृतियां अशुभ ही फल देती हैं तथा शुभ प्रकृतियों के रस को ईख के रस की उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे ईख का रस मीठा और स्वादिष्ट होता है, उसी प्रकार शुभ प्रकृतियों का रस सुखदायक होता है।

इन दोनों ही प्रकार की प्रकृतियों के तीव्र और मंद रस की चार-चार अवस्थायें होती हैं। जैसे नीम से तुरन्त निकला हुआ रस स्वभाव से कटुक होता है। उस रस को अग्नि पर पकाने से जब सेर का आधा सेर रह जाता है तो कटुकतर हो जाता है, सेर का तिहाई रहने पर कटुकतम और सेर का पाव भर रहने पर अत्यन्त कटुक हो जाता है। इसी प्रकार ईख के पेरने से जो रस निकलता है वह स्वभाव से मधुर होता है। उस रस को आग पर पकाने से जब सेर का आधा सेर रह जाता है तो मधुरतर हो जाता है, सेर का तिहाई रहने पर मधुरतम हो जाता है और सेर का पाव रहने पर अत्यन्त मधुर हो जाता है। उसी प्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियों का तीव्र रस भी चार प्रकार का जानना चाहिये—तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र। मंद रस की चार अवस्थायें इसी प्रकार हैं—जैसे उस कटुक या मधुर रस में एक चुल्लू पानी डाल देने से वह मंद हो जाता है, एक गिलास पानी डाल देने से मंदतर हो जाता है, एक लोटा पानी डाल देने से मंदतम हो जाता है और एक घड़ा पानी डालने से अत्यन्त मंद हो जाता है। इसी प्रकार शुभ और अशुभ प्रकृतियों का रस भी मंद, मंदतर, मंदतम और अत्यन्त मंद—इस तरह चार प्रकार का होता है। इन चारों प्रकारों को क्रमशः एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक कहा जाता है। जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है कि—

नीम और ईख को पेरने पर उनमें से जो स्वाभाविक रस निकलता है, वह स्वभाव से ही कड़वा और मीठा होता है। उस कड़वाहट और मीठेपन को एकस्थानक रस समझना चाहिये। नीम और ईख का एक-एक सेर रस लेकर पकाने पर जो आधा सेर रस रह जाता है, उसे द्विस्थानक रस समझना चाहिये। क्योंकि पहले के स्वाभाविक रस से उस पके हुए रस में दूनी कड़वाहट या दूनी मधुरता हो जाती है। वही रस पक कर जब एक सेर का तिहाई शेष रह जाता है तो उसे त्रिस्थानक रस समझना चाहिये। क्योंकि उसमें पहले स्वाभाविक रस से तिगुनी कड़वाहट और तिगुना मीठापन पाया जाता है तथा वही रस जब सेर का पाव सेर शेष रह जाता है तो उसे चतुःस्थानक रस समझना चाहिये। क्योंकि पहले के स्वाभाविक रस से उसमें चौगुनी कड़वाहट और चौगुना मीठापन पाया जाता है। ये एकस्थानक रस, द्विस्थानक रस आदि उत्तरोत्तर अनन्तगुणी शक्ति वाले होते हैं।

८. गुणस्थानों में बंधयोग्य प्रकृतियों का विवरण

मूल प्रकृति ८, उत्तर प्रकृति १२०

(१) ज्ञानावरण ५, (२) दर्शनावरण ९, (३) वेदनीय २, (४) मोहनीय २६, (५) आयु ४, (६) नाम ६७, (पिंड प्रकृतियां ३९, प्रत्येक प्रकृतियां ८, त्रसदशक १०, स्थावरदशक १०=६७) (७) गोत्र २, (८) अंतराय ५=१२०।

(१) मिथ्यात्व **मूल ८** **उत्तर ११७**

तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक (आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग नामकर्म) का बंध नहीं होता।

(२) सास्वादन **मूल ८** **उत्तर १०१**

नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), स्थावरचतुष्क (स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम) हुंड-संस्थान, सेवार्तसंहनन, आपतनाम, नपुसंकवेद, मिथ्यात्व मोहनीय=१६ प्रकृतियों का बंध-विच्छेद मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में हो जाने से शेष १०१ का बंध सम्भव है।

(३) मिश्र गुण० **मूल ८** **उत्तर ७४**

तिर्यंचत्रिक (तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु), स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि), दुर्भगत्रिक (दुर्भगनाम, दुःस्वरनाम, अनादेयनाम), अनन्तानुबंधीचतुष्क (अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ), मध्यम संस्थानचतुष्क (न्यग्रोधपरिमंडल, वामन, सादि, कुब्ज), मध्यम संहननचतुष्क (ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका), नीचगोत्र, उद्योतनाम, अशुभ विहायोगति, स्त्रीवेद=२५ का बंध दूसरे गुणस्थान तक होने व मिश्र गुणस्थान में किसी आयु का बंध सम्भव न होने से शेष दो आयु (मनुष्यायु, देवायु) को घटा देने से २७ प्रकृतियां कम होती हैं।

(४) अवि. सम्यग्दृष्टि **मूल ८** **उत्तर ७७**

मनुष्यायु, देवायु व तीर्थंकरनाम का बंध होने से मिश्र गुणस्थान की ७४ प्रकृतियों में यह तीन जोड़ें=७७।

नोट—नरक व देव जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हैं, वे तो मनुष्यायु का और तिर्यंच व मनुष्य, देवायु का बंध करते हैं।

(५) देशविरत **मूल ८** **उत्तर ६७**

वज्रऋषभनाराचसंहनन, मनुष्यत्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु), अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ), औदारिकद्विक (औदारिकशरीर, औदारिक-अंगोपांग), कुल १० प्रकृतियों का विच्छेद चतुर्थ गुणस्थान के अंत समय में होने से शेष ६७ का बंध सम्भव है।

(६) प्रमत्तविरत **मूल ८** **उत्तर ६३**

प्रत्याख्यानावरणचतुष्क (प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ) का बंधविच्छेद पांचवें गुणस्थान के अंत समय में हो जाने से ६७–४=६३ प्रकृतियों का बंध सम्भव है।

(७) अप्रमत्तविरत **मूल ८/७** **उत्तर ५९/५८**

छठे गुणस्थान के अंत में अरति, शोक, अस्थिरनाम, अशुभनाम, अयशःकीर्तिनाम, असातावेदनीय, इन छह प्रकृतियों का बंधविच्छेद हो जाने से शेष रही ५६। (जो जीव छठे गुणस्थान में देवायु का बंध प्रारम्भ कर उस बंध को वहीं समाप्त कर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है, उसके ५६ प्रकृतियों व जो छठे गुणस्थान में देवायु का बंध कर सातवें में समाप्त करता है, उसके ५६+१=५७ प्रकृतियों का बंध रहता है तथा सातवें गुणस्थान में आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग का बंध सम्भव होने से दो जोड़ने पर ५६+२=५८/५७+२=५९ प्रकृतियों का बंध सम्भव है।

(८) अपूर्वकरण **मूल ७** **उत्तर ५८, ५६, २६**

प्रथम भाग में ५८ कर्मप्रकृतियों का बंध सम्भव है।

नोट—

१. इस गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारम्भ व समाप्ति नहीं होती।

२. प्रथम भाग के अंत में निद्रा, प्रचला का विच्छेद हो जाता है अतः ५८—२=५६

३. दूसरे भाग से छठे भाग तक यही ५६ का बंध सम्भव है। छठे भाग के अंत में सुरद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), पंचेन्द्रियजाति, शुभविहायोगति, त्रसनवक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय), औदारिक शरीर को छोड़ शेष चार शरीर, औदारिक अंगोपांग को छोड़ शेष दो अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, निर्माण, तीर्थंकर, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास), इन ३० प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है। सातवें भाग में ये नहीं रहतीं=२६

४. आठवें गुणस्थान के सातवें भाग के अंत में हास्य, रति, जुगुप्सा, भय इन ४ प्रकृतियों का विच्छेद हो जाने से २६–४=२२ प्रकृतियों का बंध नौवें गुणस्थान में संभव है।

(९) अनिवृत्तिबादर० **मूल ७** **उत्तर २२, २१, २०, १९, १८**

इस गुणस्थान के प्रारम्भ में २२ प्रकृतियों का बंध,

१. पहले भाग के अंत में पुरुषवेद का विच्छेद=२१,

२. दूसरे भाग के अंत में संज्वलनक्रोध का विच्छेद=२०,

३. तीसरे भाग के अंत में संज्वलनमान का विच्छेद=१९,

४. चौथे भाग के अंत में संज्वलनमाया का विच्छेद=१८,

५. पांचवें भाग के अंत समय में लोभ का बंध नहीं होता। अतः दसवें गुणस्थान के प्रथम समय में शेष १७ प्रकृतियां रहेंगीं।

(१०) सूक्ष्मसंपराय **मूल ६** **उत्तर १७**

दसवें गुणस्थान के अंत समय में—

दर्शनावरणीय	४
उच्चगोत्र	१
ज्ञानावरणीय	५
अंतराय	५

यशःकीर्तिनाम १=१६ प्रकृतियों का बंधविच्छेद हो जाता है, शेष १ प्रकृति रहती है।

(११) उपशांतमोहनीय **मूल १** **उत्तर १**

सातावेदनीय का बंध होता है।

(स्थिति इसकी दो समय मात्र की होती है। योग निमित्त है।)

(१२) क्षीणमोहनीय	मूल १ सातावेदनीय (योग निमित्त होने से स्थिति दो समय मात्र की।)	उत्तर १
(१३) सयोगिकेवली	मूल १ बारहवें गुणस्थान की तरह।	उत्तर १
(१४) अयोगिकेवली	मूल ० अबन्धक दशा	उत्तर ०

सम्यक्त्वी के आयुबंध का स्पष्टीकरण

जिस जीव ने आयुष्य बंध करने के पश्चात् अनन्तानुबंधीचतुष्क एवं मिथ्यात्वमोहनीय प्रकृतियों का क्षय कर दिया, वह आत्मा क्षायिक सम्यक्त्वी कहलाती है। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् पुनः जाता नहीं है, यह सिद्धान्त है। यदि नरक में जाने का समय आता है, उस समय यदि कुछ समय के लिये सम्यक्त्व का नष्ट होना माना जाये तो नष्ट नहीं होने की जो सर्वमान्य परिभाषा है, वह सिद्धान्त की दृष्टि से विरुद्ध जाती है। अतः पूर्वबद्धायुष्क क्षायिक सम्यक्त्वी हो जाने के बाद मरण काल के समय सम्यक्त्व का वमन नहीं करता हुआ भी नरकगति में जा सकता है ऐसा माना जायेगा, तभी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण सुरक्षित रहेगा और यह शक्य भी है। आयुष्य बंध के समय में जिस लेश्या का रहना आवश्यक है, वही लेश्या अंतिम मरण समय में आ सकती है, पर वह लेश्या सम्यक्त्व को नष्ट कैसे कर सकती है? यदि कदाचित् यह सोचा जाये कि अनन्तानुबंधी की विसंयोजना होती है और उस अवस्था में क्षायिक सम्यक्त्वी मानकर मरण के समय अनन्तानुबंधी का पुनः आ जाना माना जाये तो इसमें कई विसंगतियां आयेगीं। प्रथम तो यह है कि मिथ्यात्व अवस्था में रहता हुआ जीव अनन्तानुबंधी से संयुक्त रहता है, उस अवस्था में अनन्तानुबंधी की विसंयोजना किस करण से करे और किस प्रकृति में विसंयोजना करे? क्योंकि प्रथम गुणस्थान में अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण आदि करने पर भी वह कर्मसिद्धान्तानुसार उपशम सम्यक्त्वी ही होता है और उपशम सम्यक्त्व का काल समाप्त होने पर मिथ्यात्व के उदय की तैयारी में अनन्तानुबंधी का उदय होता है। इसलिये उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है, पर क्षायिक सम्यक्त्व में ऐसा नहीं माना जायेगा।

असत्कल्पना से कदाचित् मान लिया जाये कि क्षायिक सम्यक्त्व के पूर्व में आयुष्य बांधकर अपूर्वकरणादि करके अत्यन्त विशुद्ध परिणाम के साथ क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति करे और उसमें अनन्तानुबंधी की विसंयोजना मानी जाये और मरण के समय वह अनन्तानुबंधी पुनः आ गई और सम्यक्त्व क्षणमात्र को चला गया तो फिर नरक में जाने के बाद वैसे क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति की विशुद्धि का क्या योग बन सकता है? यदि बन सकता है तो फिर यह भी मानना होगा कि नरक में भी क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में अंतर क्या होगा? दोनों की फलित अवस्था एक-सी हो जायेगी। अतः इस प्रकार की विसंगतियों को ध्यान में रखते हुए बुद्धिमान पाठकों को चिन्तन करना अपेक्षित है।

कुछ ऐसा उल्लेख भी देखने में आता है कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि मनुष्य, तिर्यंच, वैमानिक देवों का आयुष्य बांधते हैं, अन्य देवों और मनुष्य, तिर्यंचों का नहीं बांधते हैं। लेकिन देव और नारक, मनुष्य व तिर्यंच का आयुष्य बांध सकते हैं। इस प्रकार की विचारणा चिंतन की अपेक्षा रखती है। क्योंकि यह मान्यता सिद्धान्त, कर्मप्रकृति, तत्त्वार्थसूत्र से विपरीत जाती है। अतः पाठकों को निम्न विषय पर गंभीरता से चिन्तन करना चाहिये।

सबसे पहले सैद्धान्तिक दृष्टि से विरोध कैसे आता है, इसको स्पष्ट करते हैं—

भगवतीसूत्र शतक ३०, उद्देश १ में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि क्रियावादी जीव नैरयिक, तिर्यंच आयु का बंध नहीं करते हैं, वे मनुष्य और देवायु का बंध करते हैं। इसका कुछ व्यक्तियों ने अर्थ लगाया है कि नरक व देवगति में रहने वाला जीव मनुष्य और तिर्यंच की आयु बांधते हैं, किन्तु मनुष्य व तिर्यंच मनुष्य व तिर्यंचायु को नहीं बांधते हैं। इस प्रकार का अर्थ अनर्थ करने वाला बनता है। जब देव और नरक में रहने वाले जीवों के मनुष्य व तिर्यंच आयु बांधने योग्य परिणाम आते हैं, तो क्या वैसे परिणाम मनुष्य व तिर्यंच में रहने वाले जीवों के नहीं आ सकते हैं? यह कैसी अनोखी बात है?

मनुष्य और तिर्यंच में रहने वाले और रोचक सम्यग्दृष्टि से युक्त जीव के मनुष्य व तिर्यंच की आयु बांधने-योग्य परिणाम अवश्य आ सकते हैं। अतः मनुष्य व तिर्यंच की अवस्था में रहने वाला सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य, तिर्यंच के योग्य आयुष्य बंध की लेश्याओं के अनुसार मनुष्य, तिर्यंच का आयुष्य भी बांध सकता है।

भगवतीसूत्र शतक ३० में जो सम्यग्दृष्टि क्रियावादी का उल्लेख है, वह विशिष्ट क्रियावादी अर्थात् पांचवें, छठे आदि गुणस्थानवर्ती जीव के लिये है। क्योंकि पांचवें, छठे आदि गुणस्थानों की आराधना की स्थिति में वैमानिक देवों में ही जाने का प्रसंग है। जैसा कि भगवती सूत्र शतक १, उद्देश २ में बताया है कि आराधक साधु कम-से-कम पहले देवलोक तक और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध तक जाता है और आराधक श्रावक जघन्य पहले देवलोक तक और उत्कृष्ट बारहवें देवलोक तक। यह उल्लेख विशिष्ट क्रियावादी श्रावक और साधु के लिये माना गया है और इसी बात का संकेत ३० वें शतक में भी हुआ है। उस ३० वें शतक को लेकर विशिष्ट क्रियावादी अर्थ के बदले में सामान्य क्रियावादी (चौथा गुणस्थान) को भी ले लिया जाये तो ३०वें शतक का एवं पहले शतक का परस्पर विरोध आ जायेगा। क्योंकि उपर्युक्त पहले शतक में विराधक साधु को जघन्य भवनपति, उत्कृष्ट पहले देवलोक तक जाने का कहा है एवं विराधक श्रावक को जघन्य भवनपति, उत्कृष्ट ज्योतिषी देवलोक तक जाने का उल्लेख है। यहां जो साधु और श्रावक की विराधना मानी गई है, वह व्रतों की विराधना है, न कि सम्यक्त्व की। साधु व श्रावक के व्रत का विराधक होते हुए भी सम्यग्दृष्टि की अवस्था तो रहती ही है और सम्यग्दृष्टि सामान्य क्रियावादी है ही। तो इस विराधक साधु, श्रावक की गति भवनपति, ज्योतिष आदि की मानी है। ऐसी स्थिति में क्रियावादी वैमानिक में ही जाता है, इसका विरोध आता है और यदि विशिष्ट क्रियावादी वैमानिक में और सामान्य क्रियावादी भवनपति आदि में भी जाता है तो भगवतीसूत्र शतक ३० व शतक १ में विरोध नहीं आता है।

यदि कोई ये तर्क लगाये कि साधु और श्रावक के व्रतों के साथ सम्यक्त्व का भी वह विराधक होगा तो यह तर्क शास्त्रसंगत नहीं है। क्योंकि भगवती शतक १ में जो आराधना-विराधना बतलाई है वह व्रतों की बतलाई है, न कि सम्यक्त्व की। यदि कदाचित् सम्यक्त्वभाव की भी विराधना मान ली जाये तो वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है और मिथ्यात्व अवस्था में तो सभी गतियों का आयुष्य बांध सकता है। वैसी स्थिति में साधु व श्रावक के (विराधक के) जघन्य स्थिति भवनपति आदि बताई है, वह संगत नहीं बैठती है, क्योंकि मिथ्यात्वी के तो भवनपति आदि ही नहीं, मनुष्य, तिर्यंच, नरक आदि का भी बंध संभव है। ऐसी स्थिति में विराधक भवनपति आदि का आयुष्य बांधता है, यह बात संगत नहीं बैठती है। अतएव यह स्पष्ट है कि साधु व श्रावक व्रतों के विराधक हो सकते हैं, न कि सम्यग्दृष्टिभाव के। अतः सम्यग्दृष्टिभाव के रहते हुए भी जघन्यतः भवनपति आदि की आयुष्य का बंध करते हैं।

यह तो भगवती सूत्र सम्बन्धी परस्पर विरोध के परिहार की चर्चा हुई।

अब व्रतविराधक से अतिरिक्त के सम्यग्दृष्टि मनुष्य, तिर्यंच का चिन्तन किया जाये तो वह सम्यग्दृष्टि आगम आदि की दृष्टि से भी वैमानिक देव के अतिरिक्त मनुष्यादि चारों गति की आयु बांध सकता है। उसमें

मनुष्यायु के सम्बन्ध में विपाकसूत्र का सुबाहुकुमार विषयक और ज्ञाताधर्मकथांग का मेघकुमार सम्बन्धी पाठ देखा जा सकता है। विपाकसूत्र का पाठ इस प्रकार है—

'....तत्तेणं तस्स सुमुहस्स तेणं दव्व-सुद्धेणं तिविहेणं तिकरण-सुद्धेणं २ सुदत्ते अणगारे [पडिलाभएसमाणे परीत्त संसारकए मणुस्साउए निबद्धे]' **-सुखविपाक, अध्ययन १**

उक्त पाठ की पूर्वभूमिका यह है कि सुमुख गाथापति सुदत्त अनगार को अपने घर में प्रविष्ट होते देखकर अपने आसन से उठा और एकशाटिक वस्त्र का उत्तरासंग करके मुनि के सन्मुख गया एवं तीन बार प्रदक्षिणा की। इससे स्पष्ट होता है कि सुमुख गाथापति सम्यग्दृष्टि था, मिथ्यादृष्टि नहीं। मिथ्यादृष्टि साधु को भावपूर्वक वंदन नहीं करता। मुनि को सम्मानपूर्वक दान देने में मिथ्यादृष्टि को हार्दिक अंतःकरण की प्रसन्नता कदापि संभव नहीं है।

सुमुख गाथापति द्वारा दिया गया दान दातृ, द्रव्य और पात्र शुद्धि—इन तीनों विशुद्धियों से युक्त था। ये विशुद्धियां सम्यग्दृष्टि के दान में होती हैं, मिथ्यादृष्टि के दान में नहीं। अतः सुमुख गाथापति मुनि को दान देते समय सम्यग्दृष्टि था।

उक्त पाठ में कोष्टकगत पद ध्यान देने योग्य है कि सुमुख गाथापति ने त्रिविध विशुद्धियुक्त त्रिकरण की शुद्धि के साथ सुदत्त अनगार को प्रतिलाभित करते हुए संसार परित्त किया और मनुष्यायु को बांधा। जिससे स्पष्ट होता है कि मुनि को प्रतिलाभित करने की क्रिया चालू रहते सुदत्त ने संसार परिमित किया और मनुष्यायु बांधी। अर्थात् प्रतिलाभित करने का काल, संसार परित्त करने का काल और मनुष्यायु बांधने का काल एक ही है। जैसे—'दीपक प्रकाशित हुआ और अंधकार दूर हुआ' इस वाक्य का अर्थ यह होता है कि दीप के प्रकाशित होने के साथ ही अंधकार दूर हुआ। इसमें काल का व्यवधान नहीं है। इसीप्रकार सूत्रकार ने यहां संसार परित्त होने और मनुष्यायु को बांधने की बात एक साथ कही है। इससे स्पष्ट है कि इन दोनों क्रियाओं में काल का व्यवधान नहीं है।

सारांश यह है कि सुमुख गाथापति ने शुद्ध सुपात्रदान द्वारा संसार को परित्त किया और मनुष्यायु का बंध किया। जो इस बात का प्रबल प्रमाण है कि सम्यक्त्वी जीव वैमानिक के अतिरिक्त अन्य आयु का भी बंध कर सकता है।

इसी प्रकार ज्ञातासूत्र के पाठ से भी यही सिद्ध होता है कि मेघकुमार के पूर्वभववर्ती जीव ने हाथी के भव में शशक और अन्य प्राणियों की रक्षा की, जिसके फलस्वरूप उसने संसार परित्त किया और मनुष्यायु का बंध किया। संबन्धित पाठ इस प्रकार है—

'तं जइ ताव तुमं मेहा तिरिक्खजोणिय भावमुवगए णं अपडिलद्ध-समत्तरयण लंभेणं से पाए पाणाणुकम्पयाए जाव अन्तरा चेव सन्धारिए णो चेव णं णिक्खित्ते।' **-ज्ञातासूत्र, १/२८**

उक्त पाठों से स्पष्ट है कि संसार परित्त होने के साथ ही मनुष्यायु का बंध किया। इसमें कहीं काल के व्यवधान का प्रसंग नहीं है। कदाचित् कोई यह कहे कि सुमुख गाथापति या मेघकुमार के पूर्वभववर्ती जीव के आयुष्य का बंध सम्यक्त्व के छूटने के बाद हुआ था तो यह असत्कल्पना है। जिसका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है। दशाश्रुतस्कन्ध में क्रियावादी मनुष्य के लिये नरकायु के बंध का कथन है। वह पाठ इस प्रकार है—

से किं तं किरियावाईया वि भवइ ?

'तं जहा—आहियवाई, आहियपन्ने आहियदिट्ठी सम्मावादी निइवादी संति परलोकवादी अत्थि इहलोके अत्थि परलोके अत्थि माया अत्थि पिया अत्थि अरिहंता अत्थि चक्कवट्टी अत्थि बलदेवा अत्थि वासुदेवा अत्थि सुक्कड-

दुक्कडाणं कम्माणं फलविवित्तिविसेसे सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवन्ति। सफले कल्लाणे पावए पच्चायंति जीवा अत्थि-नेरइया जाव अत्थि-देवा अत्थि-सिद्धि से एवंवादी, एवंपन्ने, एवं-दिट्ठी छन्दरागमतिनिविट्ठे आविभवइ से भवइ महेच्छे जाव उत्तरपथगामिए नेरइए सुक्कपक्खिए आगमेसाणं सुलभबोहिया वि भवइ, से त्तं किरियावाई सव्वधम्मरुचिया वि भवइ। —दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ६

वह क्रियावादी सम्यग्दृष्टि परन्तु उस सम्यक्त्व की अवस्था में यदि महारंभी, महापरिग्रही है तो उत्तरपथ-गामी नरक का आयुष्य बांधता है। अगर सम्यक्त्व अवस्था में आयुष्य बांधने का प्रसंग नहीं होता एवं मिथ्यात्व में बांधने की स्थिति होती तो उत्तरपथगामी नरक का विशेषण नहीं लगता। क्योंकि मिथ्यात्व अवस्था में तो दक्षिणपथ आदि सभी स्थलों का बंध कर सकता है। इसी तरह जैनसिद्धान्त के सर्वमान्य ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ।६।८

इसमें भी सम्यग्दृष्टि जीव के चारों गति का आयुष्य बांधने का उल्लेख है।

कर्मग्रंथों में क्षायिक सम्यग्दृष्टि अचरम शरीरी जीव के लिये संभवित सत्ता की अपेक्षा १४१ प्रकृतियों की सत्ता मानी है। उसमें चारों आयुष्य शामिल हैं। किन्तु वर्तमान में भुज्यमान, बध्यमान की अपेक्षा एक या दो आयुष्य की सत्ता रह सकती है। यदि सम्यग्दृष्टि जीव देव या मनुष्यायु को न बांधता हो तो फिर संभवित सत्ता की दृष्टि से गिनती कैसे संभवित है?

यहां कृतकरण की अवस्था जो कि सम्यग्दृष्टि के अन्तर्मुहूर्त की मानी गई है, उस अवस्था में चारों गति में जाने का प्रसंग है। यदि कृतकरण की अवस्था बद्धायुष्क होती तो उस आयुष्य का ही नाम निर्देश होता, चारों का नहीं और उस मरण को भी यहां न कहकर उसी अवस्था में मरण कहा जाता, जिस अवस्था में बंध होता, परन्तु ऐसा उल्लेख यहां नहीं है। यहां का उल्लेख सिद्धान्त के उल्लेख की पुष्टि करता है।

अतः उपर्युक्त विषय शास्त्रीय संदर्भ के साथ विद्वज्जनों को ध्यान में लेने योग्य है।

९. शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होने पर भी एकस्थानक रसबंध न होने का कारण

कर्मसिद्धान्त की मान्यता है कि कर्मों के स्थिति और अनुभाग बंध के निमित्त कषाय हैं और उत्कृष्ट स्थिति का बंध संक्लेश के उत्कर्ष होने पर ही होता है। अतएव जिन अध्यवसायों से शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, उन्हीं अध्यवसायों से एकस्थानक रसबंध क्यों नहीं होता है? तो इसका समाधान यह है कि—

उत्कृष्ट स्थिति का बंध संक्लेश के उत्कर्ष होने पर ही होता है, यह जो कर्मसिद्धान्त की मान्यता है वह शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट बंध में परिणामों की उतनी ही संक्लिष्टता है, जितनी अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट बंध में होती है, लागू नहीं होती है। इसके लिये मिथ्यात्वियों को ही उदाहरण के तौर पर समझिये कि उनके परिणामों में ही असंख्य प्रकार की तरतमता रहती है। जैसे कि एक मिथ्यात्वी के भाव कृष्णलेश्या वाले हैं और दूसरा मिथ्यात्वी शुक्ललेश्या वाला है। यद्यपि सामान्य से दोनों मिथ्यात्वी हैं और मिथ्यात्व सम्बन्धी अशुद्धता दोनों में है, लेकिन उन दोनों मिथ्यात्वियों के परिणामों में असंख्य प्रकार की तरतमता है। इसी प्रकार संक्लिष्टता शुभ और अशुभ दोनों में होते हुए भी दोनों की संक्लिष्टता में असंख्य प्रकार का अंतर आ जाता है।

अब रहा प्रश्न कि जिन अध्यवसायों से शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, उन्हीं अध्यवसायों से एकस्थानक रसबंध क्यों नहीं होता? तो उसका कारण यह है कि जिस समय में स्थिति का बंध प्रारम्भ होता है, उस समय से लेकर उस स्थितिबंध की वृद्धि प्रारम्भ होती है। अर्थात् पहले समय में जो स्थितिबंध

का प्रसंग है, वह असंख्य है। दूसरे समय में भी असंख्य है, परन्तु पहले समय के असंख्य की अपेक्षा दूसरे समय के असंख्य असंख्यात गुणे अधिक हैं। इसी प्रकार पूर्ववत् दोनों समय के अध्यवसायों से तीसरे समय के अध्यवसाय असंख्यगुणे अधिक हैं। इसी तरह एक-एक समय की वृद्धि करते हुए असंख्य समय पर्यन्त पहुंचने तक अध्यवसायों की तरतमता से असंख्य के असंख्य प्रकार के स्थितिबंध हो जाते हैं और एक-एक स्थितिबंध में असंख्य रसस्पर्धक-संघात भी असंख्य गुणे होते हैं। इसी पद्धति से उत्कृष्ट स्थिति के बंध का जो असंख्यातवां समय है, उस असंख्यातवें समय में रसस्पर्धकसंघातविशेष कितने हो सकते हैं, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है, अर्थात् वे स्थितिबंध के असंख्य से भी असंख्यगुणे होंगे। तब ऐसी उत्कृष्ट स्थिति में बध्यमान प्रति स्थितिविशेष में असंख्य गुणे जो रसस्पर्धकसंघातविशेष हैं, उनमें एकस्थानक रसबंध नहीं होता है। इसी तरह शुभ प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध में भी बहुलता से एकस्थानक रसबंध नहीं होता है। किन्तु नौवें आदि गुणस्थानों में कुछ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध भी होता है।

१०. गुणस्थानों में उदययोग्य प्रकृतियों का विवरण

मूल प्रकृति ८, उत्तर प्रकृति १२२

ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५=१२२ (मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय–इन दो प्रकृतियों का बध नहीं होता किन्तु उदय होता है, अतः मोहनीय की २८ प्रकृतियां गिनी गई हैं।)

१. मिथ्यात्व — **मूल ८** — **उत्तर ११७**

मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म का उदय नहीं होने से ५ प्रकृतियां न्यून।

२. सासादन — **मूल ८** — **उत्तर १११**

सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनामकर्म, साधारणनाम), आतपनाम, मिथ्यात्वमोहनीय, नरकानुपूर्वी=६ प्रकृतियों का उदय नहीं होता है।

३. मिश्र — **मूल ८** — **उत्तर १००**

अनन्तानुबंधीचतुष्क, स्थावरनाम, एकेन्द्रियजाति, विकलेन्द्रियत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी=१२ प्रकृतियों का तो उदय नहीं होता किन्तु मिश्रमोहनीय का उदय होता है, अतः (१११–१२+१) =१०० का उदय सम्भव है।

४. अविरत सम्यग्दृष्टि — **मूल ८** — **उत्तर १०४**

सम्यक्त्वमोहनीय व आनुपूर्वीचतुष्क (देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, नरकानुपूर्वी) का उदय सम्भव है।

मिश्रमोहनीय का उदय नहीं होता, अतः १००+५–१=१०४।

५. देशविरत — **मूल ८** — **उत्तर ८७**

अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, वैक्रियाष्टक (देवगति, देवायु, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अंगोपांग), दुर्भगत्रिक (दुर्भगनाम, अनादेयनाम, अयशःकीर्तिनाम) =१७ का उदय सम्भव नहीं होता।

१०४–१७=८७ का उदय सम्भव है।

६. प्रमत्तविरत — **मूल ८** — **उत्तर ८१**

तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, नीचगोत्र, उद्योतनाम, प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क—८ का उदय तो सम्भव नहीं किन्तु आहारकद्विक का सम्भव होने से ८७—८+२=८१ प्रकृतियां उदययोग्य हैं।

७. अप्रमत्तविरत — **मूल ८** — **उत्तर ७६**

स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि) व आहारकद्विक का अप्रमत्त अवस्था में उदय सम्भव नहीं, अत ८१—५=७६ का उदय सम्भव है। (यद्यपि आहारकशरीर बनाते समय लब्धि का उपयोग करने से छठा गुणस्थान प्रमादवर्ती (उत्सुकता से) होता है, परन्तु फिर उस तच्छशरीरी जीव के अध्यवसाय की विशुद्धि से सातवें गुणस्थान में तच्छशरीर के होने पर भी प्रमादी नहीं कहा जाता।)

८. अपूर्वकरण — **मूल ८** — **उत्तर ७२**

सम्यक्त्वमोहनीय, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्तसंहनन, इन चार प्रकृतियों का उदय-विच्छेद सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होने से इस गुणस्थान में इन चार का उदय सम्भव नहीं, अतः ७६—४=७२ प्रकृतियों का उदय सम्भव है।

९. अनिवृत्तिबादर — **मूल ८** — **उत्तर ६६**

हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा—६ प्रकृतियों का उदय सम्भव नहीं है। क्योंकि इनका उदयविच्छेद आठवें गुणस्थान के अंतसमय में हो जाता है।

१०. सूक्ष्मसंपराय — **मूल ८** — **उत्तर ६०**

स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया—६ प्रकृतियों का उदय सम्भव नहीं। (इनका उदय तो नौवें गुणस्थान के अंतिम समय तक ही होता है।)

नोट—यदि श्रेणि का प्रारंभक पुरुष है तो पहले पुरुषवेद के, फिर स्त्रीवेद के, फिर नपुंसकवेद के उदय को रोकेगा, तदनन्तर संज्वलनत्रिक के। यदि स्त्री है तो पहले स्त्रीवेद के, फिर पुरुषवेद, फिर नपुंसकवेद के उदय को रोकेगा। यदि नपुंसक है तो पहले नपुंसकवेद के, फिर स्त्रीवेद के, फिर पुरुषवेद के उदय को रोकेगा।

११. उपशांतमोह — **मूल ७** — **उत्तर ५९**

संज्वलन लोभ का उदय नहीं रहता है। (इसका उदय तो दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में विच्छेद हो जाता है। जिनको ऋषभनाराच व नाराच संहनन होता है, वे ही उपशमश्रेणि करते हैं।)

१२. क्षीणमोह — **मूल ७** — **उत्तर ५७/५५**

ऋषभनाराच व नाराच संहनन का उदय सम्भव नहीं। इनका उदय ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षपकश्रेणि वज्रऋषभनाराचसंहनन के बिना नहीं होती, अतः ५९—२=५७।

बारहवें गुणस्थान के अंत समय में निद्रा, प्रचला का भी उदय नहीं रहता, अतः ५७—२=५५।

१३. सयोगिकेवली मूल ४ उत्तर ४२

ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ४, अंतराय ५=१४ का उदय बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक ही रहता है, अतः ५५-१४=४१ तथा तीर्थंकर नामकर्म का उदय सम्भव है। अतः ४१+१=४२ प्रकृतियों का उदय संभव है।

१४. अयोगिकेवली मूल ४ उत्तर १२

औदारिकद्विक (औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग) अस्थिरद्विक (अस्थिरनाम, अशुभनाम), खगतिद्विक (शुभविहायोगति, अशुभविहायोगति), प्रत्येकत्रिक (प्रत्येकनाम, शुभनाम, स्थिरनाम), संस्थानषट्क (समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज, हुंड), अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास नाम), वर्णचतुष्क (वर्ण, गंध, रस, स्पर्श), निर्माणनाम, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वज्रऋषभनाराचसंहनन, दुःस्वर, सुस्वर, साता या असातावेदनीय में से कोई एक, यह ३० प्रकृतियां १३ वें गुणस्थान के अंतिम समय तक ही उदय को पा सकती हैं। अतः इनको घटाने पर शेष ४२-३०=१२ प्रकृतियां १४ वें गुणस्थान में रहती हैं। शेष जो १२ प्रकृतियां हैं, उनका उदय १४ वें गुणस्थान के अंतिम समय तक रहता है, वे यह हैं—

सुभगनाम, आदेयनाम, यशःकीर्तिनाम, साता-असाता में से कोई एक वेदनीय कर्म, त्रसत्रिक (त्रसनामकर्म, बादरनामकर्म, पर्याप्तनामकर्म), पंचेन्द्रियजाति, मनुष्यायु, मनुष्यगति, तीर्थंकरनाम, उच्चगोत्र=१२।

कोई मनुष्यानुपूर्वी को ग्रहण करके १३ प्रकृतियां मानते हैं।

११. ध्रुवबंधी आदि इकतीस द्वार यंत्र

अनुक्रम	द्वार नाम	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय	कुल
१.	ध्रुवबंधी	५	९	०	१९	०	९	०	५	४७
२.	अध्रुवबंधी	०	०	२	७	४	५८	२	०	७३
३.	ध्रुवोदयी	५	४	०	१	०	१२	०	५	२७
४.	अध्रुवोदयी	०	५	२	२७	४	५५	२	०	९५
५.	ध्रुवसत्ता	५	९	२	२६	०	८२	१	५	१३०
६.	अध्रुवसत्ता	०	०	०	२	४	२१	१	०	२८
७.	घातिनी	५	९	०	२६/२८	०	०	०	५	४५/४७
८.	अघातिनी	०	०	२	०	४	६७	२	०	७५
९.	परावर्तमान	०	५	२	२३	४	५५	२	०	९१
१०.	अपरावर्तमान	५	४	०	३	०	१२	०	५	२९
११.	शुभ	०	०	१	०	३	३७	१	०	४२
१२.	अशुभ	५	९	१	२६	१	३४	१	५	८२

अनुक्रम	द्वार नाम	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय	कुल
१३.	पुद्गलविपाकी	०	०	०	०	०	३६	०	०	३६
१४.	भवविपाकी	०	०	०	०	४	०	०	०	४
१५.	क्षेत्रविपाकी	०	०	०	०	०	४	०	०	४
१६.	जीवविपाकी	५	९	२	२८	०	२७	२	५	७८
१७.	स्वानुदयबंधि	०	०	०	०	२	९	०	०	११
१८.	स्वोदयबंधि	५	४	०	१	०	१२	०	५	२७
१९.	उभयबंधि	०	५	२	२५	२	४६	२	०	८२
२०.	समकव्यव. बंधोदय	०	०	०	२१	०	५	०	०	२६
२१.	क्रमव्यव. बंधोदय	५	९	२	५	३	५५	२	५	८६
२२.	उत्क्रमव्यव. बंधोदय	०	०	०	०	१	७	०	०	८
२३.	सान्तरबंध	०	०	१	६	०	३४	०	०	४१
२४.	सान्तर-निरंतरबंध	०	०	१	१	०	२३	२	०	२७
२५.	निरन्तरबंध	५	९	०	१९	४	१०	०	५	५२
२६.	उदयसंक्रमोत्कृष्ट	०	०	१	१०	०	१८	१	०	३०
२७.	अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट	०	०	०	१	०	१२	०	०	१३
२८.	उदयबंधोत्कृष्ट	५	४	१	१७	०	२७	१	५	६०
२९.	अनुदयबंधोत्कृष्ट	०	५	०	०	०	१०	०	०	१५
३०.	उदयवती	५	४	२	४	४	९	१	५	३४
३१.	अनुदयवती	०	५	०	२४	०	८४	१	०	११४

१२. जीव की वीर्यशक्ति का स्पष्टीकरण

ज्ञान, दर्शन आदि की तरह वीर्यशक्ति भी जीव का गुण, स्वभाव है, जो सभी जीवों में पाई जाती है। जीव दो प्रकार के हैं—अलेश्य और सलेश्य। इनमें से अलेश्य (लेश्यारहित) जीवों की वीर्यशक्ति समस्त कर्मावरण के क्षय हो जाने से क्षायिक है। अतः निःशेषरूप से कर्मक्षय हो जाने के कारण वह कर्मबंध का कारण नहीं है। जिससे न तो अलेश्य जीवों का कोई भेद है और न उनकी वीर्यशक्ति में तरतमता का अंतर है। किन्तु सलेश्य जीवों की वीर्यशक्ति कर्मबंध का कारण होने से यहां उन्हीं की वीर्यशक्ति का विचार करते हैं।

सलेश्य जीवों में कार्यभेद अथवा स्वामिभेद से वीर्य के भेद होते हैं। उनमें कार्यभेद की अपेक्षा भेद वाला वीर्य एक जीव को एक समय में अनेक प्रकार का होता है तथा स्वामिभेद की अपेक्षा भेद वाला एक जीव को एक समय में एक प्रकार का और अनेक जीवों की अपेक्षा अनेक प्रकार का है।

सलेश्य जीवों के दो भेद हैं—छद्मस्थ और केवली। अतः वीर्य-उत्पत्ति के दो रूप हैं—वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षयरूप और सर्वक्षयरूप। देशक्षय से प्रकट वीर्य को क्षायोपशमिक और सर्वक्षय से प्रकट वीर्य को क्षायिक कहते हैं। देशक्षय से छद्मस्थों में और सर्वक्षय से केवलियों में वीर्य प्रकट होता है। जिससे सलेश्य वीर्य के दो

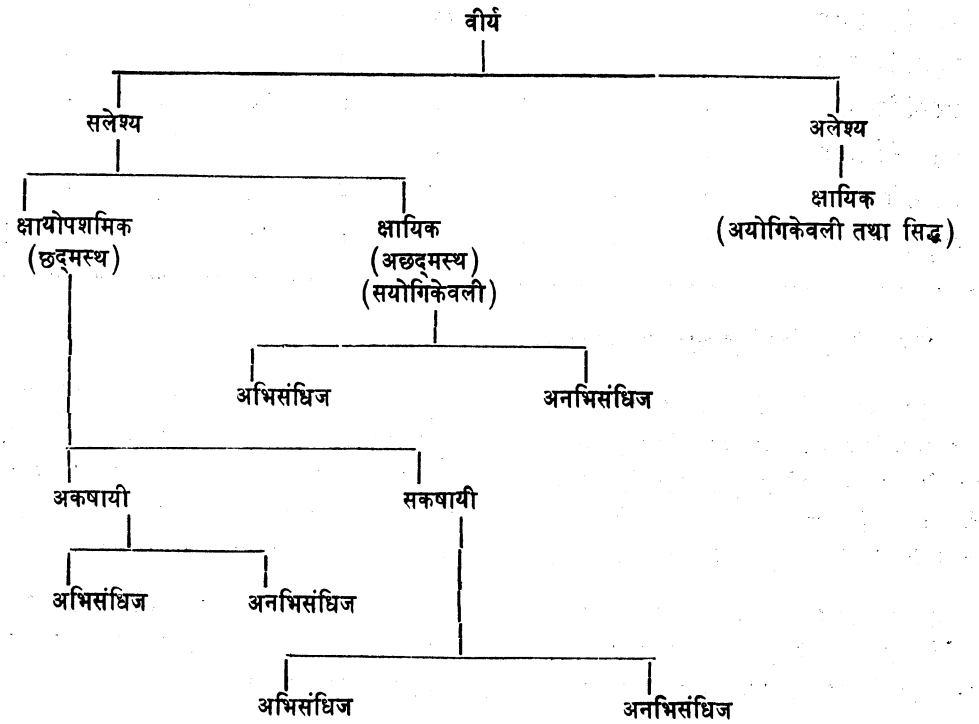
भेद हैं—छाद्मस्थिक सलेश्य वीर्य और कैवलिक सलेश्य वीर्य। केवली जीवों के अकषायी होने से उनका अवान्तर कोई भेद नहीं है। सिर्फ कषायरहित मन-वचन-काय परिस्पन्दन रूप वीर्यशक्ति है। किन्तु छाद्मस्थिक जीव दो प्रकार के है—अकषायी सलेश्य और सकषायी सलेश्य।

कषायों का दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में विच्छेद हो जाने से छाद्मस्थिक अकषायी सलेश्य वीर्य ग्यारहवें और बारहवें (उपशान्तमोह, क्षीणमोह) गुणस्थानवर्ती जीवों में और छाद्मस्थिक सकषायी सलेश्य वीर्य दसवें गुणस्थान तक जीवों में पाया जाता है।

सलेश्य जीवों में वीर्यप्रवृत्ति दो रूपों में होती है। एक तो दौड़ना, चलना, खाना आदि निश्चित कार्य को करने रूप प्रयत्नपूर्वक और दूसरी बिना प्रयत्न के स्वयमेव होती रहती है। प्रयत्नपूर्वक होने वाली प्रवृत्ति को अभिसंधिज और स्वयमेव होने वाली प्रवृत्ति को अनभिसंधिज कहते हैं।

जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि वीर्यशक्ति समस्त जीवों में पायी जाती है। अतः एकेन्द्रिय बादर सूक्ष्म जीवों में जो परिस्पन्दन रूप क्रिया देखने में आती है, वह भी वीर्यशक्ति का रूप है और सरलता से समझने के लिये योग शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह योग शब्द भी वीर्य के अनेक नामों में से एक नाम है।

वीर्य शक्ति के उक्त स्पष्टीकरण एवं भेदों को सरलता से इस प्रकार जाना जा सकता है—

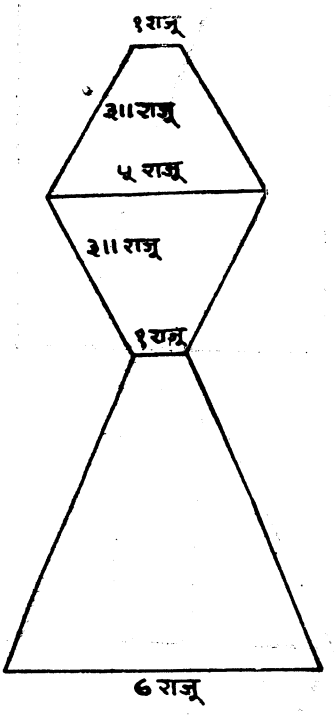


चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में और सिद्धों का अकरण वीर्य होता है।

पंचसंग्रह, बंधनकरण अधिकार, गाथा २, ३ में भी इसी प्रकार जीव की वीर्यशक्ति का विचार किया गया है।

१३. लोक का घनाकार समीकरण करने की विधि

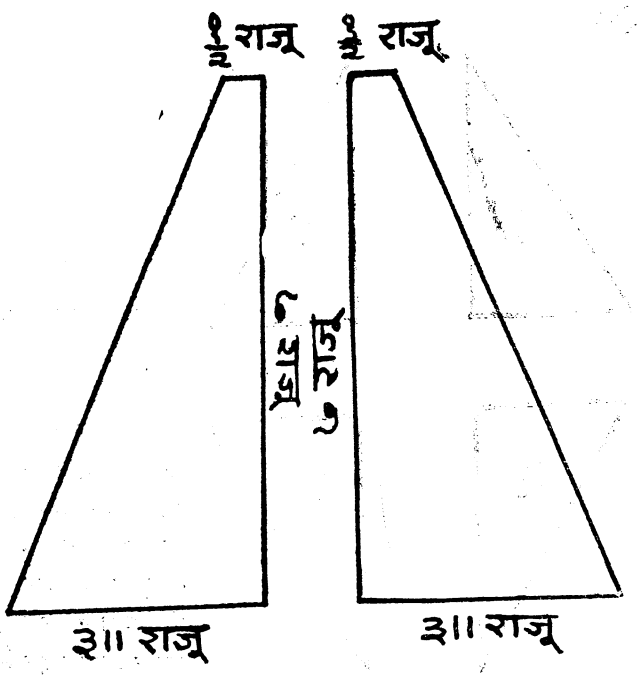
जैनसिद्धान्त में लोक का आकार कटि पर दोनों हाथ रखकर और पैरों को फैलाकर खड़े हुए मनुष्य के समान बतलाया है। वह आकार इस प्रकार का होगा—



इसके नीचे का भाग (आधारभूमि) पूर्व-पश्चिम सात राजू चौड़ा है। फिर दोनों ओर से घटते-घटते सात राजू की ऊंचाई पर एक राजू चौड़ा है। पुनः साढ़े तीन राजू पर दोनों ओर से बढ़ते-बढ़ते साढ़े दस राजू की ऊंचाई पर पांच राजू चौड़ा है, फिर दोनों ओर से घटते-घटते साढ़े तीन राजू जाकर अर्थात् चौदह राजू की ऊंचाई पर एक राजू चौड़ा है। इस प्रकार पूर्व-पश्चिम में घटता-बढ़ता है। सर्वत्र सात राजू मोटाई है और ऊंचाई चौदह राजू है। यदि इसकी चौड़ाई, मोटाई और ऊंचाई का बुद्धि के द्वारा समीकरण किया जाये तो वह सात राजू के घन के बराबर होता है।

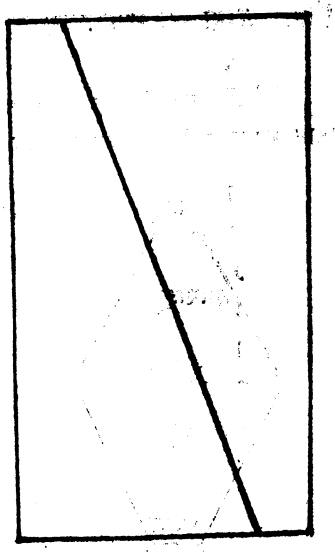
समीकरण करने की विधि इस प्रकार है—

अधोलोक के नीचे का विस्तार सात राजू है और दोनों ओर से घटते-घटते सात राजू की ऊंचाई पर मध्यलोक के पास वह एक राजू प्रमाण रहता है। इस अधोलोक की ऊंचाई के ठीक बीच में इसके दो भाग किये जायें, तब इनका आकार इस प्रकार होगा—



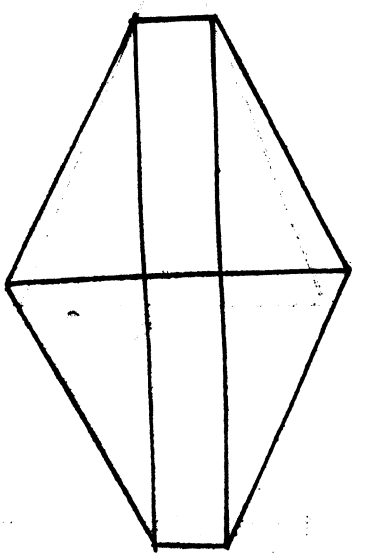
फिर इन दोनों भागों को उलटकर बराबर रखा जाये तो उनका विस्तार नीचे की ओर और ऊपर की ओर भी चार-चार राजू होता है किन्तु ऊंचाई सर्वत्र सात राजू ही रहती है। तब उसका आकार इस प्रकार होगा—

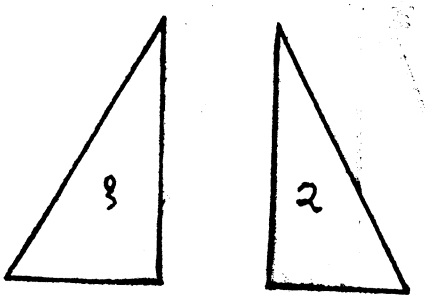
(चित्र आगे के पृष्ठ पर देखिये)



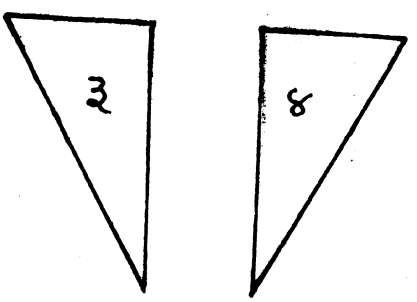
अब ऊर्ध्वलोक को लीजिये—

ऊर्ध्वलोक नीचे एक राजू, ऊपर बढ़ते-बढ़ते साढ़े दस राजू की ऊंचाई पर पांच राजू और चौदह राजू की ऊंचाई पर एक राजू चौड़ा है। उसमें से मध्य के एक राजू के क्षेत्र को छोड़कर ऊपर से नीचे तक दो समानान्तर रेखायें खींची जायें तो उसमें चार समान त्रिकोण बन जाते हैं। तब उसका आकार इस प्रकार होगा—

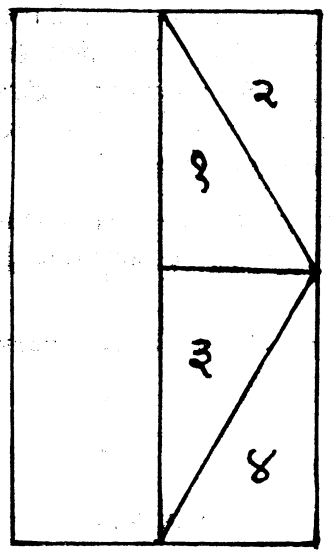




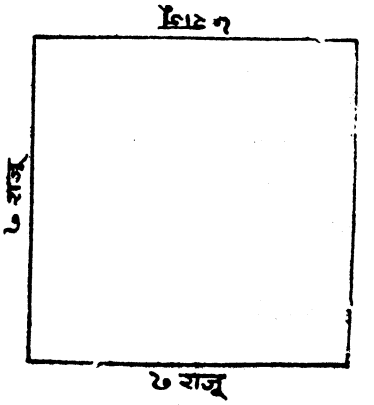
तथा चार त्रिकोणों का आकार इस प्रकार होगा—



अब इन चारों त्रिकोणों में से एक राजू चौड़े और सात राजू ऊंचे ऊर्ध्वलोक के खंड से १ नंबर वाले त्रिकोण को उलट कर २ नंबर वाले त्रिकोण से मिला दिया जाये और ३ नंबर वाले त्रिकोण को उलट कर ४ नंबर वाले त्रिकोण से मिला दिया जाये तथा बीच के एक राजू चौड़े और सात राजू ऊंचे भाग को जोड़ दें तब ऊर्ध्वलोक की ऊंचाई तो सात राजू होगी लेकिन चौड़ाई तीन राजू हो जायेगी। तब उसका आकार इस प्रकार होगा—



अब इसको अधोलोक के चार राजू चौड़े और सात राजू ऊंचे खंड के साथ संयुक्त कर दिया जाये तो चारों दिशाओं में ऊंचाई, मोटाई सात राजू होगी। तब उसका आकार इस प्रकार होगा—



इस प्रकार लोक सात घन रूप सिद्ध होता है। इस घनाकार लोक में ऊंचाई, चौड़ाई और मोटाई तीनों सात-सात राजू हैं, अतः इन तीनों संख्याओं का परस्पर गुणा करने पर लोक का घनक्षेत्र ७ × ७ × ७ = ३४३ राजू प्रमाण होता है। क्योंकि गणित-शास्त्र के अनुसार समान दो संख्याओं का आपस में गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, वह उस संख्या का वर्ग कहलाती है, जैसे ७ का वर्ग करने पर ४९ आते हैं तथा समान तीन संख्याओं का परस्पर में गुणा करने पर घन होता है, जैसे ७ × ७ × ७ = ३४३।

लोक तो यद्यपि वृत्त (गोल) है और यह घन समचतुरस्र रूप होता है। अतः वृत्त करने के लिये उसे १९ से गुणा करके २२ से भाग देना चाहिये, तब यह कुछ कम सात राजू लंबा, चौड़ा और मोटा होता है, किन्तु व्यवहार में सात राजू का समचतुरस्र घनाकार लोक जानना चाहिये।

१४. असत्कल्पना द्वारा योगस्थान का स्पष्टीकरण दर्शक प्रारूप (गाथा ६ से ९ तक)

१. प्रत्येक जीव के आत्मप्रदेश असंख्यात (लोकाकाश प्रदेश प्रमाण) हैं। जीव यद्यपि कर्मजन्य अपने देह-प्रमाण दिखता है, लेकिन अपने संहरण-विसर्पण (संकोच-विस्तार) गुण की अपेक्षा देहप्रमाण होते हुए भी लोकाकाश के बराबर हो सकता है। जैसे कि दीपक को एक घड़े में रखें तो उसका प्रकाश घड़े प्रमाण ही रहता है और कमरे अथवा उससे बड़े मैदान में रखें तो उसमें उसका प्रकाश व्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार जीव के भी असंख्यात प्रदेशों को लोकाकाश में व्याप्त होने को समझ लेना चाहिये। परन्तु प्रस्तुत में असत्कल्पना से १२००० प्रदेश मान लें।

२. गाथा ६ में बताया गया है कि प्रत्येक आत्मप्रदेश पर जघन्य से असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वीर्याविभाग होते हैं और उत्कृष्ट से भी। असत्कल्पना से जघन्य एक करोड़ एक और उत्कृष्ट से अनेकों करोड़ मान लें।

३. गाथा ७ में कहा है कि जघन्य वीर्याविभाग वाले आत्मप्रदेश घनीकृत लोक के असंख्यात भागवर्ती असंख्यात प्रतरगत प्रदेशराशि प्रमाण होते हैं। परन्तु यहां असत्कल्पना से उन जघन्य वीर्याविभाग वाले आत्मप्रदेशों का घनीकृत लोक के असंख्येय भागवर्ती असंख्येय प्रतरगत प्रदेशराशि का प्रमाण ७०० मान लिया जाये।

४. गाथा ८ में कहा है कि श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण वर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है। परन्तु यहां असत्कल्पना से चार वर्गणाओं का एक स्पर्धक मानना चाहिये।

५. गाथा ९ में कहा है कि श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धकों का एक योगस्थान होता है। जो सबसे जघन्य है। परन्तु असत्कल्पना से प्रथम योगस्थान छह स्पर्धकों का समझ लेना चाहिये। अधिक-अधिक वीर्य वाले योगस्थानों में स्पर्धक अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बढ़ते-बढ़ते हुए जानना चाहिये। क्योंकि अधिक-अधिक वीर्य वाले आत्मप्रदेश हीन होते जाते हैं, किन्तु उनमें वर्गणायें और स्पर्धक अधिक-अधिक होते हैं। यहां असत्कल्पना से बताये जा रहे योग स्थानों में एक-एक स्पर्धक की वृद्धि अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण समझना चाहिये।

६. गाथा ९ में स्पष्ट किया गया है कि प्रथम योगस्थान के अन्तिम स्पर्धक की अंतिम वर्गणा में जितने वीर्याविभाग हैं, उससे द्वितीय योगस्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में असंख्यात गुणे वीर्याविभाग हैं। परन्तु यहाँ असत्कल्पना से लगभग तिगुने समझना चाहिये।

असत्कल्पना से किये गये उक्त स्पष्टीकरणों से युक्त योगस्थानों का प्रारूप–विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

प्रथम योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

१ कसेड़ १ वीर्याविभाग वाले	७००	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
१ करोड़ २ ,, ,, ,,	६७०	,, ,, ,,	द्वितीय वर्गणा
१ करोड़ ३ ,, ,, ,,	६३०	,, ,, ,,	तृतीय वर्गणा
१ करोड़ ४ ,, ,, ,,	६००	,, ,, ,,	चतुर्थ वर्गणा
	२६००		

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक में २६०० आत्मप्रदेश एवं चार वर्गणायें।

द्वितीय स्पर्धक

२ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	५८५	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२ ,, २ ,, ,, ,,	५७५	,, ,, ,,	द्वितीय वर्गणा
२ ,, ३ ,, ,, ,,	५६५	,, ,, ,,	तृतीय वर्गणा
२ ,, ४ ,, ,, ,,	५५५	,, ,, ,,	चतुर्थ वर्गणा
	२२८०		

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक में २२८० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

तृतीय स्पर्धक

३ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	५२०	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
३ ,, २ ,, ,, ,,	५१०	,, ,, ,,	द्वितीय वर्गणा
३ ,, ३ ,, ,, ,,	५००	,, ,, ,,	तृतीय वर्गणा
३ ,, ४ ,, ,, ,,	४९०	,, ,, ,,	चतुर्थ वर्गणा
	२०२०		

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक में २०२० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

चतुर्थ स्पर्धक

४ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	४८०	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
४ ,, २ ,, ,, ,,	४७०	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
४ ,, ३ ,, ,, ,,	४६०	,, ,, ,,	तृतीय ,,
४ ,, ४ ,, ,, ,,	४५०	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	१८६०		

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक में १८६० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

पांचवां स्पर्धक

५ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	४४०	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
५ ,, २ ,, ,, ,,	४३०	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
५ ,, ३ ,, ,, ,,	४२०	,, ,, ,,	तृतीय ,,
५ ,, ४ ,, ,, ,,	४१०	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	१७००		

इस प्रकार पांचवें स्पर्धक में १७०० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

छठा स्पर्धक

६ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	४००	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
६ ,, २ ,, ,, ,,	३९०	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
६ ,, ३ ,, ,, ,,	३८०	,, ,, ,,	तृतीय ,,
६ ,, ४ ,, ,, ,,	३७०	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	१५४०		

इस प्रकार छठे स्पर्धक में १५४० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

द्वितीय योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

१८ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	५८५	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
१८ ,, २ ,, ,, ,,	५७५	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
१८ ,, ३ ,, ,, ,,	५६५	,, ,, ,,	तृतीय ,,
१८ ,, ४ ,, ,, ,,	५५५	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	२२८०		

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक में २२८० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

द्वितीय स्पर्धक

१९ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	५२०	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
१९ ,, २ ,, ,, ,,	५१०	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
१९ ,, ३ ,, ,, ,,	५००	,, ,, ,,	तृतीय ,,
१९ ,, ४ ,, ,, ,,	४९०	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	२०२०		

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक में २०२० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

तृतीय स्पर्धक

२० करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	४८०	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२० ,, २ ,, ,, ,,	४७०	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
२० ,, ३ ,, ,, ,,	४६०	,, ,, ,,	तृतीय ,,
२० ,, ४ ,, ,, ,,	४५०	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	१८६०		

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक में १८६० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

चतुर्थ स्पर्धक

२१ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	४४०	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२१ ,, २ ,, ,, ,,	४३०	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
२१ ,, ३ ,, ,, ,,	४२०	,, ,, ,,	तृतीय ,,
२१ ,, ४ ,, ,, ,,	४१०	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	१७००		

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक में १७०० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

पंचम स्पर्धक

२२ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	४००	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२२ ,, २ ,, ,, ,,	३९०	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
२२ ,, ३ ,, ,, ,,	३८०	,, ,, ,,	तृतीय ,,
२२ ,, ४ ,, ,, ,,	३७०	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	१५४०		

इस प्रकार पंचम स्पर्धक में १५४० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

छठा स्पर्धक

२३ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	३६०	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२३ ,, २ ,, ,, ,,	३५०	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
२३ ,, ३ ,, ,, ,,	३४०	,, ,, ,,	तृतीय ,,
२३ ,, ४ ,, ,, ,,	३३०	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	१३८०		

इस प्रकार छठे स्पर्धक में १३८० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

सातवां स्पर्धक

२४ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	३२० आत्मप्रदेशों की	प्रथम	वर्गणा
२४ ,, २ ,, ,, ,,	३१० ,, ,, ,,	द्वितीय	,,
२४ ,, ३ ,, ,, ,,	३०० ,, ,, ,,	तृतीय	,,
२४ ,, ४ ,, ,, ,,	२९० ,, ,, ,,	चतुर्थ	,,
	१२२०		

इस प्रकार सातवें स्पर्धक में १२२० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

तीसरा योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

७२ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	५२० आत्मप्रदेशों की	प्रथम	वर्गणा
७२ ,, २ ,, ,, ,,	५१० ,, ,, ,,	द्वितीय	,,
७२ ,, ३ ,, ,, ,,	५०० ,, ,, ,,	तृतीय	,,
७२ ,, ४ ,, ,, ,,	४९० ,, ,, ,,	चतुर्थ	,,
	२०२०		

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक में २०२० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

द्वितीय स्पर्धक

७३ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	४८० आत्मप्रदेशों की	प्रथम	वर्गणा
७३ ,, २ ,, ,, ,,	४७० ,, ,, ,,	द्वितीय	,,
७३ ,, ३ ,, ,, ,,	४६० ,, ,, ,,	तृतीय	,,
७३ ,, ४ ,, ,, ,,	४५० ,, ,, ,,	चतुर्थ	,,
	१८६०		

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक में १८६० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

तृतीय स्पर्धक

७४ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	४४० आत्मप्रदेशों की	प्रथम	वर्गणा
७४ ,, २ ,, ,, ,,	४३० ,, ,, ,,	द्वितीय	,,
७४ ,, ३ ,, ,, ,,	४२० ,, ,, ,,	तृतीय	,,
७४ ,, ४ ,, ,, ,,	४१० ,, ,, ,,	चतुर्थ	,,
	१७००		

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक में १७०० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

चतुर्थ स्पर्धक

७५ करोड़	१	वीर्याविभाग वाले	४०० आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७५ ,,	२	,, ,,	३९० ,, ,, ,,	द्वितीय ,,
७५ ,,	३	,, ,,	३८० ,, ,, ,,	तृतीय ,,
७५ ,,	४	,, ,,	३७० ,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
			१५४०	

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक में १५४० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

पंचम स्पर्धक

७६ करोड़	१	वीर्याविभाग वाले	३६० आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७६ ,,	२	,, ,,	३५० ,, ,, ,,	द्वितीय ,,
७६ ,,	३	,, ,,	३४० ,, ,, ,,	तृतीय ,,
७६ ,,	४	,, ,,	३३० ,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
			१३८०	

इस प्रकार पंचम स्पर्धक में १३८० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

छठा स्पर्धक

७७ करोड़	१	वीर्याविभाग वाले	३२० आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७७ ,,	२	,, ,,	३१० ,, ,, ,,	द्वितीय ,,
७७ ,,	३	,, ,,	३०० ,, ,, ,,	तृतीय ,,
७७ ,,	४	,, ,,	२९० ,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
			१२२०	

इस प्रकार छठे स्पर्धक में १२२० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

सातवां स्पर्धक

७८ करोड़	१	वीर्याविभाग वाले	२८९ आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७८ ,,	२	,, ,,	२८८ ,, ,, ,,	द्वितीय ,,
७८ ,,	३	,, ,,	२८७ ,, ,, ,,	तृतीय ,,
७८ ,,	४	,, ,,	२८६ ,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
			११५०	

इस प्रकार सातवें स्पर्धक में ११५० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

आठवां स्पर्धक

७९ करोड़	१	वीर्याविभाग वाले	२८४ आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७९ ,,	२	,, ,,	२८३ ,, ,, ,,	द्वितीय ,,
७९ ,,	३	,, ,,	२८२ ,, ,, ,,	तृतीय ,,
७९ ,,	४	,, ,,	२८१ ,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
			११३०	

इस प्रकार आठवें स्पर्धक में ११३० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

चौथा योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

२४१	करोड़	१	वीर्याविभाग वाले		४८०	आत्मप्रदेशों की		प्रथम वर्गणा
२४१	,,	२	,,	,,	४७०	,,	,,	द्वितीय ,,
२४१	,,	३	,,	,,	४६०	,,	,,	तृतीय ,,
२४१	,,	४	,,	,,	४५०	,,	,,	चतुर्थ ,,
					१८६०			

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक में १८६० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

द्वितीय स्पर्धक

२४२	करोड़	१	वीर्याविभाग वाले		४४०	आत्मप्रदेशों की		प्रथम वर्गणा
२४२	,,	२	,,	,,	४३०	,,	,,	द्वितीय ,,
२४२	,,	३	,,	,,	४२०	,,	,,	तृतीय ,,
२४२	,,	४	,,	,,	४१०	,,	,,	चतुर्थ ,,
					१७००			

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक में १७०० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

तृतीय स्पर्धक

२४३	करोड़	१	वीर्याविभाग वाले		४००	आत्मप्रदेशों की		प्रथम वर्गणा
२४३	,,	२	,,	,,	३९०	,,	,,	द्वितीय ,,
२४३	,,	३	,,	,,	३८०	,,	,,	तृतीय ,,
२४३	,,	४	,,	,,	३७०	,,	,,	चतुर्थ ,,
					१५४०			

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक में १५४० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

चतुर्थ स्पर्धक

२४४	करोड़	१	वीर्याविभाग वाले		३६०	आत्मप्रदेशों की		प्रथम वर्गणा
२४४	,,	२	,,	,,	३५०	,,	,,	द्वितीय ,,
२४४	,,	३	,,	,,	३४०	,,	,,	तृतीय ,,
२४४	,,	४	,,	,,	३३०	,,	,,	चतुर्थ ,,
					१३८०			

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक में १३८० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

पंचम स्पर्धक

२४५ करोड़ १	वीर्याविभाग वाले	३२०	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४५ ,, २	,, ,,	३१०	,, ,,	द्वितीय ,,
२४५ ,, ३	,, ,,	३००	,, ,,	तृतीय ,,
२४५ ,, ४	,, ,,	२९०	,, ,,	चतुर्थ ,,
		१२२०		

इस प्रकार पंचम स्पर्धक में १२२० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

छठा स्पर्धक

२४६ करोड़ १	वीर्याविभाग वाले	२८९	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४६ ,, २	,, ,,	२८८	,, ,,	द्वितीय ,,
२४६ ,, ३	,, ,,	२८७	,, ,,	तृतीय ,,
२४६ ,, ४	,, ,,	२८६	,, ,,	चतुर्थ ,,
		११५०		

इस प्रकार छठे स्पर्धक में ११५० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

सातवां स्पर्धक

२४७ करोड़ १	वीर्याविभाग वाले	२८४	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४७ ,, २	,, ,,	२८३	,, ,,	द्वितीय ,,
२४७ ,, ३	,, ,,	२८२	,, ,,	तृतीय ,,
२४७ ,, ४	,, ,,	२८१	,, ,,	चतुर्थ ,,
		११३०		

इस प्रकार सातवें स्पर्धक में ११३० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

आठवां स्पर्धक

२४८ करोड़ १	वीर्याविभाग वाले	२६९	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४८ ,, २	,, ,,	२६८	,, ,,	द्वितीय ,,
२४८ ,, ३	,, ,,	२६७	,, ,,	तृतीय ,,
२४८ ,, ४	,, ,,	२६६	,, ,,	चतुर्थ ,,
		१०७०		

इस प्रकार आठवें स्पर्धक में १०७० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

नौवां स्पर्धक

२४९ करोड़ १	वीर्याविभाग वाले	२३९	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४९ ,, २	,, ,,	२३८	,, ,,	द्वितीय ,,
२४९ ,, ३	,, ,,	२३७	,, ,,	तृतीय ,,
२४९ ,, ४	,, ,,	२३६	,, ,,	चतुर्थ ,,
		९५०		

इस प्रकार नौवें स्पर्धक में ९५० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

असत्कल्पना द्वारा योगस्थानों का समीकरण—

प्रथम योगस्थान में स्पर्धक	आत्मप्रदेश	वर्गणा
प्रथम	२६००	४
द्वितीय	२२८०	४
तृतीय	२०२०	४
चतुर्थ	१८६०	४
पंचम	१७००	४
षष्ठ	१५४०	४
——	——	——
६	१२०००	२४

द्वितीय योगस्थान में स्पर्धक	आत्मप्रदेश	वर्गणा
प्रथम	२२८०	४
द्वितीय	२०२०	४
तृतीय	१८६०	४
चतुर्थ	१७००	४
पंचम	१५४०	४
षष्ठ	१३८०	४
सप्तम	१२२०	४
——	——	——
७	१२०००	२८

तृतीय योगस्थान में स्पर्धक	आत्मप्रदेश	वर्गणा
प्रथम	२०२०	४
द्वितीय	१८६०	४
तृतीय	१७००	४
चतुर्थ	१५४०	४
पंचम	१३८०	४
षष्ठ	१२२०	४
सप्तम	११५०	४
अष्टम	११३०	४
——	——	——
८	१२०००	३२

चतुर्थ योगस्थान में स्पर्धक	आत्मप्रदेश	वर्गणा
प्रथम	१८६०	४
द्वितीय	१७००	४
तृतीय	१५४०	४
चतुर्थ	१३८०	४
पंचम	१२२०	४
षष्ठ	११५०	४
सप्तम	११३०	४
अष्टम	१०७०	४
नवम	९५०	४
——	——	——
९	१२०००	३६

१५. योग सम्बन्धी प्ररूपणाओं का विवेचन (गाथा ५-१६ तक)

सलेश्य जीव का वीर्य—योग कर्मबंध का कारण है। ग्रंथकार ने इसकी प्ररूपणा निम्नलिखित दस अधिकारों द्वारा की है—

१. अविभागप्ररूपणा, २. वर्गणाप्ररूपणा, ३. स्पर्धकप्ररूपणा, ४. अन्तरप्ररूपणा, ५. स्थानप्ररूपणा, ६. अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा, ७. परम्परोपनिधाप्ररूपणा, ८. वृद्धिप्ररूपणा, ९. समयप्ररूपणा, १०. जीवाल्पबहुत्व-प्ररूपणा।

उन दस प्ररूपणाओं का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. अविभागप्ररूपणा—

पुद्गल द्रव्य के सबसे छोटे अविभाज्य अंश को जैसे परमाणु कहते हैं, उसी तरह जिसका दूसरा भाग न हो सके ऐसा योगशक्ति का अविभाज्य अंश योगाविभाग अथवा वीर्याविभाग कहलाता है। शक्ति के इस अविभाज्य अंश को अविभागप्रतिच्छेद भी कहते हैं।

पुद्गलस्कन्धों के जैसे टुकड़े हो सकते हैं, वैसे उनके अन्दर रहने वाली गुणात्मक शक्ति के यद्यपि पृथक्-पृथक् टुकड़े तो नहीं किये जा सकते हैं। फिर भी हम अपने सामने आने वाली वस्तुओं में गुणों की हीनाधिकता को सहज में ही जान लेते हैं और इस हीनाधिकता के असंख्य प्रकार हो सकते हैं। जैसे कि हमारे सामने भैंस, गाय और बकरी का दूध रखा जाये तो हम उसकी परीक्षा करके तुरन्त कह देते हैं कि इस दूध में चिकनाई अधिक है और इसमें कम। यह तरतमता इस बात को बताती है कि शक्ति के भी अंश होते हैं और यह अंश-विभाजन ज्ञान के द्वारा ही किया जाता है।

योग भी सलेश्य जीव की शक्ति है। अतः ज्ञान के द्वारा उसका अविभागरूप छेदन करने पर जघन्य और उत्कृष्ट से अविभाज्य अंश असंख्य लोकप्रदेशप्रमाण होते हैं।

सबसे जघन्य वीर्य वाले सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीव के भी प्रत्येक आत्मप्रदेश पर भव के प्रथम समय में कम-से-कम असंख्यलोकप्रदेशप्रमाण वीर्याविभाग होते हैं और सर्वोत्कृष्ट योगधारक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के प्रत्येक आत्मप्रदेश पर भी अधिक-से-अधिक (उत्कृष्टतः) असंख्यलोकप्रदेश प्रमाण वीर्याविभाग होते हैं। लेकिन इस जघन्य और उत्कृष्ट में अन्तर यह है कि जघन्यपदीय असंख्य लोकप्रदेश से उत्कृष्टपदीय असंख्य लोकप्रदेश असंख्यात गुणे हैं।

२. वर्गणाप्ररूपणा—

घनीकृत लोक के असंख्येय भागवर्ती असंख्य प्रतर प्रमाण आत्मप्रदेश के समुदाय की प्रथम वर्गणा होती है। यह सबसे जघन्य वर्गणा है। इस जघन्य वर्गणा से आगे अनुक्रम से एक, दो, तीन आदि वीर्याविभाग की वृद्धि से बनने वाली जितनी भी वर्गणायें होती हैं, उनमें क्रमशः अधिकाधिक असंख्यलोकप्रदेश प्रमाण वीर्याविभाग होते हैं। अर्थात् अनुक्रम से वर्गणाओं में वीर्याविभागों की वृद्धि होती जाती है और प्रत्येक वर्गणा में जीवप्रदेश घनलोक के असंख्यातभागवर्ती असंख्य प्रतरप्रदेश-प्रमाण होते हैं।

इसको एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—जैसे रुई, लकड़ी, मिट्टी, पत्थर, लोहा, चांदी और सोना अमुक परिमाण में लेने पर भी रुई से लकड़ी का, लकड़ी से मिट्टी का, मिट्टी से पत्थर का, पत्थर से लोहे का, लोहे से चांदी का और चांदी से सोने का आकार छोटा होते जाने पर भी ये वस्तुएँ उत्तरोत्तर ठोस और वजनी होती हैं। इसी तरह उत्तरोत्तर वर्गणाओं में वीर्याविभागों की अधिकता के बारे में समझना चाहिये।

३. स्पर्धकप्ररूपणा—

उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरी, इस प्रकार एक, दो, तीन आदि वीर्याविभागों की समान वृद्धि के क्रम से प्राप्त होने वाली श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण वर्गणाओं का समूह स्पर्धक कहलाता है।

४. अन्तरप्ररूपणा—

वर्गणायें तो एक, दो, तीन आदि वीर्याविभागों की वृद्धि से एक स्पर्धक में एक के बाद दूसरी, इस क्रम से जुड़ी हुई होती हैं। लेकिन स्पर्धक एक के बाद दूसरा, इस प्रकार के क्रम से जुड़ा हुआ नहीं होता है। किन्तु पूर्व स्पर्धक की उत्कृष्ट वर्गणा से उत्तर स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के बीच अन्तर होता है और यह अन्तर असंख्य लोकप्रदेश प्रमाण अविभागों का होता है।

५. स्थानप्ररूपणा—

श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धकों का एक योगस्थान होता है और ऐसे सभी योगस्थान भी श्रेणी के असंख्यातवें भागगत प्रदेशप्रमाण हैं।

योगस्थान के तीन भेद हैं—उपपादयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धियोगस्थान, परिणामयोगस्थान। भवधारण करने के पहले समय में रहने वाले जीव को उपपादयोगस्थान होता है। अर्थात् तत्तत् भव में जन्म लेने वाले जीव के प्रथम समय में जो योग होता है, वह उपपादयोगस्थान है। भवधारण करने के दूसरे समय से लेकर एक समय कम शरीरपर्याप्ति के अंतर्मुहूर्त तक एकान्तानुवृद्धियोगस्थान होता है और अपने समयों में समय-समय असंख्यातगुणी अविभागप्रतिच्छेदों की वृद्धि होने से वह एकान्तानुवृद्धियोगस्थान कहलाता है और शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने के समय से लेकर आयु के अंत तक होने वाले योग को परिणामयोगस्थान कहते हैं। ये परिणाम-योगस्थान अपनी-अपनी शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने के समय से आयु के अंत समय तक सम्पूर्ण समयों में उत्कृष्ट भी होते हैं और जघन्य भी संभव हैं और जिसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, ऐसे लब्ध्यपर्याप्तक जीव के अपनी आयु के अंत के त्रिभाग के प्रथम समय से लेकर अंत समय तक स्थिति के सब भेदों में उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकार के परिणामयोगस्थान जानना चाहिये।

६. अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा—

पूर्व-पूर्व योगस्थान से उत्तर-उत्तर के योगस्थान में अंगुल के असंख्यातवें भाग गत प्रदेशराशि प्रमाण स्पर्धक अधिक हैं।

७. परम्परोपनिधाप्ररूपणा—

प्रथम योगस्थान से श्रेणी के असंख्यातवें भाग आगे जाकर उत्तर योगस्थान में स्पर्धक दुगुने हो जाते हैं। अर्थात् प्रथम योगस्थान में जितने स्पर्धक होते हैं, उनकी अपेक्षा श्रेणी के असंख्यातवें भाग में जितने प्रदेश होते हैं, उतने प्रदेशराशि प्रमाण योगस्थानों का अतिक्रमण करके अनन्तरवर्ती योगस्थान में दुगुने स्पर्धक होते हैं। इसी-प्रकार इसी क्रम से अंतिम योगस्थान पर्यन्त यह वृद्धि कहना चाहिये। द्विगुण-द्विगुण वृद्धिस्थानों में ये स्पर्धक पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

द्विगुणवृद्धि के योगस्थानों की तरह द्विगुणहानि के योगस्थान भी समझना चाहिये। आरोहण करने से जो वृद्धिस्थान प्राप्त होते हैं, वे ही नीचे उतरने की अपेक्षा हानिस्थान कहलाते हैं। इस प्रकार वृद्धि और हानि के स्थान समान होते हैं। जिसका आशय यह है कि उत्कृष्ट योगस्थान से नीचे उतरने पर असंख्यातवें भाग प्रदेशप्रमाण योगस्थानों के उल्लंघन करने पर अधस्तनवर्ती योगस्थान में पूर्व के अंतिम योगस्थान के स्पर्धकों की अपेक्षा आधे स्पर्धक प्राप्त होते हैं। उसके बाद फिर उतने ही योगस्थानों का अतिक्रमण करने पर अधोवर्ती योगस्थान में आधे स्पर्धक प्राप्त होते हैं। इसी क्रम से जघन्य योगस्थान पर्यन्त कहना चाहिये। द्विगुण हानिस्थान में भी स्पर्धक पल्य के असंख्यातवें भागगत समयप्रमाण हैं।

८. वृद्धिप्ररूपणा—

जीव के योगस्थान की जो वृद्धि, हानि होती है, वह चार प्रकार की है—

१. असंख्यभागाधिक वृद्धि, २. संख्यभागाधिक वृद्धि, ३. संख्यगुणाधिक वृद्धि, ४. असंख्यगुणाधिक वृद्धि।

१. असंख्येयभागहानि, २. संख्येयभागहानि, ३. संख्येयगुणहानि ४. असंख्येयगुणहानि।

असंख्येय गुणवृद्धि और असंख्येय गुणहानि इन दोनों का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है और शेष तीन वृद्धियों और हानियों का उत्कृष्ट काल आवलिका का असंख्यातवां भाग प्रमाण है।

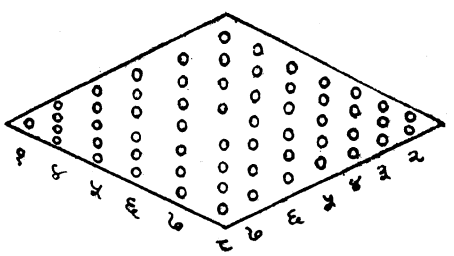
९. समयप्ररूपणा—

पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के जघन्य योगस्थान पर्यन्त सर्व योगस्थान से संज्ञी पंचेन्द्रिय के उत्कृष्ट योग-स्थान पर्यन्त सर्व योगस्थानों को क्रमवार स्थापन करें तो कितने ही (श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण) योग-स्थान उत्कृष्ट से चार समय की स्थिति वाले हैं, उससे आगे उतने योगस्थान उत्कृष्ट से पांच समय की, उससे

आगे उतने योगस्थान छह समय की, उससे आगे उतने योगस्थान सात समय की, उससे आगे उतने योगस्थान आठ समय की स्थिति वाले हैं। उससे आगे उतने योगस्थान प्रतिलोमक्रम से सात, छह, पांच, चार, तीन एवं दो समय की स्थिति वाले हैं। इन सभी योगस्थानों की जघन्य स्थिति एक समय की होती है। इस प्रकार जघन्य से लेकर सर्वोत्कृष्ट योगस्थान तक के सब योगस्थानों के बारह विभाग होते हैं—

क्रम	विभाग का नाम	योगस्थान की संख्या	समयस्थिति उ.		ज.
१.	एक-सामयिक	श्रेणी के असंख्येय भाग प्रमाण	१	—	१
२.	चतुः-सामयिक	,,	४	—	१
३.	पंच-सामयिक	,,	५	—	१
४.	षट्-सामयिक	,,	६	—	१
५.	सप्त-सामयिक	,,	७	—	१
६.	अष्ट-सामयिक	,,	८	—	१
७.	सप्त-सामयिक	,,	७	—	१
८.	षट्-सामयिक	,,	६	—	१
९.	पंच-सामयिक	,,	५	—	१
१०.	चतुः-सामयिक	,,	४	—	१
११.	त्रि-सामयिक	,,	३	—	१
१२.	द्वि-सामयिक	,,	२	—	१

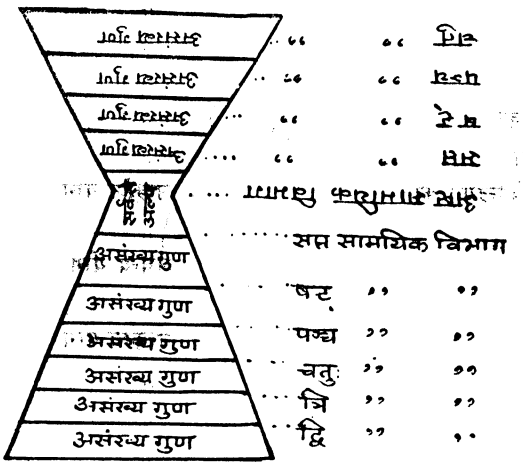
समय की अपेक्षा ये बारह विभागात्मक योगस्थान यवाकृति रूप होते हैं—



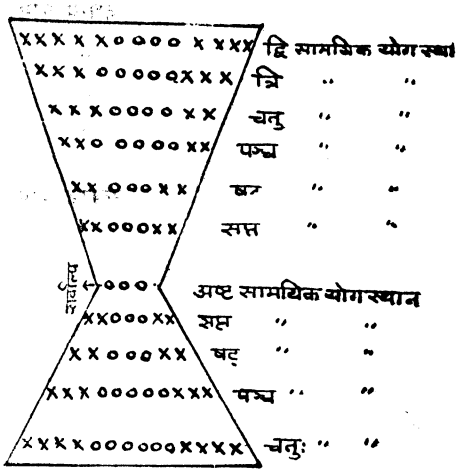
इन बारह विभागात्मक योगस्थानों के यवाकृति रूप होने का स्पष्टीकरण यह है कि जघन्य योग के अनन्तर जैसे-जैसे वीर्यवृद्धि होती है, वैसे-वैसे चार, पांच, छह, सात और आठ समय की और उसके पश्चात् अवरोह के क्रम से सात, छह, पांच, चार, तीन और दो समय तक की स्थिति होती है। जिससे यव (जौ) का मध्यभाग जैसे मोटा होता है, वैसे ही योग रूप यव का मध्यविभाग आठ समय जितनी अधिक स्थिति वाला है और यव की दोनों बाजुयें जैसे हीन-हीन होती हैं, वैसे ही योग रूप यव के अष्टसमयात्मक मध्यविभाग से सप्तसामयिक आदि उभय पार्श्ववर्ती विभाग हीन-हीन स्थिति वाले हैं।

समय की अधिकता की अपेक्षा योगस्थानों का आकार यव जैसा है, लेकिन निरन्तर प्रवर्तने की अपेक्षा योगस्थानों की हीनाधिकता डमरुक के आकार जैसी होती है। अर्थात् जैसे डमरुक का मध्य भाग संकड़ा होता है, उसी प्रकार इस योगरूप डमरुक के मध्यभाग रूप अष्टसामयिक योगस्थान अल्प (श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण) हैं और डमरुक के पूर्वोत्तर दोनों भाग क्रमशः चौड़े होते जाते हैं, उसी प्रकार योगरूप डमरुक के

पूर्वोत्तर पार्श्वरूप सप्तसामयिक आदि वाले स्थान क्रमशः असंख्यातगुणे–असंख्यातगुणे अधिक-अधिक हैं। अर्थात् अष्ट-सामयिक से दोनों बाजुओं के सप्तसामयिक असंख्यातगुणे अधिक, सप्तसामयिक से दोनों बाजुओं के षटसामयिक असंख्यातगुणे अधिक, षटसामयिक से दोनों बाजुओं के पंचसामयिक असंख्यातगुणे अधिक, पंचसामयिक से दोनों बाजुओं के चतुःसामयिक असंख्यातगुणे अधिक हैं और चतुःसामयिक योगस्थान तथा उभयपार्श्ववर्ती सर्व-विभाग परस्पर में तुल्य हैं। किन्तु चतुःसामयिक से उत्तर पार्श्ववर्ती त्रिसामयिक और द्विसामयिक अनुक्रम से असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे हैं जिसका प्रारूप इस प्रकार है—



स्थान की अपेक्षा इन योगस्थानों का आकार डमरुक जैसा बताया गया है। उसका दर्शक चित्र यह है—



इस डमरुक के आकार में ०००० बिन्दु रूप योगस्थान हैं तथा बिन्दुओं के दोनों बाजुओं में दिये × × चौकड़ी रूप निशान असंख्यात गुणे के प्रतीक हैं।

१०. जीवाल्पबहुत्वप्ररूपणा—

गाथा १४, १५, १६ के अनुसार योगस्थानों में विद्यमान जीवों के जघन्य, उत्कृष्ट योग के अल्पबहुत्व के वर्णन का रूप इस प्रकार है—

अनुक्रम	जीवभेद	योगप्रकार	प्रमाण
१.	लब्धि अप. सूक्ष्म निगोद एकेन्द्रिय का	जघन्य योग	सब से अल्प उससे
२.	,, ,, बादर एकेन्द्रिय का	,,	असंख्य गुणित ,,
३.	,, ,, द्वीन्द्रिय का	,,	,, ,,
४.	,, ,, त्रीन्द्रिय का	,,	,, ,,
५.	,, ,, चतुरिन्द्रिय का	,,	,, ,,
६.	,, ,, असंज्ञी पंचेन्द्रिय का	,,	,, ,,
७.	,, ,, संज्ञी पंचेन्द्रिय का	,,	,, ,,
८.	,, ,, सूक्ष्म निगोद (एकेन्द्रिय) का	उत्कृष्ट योग	,, ,,
९.	,, ,, बादर एकेन्द्रिय	,,	,, ,,
१०.	पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय का	जघन्य योग	,, ,,
११.	,, बादर ,, का	,,	,, ,,
१२.	,, सूक्ष्म निगोद का	उत्कृष्ट योग	,, ,,
१३.	,, बादर एकेन्द्रिय का	,,	,, ,,
१४.	लब्धि अप. द्वीन्द्रिय का	,,	,, ,,
१५.	,, ,, त्रीन्द्रिय का	,,	,, ,,
१६.	,, ,, चतुरिन्द्रिय का	,,	,, ,,
१७.	,, ,, असंज्ञी पंचेन्द्रिय का	,,	,, ,,
१८.	,, ,, संज्ञी ,, का	,,	,, ,,
१९.	पर्याप्त द्वीन्द्रिय का	जघन्य योग	,, ,,
२०.	,, त्रीन्द्रिय का	,,	,, ,,
२१.	,, चतुरिन्द्रिय का	,,	,, ,,
२२.	,, असंज्ञी पंचेन्द्रिय का	,,	,, ,,
२३.	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,, ,,
२४.	,, द्वीन्द्रिय का	उत्कृष्ट योग	,, ,,
२५.	,, त्रीन्द्रिय का	,,	,, ,,
२६.	,, चतुरिन्द्रिय का	,,	,, ,,
२७.	,, असंज्ञी पंचेन्द्रिय का	,,	,, ,,
२८.	,, अनुत्तर देवों का	,,	,, ,,
२९.	,, ग्रैवेयक देवों का	,,	,, ,,
३०.	,, भोगभूमिज ति. म. का	,,	,, ,,
३१.	,, आहारक शरीरधारी का	,,	,, ,,
३२.	,, शेष देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य का	,,	,, ,,

पूर्वोत्तर की अपेक्षा सर्वत्र असंख्येय गुणाकार सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम के असंख्येय भागगत प्रदेश राशिप्रमाण समझना चाहिये।

१६. वर्गणाओं के वर्णन का सारांश एवं विशेषावश्यकभाष्यगत व्याख्या का स्पष्टीकरण

यह लोक पुद्गलपरमाणुओं से खचाखच व्याप्त है। जो अपने-अपने समगुण और समसंख्या वाले समूहों में वर्गीकृत हैं और इनके संयोग से संसारी जीव के शरीर, इन्द्रिय आदि की रचना होती है।

कर्मशास्त्र में इन समगुण और समसंख्या वाले पुद्गल परमाणुओं के समुदाय के लिये वर्गणा शब्द का प्रयोग किया जाता है। वर्गणायें एक-एक परमाणु से लेकर द्वि, त्रि, चतुः आदि संख्यात, असंख्यात, अनन्त, अनन्तानन्त, सिद्ध जीवों की राशि के अनन्तवें भाग और अभव्य जीवों से अनन्तगुणे आदि प्रदेशों वाली हो सकती हैं।

ये वर्गणायें दो भागों में विभाजित हैं—ग्रहण और अग्रहण वर्गणा। सलेश्य जीव के द्वारा जो वर्गणायें ग्रहण की जाती हैं और ग्रहण करने योग्य हैं, उन्हें ग्रहणवर्गणा कहते हैं और जो ग्रहण करने योग्य नहीं हैं, वे अग्रहणवर्गणा कहलाती हैं। अग्रहणवर्गणाओं की अग्रहणता के तीन कारण हैं—पहला यह कि ऐसी बहुत-सी वर्गणाएं हैं जो अल्प प्रदेशवाली होने से संसारी जीवों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होती हैं। दूसरा यह कि जितनी संख्या वाले परमाणु जीव द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, परमाणुओं की उतनी-उतनी संख्या उन वर्गणाओं में होने पर भी जीव में तत्तद् ग्रहणयोग्य क्षमता नहीं होने से ग्रहणयोग्य नहीं बन पाती हैं। तीसरा यह कि कुछ कभी भी जीव के ग्रहणयोग्य नहीं बनती हैं।

कर्मसिद्धान्त में इन सब ग्रहण और अग्रहण वर्गणाओं को निम्नलिखित छब्बीस विभागों में वर्गीकृत किया गया है—

१. अग्रहण, २. औदारिक, ३. अग्रहण, ४. वैक्रिय, ५. अग्रहण, ६. आहारक, ७. अग्रहण, ८. तैजस, ९. अग्रहण, १०. भाषा, ११. अग्रहण, १२. श्वासोच्छ्वास १३. अग्रहण, १४. मन, १५. अग्रहण, १६. कार्मण, १७. ध्रुवाचित्त, १८. अध्रुवाचित्त, (सान्तर निरंतरा), १९. ध्रुवशून्य, २०. प्रत्येकशरीरी, २१. ध्रुवशून्य, २२. बादरनिगोद, २३. ध्रुवशून्य, २४. सूक्ष्मनिगोद, २५. ध्रुवशून्य, २६. महास्कन्ध।

कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि कर्मग्रंथों में तथा विशेषावश्यकभाष्य मे इन वर्गणाओं का वर्णन किया है। लेकिन दोनों के वर्णन में समानता भी है और असमानता भी है। जिसको यहां स्पष्ट करते हैं।

कर्मप्रकृति तथा पंचसंग्रह में परमाणुवर्गणा के अर्थ में सर्व परमाणुओं के लिये पृथक्-पृथक् वर्गणा शब्द कहा है। इसी प्रकार द्विपरमाणु आदि सभी वर्गणायें कही हैं। जिनसे यह तात्पर्य निकलता है कि परमाणुवर्गणा अनन्त हैं, द्विपरमाणु वर्गणायें भी अनन्त हैं इत्यादि, परन्तु कर्मग्रन्थ (श्री देवेन्द्रसूरि विरचित) में तो सर्व परमाणुओं के संग्रह अर्थ में परमाणुवर्गणा का प्रयोग किया है। इसी प्रकार द्विपरमाणुस्कन्धों के संग्रह के लिये द्विपरमाणुवर्गणा कही है। अर्थात् परमाणुवर्गणा एक है किन्तु अनन्त नहीं हैं। द्विपरमाणुवर्गणा एक और स्कन्ध अनन्त, त्रिपरमाणुवर्गणा एक परन्तु स्कन्ध अनन्त, इस प्रकार कहा है।

कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह और कर्मग्रन्थ के उक्त कथन में अन्तर यह है कि कर्मग्रन्थकार तो द्विपरमाणु-वाचक अनन्त स्कन्धों को एक वर्गणा कहते हैं, जबकि कर्मप्रकृति के टीकाकार आचार्य मलयगिरि द्विपरमाणु रूप जो अनन्त स्कन्ध हैं, वे द्विपरमाणु रूप अनन्त वर्गणायें हैं। इस अर्थ में स्कन्ध और वर्गणा इन दो शब्दों में विशेषता का अभाव है, क्योंकि तब तो जो द्विपरमाणु रूप एक स्कन्ध ही द्विपरमाणु रूप एक वर्गणा हो जायेगा।

यदि कर्मग्रन्थकार और कर्मप्रकृति के टीकाकार आचार्य मलयगिरि के कथन का अपेक्षापूर्वक विचार किया जाये तो आचार्य मलयगिरि के कथनानुसार स्कन्ध और वर्गणा एकरूप हैं और श्रीमद् देवेन्द्रसूरि के अनुसार स्कन्ध और वर्गणा अलग-अलग हैं।

विशेषावश्यकभाष्य में वर्गणाओं के विचार का प्रारंभ तो कर्मग्रंथ के अनुरूप है। गाथा ६३३, ३४, ३५ की मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने जो व्याख्या की है, उसका सारांश यह है—यहां वर्गणा शब्द सजातीय समुदाय की अपेक्षा कहा गया होने से सर्व परमाणुओं का संग्रह परमाणु नाम वाली वर्गणा होती है और द्विपरमाणु रूप एक ही वर्गणा में सर्व द्विप्रदेशिक स्कन्धों का संग्रह होता है। लेकिन उसके बाद के वर्णन में भिन्नता है, यथा परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक की अनन्त वर्गणायें औदारिक शरीर के अग्रहणप्रायोग्य हैं, तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणायें औदारिकशरीर ग्रहणप्रायोग्य हैं। तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणायें पुनः औदारिक शरीर के अग्रहणप्रायोग्य हैं। तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणायें वैक्रियशरीर के अग्रहणप्रायोग्य हैं। तत्पश्चात् एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणायें वैक्रियशरीर के ग्रहणप्रायोग्य हैं। तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप अनन्त वर्गणायें पुनः वैक्रियशरीर के अग्रहणप्रायोग्य हैं। इसप्रकार जीव की ग्रहणप्रायोग्य आठ वर्गणाओं का तीन-तीन रूप से कहने पर चौबीस वर्गणायें इसप्रकार होती हैं—

१. औदारिक-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, २. औदारिक-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ३. औदारिक-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ४. वैक्रिय-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ५. वैक्रिय-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ६. वैक्रिय-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ७. आहारक-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ८. आहारक-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ९. आहारक-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १०. तैजस्-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ११. तैजस्-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १२. तैजस्-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १३. भाषा-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १४. भाषा-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १५. भाषा-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १६. श्वासोच्छ्वास-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १७. श्वासोच्छ्वास-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १८. श्वासोच्छ्वास-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १९. मन-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, २०. मन-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, २१. मन-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, २२. कार्मण-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, २३. कार्मण-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, २४. कार्मण-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा।

विशेषावश्यकभाष्य में दो ग्रहण वर्गणाओं के मध्य में दो अग्रहण वर्गणायें मानी हैं, लेकिन एक ही अग्रहण वर्गणा का जो आधा भाग जिस शरीर आदि के समीप आया है, उस शरीर आदि के नाम की विवक्षा से एक ही अग्रहण वर्गणा का दो-दो नाम से उल्लेख किया है। कर्मग्रंथों एवं पंचसंग्रह और कर्मप्रकृति में इस प्रकार का पार्थक्य न कर ग्रहणवर्गणा के बाद वहां अग्रहण और ग्रहण की अपेक्षा सोलह प्रकार माने हैं। आपेक्षिक कथन होने से विवेचन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त भाष्यवर्णन में निम्नलिखित अन्तर और है—

२५. प्रथम ध्रुव वर्गणा, २६. अध्रुव वर्गणा, २७. शून्यान्तर वर्गणा, २८. अशून्यान्तर वर्गणा, २९. प्रथम ध्रुवान्तर वर्गणा, ३०. द्वितीय ध्रुवान्तर वर्गणा, ३१. तृतीय ध्रुवान्तर वर्गणा, ३२. चतुर्थ ध्रुवान्तर वर्गणा, ३३. औदारिकतनु वर्गणा, ३४. वैक्रियतनु वर्गणा, ३५. आहारकतनु वर्गणा, ३६ तैजसतनु वर्गणा, ३७. मिश्रस्कन्ध वर्गणा, ३८. अचित्त महास्कन्ध वर्गणा।

भाष्य में किये गये वर्गणाओं के वर्णन को गाथा ६३३ से लेकर ६५३ तक देखिये।

इन सब वर्गणाओं का अवगाह अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। सर्वोत्कृष्ट महास्कन्ध वर्गणा पर्यन्त यद्यपि सभी वर्गणायें परमाणुओं की अपेक्षा अनुक्रम से मोटी हैं और अनुक्रम से मोटी होते जाने पर भी प्रत्येक मूल वर्गणा में की एक-एक उत्तर वर्गणा अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण के अवगाह वाली ही है और यदि इन प्रत्येक उत्तर वर्गणाओं में समुदाय की अपेक्षा क्षेत्रावगाह की विवक्षा करें तो परमाणु से लेकर सर्वोत्कृष्ट महा-स्कन्ध वर्गणा तक की सब उत्तर वर्गणायें भी प्रत्येक अनन्तानंत हैं और समुच्चय की अपेक्षा समस्त लोकाकाश प्रमाण अवगाह वाली हैं।

दिगम्बर कर्मग्रंथों में भी वर्गणाओं का विचार किया गया है। उस वणन में कुछ विभिन्नताओं के रहने पर भी प्रायः समानता है। वहाँ वर्गणाओं के निम्नलिखित २३ भेद हैं—

अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, तैजस्वर्गणा, अग्रहणवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्रहणवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, कार्मणशरीरवर्गणा, ध्रुवस्कन्धवर्गणा, सान्तर-निरन्तरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा।

आहार वर्गणा से औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर, इन तीन वर्गणाओं का ग्रहण किया है।

१७. नामप्रत्ययस्पर्धक और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणाओं का सारांश

नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा

बंधन नामकर्म के उदय से परस्पर बंधे हुए शरीरपुद्गलों के स्नेह के निमित्त वाले स्पर्धक की प्ररूपणा को नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहते हैं। इस प्ररूपणा के निम्नांकित छह अनुयोगद्वार हैं—

१. अविभागप्ररूपणा, २. वर्गणाप्ररूपणा, ३. स्पर्धकप्ररूपणा, ४. अन्तरप्ररूपणा, ५. वर्गणागत पुदगलस्नेहाविभागसमुदायप्ररूपणा, ६. स्थानप्ररूपणा।

१. अविभागप्ररूपणा—औदारिकादि पांच शरीरप्रायोग्य परमाणुओं के रस के निर्विभाज्य अंश (गुणपरमाणु, भावपरमाणु)।

२. वर्गणाप्ररूपणा—सर्व जीवराशि से अनन्त गुणे अविभागों की प्रथम वर्गणा (प्रथम शरीरस्थान में सब से कम और समान स्नेह वाले परमाणुओं का समुदाय)।

३. स्पर्धकप्ररूपणा—प्रथम वर्गणा के अनन्तर एक-एक स्नेहाविभाग से बढ़ते-बढ़ते पुद्गलों के समुदाय रूप अभव्य से अनन्तगुणी वर्गणाओं का प्रथम स्पर्धक। प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा से द्वितीय स्पर्धक की पहली वर्गणा में दुगने स्नेहाविभाग, तीसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा में तिगुने। इस तरह जितनी संख्या का स्पर्धक हो, उतने गुणे स्नेहाविभाग उस स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में जानना चाहिये।

४. अन्तरप्ररूपणा—पूर्व स्पर्धक की अन्त्य वर्गणा और द्वितीय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के मध्य सर्व जीवराशि से अनन्तगुणे रसाविभागों जितना अन्तर है और एक स्थान में स्थान के एक हीन स्पर्धकप्रमाण अन्तर है।

वर्गणाओं में वृद्धि दो प्रकार की होती है—अनन्तरवृद्धि, परंपरवृद्धि। अनन्तर क्रम से दो वृद्धियां होती हैं—एक-एक अविभाग वृद्धि और अनन्तानन्त अविभागवृद्धि। एक-एक अविभागवृद्धि एक स्पर्धक स्थित वर्गणाओं में होती है तथा परंपरा से प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि, ये छहों वृद्धियां जानना चाहिए।

५. वर्गणागत पुद्गल-स्नेहाविभागसमुदायप्ररूपणा—प्रथम शरीरस्थान की प्रथम वर्गणा में स्नेहाविभाग अल्प, उससे दूसरे शरीरस्थान की प्रथम वर्गणा में अनन्तगुणे, इसी प्रकार अन्तिम शरीरस्थान तक जानना चाहिए।

६. स्थानप्ररूपणा—अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्पर्धक का प्रथम शरीरप्रायोग्यस्थान होता है। उससे बाद के स्थानों में षट्स्थानों (वृद्धि रूप छहस्थान) के क्रम से स्पर्धकवृद्धि समझना चाहिये। समस्त शरीरस्थान असंख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण एवं सर्व षट्स्थान असंख्य हैं।

प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा—

योग के निमित्त से ग्रहण किये हुए पुद्गलों के स्नेह सम्बन्धी स्पर्धक की प्ररूपणा।

इस प्ररूपणा में निम्नलिखित पांच अनुयोगद्वार हैं— १. अविभागप्ररूपणा, २. वर्गणाप्ररूपणा, ३. स्पर्धकप्ररूपणा, ४. अन्तरप्ररूपणा, ५. स्थानप्ररूपणा। इन पांचों प्ररूपणाओं का वर्णन नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा के अनुरूप जानना चाहिये।

प्रथम स्थानसम्बन्धी प्रथम वर्गणा में समस्त पुद्गलों के स्नेहाविभाग अल्प होते हैं, उससे दूसरे शरीरस्थान की प्रथम वर्गणा के सर्व स्नेहाविभाग अनन्तगुणे, इसी प्रकार सबसे अन्तिम शरीरस्थान की वर्गणा तक अनुक्रम से अनन्तगुणे जानना चाहिए।

१८. मोदक के दृष्टान्त द्वारा प्रकृतिबंध आदि चारों अंशों का स्पष्टीकरण

जीव के बंधनकरण रूप वीर्यविशेष की सामर्थ्य से बंधने वाले कर्मपुद्गलों के प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश, इन चारों विभागों को मोदक के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं।

जैसे वायुविनाशक द्रव्य से निष्पन्न लड्डू स्वभाव से वायु को उपशांत करते हैं, पित्तनाशक द्रव्य से निर्मित लड्डू पित्त को और कफविनाशक द्रव्य से बने हुए लड्डू कफ को शांत करते हैं। इसप्रकार मोदक का जो पित्तोपशामक आदि स्वभाव है, वह मोदक की प्रकृति कहलाती है। उनमें से किसी मोदक की स्थिति एक दिन, किसी की दो दिन और किसी की यावत् एक मास आदि होती है, वह मोदक की स्थिति कहलाती है तथा उनमें के किसी मोदक में स्निग्ध, मधुरादि रस एकस्थानक होता है, किसी में द्विस्थानक आदि होता है, वह मोदक का रस कहलाता है तथा उसी मोदक का कण आदि रूप प्रदेश किसी का एक तोला प्रमाण, किसी का दो तोला प्रमाण इत्यादि होता है, वह मोदक का प्रदेश कहलाता है। इसीप्रकार कर्मदलिकों में से कोई ज्ञान गुण को आवृत्त करता है, कोई दर्शन गुण को तो कोई सुख-दुःख उत्पन्न करता है और कोई मोह उत्पन्न करता है। इसप्रकार का स्वरूप कर्म की प्रकृति है तथा उसी कर्म में से किसी की जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी, तो किसी की सत्तर कोडाकोडी सागर इत्यादि कालप्रमाण स्थिति, वह कर्म की स्थिति कहलाती है जो यथास्थान समझ लेना चाहिये तथा रस भी किसी कर्म का एकस्थानक और किसी का द्विस्थानक इत्यादि। किसी कर्म के प्रदेश अधिक होते हैं और किसी के अधिकतर होते हैं इत्यादि।

इसप्रकार के बंध के नाम क्रमशः प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेशबंध हैं।

१९. मूल और उत्तर प्रकृतियों में प्रदेशाग्राल्पबहुत्व दर्शक सारिणी

मूल प्रकृतियों में कर्मदल का विभाग

क्रम	कर्म का नाम	अल्प-बहुत्व
१.	आयु कर्म	अल्प (तो भी अनन्त) उससे
२.	नाम ,,	विशेषाधिक ,, स्वस्थान में दोनों का तुल्य
३.	गोत्र ,,	
४.	ज्ञानावरण कर्म	विशेषाधिक ,, स्वस्थान में तीनों का तुल्य
५.	दर्शनावरण ,,	
६.	अन्तराय ,,	
७.	मोहनीय ,,	,, ,,
८.	वेदनीय ,,	,,

उत्तर प्रकृतियों में उत्कृष्ट तथा जघन्य प्रदेशाग्र अल्पबहुत्व

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्टपद	जघन्यपद
१.	केवल ज्ञानावरण	अल्प	उत्कृष्ट पदवत्
२.	मनपर्याय ,,	अनन्तगुण	,,
३.	अवधि ,,	विशेषाधिक	,,
४.	श्रुत ,,	,,	,,
५.	मति ,,	,,	,,
६.	प्रचला	अल्प	विशेषाधिक (२)
७.	निद्रा	विशेषाधिक	अल्प (१)
८.	प्रचला-प्रचला	,,	विशेषाधिक (४)
९.	निद्रा-निद्रा	,,	,, (३)
१०.	स्त्यानर्द्धि	,,	,, (५)
११.	केवल दर्शना.	,,	,,
१२.	अवधि ,,	,,	,,
१३.	अचक्षु ,,	,,	,,
१४.	चक्षु ,,	,,	,,
१५.	असाता वेदनीय	अल्प	जघन्य पद नहीं
१६.	साता ,,	विशेषाधिक	,,
१७.	अप्रत्या. मान	अल्प	अल्प
१८.	,, क्रोध	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१९.	,, माया	,,	,,
२०.	,, लोभ	,,	,,
२१.	प्रत्या. मान	,,	,,
२२.	,, क्रोध	,,	,,
२३.	,, माया	,,	,,
२४.	,, लोभ	,,	,,
२५.	अनन्ता. मान	,,	,,
२६.	,, क्रोध	,,	,,
२७.	,, माया	,,	,,
२८.	,, लोभ	,,	,,
२९.	मिथ्यात्व	,,	,,

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्टपद		जघन्यपद
३०.	जुगुप्सा	अनन्तगुण		अनन्त गुणा
३१.	भय	विशेषाधिक		विशेषाधिक
३२.	हास्य-शोक	,,	स्वस्थान में तुल्य	,,
३३.	रति-अरति	,,	,,	,,
३४.	स्त्री-नपुंसक वेद	,,	,,	,, तीन में से एक
३५.	संज्वलन क्रोध	,,		,, (२)
३६.	,, मान	,,		,, (१)
३७.	पुरुषवेद	,,		
३८.	संज्वलन माया	,,		,, (३)
३९.	,, लोभ	असंख्यात गुणा		,, (४)
४०.	देवायु	परस्पर तुल्य	ति. म. आयु	विशेषाधिक
४१.	नरकायु			,,
४२.	तिर्यंचायु			अल्प
४३.	मनुष्यायु		दे. न. ,,	असंख्य गुण
४४.	देवगति	अल्प		असंख्य गुण
४५.	नरक गति			,,
४६.	मनुष्यगति	विशेषाधिक		विशेषाधिक
४७.	तिर्यंचगति	,,		अल्प
४८.	द्वीन्द्रिय	अल्प	स्वस्थान में तुल्य	उत्कृष्ट पदवत
४९.	त्रीन्द्रिय			,,
५०.	चतुरिन्द्रिय			,,
५१.	पंचेन्द्रिय			,,
५२.	एकेन्द्रिय	विशेषाधिक		,,
५३.	आहा. शरीर	अल्प		असंख्यगुण (५)
५४.	वैक्रिय ,,	विशेषाधिक		,, (४)
५५.	औदारिक ,,	,,		अल्प (१)
५६.	तैजस ,,	,,		विशेषाधिक (२)
५७.	कार्मण ,,	,,		,, (३)
५८.	आ. आ. बंधन	अल्प		जघन्यपद नहीं है
५९.	आ. तै. ,,	विशेषाधिक		,,
६०.	आ. का. ,,	,,		,,

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्ट पद		जघन्य पद
६१.	आ.तै. का. बंधन	विशेषाधिक		जघन्य पद नहीं है
६२.	वै. वै. ,,	,,		,,
६३.	वै. तै. ,,	,,		,,
६४.	वै. का. ,,	,,		,,
६५.	वै. तै. का. ,,	,,		,,
६६.	औ. औ. ,,	,,		,,
६७.	औ. तै. ,,	,,		,,
६८.	औ. का. ,,	,,		,,
६९.	औ. तै. का. ,,	,,		,,
७०.	तै. तै. ,,	,,		,,
७१.	तै. का. ,,	,,		,,
७२.	का. का. ,,	,,		,,
७३.	आहारक संघात	अल्प		असंख्यगुण (५)
७४.	बैक्रि. ,,	विशेषाधिक		,, (४)
७५.	औदा. ,,	,,		अल्प (१)
७६.	तैजस ,,	,,		विशेषाधिक (२)
७७.	कार्मण ,,	,,		,, (३)
७८.	न्यग्रोध संस्थान			जघन्य पद नहीं है
७९.	सादि ,,			,,
८०.	बामन ,,	अल्प	स्वस्थान में तुल्य	,,
८१.	कुब्ज ,,			,,
८२.	समच० ,,	विशेषाधिक		,,
८३.	हुण्डक ,,	,,		,,
८४.	आहा. अंगोपांग	अल्प		असंख्य गुण (३)
८५.	वैक्रिय ,,	विशेषाधिक		,, (२)
८६.	औदारिक ,,	,,		अल्प (१)
८७.	व. ऋ. ना.			जघन्य पद नहीं है
८८.	ऋ. ना.			,,
८९.	ना.	अल्प	स्वस्थान में तुल्य	,,
९०.	अर्द्ध. ना.			,,
९१.	कीलिका			,,
९२.	सेवार्त	विशेषाधिक		,,

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्ट पद		जघन्य पद
९३.	कृष्ण	अल्प		जघन्य पद नहीं है
९४.	नील	विशेषाधिक		,,
९५.	रक्त	,,		,,
९६.	पीत	,,		,,
९७.	श्वेत	,,		,,
९८.	सुरभि	अल्प		,,
९९.	दुरभि	विशेषाधिक		,,
१००.	कटु	अल्प		,,
१०१.	तिक्त	विशेषाधिक		,,
१०२.	कषाय	,,		,,
१०३.	अम्ल	,,		,,
१०४.	मधुर	,,		,,
१०५.	खर	अल्प	स्वस्थान में तुल्य	,,
१०६.	गुरु			,,
१०७.	मृदु	विशेषाधिक	,,	,,
१०८.	लघु		,,	,,
१०९.	रूक्ष	विशेषाधिक	,,	,,
११०.	शीत		,,	,,
१११.	स्निग्ध	विशेषाधिक		,,
११२.	उष्ण			,,
११३.	देवानुपूर्वी	अल्प		उत्कृष्ट पदवत्
११४.	नरकानुपूर्वी			,,
११५.	मनुष्यानुपूर्वी	विशेषाधिक		,,
११६.	तिर्यंचानुपूर्वी	,,		,,
११७.	आतप	परस्पर तुल्य		जघन्य पद नहीं है
११८.	उद्योत			,,
११९.	शुभ वि. गति			,,
१२०.	अशुभ वि. ,,			,,
१२१.	सुस्वर			,,
१२२.	दुस्वर			,,
१२३.	निर्माण	अल्पबहुत्व नहीं है		,,
१२४.	उच्छ्वास	,,		,,

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्ट पद	जघन्य पद
१२५.	उपघात	अल्पबहुत्व नहीं है	,,
१२६.	पराघात	,,	,,
१२७.	अगुरुलघु	,,	,,
१२८.	तीर्थंकर	,,	,,
१२९.	त्रस	अल्प	अल्प
१३०.	स्थावर	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१३१.	पर्याप्त	अल्प	अल्प
१३२.	अपर्याप्त	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१३३.	स्थिर	अल्प	जघन्य पद नहीं है
१३४.	अस्थिर	विशेषाधिक	,,
१३५.	शुभ	अल्प	,,
१३६.	अशुभ	विशेषाधिक	,,
१३७.	सुभग	अल्प	,,
१३८.	दुर्भग	विशेषाधिक	,,
१३९.	आदेय	अल्प	,,
१४०.	अनादेय	विशेषाधिक	,,
१४१.	सूक्ष्म	अल्प	विशेषाधिक
१४२.	बादर	विशेषाधिक	अल्प
१४३.	प्रत्येक	अल्प	अल्प
१४४.	साधारण	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१४५.	अयश:कीर्ति	अल्प	—
१४६.	यश:कीर्ति	संख्यात गुण	—
१४७.	नीचगोत्र	अल्प	जघन्य पद नहीं है
१४८.	उच्चगोत्र	विशेषाधिक	,,
१४९.	दान-अन्तराय	अल्प	उत्कृष्ट पदवत्
१५०.	लाभ ,,	विशेषाधिक	,,
१५१.	भोग ,,	,,	,,
१५२.	उपभोग ,,	,,	,,
१५३.	वीर्य ,,	,,	,,

२०. रसाविभाग और स्नेहाविभाग के अन्तर का स्पष्टीकरण

कर्मरस के वर्णन के प्रसंग में अनेक स्थानों पर स्नेह शब्द का और स्नेहस्पर्धक के वर्णन के प्रसंग में रस शब्द आता है। इस पद से अनुमान होता है कि स्नेह और कर्मरस ये दोनों एक होना चाहिये। परन्तु पुद्गलों का स्नेह और अनुभाग रूप रस, ये दोनों एक नहीं हैं, परन्तु भिन्न हैं। उस भिन्नता का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कार्यभेद—कर्मस्कन्धों को परस्पर संबद्ध करना स्नेह का कार्य है और तदनुरूप (जिस कर्म का जो स्वभाव है, उस स्वभाव रूप) जीव को तीव्रमंदादि शुभाशुभ अनुभव कराना अनुभाग का कार्य है। इस प्रकार कार्य-भेद से स्नेह और अनुभाग ये दोनों भिन्न हैं।

वस्तुभेद—स्नेह यह कर्माणुओं में विद्यमान स्निग्ध स्पर्श है और अनुभाग तदनुरूप अनुभव की तीव्र-मंदता है अथवा तदनुरूप तीव्रमंदादि अनुभव है। इस प्रकार वस्तुभेद से भी स्नेह और अनुभाग ये दोनों भिन्न हैं।

कारणभेद—कर्मस्कन्धों में स्नेह का कारण स्निग्ध स्पर्श रूप पुद्गल परिणाम है और अनुभाग की उत्पत्ति में जीव के काषायिक अध्यवसाय यही कारणरूप हैं। इस प्रकार कारणभेद से भी स्नेह और अनुभाग ये दोनों भिन्न हैं।

पूर्वापरोत्पत्तिभेद—कर्म अथवा कार्मण देह रूप पुद्गलों के स्नेहाविभाग कम परिणाम से पूर्व (तत्कर्मयोग्य परिणत होने के पहले) उत्पन्न हुए होते हैं और अनुभाग की उत्पत्ति कर्मपरिणाम के समय ही अर्थात् कर्म-प्रायोग्य पुद्गल पहले अकर्म रूप अथवा कार्मणवर्गणा रूप होते हैं और वे जब कर्मरूप में परिणत होते हैं यानी जीव के साथ संबद्ध होते हैं, तब होता है और सचेतन कहलाने लगते हैं। इस प्रकार पूर्वापरोत्पत्ति भेद से भी स्नेह और अनुभाग ये दोनों भिन्न हैं।

पर्यायभेद—स्नेह स्निग्धस्पर्श की पर्याय है और काषायिक अध्यवसायों से संयुक्त कर्मदलिक के गुण, अनुभाग, रस, अनुभाव, अनुभव, तीव्रता-मंदता ये अनुभाग की पर्याय हैं।

प्ररूपणाभेद—स्नेह की प्ररूपणा स्नेहप्रत्यय, नामप्रत्यय और प्रयोगप्रत्यय रूप में की गई है और अनुभाग की प्ररूपणा शुभ-अशुभ, घाति-अघाति, एकस्थानक, द्विस्थानक इत्यादि रूप में की जाती है। इस प्रकार भी स्नेह और अनुभाग ये दोनों भिन्न हैं।

सारांश यह है कि स्नेह के वर्णन में जहां पर भी रस शब्द आता है, वहां रस शब्द स्नेह का वाचक है परन्तु अनुभागवाचक नहीं है तथा कर्मरस के सम्बन्ध में जहां भी स्नेह शब्द आता है, वहां उस स्नेह शब्द को कर्मरस का वाचक जानना चाहिये परन्तु स्निग्धस्पर्शवाचक नहीं। यद्यपि शब्दसाधर्म्य से अनुभाग को स्नेह-विशेष कहा जा सकता है, परन्तु उन दोनों को एक रूप अथवा आधाराधेय मानना वास्तविक नहीं है।

२१. असत्कल्पना द्वारा षट्स्थानक प्ररूपणा का स्पष्टीकरण (गाथा ३२ से ३७)

१. षट्स्थानक की अंकसंदृष्टि में दिया गया एक-एक संख्या रूप अंक एक-एक अध्यवसाय रूप जानना चाहिये। जैसे १,२ इत्यादि।

२. जितनेवां अंक उतनेवां अध्यवसायस्थान, जैसे कि १५वां अंक, यह १५वां अध्यवसायस्थान, २४वां अंक, यह २४वां अध्यवसायस्थान।

३. जिस अंक के आगे किसी प्रकार का चिह्न नहीं हो तो उस अंक वाला अध्यवसायस्थान उससे पूर्व के अध्यवसायस्थान से अनन्तभागाधिक जानना चाहिए। जैसे कि २,३,४,६ आदि। अर्थात् पहले से दूसरा अनन्तभागाधिक, दूसरा से तीसरा अनन्तभागाधिक, तीसरे से चौथा अनन्तभागाधिक, पांचवें से छठा अनन्तभागाधिक आदि।

४. अंगुल के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश हैं, उस संख्या की कंडक यह संज्ञा है। परन्तु यहां असत्कल्पना से कंडक संख्या ४ समझना चाहिए।

५. 'अ' असंख्यातभागाधिक का संकेतचिह्न समझना चाहिये। जैसे कि 'अ ५' अर्थात् ४थे स्थान से ५वां स्थान असंख्यातभागाधिक है। इसी तरह 'अ१०' अर्थात् १०वां ९वें से, 'अ२०' अर्थात् २०वां १९वें से असंख्यातभागाधिक है।

६. 'क' संख्यातभागाधिक का संकेतचिह्न है। जैसे 'क२५' अर्थात् २४वें स्थान से २५वां स्थान संख्यातभागाधिक है। इसी तरह 'क५०' वह ४९वें स्थान से और 'क१५०' वह १४९वें स्थान से संख्यातभागाधिक है।

७. 'ख' संख्यातगुणाधिक का संकेतचिह्न है। यथा 'ख१२५', वह १२४वें से संख्यातगुणाधिक, 'ख३७५' वह ३७४वें से संख्यातगुणाधिक है।

८. 'ग' असंख्यातगुणाधिक का संकेतचिह्न है। यथा 'ग६२५', वह ६२४वें से असंख्यगुणाधिक, 'ग १२५० वह १२४९वें से असंख्यातगुणाधिक है।

९. 'घ' अनन्तगुणाधिक का संकेतचिह्न है। यथा 'घ३१२५' वह ३१२४वें से अनन्तगुणाधिक, 'घ६२५०,' वह ६२४९वें से अनन्तगुणाधिक है।

१०. जिन दो अंकों के बीच में धन (+) का चिह्न हो, वहां ऐसा समझना चाहिये कि उन दोनों के बीच अनन्तभागाधिक के एक कंडक प्रमाण (असत्कल्पना से ४) स्थान हैं। यथा—'अ२५५+अ२६०' यहां 'अ २५५' २५६-२५७-२५८-२५९ 'अ२६०' इस प्रकार जानना चाहिये।

११. जिन दो अंकों के बीच गुणा (×) का निशान हो, वहां अनन्तभागाधिक का १ कंडक, पश्चात् १ स्थान असंख्यातभागाधिक का, पश्चात् अनन्तभागाधिक का १ कंडक, पश्चात् १ स्थान असंख्यातभागाधिक की संख्या १ कंडक प्रमाण (असत्कल्पना से ४) होती है और ऊपर अनन्तभाग का एक कंडक होता है। असत्कल्पना से २४ स्थान समझना चाहिये। जैसे कि क३१५० × क ३१७५ = ३१५१, ३१५२,३१५३, ३१५४, अ३१५५ + अ३१६० + अ३१६५ + अ३१७० + क३१७५।

१२. षट्स्थानक प्ररूपणाओं में गुणाकार का प्रमाण इस प्रकार जानना चाहिये—

१. अनन्तभागवृद्धिस्थान	कंडक प्रमाण (असत्कल्पना से ४ अंक)
२. अनन्तभागवृद्धिस्थान से असंख्यातभागवृद्धिस्थान	—कंडकाधिक, कंडकवर्ग प्रमाण (२० अंक)
३. " " संख्यातभागवृद्धिस्थान	—कंडकाधिक, कंडकवर्गद्वयाधिक, कंडकघन (१०० अंक)
४. अनन्तभागवृद्धिस्थान से संख्यातगुणवृद्धिस्थान	कंडकवर्गोन, कंडकाधिक, कंडकवर्ग-वर्गद्वय प्रमाण (५०० अंक)

५. अनन्तभागवृद्धि स्थान से असंख्यातगुणवृद्धिस्थान — कंडकाधिक, कंडकघनत्रयाधिक, कंडकवर्गवर्गाधिक, कंडकाभ्यासद्वय प्रमाण (२५०० अंक)

६. " " " " अनन्तगुणवृद्धिस्थान — कंडकवर्गत्रिकोन, कंडकाधिक, कंडकवर्गवर्गाधिक, कंडक–घनवर्गत्रय प्रमाण (१२५०० अंक)

स्थापना के सर्व अंकों का प्रमाण—४+२०+१००+५००+२५००+१२५००=१५६२४।

इस षट्स्थानकप्ररूपणा में वर्गादि का प्रमाण इस प्रकार है—

कंडकवर्ग=४×४=१६।

कंडकवर्गद्वय=४×४=१६, पुनः ४×४=१६, इस प्रकार दो बार १६।

कंडकघन=४×४×४=६४।

कंडकघनद्वय=४×४×४=६४, पुनः ४×४×४=६४, इस प्रकार दो बार ६४।

कंडकघनत्रय=४×४×४=६४, पुनः ४×४×४=६४, पुनः ४×४×४=६४, इस प्रकार तीन बार ६४।

कंडकाभ्यासद्वय=४×४×४×४×४×४=१०२४, पुनः ४×४×४×४×४×४=१०२४, इस प्रकार दो बार १०२४ (जो संख्या हो, उस संख्या को उसी संख्या से उतनी बार गुणा करने पर जो राशि प्राप्त होती है, उसे अभ्यास कहते हैं)।

कंडकवर्गोन—कंडकवर्ग का जो अंक हो, उसे अंतिम संख्या में से कम कर देना।

कंडकवर्ग-वर्ग=कंडक का वर्ग, उसका भी वर्ग, यथा ४×४=१६ यह कंडकवर्ग हुआ, इसका पुनः वर्ग १६×१६=२५६।

असत्कल्पना द्वारा षट्स्थानक की अंकसंदृष्टि का प्रारूप

१ २ ३ ४ अ५ ६ ७ ८ ९ अ१० ११ १२ १३ १४ अ१५ १६ १७ १८ १९ अ२० २१ २२ २३ २४ क२५ २६ २७ २८ २९ अ३० ३१ ३२ ३३ ३४ अ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ अ४० ४१ ४२ ४३ ४४ अ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ क५० ५१ ५२ ५३ ५४ अ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ अ६० ६१ ६२ ६३ ६४ अ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ अ७० ७१ ७२ ७३ ७४ क७५ ७६ ७७ ७८ ७९ अ८० ८१ ८२ ८३ ८४ अ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ अ९० ९१ ९२ ९३ ९४ अ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ क१०० १०१ १०२ १०३ १०४ अ१०५ १०६ १०७ १०८ १०९ अ११० १११ ११२ ११३ ११४ अ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ अ१२० १२१ १२२ १२३ १२४ ख१२५ १२६ १२७ १२८ १२९ अ१३० १३१ १३२ १३३ १३४ अ१३५ १३६ १३७ १३८ १३९ अ१४० १४१ १४२ १४३ १४४ अ१४५ १४६ १४७ १४८ १४९ क१५० १५१ १५२ १५३ १५४ अ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ अ१६० १६१ १६२ १६३ १६४ अ१६५ १६६ १६७ १६८ १६९ अ१७० १७१ १७२ १७३ १७४ क१७५ १७६ १७७ १७८ १७९ अ१८० १८१ १८२ १८३ १८४ अ१८५ १८६ १८७ १८८ १८९ अ१९० १९१ १९२ १९३ १९४ अ१९५ १९६ १९७ १९८ १९९ क२०० २०१ २०२ २०३ २०४ अ२०५ २०६ २०७ २०८ २०९ अ२१० २११ २१२ २१३ २१४ अ२१५ २१६ २१७ २१८ २१९ अ२२० २२१ २२२ २२३ २२४ क२२५ २२६ २२७ २२८ २२९ अ२३० २३१ २३२ २३३ २३४ अ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ अ२४० २४१ २४२ २४३ २४४ अ२४५ २४६ २४७ २४८ २४९ ख२५० २५१ २५२ २५३ २५४ अ२५५+ अ२६०+ अ२६५+ अ२७०+ क२७५+ अ२८०+ अ२८५+ अ२९०+

अ २९५ + क३०० + अ३०५ + अ ३१० + अ ३१५ + अ ३२० + क ३२५ + अ ३३० + अ ३३५ + अ३४० + अ
३४५ + क ३५० + अ ३५५ + अ ३६० + अ ३६५ + अ ३७० + ख ३७५ + अ ३८० + अ ३८५ + अ ३९० + अ
३९५ + क ४०० + अ ४०५ + अ ४१० + अ ४१५ + अ ४२० + क ४२५ + अ ४३० + अ ४३५ + अ ४४० + अ
४४५ + क ४५० + अ ४५५ + अ ४६० + अ ४६५ + अ ४७० + क ४७५ + अ ४८० + अ ४८५ + अ ४९० + अ
४९५ + ख ५०० + अ ५०५ + अ ५१० + अ ५१५ + अ ५२० + क ५२५ + अ ५३० + अ ५३५ + अ ५४० + अ
५४५ + क ५५० + अ ५५५ + अ ५६० + अ ५६५ + अ ५७० + क ५७५ + अ ५८० + अ ५८५ + अ ५९० + अ
५९५ + क ६०० + अ ६०५ + अ ६१० + अ ६१५ + अ ६२० + ग ६२५ + अ ६३० + अ ६३५ + अ ६४० + अ
६४५ + क ६५० + अ ६५५ + अ ६६० + अ ६६५ + अ ६७० + क ६७५ + अ ६८० + अ ६८५ + अ ६९० + अ
६९५ + क ७०० + अ ७०५ + अ ७१० + अ ७१५ + अ ७२० + क ७२५ + अ ७३० + अ ७३५ + अ ७४० + अ
७४५ + ख ७५० + अ ७५५ + अ ७६० + अ ७६५ + अ ७७० + क ७७५ + अ ७८० + अ ७८५ + अ ७९० + अ
७९५ + क ८०० + अ ८०५ + अ ८१० + अ ८१५ + अ ८२० + क ८२५ + अ ८३० + अ ८३५ + अ ८४० + अ
८४५ + क ८५० + अ ८५५ + अ ८६० + अ ८६५ + अ ८७० + ख ८७५ + अ ८८० + अ ८८५ + अ ८९० + अ
८९५ + क ९०० + अ ९०५ + अ ९१० + अ ९१५ + अ ९२० + क ९२५ + अ ९३० + अ ९३५ + अ ९४० + अ
९४५ + क ९५० + अ ९५५ + अ ९६० + अ ९६५ + अ ९७० + क ९७५ + अ ९८० + अ ९८५ + अ ९९० + अ
९९५ + ख १००० + अ १००५ + अ १०१० + अ १०१५ + अ १०२० + क १०२५ + अ १०३० + अ १०३५ + अ
१०४० + अ १०४५ + क १०५० + अ १०५५ + अ १०६० + अ १०६५ + अ १०७० + क १०७५ + अ १०८० + अ
१०८५ + अ१०९० + अ१०९५ + क११०० + अ११०५ + अ१११० + अ१११५ + अ११२० + ख११२५ + अ११३० + अ
११३५ + अ११४० + अ११४५ + क११५० + अ११५५ + अ११६० + अ११६५ + अ११७० + क११७५ + अ११८० + अ
११८५ + अ११९० + अ११९५ + क१२०० + अ१२०५ + अ१२१० + अ१२१५ + अ१२२० + क१२२५ + अ१२३० + अ
१२३५ + अ १२४० + अ १२४५ + ग १२५० + अ १२५५ + अ १२६० + अ १२६५ + अ १२७० + क १२७५ + अ
१२८० + अ १२८५ + अ १२९० + अ १२९५ + क १३०० + अ १३०५ + अ १३१० + अ १३१५ + अ १३२० + क
१३२५ + अ १३३० + अ १३३५ + अ १३४० + अ १३४५ + क १३५० + अ १३५५ + अ १३६० + अ १३६५ + अ
१३७० + ख १३७५ + अ १३८० + अ १३८५ + अ १३९० + अ १३९५ + क १४०० + अ १४०५ + अ १४१० + अ
१४१५ + अ १४२० + क १४२५ + अ १४३० + अ १४३५ + अ १४४० + अ १४४५ + क १४५० + अ १४५५ + अ
१४६० + अ १४६५ + अ १४७० + क १४७५ + अ १४८० + अ १४८५ + अ १४९० + अ १४९५ + ख १५०० + अ
१५०५ + अ १५१० + अ १५१५ + अ १५२० + क १५२५ + अ १५३० + अ १५३५ + अ १५४० + अ १५४५ + क
१५५० + अ १५५५ + अ १५६० + अ १५६५ + अ १५७० + क १५७५ + अ १५८० + अ १५८५ + अ १५९० + अ
१५९५ + क १६०० + अ १६०५ + अ १६१० + अ १६१५ + अ १६२० + ख १६२५ + अ १६३० + अ १६३५ + अ
१६४० + अ १६४५ + क १६५० + अ १६५५ + अ १६६० + अ १६६५ + अ १६७० + क १६७५ + अ १६८० + अ
१६८५ + अ १६९० + अ १६९५ + क १७०० + अ १७०५ + अ १७१० + अ १७१५ + अ १७२० + क १७२५ + अ
१७३० + अ १७३५ + अ १७४० + अ१७४५ + ख १७५० + अ १७५५ + अ १७६० + अ १७६५ + अ १७७० + क
१७७५ + अ १७८० + अ १७८५ + अ १७९० + अ १७९५ + क १८०० + अ १८०५ + अ १८१० + अ १८१५ + अ
१८२० + क १८२५ + अ १८३० + अ १८३५ + अ १८४० + अ १८४५ + क १८५० + अ १८५५ + अ १८६० + अ
१८६५ + अ १८७० + ग १८७५ + अ १८८० + अ १८८५ + अ १८९० + अ १८९५ + क १९०० + अ १९०५ + अ
१९१० + अ १९१५ + अ १९२० + क १९२५ + अ १९३० + अ १९३५ + अ १९४० + अ १९४५ + क १९५० + अ
१९५५ + अ १९६० + अ १९६५ + अ १९७० + क १९७५ + अ १९८० + अ १९८५ + अ १९९० + अ १९९५ + ख
२००० + अ २००५ + अ २०१० + अ २०१५ + अ २०२० + क २०२५ + अ २०३० + अ २०३५ + अ २०४० + अ
२०४५ + क २०५० + अ २०५५ + अ २०६० + अ २०६५ + अ २०७० + क २०७५ + अ २०८० + अ २०८५ + अ
२०९० + अ २०९५ + क २१०० + अ २१०५ + अ २११० + अ २११५ + अ २१२० + ख २१२५ + अ २१३० + अ

२१३५+अ २१४०+अ २१४५+क २१५०+अ २१५५+अ २१६०+अ २१६५+अ २१७०+क २१७५+अ
२१८०+अ २१८५+अ २१९०+अ २१९५+क २२००+अ २२०५+अ २२१०+अ २२१५+अ २२२०+क
२२२५+अ २२३०+अ २२३५+अ २२४०+अ २२४५+ख २२५०+अ २२५५+अ २२६०+अ २२६५+अ
२२७०+क २२७५+अ २२८०+अ २२८५+अ २२९०+अ २२९५+क २३००+अ २३०५+अ २३१०+अ
२३१५+अ २३२०+क २३२५+अ २३३०+अ २३३५+अ २३४०+अ २३४५+क २३५०+अ २३५५+अ
२३६०+अ २३६५+अ २३७०+ख २३७५+अ २३८०+अ २३८५+अ २३९०+अ २३९५+क २४००+अ
२४००५+अ २४१०+अ २४१५+अ २४२०+क २४२५+अ २४३०+अ २४३५+अ २४४०+अ २४४५+क
२४५०+अ २४५५+अ २४६०+अ २४६५+अ २४७०+क २४७५+अ २४८०+अ २४८५+अ २४९०+अ
२४९५+ग २५००+अ २५०५+अ २५१०+अ २५१५+अ २५२०+क २५२५+अ २५३०+अ २५३५+अ
२५४०+अ २५४५+क २५५०+अ २५५५+अ २५६०+अ २५६५+अ २५७०+क २५७५+अ २५८०+अ
२५८५+अ २५९०+अ २५९५+क २६००+अ २६०५+अ २६१०+अ २६१५+अ २६२०+ख २६२५+अ
२६३०+अ २६३५+अ २६४०+अ २६४५+क २६५०+अ २६५५+अ २६६०+अ २६६५+अ २६७०+क
२६७५+अ २६८०+अ २६८५+अ २६९०+अ २६९५+क २७००+अ २७०५+अ २७१०+अ २७१५+अ
२७२०+क २७२५+अ २७३०+अ २७३५+अ २७४०+अ २७४५+ख २७५०+अ २७५५+अ २७६०+अ
२७६५+अ २७७०+क २७७५+अ २७८०+अ २७८५+अ २७९०+अ २७९५+क २८००+अ २८०५+अ
२८१०+अ २८१५+अ २८२०+क २८२५+अ २८३०+अ २८३५+अ २८४०+अ २८४५+क २८५०+अ
२८५५+अ २८६०+अ २८६५+अ २८७०+ख २८७५+अ २८८०+अ २८८५+अ २८९०+अ २८९५+क
२९००+अ २९०५+अ २९१०+अ २९१५+अ २९२०+क २९२५+अ २९३०+अ २९३५+अ २९४०+अ
२९४५+क २९५०+अ २९५५+अ २९६०+अ २९६५+अ २९७०+क २९७५+अ २९८०+अ २९८५+अ
२९९०+अ २९९५+ख ३०००+अ ३००५+अ ३०१०+अ ३०१५+अ ३०२०+क ३०२५+अ ३०३०+अ
३०३५+अ ३०४०+अ ३०४५+क ३०५०+अ ३०५५+अ ३०६०+अ ३०६५+अ ३०७०+क ३०७५+अ
३०८०+अ३०८५+अ३०९०+अ३०९५+क३१००+अ३१०५+अ३११०+अ३११५+अ३१२०+घ३१२५+अ
३१३०+अ ३१३५+अ ३१४०+अ ३१४५+क ३१५०×क ३१७५×क ३२००×क ३२२५×ख ३२५०×क
३२७५×क ३३००×क ३३२५×क ३३५०×ख ३३७५×क ३४००×क ३४२५×क ३४५०×क ३४७५×ख
३५००×क ३५२५×क ३५५०×क३५७५×क ३६००×ख ३६२५×क ३६५०×क ३६७५×क ३७००×क
३७२५×ग ३७५०×क ३७७५×क ३८००×क ३८२५×क ३८५०×ख ३८७५×क ३९००×क ३९२५×क
३९५०×क ३९७५×ख ४०००×क ४०२५×क ४०५०×क ४०७५×क ४१००×ख ४१२५×क ४१५०×क
४१७५×क४२००×क४२२५×ख४२५०×क४२७५×क४३००×क४३२५×क४३५०×ग४३७५×क४४००×क
४४२५×क ४४५०×क ४४७५×ख ४५००×क ४५२५×क ४५५०×क ४५७५×क ४६००×ख ४६२५×क
४६५०×क ४६७५×क ४७००×क ४७२५×ख ४७५०×क ४७७५×क ४८००×क ४८२५×क ४८५०×ख
४८७५×क ४९००×क ४९२५×क ४९५०×क ४९७५×ग ५०००×क ५०२५×क ५०५०×क ५०७५×क
५१००×ख ५१२५×क ५१५०×क ५१७५×क ५२००×क ५२२५×ख ५२५०×क ५२७५×क ५३००×क
५३२५×क ५३५०×ख ५३७५×क ५४००×क ५४२५×क ५४५०×क ५४७५×ख ५५००×क ५५२५×क
५५५०×क ५५७५×क ५६००×ग ५६२५×क ५६५०×क ५६७५×क ५७००×क ५७२५×ख ५७५०×क
५७७५×क ५८००×क ५८२५×क ५८५०×ख ५८७५×क ५९००×क ५९२५×क ५९५०×क ५९७५×ख
६०००×क ६०२५×क ६०५०×क ६०७५×क ६१००×ख ६१२५×क ६१५०×क ६१७५×क ६२००×क
६२२५×क ६२५०×क ६२७५×क ६३००×क ६३२५×क ६३५०×ख ६३७५×क ६४००×क ६४२५×क
६४५०×क ६४७५×ख ६५००×क ६५२५×क ६५५०×क ६५७५×क ६६००×ख ६६२५×क ६६५०×क
६६७५×क ६७००×क ६७२५×ख ६७५०×क ६७७५×क ६८००×क ६८२५×क ६८५०×ग ६८७५×क

६९०० × क ६९२५ × क ६९५० × क ६९७५ × ख ७००० × क ७०२५ × क ७०५० × क ७०७५ × क ७१०० × ख
७१२५ × क ७१५० × क ७१७५ × क ७२०० × क ७२२५ × ख ७२५० × क ७२७५ × क ७३०० × क ७३२५ × क
७३५० × ख ७३७५ × क ७४०० × क ७४२५ × क ७४५० × क ७४७५ × ग ७५०० × क ७५२५ × क ७५५० × क
७५७५ × क ७६०० × ख ७६२५ × क ७६५० × क ७६७५ × क ७७०० × क ७७२५ × ख ७७५० × क ७७७५ × क
७८०० × क ७८२५ × क ७८५० × ख ७८७५ × क ७९०० × क ७९२५ × क ७९५० × क ७९७५ × ख ८००० × क
८०२५ × क ८०५० × क ८०७५ × क ८१०० × ग ८१२५ × क ८१५० × क ८१७५ × क ८२०० × क ८२२५ × ख
८२५० × क ८२७५ × क ८३०० × क ८३२५ × क ८३५० × ख ८३७५ × क ८४०० × क ८४२५ × क ८४५० × क
८४७५ × ख ८५०० × क ८५२५ × क ८५५० × क ८५७५ × क ८६०० × ख ८६२५ × क ८६५० × क ८६७५ × क
८७०० × क ८७२५ × ग ८७५० × क ८७७५ × क ८८०० × क ८८२५ × क ८८५० × ख ८८७५ × क ८९०० × क
८९२५ × क ८९५० × क ८९७५ × ख ९००० × क ९०२५ × क ९०५० × क ९०७५ × क ९१०० × ख ९१२५ × क
९१५० × क ९१७५ × क ९२०० × क ९२२५ × ख ९२५० × क ९२७५ × क ९३०० × क ९३२५ × क ९३५० × ग
९३७५ × क ९४०० × क ९४२५ × क ९४५० × क ९४७५ × ख ९५०० × क ९५२५ × क ९५५० × क ९५७५ × क
९६०० × ख ९६२५ × क ९६५० × क ९६७५ × क ९७०० × क ९७२५ × ख ९७५० × क ९७७५ × क ९८०० × क
९८२५ × क ९८५० × ख ९८७५ × क ९९०० × क ९९२५ × क ९९५० × क ९९७५ × ग १०००० × क १००२५ × क
१००५० × क १००७५ × क १०१०० × ख १०१२५ × क १०१५० × क १०१७५ × क १०२०० × क १०२२५ × ख
१०२५० × क १०२७५ × क १०३०० × क १०३२५ × क १०३५० × ख १०३७५ × क १०४०० × क १०४२५ × क
१०४५० × क १०४७५ × ख १०५०० × क १०५२५ × क १०५५० × क १०५७५ × क १०६०० × ग १०६२५ × क
१०६५० × क १०६७५ × क १०७०० × क १०७२५ × ख १०७५० × क १०७७५ × क १०८०० × क १०८२५ × क
१०८५० × ख १०८७५ × क १०९०० × क १०९२५ × क १०९५० × क १०९७५ × ख ११००० × क ११०२५ × क
११०५० × क ११०७५ × क १११०० × ख १११२५ × क १११५० × क १११७५ × क ११२०० × क ११२२५ × ख
११२५० × क ११२७५ × क ११३०० × क ११३२५ × क ११३५० × ख ११३७५ × क ११४०० × क ११४२५ × क
११४५० × क ११४७५ × ख ११५०० × क ११५२५ × क ११५५० × क ११५७५ × क ११६०० × ख ११६२५ × क
११६५० × क ११६७५ × क ११७०० × क ११७२५ × ख ११७५० × क ११७७५ × क ११८०० × क ११८२५ × क
११८५० × ग ११८७५ × क ११९०० × क ११९२५ × क ११९५० × क ११९७५ × ख १२००० × क १२०२५ × क
१२०५० × क १२०७५ × क १२१०० × ख १२१२५ × क १२१५० × क १२१७५ × क १२२०० × क १२२२५ × ख
१२२५० × क १२२७५ × क १२३०० × क १२३२५ × क १२३५० × ख १२३७५ × क १२४०० × क १२४२५ × क
१२४५० × क १२४७५ × घ १२५०० × क १२५२५ × क १२५५० × क १२५७५ × क १२६०० × ख १२६२५ × क
१२६५० × क १२६७५ × क १२७०० × क १२७२५ × ख १२७५० × क १२७७५ × क १२८०० × क १२८२५ × क
१२८५० × ख १२८७५ × क १२९०० × क १२९२५ × क १२९५० × क १२९७५ × ख १३००० × क १३०२५ × क
१३०५० × क १३०७५ × क १३१०० × ग १३१२५ × क १३१५० × क १३१७५ × क १३२०० × क १३२२५ × ख
१३२५० × क १३२७५ × क १३३०० × क १३३२५ × क १३३५० × ख १३३७५ × क १३४०० × क १३४२५ × क
१३४५० × क १३४७५ × क १३५०० × क १३५२५ × क १३५५० × क १३५७५ × क १३६०० × ख १३६२५ × क
१३६५० × क १३६७५ × क १३७०० × क १३७२५ × ग १३७५० × क १३७७५ × क १३८०० × क १३८२५ × क
१३८५० × ख १३८७५ × क १३९०० × क १३९२५ × क १३९५० × क १३९७५ × ख १४००० × क १४०२५ × क
१४०५० × क १४०७५ × क १४१०० × ख १४१२५ × क १४१५० × क १४१७५ × क १४२०० × क १४२२५ × ख
१४२५० × क १४२७५ × क १४३०० × क १४३२५ × क १४३५० × ग १४३७५ × क १४४०० × क १४४२५ × क

१४४५० × क १४४७५ × ख १४५०० × क १४५२५ × क १४५५० × क १४५७५ × क १४६०० × ख १४६२५ × क १४६५० × क १४६७५ × क १४७०० × क १४७२५ × ख १४७५० × क १४७७५ × क १४८०० × क १४८२५ × क १४८५० × ख १४८७५ × क १४९०० × क १४९२५ × क १४९५० × क १४९७५ × ग १५००० × क १५०२५ × क १५०५० × क १५०७५ × क १५१०० × ख १५१२५ × क १५१५० × क १५१७५ × क १५२०० × क १५२२५ × ख १५२५० × क १५२७५ × क १५३०० × क १५३२५ × क १५३५० × ख १५३७५ × क १५४०० × क १५४२५ × क १५४५० × क १५४७५ × ग १५५०० × क १५५२५ × क १५५५० × क १५५७५ × क १५६००, १५६०१, १५६०२, १५६०३, १५६०४, १५६०५, १५६०६, १५६०७, १५६०८, १५६०९, १५६१०, १५६११, १५६१२, १५६१३, १५६१४, १५६१५, १५६१६, १५६१७, १५६१८, १५६१९, १५६२०, १५६२१, १५६२२, १५६२३, १५६२४-०
(बिन्दु षट्स्थानक की समाप्ति का सूचक है।)

२२. षट्स्थानक में अधस्तनस्थानप्ररूपणा का स्पष्टीकरण

अधस्तनस्थानप्ररूपणा

विवक्षित वृद्धि की अपेक्षा नीचे की वृद्धि की विवक्षा करना । जिसका स्थापनापूर्वक स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. अनन्तगुणवृद्धि, २. असंख्यातगुणवृद्धि, ३. संख्यातगुणवृद्धि, ४. संख्यातभागवृद्धि, ५. असंख्यातभागवृद्धि, ६. अनन्तभागवृद्धि।

यह प्ररूपणा पांच प्रकार की है—

१. अनन्तरमार्गणा, २. एकान्तरितमार्गणा, ३. द्वयन्तरितमार्गणा, ४. त्र्यन्तरितमार्गणा, ५. चतुरन्तरितमार्गणा।

१. अनन्तरमार्गणा—

बीच में अन्य कोई भी वृद्धि न रखकर विवक्षित से नीचे की वृद्धि की प्ररूपणा करना। यथा (१) प्रथम असंख्यातभागवृद्धि की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। (२) प्रथम संख्यातभागवृद्धि की अपेक्षा असंख्यातभागवृद्धि के स्थान की विचारणा । इस प्रकार पांचवीं प्रथम अनन्तगुणवृद्धि की अपेक्षा असंख्यातगुणवृद्धि के स्थान की विचारणा। इस मार्गणा में पांच (५) स्थान हैं।

२. एकान्तरितमार्गणा—

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच में एक वृद्धि को छोड़कर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम संख्यातभागवृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि के स्थान की विचारणा। इस विचारणा में चार (४) स्थान हैं।

३. द्वयन्तरितमार्गणा—

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच में दो वृद्धि को छोड़कर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम संख्यातगुणाधिक वृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। इस मार्गणा में तीन (३) स्थान हैं।

४. त्र्यन्तरितमार्गणा—

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच में तीन वृद्धि को छोड़कर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम असंख्यातगुणवृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। इस मार्गणा में दो (२) स्थान हैं।

५. चतुरन्तरितमार्गणा—

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच में चार वृद्धि को छोड़कर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम अनन्तगुणवृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। इस मार्गणा में एक (१) स्थान है।

किस मार्गणा में कितने-कितने स्थान होते हैं—

१. अनन्तरमार्गणा में—

१ कडंकप्रमाण स्थान जानना चाहिये। क्योंकि अनन्तभागवृद्धि के एक कंडकप्रमाण स्थान व्यतीत होने पर असंख्यातभागवृद्धि का प्रथम स्थान प्राप्त होता है। असत्कल्पना से असंख्यातभागवृद्धि के ५ के अंक के पूर्व अनन्तभागवृद्धि के चार स्थान होने से ४ स्थान जानना चाहिये।

२. एकान्तरितमार्गणा में—

कडंकवर्ग और कडंकप्रमाण। (असत्कल्पना से कडंकवर्ग=४×४=१६+४=२०)।

३. द्व्यन्तरितमार्गणा में—

कडंकघन, कंडकवर्ग दो और कंडकप्रमाण (असत्कल्पना से ४×४×४=६४+१६+१६+४=१००)।

४. त्र्यन्तरितमार्गणा में—

कंडकवर्ग, ३ कंडकघन, ३ कंडकवर्ग और कंडकप्रमाण। (असत्कल्पना से १६×१६=२५६+१९२+४८+४=५००)।

५. चतुरन्तरितमार्गणा में—

८ कंडकवर्गवर्ग, ६ कंडकघन, ४ कंडकवर्ग और १ कंडकप्रमाण। (असत्कल्पना से २५६×८=२०४८+३८४+६४+४=२५००)।

इस प्रकार असत्कल्पना से प्रथम अनन्तगुणवृद्धि के स्थान से पूर्व (४+२०+१००+५००+२५००=३१२४) स्थान होते हैं।

२३. अनुभागबन्ध-विवेचन सम्बन्धी १४ अनुयोगद्वारों का सारांश

(गाथा २९ से ४३ तक)

अनुभागबंध-विवेचन संबंधी १४ अनुयोगद्वारों के नाम यह हैं—

१. अविभागप्ररूपणा, २. वर्गणाप्ररूपणा, ३. स्पर्धकप्ररूपणा, ४. अन्तरप्ररूपणा, ५. स्थानप्ररूपणा, ६. कंडकप्ररूपणा, ७. षट्स्थानप्ररूपणा, ८. अधस्तनस्थानप्ररूपणा, ९. वृद्धिप्ररूपणा, १०. समयप्ररूपणा, ११. यवमध्यप्ररूपणा, १२. ओजोयुग्मप्ररूपणा, १३. पर्यवसानप्ररूपणा, १४. अल्पबहुत्वप्ररूपणा।

इनका सारांश इस प्रकार है—

१. अविभागप्ररूपणा—

कर्मपरमाणु संबन्धी कषायजनित रस के निर्विभाज्य अंश को अविभाग कहते हैं। एक-एक (सर्वजघन्य रसयुक्त और सर्वोत्कृष्ट रसयुक्त) कर्मपरमाणु में सर्व जीवों की संख्या से अनन्तगुण रसाविभाग होते हैं।

२. वर्गणाप्ररूपणा—

समान रसाविभागयुक्त कर्मपरमाणुओं के समुदाय को वर्गणा कहते हैं। सर्वजघन्य रसाविभागयुक्त कर्मपरमाणुओं के समुदाय की प्रथम वर्गणा होती है। इसमें परमाणु सबसे अधिक होते हैं। उससे एक रसाणु अधिक कर्म-

प्रदेशों के समुदाय रूप दूसरी वर्गणा होती है । उसमें परमाणु कम होते हैं । इस प्रकार एक-एक रसाविभाग से बढ़ती-बढ़ती और परमाणुओं से घटती-घटती वर्गणायें जानना चाहिये।

३. स्पर्धकप्ररूपणा—

अभव्यों से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गणाओं का स्पर्धक होता है।

४. अन्तरप्ररूपणा—

पूर्व स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा और पर स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के बीच सर्व जीवों से अनन्तगुण रसाविभागों का अन्तर होता है।

५. स्थानप्ररूपणा—

एक समय में जीव द्वारा ग्रहण किये गये कर्मस्कन्ध के रस का समुदाय स्थान कहलाता है । अभव्यों से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्पर्धकों का प्रथम स्थान होता है । उसके बाद के स्थानों में स्पर्धक अनन्तभागादि षट्वृद्धि वाले जानना चाहिये ।

६. कंडकप्ररूपणा—

अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थानों का एक कंडक होता है।

७. षट्स्थानप्ररूपणा—

रसस्थानों में एक स्थान से दूसरे स्थान में स्पर्धक की अपेक्षा १. अनन्तभागवृद्धि, २. असंख्यातभागवृद्धि, ३. संख्यातभागवृद्धि, ४. संख्यातगुणवृद्धि, ५. असंख्यातगुणवृद्धि और ६. अनन्तगुणवृद्धि, इन छह प्रकार की वृद्धियों के स्थान की प्ररूपणा को षट्स्थानप्ररूपणा कहते हैं । एक षट्स्थान में असंख्यात लोकाकाश-प्रदेशप्रमाण स्थान होते हैं। ऐसे षट्स्थान भी असंख्यात हैं।

८. अधस्तनस्थानप्ररूपणा—

रसस्थानों में विवक्षित वृद्धि के स्थानों की अपेक्षा उनसे नीचे होने वाली अनन्तर वृद्धि अथवा एकान्तरादिक वृद्धि के स्थान का विचार करना ।

९. वृद्धिप्ररूपणा—

छह प्रकार की वृद्धि और हानि में से अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है । अर्थात् एक जीव निरंतर रूप से अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि में अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है और शेष अनन्तभागाधिक आदि पांच वृद्धियों और हानियों में निरन्तर आवली के असंख्यातवें भाग जितने काल तक रहता है।

१०. समयप्ररूपणा—

जघन्य से सभी स्थानों का काल एक समय प्रमाण है तथा उत्कृष्ट काल इस प्रकार है—

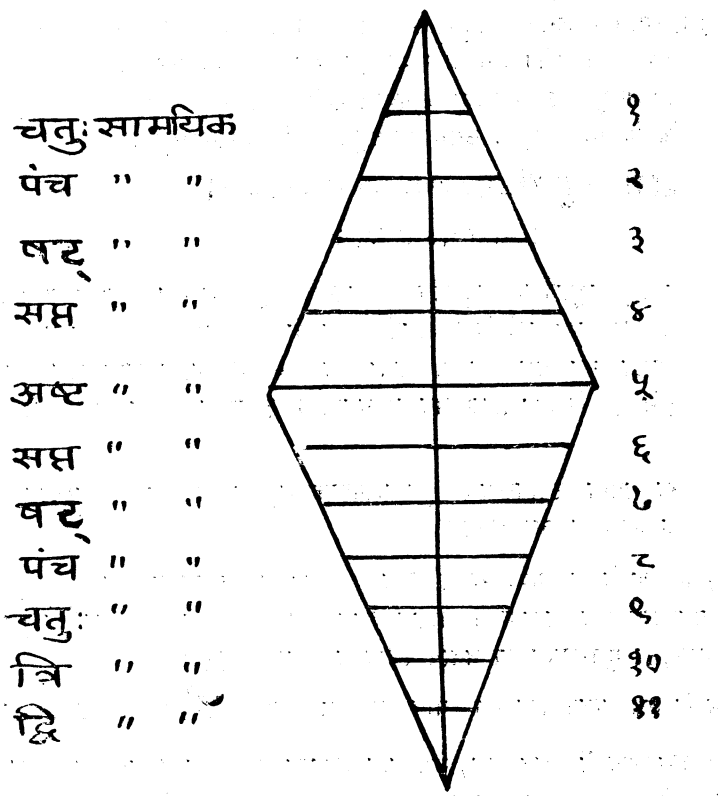
जघन्य स्थान से असंख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण स्थान चार समय की स्थिति वाले, उसके बाद के असंख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण स्थान पांच समय की स्थिति वाले हैं । इस तरह असंख्यात-असंख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण स्थान क्रमशः छह, सात, आठ समय की स्थिति वाले हैं। तत्पश्चात् उससे आगे हानि कहना चाहिये। अर्थात् सात, छह, पांच, चार, तीन और अन्त के असंख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण स्थान दो समय की स्थिति वाले जानना चाहिये।

११. यवमध्यप्ररूपणा—

जैसे यव (जौ) का मध्यभाग चौड़ा होता है और दोनों बाजुओं में अनुक्रम से हीन-हीन (संकड़ा) होता जाता है, उसी प्रकार यहां भी अष्टसामयिक अध्यवसायस्थान यवमध्य समान जानना चाहिये। क्योंकि समय की

अपेक्षा उनका काल सर्वाधिक है, तत्पश्चात् दोनों ओर घटता हुआ है । ये अष्टसामयिकस्थान अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि दोनों में वर्तमान हैं । क्योंकि पूर्व सप्तसमय वाले अन्तिम स्थान की अपेक्षा अष्टसमय वाले का प्रथम स्थान अनन्तगुणवृद्धि वाला होने से उसकी अपेक्षा बाकी के अष्टसामयिक सर्वस्थान अनन्तगुण-वृद्धि वाले हैं तथा अष्टसामयिक के अन्तिम स्थान की अपेक्षा पर सप्तसामयिक प्रथम स्थान अनन्तगुणवृद्धि (हानि) वाला होने से उस सप्तसामयिक प्रथम स्थान की अपेक्षा अष्टसामयिक सर्वस्थान अनन्तगुणहीन होते हैं । इस प्रकार आदि के पांच, छह और सात सामयिक स्थान और अंत के सात, छह, पांच, चार, तीन सामयिक स्थान अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि वाले हैं तथा आदि के चारसामयिक स्थान अनन्तगुणवृद्धि में और सर्वान्तिम दोसामयिक स्थान अनन्तगुणहानि में होते हैं ।

सुगमता से समझने के लिये इस यवमध्यप्ररूपणा के यव की स्थापना इस प्रकार है—



इस स्थापना में जो—इस प्रकार की पंक्ति है, उसको अनुक्रम से अनुभागस्थान तथा जो ११ भाग हैं, उसमें सबसे पहला चतुःसमयात्मक स्थान है । तदनुसार अनुक्रम से पंचसामयिकादि स्थान जानना चाहिये ।

इन अनुभागस्थानों का समयापेक्षा यव जैसा और स्थान की अपेक्षा डमरुक जैसा आकार होता है । जिसका आकार पृष्ठ २४१ पर देखिये ।

१२. **ओजोयुग्मप्ररूपणा—**

जिस संख्या को ४ से भाग देने पर एक शेष रहे वह कल्योज, दो शेष रहे वह द्वापरयुग्म, तीन शेष रहे वह त्रैतोज और कुछ शेष न रहे वह कृतयुग्म कहलाता है। अनुभागस्थान के अविभाग, स्थान और कंडक कृत-युग्मराशि में होते हैं।

१३. पर्यवसानप्ररूपणा—

अनन्तगुणवृद्धि के एक कंडक प्रमाण स्थानों का अतिक्रमण करने के पश्चात् अनन्तभागाधिकादि पांच वृद्धि के सर्व स्थानकों की पूर्णता के पश्चात् अनन्तगुणवृद्धि का स्थान प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् वहां षट्स्थानक की समाप्ति होती है।

१४. अल्पबहुत्वप्ररूपणा—

इसका दो रीति से विचार किया गया है— १. अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा, २. परंपरोपनिधाप्ररूपणा। अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा इस प्रकार है—अनन्तगुणवृद्धि के स्थान सर्वस्तोक (कंडकमात्र होने से), उससे असंख्यातगुणवृद्धि के असंख्यातगुण (कंडकगुण और कंडक), उससे संख्यातगुणवृद्धि के असंख्यातगुण, उससे संख्यातभागवृद्धि के असंख्यातगुण, उससे असंख्यातभागवृद्धि के असंख्यातगुण, उससे अनन्तभागवृद्धि के असंख्यातगुण। गुणाकार कंडकगुण और कंडक प्रमाण। परंपरोपनिधा प्ररूपणा इस प्रकार है—अनन्तभागवृद्धि के स्थान सर्वस्तोक, उससे असंख्यातभागवृद्धि के असंख्यातगुण, उससे संख्यातभागवृद्धि के संख्यातगुण, उससे संख्यातगुणवृद्धि के स्थान असंख्यातगुण. उससे असंख्यातगुणवृद्धि के असंख्यातगुण, उससे अनन्तगुणवृद्धि के असंख्यातगुण।

२४. असत्कल्पना द्वारा अनुकृष्टिप्ररूपणा का स्पष्टीकरण

(गाथा ५७ से ६५ तक)

१. अनुकृष्टि अर्थात् अनुकर्षण, अनुवर्तन। अनु-पश्चात् (पीछे से) कृष्टि-कर्षण-खींचना यानी पाश्चात्य स्थितिबंधगत अनुभागस्थानों को आगे-आगे के स्थितिबंधस्थान में खींचना। ५५ अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियों में से किसी की ३० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण, किसी की २० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। उसे असत्कल्पना से यहां १ से २० के अंक द्वारा बताया गया है। १ जघन्य स्थितिस्थान और २० उत्कृष्ट स्थितिस्थान जानना चाहिए।

२. अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान (अन्तःकोडाकोडी) से नीचे के स्थितिस्थान अनुकृष्टि के अयोग्य हैं, जो १ से ८ तक के अंक द्वारा जानना चाहिए।

३. नौ (९) के अंक से अनुकृष्टि प्रारंभ होती है। अंक के सामने रखे गये ० (शून्य) तथा △ (त्रिकोण) को अनुभागबंधाध्यवसायस्थान रूप जानना। लेकिन इतना विशेष है कि ० (शून्य) से मूल अनुभागबंधाध्यवसायस्थान और △ (त्रिकोण) से मूलोपरांत का नवीन स्थान समझना चाहिए।

४. पल्योपम के असंख्यातवें भाग रूप स्थान को चार अंकों (९,१०,११,१२) द्वारा बताया गया है।

५. प्रत्येक स्थितिस्थान में (हीनाधिक) असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं। जिन्हें यहां यथायोग्य ० (शून्यों) के द्वारा बताया है। अर्थात् उतने अनुभागबंधाध्यवसायस्थान जानना।

६. नौ (९) के अंक से अनुकृष्टि का प्रारम्भ होना समझना चाहिए। वहां जितने अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका 'तदेकदेश तथा अन्य' इतने अनु० स्थान दसवें स्थान में होते हैं। 'तदेकदेश तथा अन्य' अर्थात् पूर्वस्थान के अध्यवसायों के असंख्यातवें भाग को छोड़कर शेष सर्व और दूसरे भी। नौवें स्थितिस्थान में जो स्थान होते हैं, उनमें के दसवें स्थितिस्थान में (तदेकदेश रूप) शून्य के द्वारा बताये गये स्थान हैं। उन्हें बताने के लिये शून्यों में से आदि के यथायोग्य शून्य खाली छोड़कर शेष शून्यों के नीचे पुनः शून्य दिये गये हैं। अर्थात् पूर्व स्थितिस्थान में के अनु० स्थानों की पीछे के स्थितिस्थान में अनुकृष्टि जानना तथा △ त्रिकोण द्वारा 'अन्य' दूसरे नवीन अनु० स्थान जानना।

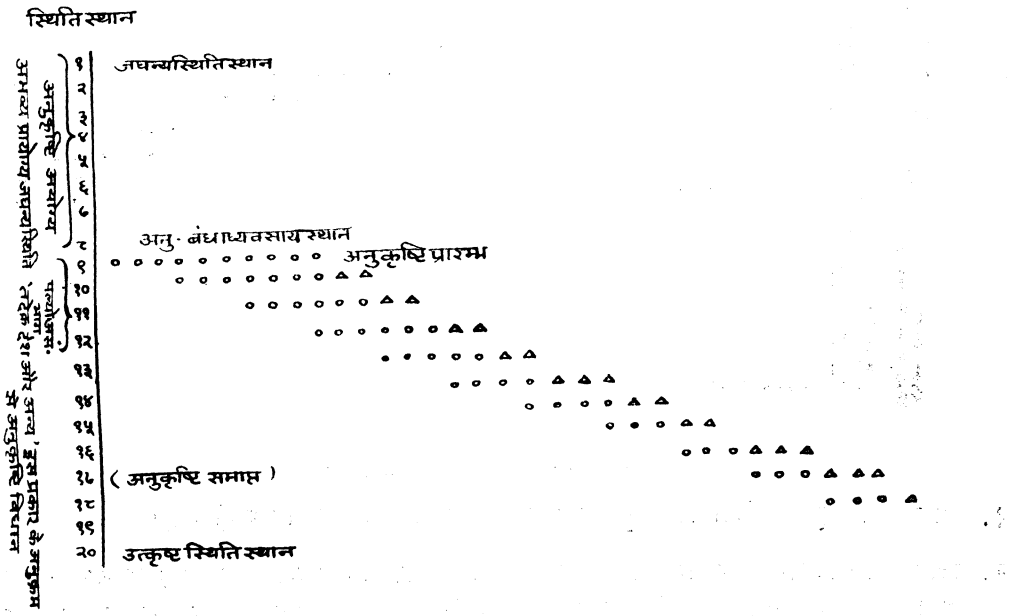
७. ग्यारहवें (११वें) स्थितिस्थान में 'तदेकदेश तथा अन्य' अर्थात् दसवें स्थितिस्थान के अनु. स्थानों में से आदि के सिवाय शेष और अन्य नवीन मिलकर कुल ८ (आठ) अनुभाग. स्थान हैं ।

८. बारहवें (१२वें) स्थितिस्थान में ग्यारहवें स्थितिस्थान में से 'तदेकदेश' रूप छह (६), 'अन्य' रूप दो △△ त्रिकोण मिलकर कुल आठ (८) अनु. स्थान हैं । यहां नौवें (९वें) स्थितिस्थान के १० अनु. स्थानों में का एक स्थान है, परन्तु तेरहवें (१३वें) स्थितिस्थान में उनका एक भी अनु. स्थान नहीं है । यहां नौवें स्थितिस्थान से प्रारम्भ हुई अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है । इसी तरह आगे के स्थानों के लिये भी समझना चाहिये ।

९. छियालीस (४६) अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टिप्ररूपणा भी इसी रीति से जानना चाहिए । लेकिन इतना विशेष है कि उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ करके अनुकृष्टिअयोग्य जघन्य स्थितिस्थानों को छोड़कर शेष जघन्य स्थितिस्थान तक समाप्त करना चाहिये ।

अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप

(आवरणद्विक १४, मोहनीय २६, अन्तराय ५, अशुभवर्णादि ९, उपघात १=५५)



स्पष्टीकरण गाथा ५७,५८ के अनुसार

१. अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के पश्चात की स्थितिवृद्धि से अनुकृष्टि प्रारम्भ करना चाहिये।

२. अभव्यप्रायोग्य जघन्यस्थिति को १ से ८ तक के अंकों द्वारा बताया है।

३. अतः उनसे आगे ९ के अंक से प्रारम्भ करके २० तक के १२ स्थितिस्थानों में अनुकृष्टि का विचार करना चाहिये तथा ये प्रत्येक अंक एक-एक स्थितिस्थान का प्रतिनिधित्व करते हैं।

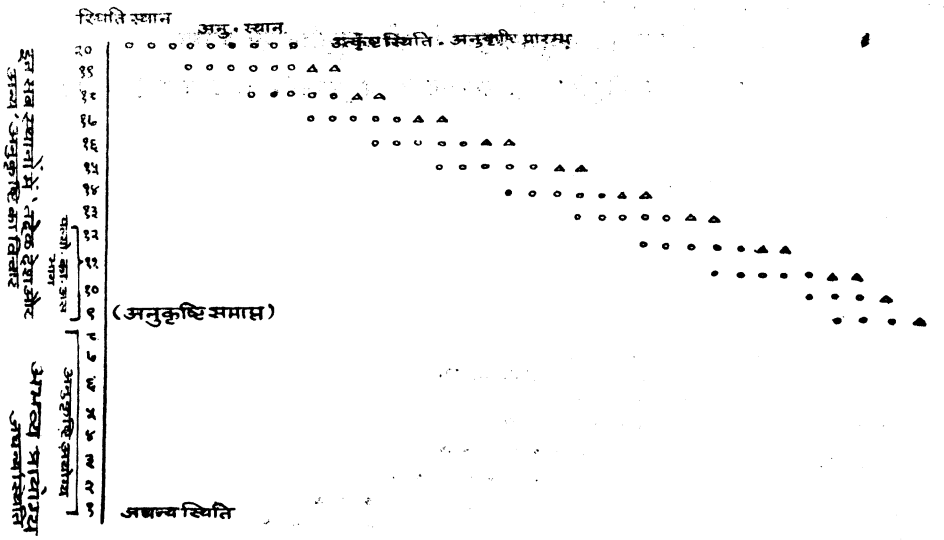
४. जघन्य स्थितिबंधवृद्धि का प्रमाण पल्य का असंख्यातवां भाग है, जिसे यहां ९ से १२ तक के ४ अंकों द्वारा दिखाया गया है। इसके प्रारम्भ में जो अनु. स्थान हैं उनका एक असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सब अनु. स्थान और अन्य द्वितीय स्थितिस्थान में, जिसे ३ बिन्दु रूप असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष भाग को लेते हुए अन्य

को दो △ से १०वें अंक में बताया है। इसी प्रकार वहां तक कहना चाहिये, जहां तक जघन्य स्थितिबंध सम्बन्धी अनु. स्थानों की अनुकृष्टि समाप्त होती है।

५. इसके बाद द्वितीय स्थितिस्थान सम्बन्धी अनु. स्थानों की अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है, जो उससे आगे के स्थितिस्थान में समाप्त होती है। इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थितिस्थान तक समझना चाहिये।

अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप

(पराघात, बंधननाम १५, शरीरनाम ५, संघातनाम ५, अंगोपांग ३, शुभवर्णादि ११, तीर्थंकर, निर्माणनाम, अगुरुलघुनाम, उच्छ्वास, आतप, उद्योतनाम = ४६)



स्पष्टीकरण गाथा ५९ के अनुसार

१. अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि उत्कृष्ट स्थितिबंधस्थान से प्रारम्भ होती है।

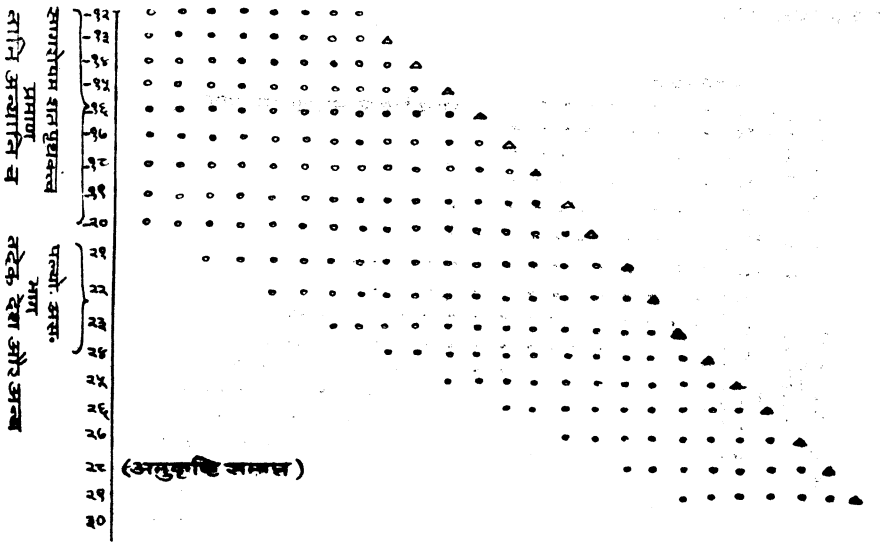
२. उत्कृष्ट स्थितिबंधस्थान में जो अनु. स्थान होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष भाग और अन्य उससे अधस्तनवर्ती स्थितिस्थान में होते हैं। जिसे ३ बिन्दु रूप असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष भाग को लेते हुए 'अन्य' को दो △ से १९वें अंक में बताया है। इस प्रकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग स्थितियां अतिक्रांत होती हैं। यहां पर उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ हुई अनुकृष्टि समाप्त होती है। जो उत्कृष्ट स्थितिस्थान २० के अंक से ९ के अंक तक जानना।

३. इसके बाद के अधस्तनस्थान में एकसमयोन उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रारम्भ में जो अनु. स्थान थे, उनकी अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक जघन्य स्थिति का स्थान प्राप्त होता है और उन कर्मप्रकृतियों की जघन्यस्थिति होती है।

४. अभव्यप्रायोग्य जघन्यस्थिति अनुकृष्टि के अयोग्य है। अतः उसमें अनुकृष्टि का विचार नहीं किया जाता है। जो १ से ८ अंकों द्वारा प्रदर्शित की है।

परावर्तमान २८ अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप

(असातावेदनीय, स्थावरदशक. एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क, आदि से रहित संस्थान, संहनन १०, नरकद्विक-अशुभविहायोगति=२८)



स्पष्टीकरण गाथा ६१ के अनुसार

१. परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का विचार असातावेदनीय के माध्यम से किया गया है।

२. असातवेदनीय में दो प्रकार की अनुकृष्टि होती है—
१. तानि अन्यानि च, २. तदेकदेश और अन्य।

३. इस प्रकार की अनुकृष्टि सातावेदनीय की अनुकृष्टि से विपरीत जानना।

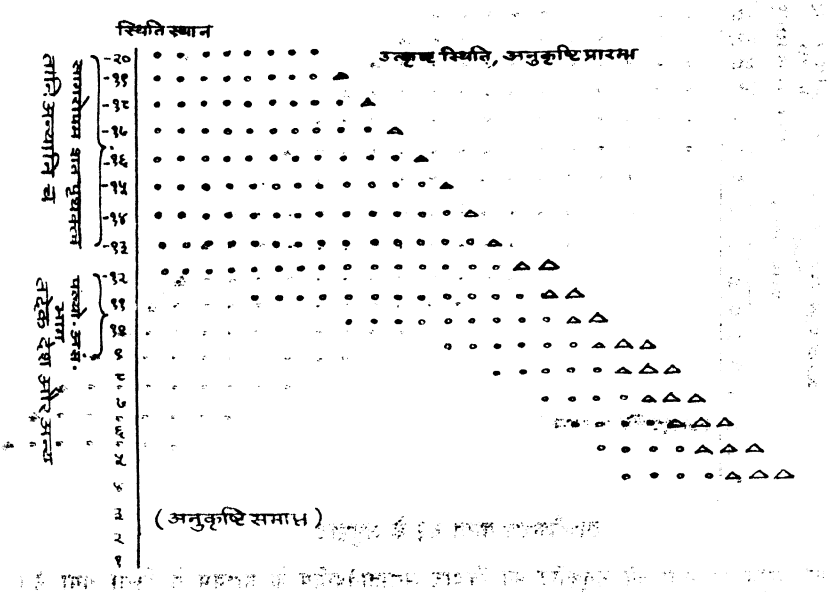
४. अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान से सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थिति तक की स्थितियां सातावेदनीय के साथ परावर्तमान रूप से बंधती हैं। वे परस्पर आक्रांत स्थितियां हैं, जिन्हें—इस प्रकार की पंक्ति से सूचित किया है। वहां तक 'तानि अन्यानि च' इस क्रम से अनुकृष्टि कहना चाहिये।

५. इसके आगे उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त 'तदेकदेश और अन्य' के क्रम से अनुकृष्टि कहना चाहिये। जिसे प्रारूप में २१ से ३० तक के अंकों द्वारा बताया है।

६. पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों के जाने पर जघन्य अनु. स्थान की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उससे आगे उत्तर-उत्तर के स्थान में पूर्व-पूर्व के एक-एक स्थान की अनुकृष्टि समाप्त होती है। यह क्रम असाता की उत्कृष्ट स्थिति तक जानना चाहिये।

परावर्तमान १६ शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप

(सातावेदनीय, मनुष्यद्विक, देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, शुभविहायोगति, स्थिरषट्क, उच्चगोत्र=१६)



स्पष्टीकरण गाथा ५९, ६० के अनुसार

१. परावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का विचार सातावेदनीय के माध्यम से किया है।

२. सातावेदनीय में सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थितिस्थानों में १. 'तानि अन्यानि च' और पल्यो. असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों में २. 'तदेकदेश और अन्य' इस तरह दो प्रकार की अनुकृष्टि होती है।

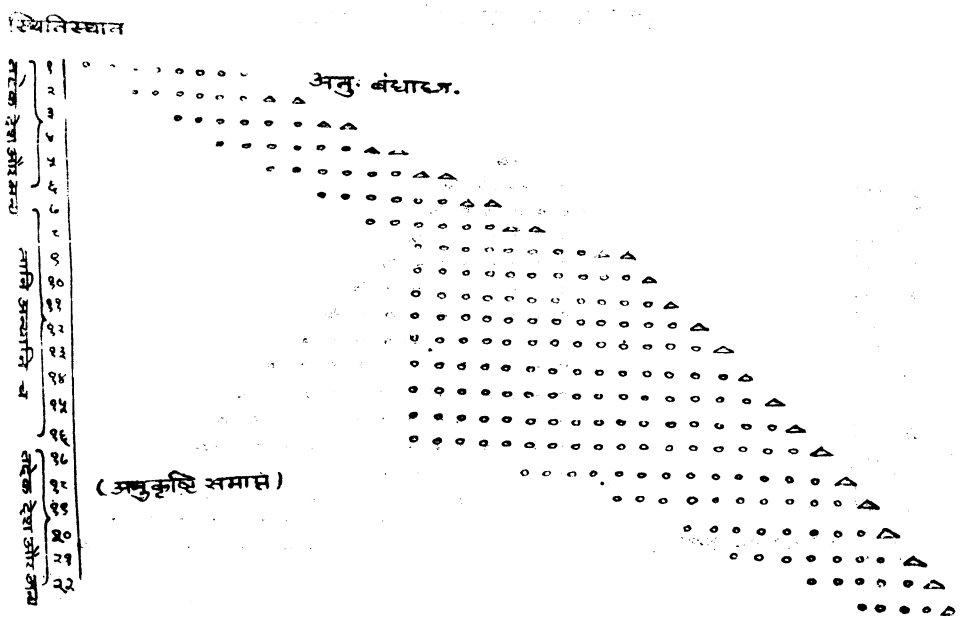
३. साता की उत्कृष्ट स्थिति के जो अनु. स्थान हैं, वे सभी एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिस्थान में भी होते हैं और अन्य भी होते हैं।

४. प्रारूप में २० का अंक साता की उत्कृष्टस्थिति का द्योतक है और उसके सामने दिये गये बिन्दु अनुभाग. स्थानों के सूचक हैं।

५. समयोन उत्कृष्ट स्थितिस्थान के सूचक १९वें अंक में उन सर्व अनु. स्थानों की अनुकृष्टि २०वें अंक के बिन्दुओं द्वारा बतलाई है तथा △ अन्य अनु. स्थानों का सूचक है। ये △ द्वारा सूचित अन्य अनुभाग. स्थान उत्तरोत्तर अधिक जानना। यह क्रम उत्तरोत्तर सागरोपमशतपृथक्त्व तक जानना, जिसे प्रारूप में १२ के अंक तक बतलाया है। यह क्रम अभव्यप्रायोग्य असातावेदनीय की जघन्यस्थिति के बंध तक चलता है।

६. उसके आगे 'तदेकदेश और अन्य' के प्रमाण से अनुकृष्टि सातावेदनीय के जघन्य स्थितिबंध तक जानना। जिसकी अनुकृष्टि पूर्वोक्त अपरावर्तमान अशुभप्रकृतिवत् है।

तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि का प्रारूप



स्पष्टीकरण गाथा ६२, ६३ के अनुसार

१. तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र में तीन प्रकार की अनुकृष्टि होती है—

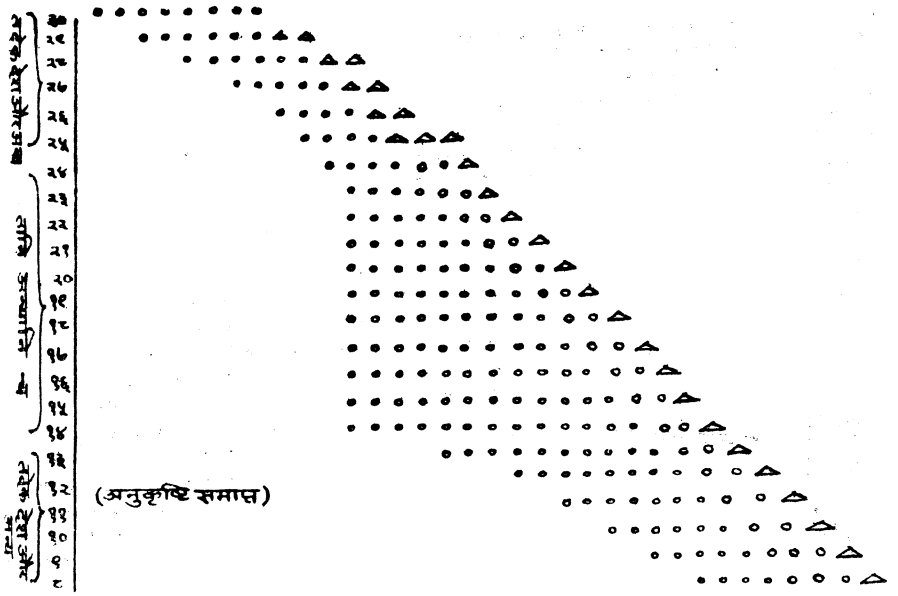
(अ) 'तदेकदेश और अन्य'—जिसे अभव्य प्रा. ज. स्थान से नीचे के स्थान बतानेवाले १ से ६ तक के अंक द्वारा बताया है।

(आ) 'तानि अन्यानि च'—अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के योग्य सागरोपम शतपृथक्त्व स्थितियों में 'तानि अन्यानि च' इस क्रम से जानना, जिसे ७ से १६ तक के अंक द्वारा बताया है।

(इ) 'तदेकदेश और अन्य'—इसके आगे उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त जानना। जिसे १७ से २२ तक के अंक द्वारा स्पष्ट किया है।

त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का प्रारूप

(त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक=४)



स्पष्टीकरण गाथा ६४ के अनुसार

त्रसचतुष्क में तीन प्रकार की अनुकृष्टि होती है—

(अ) **'तदेकदेश और अन्य'**—त्रसचतुष्क में उत्कृष्ट स्थिति २० कोडाकोडी सागरोपम से अधःअधः आते हुए १८ कोडाकोडी सागरोपम तक 'तदेकदेश और अन्य' इस प्रकार की अनुकृष्टि जानना। जिसे प्रारूप में ३० से २५ तक के अंकों द्वारा बताया है।

(आ) 'तानि अन्यानि च'—इससे आगे (१८ सागरोपम से नीचे सागरोपम शतपृथक्त्व तक) अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान तक 'तानि अन्यानि च' के क्रम से जानना, जिसे प्रारूप में २४ से १४ तक के अंकों द्वारा बतलाया है।

(इ) 'तदेकदेश और अन्य'—इससे नीचे पल्योपम के असंख्यातवें भाग स्थितिस्थानों में 'तदेकदेश और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि होती है। जिसे प्रारूप में अंक १३ से ८ तक के अंक द्वारा बतलाया है।

२५. असत्कल्पना द्वारा तीव्रता-मंदता की स्थापना का प्रारूप

प्रकृतियों में जैसे परावर्तमान, अपरावर्तमान शुभ, अशुभ की अपेक्षा अनुभागबंधस्थानों की अनुकृष्टि का विचार किया गया है, उसी प्रकार से अब उनकी तीव्रता-मंदता का स्पष्टीकरण असत्कल्पना के प्रारूप द्वारा करते हैं।

तीव्रता-मंदता का परिज्ञान करने के लिये यह सामान्य नियम है कि सभी प्रकृतियों का अपने-अपने जघन्य अनुभागबंध से आरम्भ कर उत्कृष्ट अनुभागबंध तक प्रत्येक स्थितिबंधस्थान में उत्तरोत्तर अनुक्रम से पूर्वापेक्षा अनन्तगुण, अनन्तगुण अनुभाग समझना चाहिये। लेकिन अशुभ और शुभ प्रकृतियों की अपेक्षा विशेषता इस प्रकार है—

१. शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ कर जघन्य स्थितिस्थान तक उत्तरोत्तर नीचे-नीचे अनुक्रम से अनन्तगुण, अनन्तगुण अनुभाग समझना चाहिये।

२. अशुभ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिस्थान से आरंभ कर उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर के क्रमानुसार उत्कृष्ट स्थितिस्थान में अनन्तगुण-अनन्तगुण अनुभाग होता है।

इस प्रकार सामान्य से तीव्रता-मंदता का नियम बतलाने के पश्चात असत्कल्पना के प्रारूप द्वारा अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता को स्पष्ट करते हैं।

अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता

(आवरणद्विक १४, मोहनीय २६, अन्तराय ५, अशुभवर्णादि ९, उपघात १=५५)

तीव्रता-मंदता के अयोग्य

१
२
३
४
५
६
७
८

निवर्तन कण्डक

९	का	जघन्य	अनु. अल्प. अनंतगुण	उससे
१०	,,	,,	,,	,,
११	,,	,,	,,	,,
१२	,,	,,	,,	,,
१३	,,	,,	,,	,,
१४	,,	,,	,,	,,
१५	,,	,,	,,	,,
१६	,,	,,	,,	,,
१७	,,	,,	,,	,,
१८	,,	,,	,,	,,
१९	,,	,,	,,	,,
२०	,,	,,	,,	,,

अ. स्थितियां — उ. अनुभाग प्रमाण

—९	का	उत्कृष्ट	अनु.अनं.गुण	उससे
—१०	,,	,,	,,	,,
—११	,,	,,	,,	,,
—१२	,,	,,	,,	,,
—१३	,,	,,	,,	,,
—१४	,,	,,	,,	,,
—१५	,,	,,	,,	,,
—१६	,,	,,	,,	,,
—१७	,,	,,	,,	,,
१८	,,	,,	,,	,,
१९	,,	,,	,,	,,
२०	,,	,,	,,	,,

स्पष्टीकरण गाथा ६५-६६ के अनुसार

१. अभव्यप्रायोग्य (अन्तःकोडाकोडी रूप) जघन्य स्थितिस्थान तीव्रता-मंदता के अयोग्य हैं। जिन्हें प्रारूप में १ से ८ तक के अंक द्वारा बताया है।

२. निवर्तनकण्डक की प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग से जघन्य स्थिति में उत्तरोत्तर अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ९ से १२ तक के अंक द्वारा बताया है।

३. तदनन्तर कण्डक से ऊपर प्रथम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में अंक १२ के सामने ९ का अंक देकर बताया है।

४. इसके बाद कण्डक से ऊपर द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा है। जिसे प्रारूप में १३ के अंक से बताया है।

५. उसके नीचे द्वितीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में अंक १३ के सामने १० का अंक देकर बताया है।

६. इसके बाद तृतीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में १४ के अंक से बताया है।

७. इस प्रकार एक ऊपर और एक नीचे यथाक्रम से अनन्तगुणत्व तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग प्राप्त होता है। जिसे प्रारूप में १४-११, १५-१२, १६-१३, १७-१४ आदि लेते हुए उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग २० के अंक तक बताया है।

८. शेष कण्डक मात्र उत्कृष्ट स्थिति का जो अनुभाग अनुक्त है, वह सर्वोत्कृष्ट स्थिति के जघन्य अनुभाग से कण्डक मात्र स्थितियों की प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है, फिर उसकी उपरितन स्थितियों में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। पुनः उसके बाद की उपरितन स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। इस प्रकार उत्कृष्ट अनुभाग का अनन्तगुणत्व उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कहना चाहिये। जिसे प्रारूप में कण्डक प्रमाण [१७–२०] चार स्थितियां लेकर बताया है। इनमें प्रथम स्थिति १७ के अंक से है। तत्पश्चात् १८, १९, २० के अंक तक अनन्तगुणत्व जानना चाहिये।

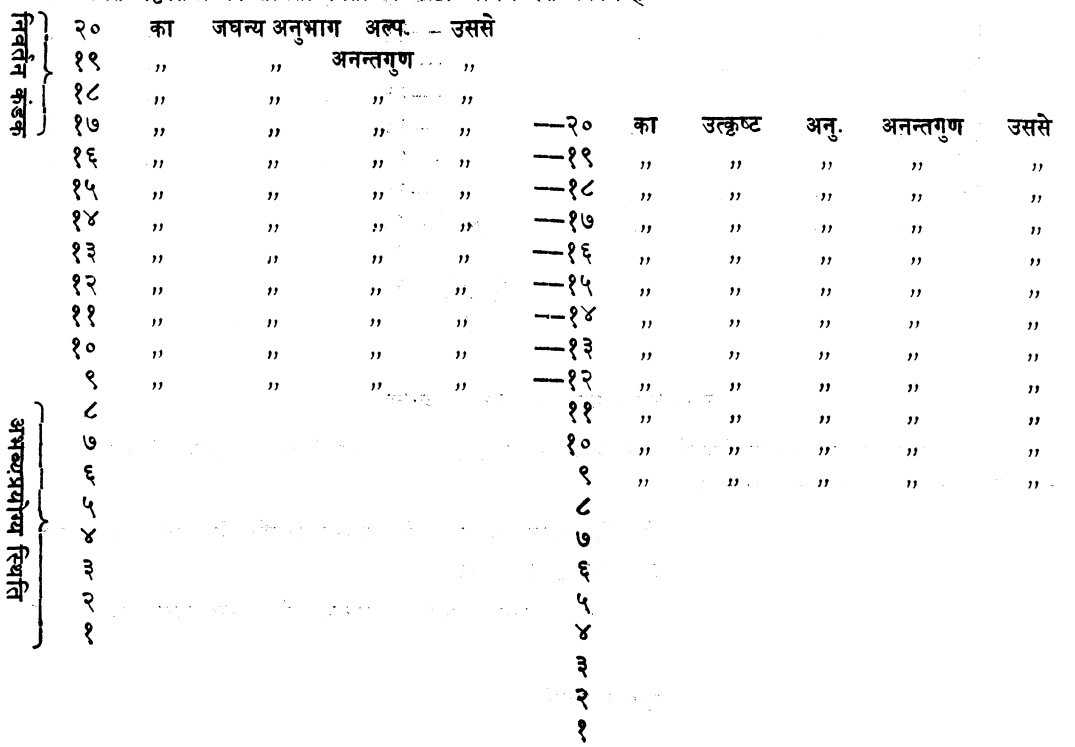
९. २० का अंक उत्कृष्ट स्थिति व उत्कृष्ट अनुभाग का सूचक है।

१०. —इस प्रकार की रेखा परस्पर-आक्रान्त-प्ररूपणादर्शक है। जिसका आशय यह है कि १२ के अंक के जघन्य अनुभाग से अंक ९ का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, ९ के अंक के उत्कृष्ट अनुभाग से १३ के अंक का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, १३ के अंक के जघन्य अनुभाग से ११ के अंक का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। इसी प्रकार के क्रम से जघन्य, उत्कृष्ट अनुभाग की अनन्तगुणता परस्पर आक्रान्त प्ररूपणा से करना चाहिये।

अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता

(पराघात, उद्योत, आतप, शुभवर्णादि ११, अगुरुलघु, निर्माण, तीर्थंकर, उच्छ्वास, बंधननाम १५, शरीरनाम ५, संघातनाम ५, अंगोपांगनाम ३=४६)

उक्त प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता का दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—



स्पष्टीकरण गाथा ६५, ६६ के अनुसार

१. अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता का विचार अनुकृष्टि की तरह उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ कर अभव्यप्रायोग्य स्थिति को छोड़कर शेष स्थितियों में करना चाहिये। अभव्यप्रायोग्य स्थिति १ से ८ तक के अंक द्वारा बताई है तथा २० का अंक उत्कृष्ट स्थिति का दर्शक है।

२. उत्कृष्ट स्थिति के जघन्य पद का जघन्य अनुभाग अल्प है। इसके बाद समयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है, उससे भी द्विसमयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। यह तब तक कहना यावत् निवर्तनकण्डक अर्थात् पल्योपम के असंख्यात भाग मात्र स्थितियां अतिक्रांत हो जाती हैं। जिन्हें प्रारूप में २० से १७ के अंक तक बताया है।

३. निवर्तनकण्डक से नीचे प्रथम स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में २० के अंक से बताया है।

४. उसके बाद समय कम उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में १६ के अंक से नीचे के अंक से बताया है। निवर्तनकण्डक से नीचे द्वितीयस्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे १५ के अंक से बतलाया है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक जघन्य स्थिति का जघन्य अनुभाग प्राप्त होता है।

५. प्रारूप में—इस प्रकार की पंक्ति परस्पर-आक्रांत-प्ररूपणा की दर्शक है। जिसका आशय यह है कि २० के अंक के उत्कृष्ट अनुभाग से १७ का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है और पुनः १६, पुनः १८, पुनः १५ इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग ९ के अंक तक कहना चाहिये।

६. उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग की कण्डकमात्र जो स्थितियां अनुक्त हैं, उसे जघन्यस्थिति पर्यन्त अनन्तगुण जानना चाहिये। जिन्हें प्रारूप में १२ के अंक से ९ के अंक पर्यन्त बताया है।

परावर्तमान १६ शुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता

(सातावेदनीय, मनुष्यगतिद्विक देवगतिद्विक, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराच-संहनन, शुभविहायोगति, स्थिरषट्क और उच्चगोत्र)

उक्त प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

सागरोपम शतपृथक्त्व	९०	का	जघन्य अनुभाग	स्तोक	उससे
	८९	,,	,,	,,	,,
	८८	,,	,,	,,	,,
	८७	,,	,,	,,	,,
	८६	,,	,,	,,	,,
	८५	,,	,,	,,	,,
	८४	,,	,,	,,	,,
	८३	,,	,,	,,	,,
	८२	,,	,,	,,	,,
	८१	,,	,,	,,	,,
	८०	,,	,,	,,	,,
	७९	,,	,,	,,	,,
	७८	,,	,,	,,	,,
	७७	,,	,,	,,	,,
	७६	,,	,,	,,	,,
	७५	,,	,,	,,	,,

७४	का	जघन्य	अनुभाग	स्तोक	उससे
७३	,,	,,	,,	,,	,,
७२	,,	,,	,,	,,	,,
७१	,,	,,	,,	,,	,,
७०	,,	,,	,,	,,	,,
६९	,,	,,	,,	,,	,,
६८	,,	,,	,,	,,	,,
६७	,,	,,	,,	,,	,,
६६	,,	,,	,,	,,	,,
६५	,,	,,	,,	,,	,,
६४	,,	,,	,,	,,	,,
६३	,,	,,	,,	,,	,,
६२	,,	,,	,,	,,	,,
६१	,,	,,	,,	,,	,,
६०	,,	,,	,,	,,	,,
५९	,,	,,	,,	,,	,,
८५	,,	,,	,,	,,	,,
५७	,,	,,	,,	,,	,,
५६	,,	,,	,,	,,	,,
५५	,,	,,	,,	,,	,,
५४	,,	,,	,,	,,	,,
५३	,,	,,	,,	,,	,,
५२	,,	,,	,,	,,	,,
५१	,,	,,	,,	,,	,,
५०	,,	,,	अनन्तगुण		,,
४९	,,	,,	,,		,,
४८	,,	,,	,,		,,
४७	,,	,,	,,		,,
४६	,,	,,	,,		,,
४५	,,	,,	,,		,,
४४	,,	,,	,,		,,
४३					
४२					
४१					

प्रमाण स्थितियां — कंडक का असंख्यातवां भाग — कंडक का अवशिष्ट एक भाग

४३ का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण उससे—

—९०	का	उत्कृष्ट अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
८९	,,	,,	,,	,,
८८	,,	,,	,,	,,
८७	,,	,,	,,	,,
८६	,,	,,	,,	,,
८५	,,	,,	,,	,,
८४	,,	,,	,,	,,
८३	,,	,,	,,	,,
८२	,,	,,	,,	,,
८१	,,	,,	,,	,,
८०	,,	,,	,,	,,
७९	,,	,,	,,	,,
७८	,,	,,	,,	,,
७७	,,	,,	,,	,,
७६	,,	,,	,,	,,

					७५	का	उत्कृष्ट अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
					७४	,,	,,	,,	,,
					७३	,,	,,	,,	,,
					७२	,,	,,	,,	,,
					७१	,,	,,	,,	,,
४२	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे— ७०	,,	,,	,,	,,
					६९	,,	,,	,,	,,
					६८	,,	,,	,,	,,
					६७	,,	,,	,,	,,
					६६	,,	,,	,,	,,
					६५	,,	,,	,,	,,
					६४	,,	,,	,,	,,
					६३	,,	,,	,,	,,
					६२	,,	,,	,,	,,
					६१	,,	,,	,,	,,
४१	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे— ६०	,,	,,	,,	,,
					५९	,,	,,	,,	,,
					५८	,,	,,	,,	,,
					५७	,,	,,	,,	,,
					५६	,,	,,	,,	,,
					५५	,,	,,	,,	,,
					५४	,,	,,	,,	,,
					५३	,,	,,	,,	,,
					५२	,,	,,	,,	,,
					५१	,,	,,	,,	,,
४०	का	जघन्य	अनु.	अनन्तगुण	उससे —५०	,,	,,	,,	,,
३९	,,	,,	,,	,,	—४९	,,	,,	,,	,,
३८	,,	,,	,,	,,	—४८	,,	,,	,,	,,
३७	,,	,,	,,	,,	—४७	,,	,,	,,	,,
३६	,,	,,	,,	,,	—४६	,,	,,	,,	,,
३५	,,	,,	,,	,,	—४५	,,	,,	,,	,,
३४	,,	,,	,,	,,	—४४	,,	,,	,,	,,
३३	,,	,,	,,	,,	—४३	,,	,,	,,	,,
३२	,,	,,	,,	,,	—४२	,,	,,	,,	,,
३१	,,	,,	,,	,,	—४१	,,	,,	,,	,,
३०	,,	,,	,,	,,	—४०	,,	,,	,,	,,
२९	,,	,,	,,	,,	—३९	,,	,,	,,	,,
२८	,,	,,	,,	,,	—३८	,,	,,	,,	,,
२७	,,	,,	,,	,,	—३७	,,	,,	,,	,,
२६	,,	,,	,,	,,	—३६	,,	,,	,,	,,
२५	,,	,,	,,	,,	—३५	,,	,,	,,	,,
२४	,,	,,	,,	,,	—३४	,,	,,	,,	,,
२३	,,	,,	,,	,,	—३३	,,	,,	,,	,,
२२	,,	,,	,,	,,	—३२	,,	,,	,,	,,
२१	,,	,,	,,	,,	—३१	,,	,,	,,	,,

कण्डक प्रमाण स्थितियां	३०	का	उ०	अनु.	अनन्तगुण	उससे
	२९	,,	,,	,,	,,	,,
	२८	,,	,,	,,	,,	,,
	२७	,,	,,	,,	,,	,,
	२६	,,	,,	,,	,,	,,
	२५	,,	,,	,,	,,	,,
	२४	,,	,,	,,	,,	,,
	२३	,,	,,	,,	,,	,,
	२२	,,	,,	,,	,,	,,
	२१	,,	,,	,,	,,	,,

स्पष्टीकरण गाथा ६७ के अनुसार

१. परावर्तमान शुभ प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति का जघन्य अनुभाग स्तोक है। जिसे प्रारूप में ९० के अंक से बतलाया है। इसी प्रकार एक समय कम, दो समय कम यावत् सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग पूर्वोक्त प्रमाण ही जानना अर्थात् स्तोक जानना। जिसे प्रारूप में ८९ के अंक से लेकर ५१ तक के अंक तक बताया है।

२. उससे (सागरोपम शतपृथक्त्व से) भी नीचे अनुभाग अनन्तगुण एक भाग हीन कण्डक के असंख्येय भाग तक जानना।

३. यहां असत्कल्पना से प्रत्येक कण्डक में १० संख्या समझना चाहिये। इस नियम से एकभागहीन कण्डक के असंख्येय भाग की ७ संख्या ली है। जिसे प्रारूप में ५० से ४४ तक के अंक द्वारा बतलाया है। एक भाग अवशेष रहा, उसके ४३,४२,४१ ये तीन अंक बतलाये हैं।

४. असंख्येयभागहीन (संख्येयभागहीन) शेष असंख्येयभाग स्थितियों की 'साकारोपयोगी' संज्ञा है।

५. उसके बाद उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ४४ के अंक के सामने आने वाले ९० के अंक से बतलाया है। ये स्थितियां भी कण्डकमात्र होती हैं। इसलिये ९० से ८१ के अंक तक की दस संख्या को कण्डक जानना।

६. इसके बाद जघन्य अनुभाग जहां से कहकर निवृत्त हुए थे, वहां से नीचे का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ४३ के अंक से बतलाया है।

७. इसके पश्चात् उत्कृष्ट स्थिति का अनुभाग कण्डक प्रमाण अनन्तगुण है, जिसे ८० से ७१ अंक तक बतलाया है।

८. इसके बाद पुनः जघन्य अनुभाग से नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ४२ के अंक द्वारा बतलाया है।

९. इसके बाद पुनः उत्कृष्ट स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण कण्डकमात्र तक जानना, जिसे ७० से ६१ तक के अंक द्वारा बतलाया है। पुनः जघन्य अनुभाग से नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप में ४१ के अंक से बतलाया है।

१०. इसके बाद उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग कण्डकप्रमाण अनन्तगुण है, जिसे ६० से ५१ तक के अंक द्वारा बतलाया है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग ९० से ५१ तक सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण हैं।

११. इसके बाद पुनः प्रागुक्त जघन्य अनुभाग से नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है जिसे ४० के अंक से बतलाया है। इसके बाद उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा हैं, जिसे ५० के अंक से बतलाया है। इसी प्रकार जघ. अनु. तब तक कहना चाहिये, जब तक जघन्य अनुभाग की जघन्य स्थिति न आ जाये। ये परस्पर आक्रान्त स्थितियां हैं, अतः अब जघन्य ३९,

उत्कृष्ट ४९, जघन्य ३८, उत्कृष्ट ४८, जघन्य ३७, उत्कृष्ट ४७, इस प्रमाण से अनुभाग का दिग्दर्शन कराते हुए उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग २१ के अंक पर्यन्त जानना और उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग ३१ के अंक पर्यन्त जानना।

१२. इसके पश्चात् उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग कण्डक प्रमाण अनन्तगुण कहना, जिन्हें ३० से २१ तक के अंक द्वारा बतलाया है।

परावर्तमान २८ अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता

(असातावेदनीय, नरकगतिद्विक, पंचेन्द्रियजाति हीन जातिचतुष्क, आदि के संस्थान और संहनन रहित शेष पांच संस्थान और संहनन, अशुभविहायोगति, स्थावरदशक=२८)

परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता का विचार अनुकृष्टि की तरह जघन्यस्थिति से प्रारम्भ कर उत्कृष्टस्थिति पर्यन्त किया जाता है।

परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण स्थितियां

२१	का जघन्य	अनुभाग	अल्प	उससे
२२	,,	,,	,,	,,
२३	,,	,,	,,	,,
२४	,,	,,	,,	,,
२५	,,	,,	,,	,,
२६	,,	,,	,,	,,
२७	,,	,,	,,	,,
२८	,,	,,	,,	,,
२९	,,	,,	,,	,,
३०	,,	,,	,,	,,
३१	,,	,,	,,	,,
३२	,,	,,	,,	,,
३३	,,	,,	,,	,,
३४	,,	,,	,,	,,
३५	,,	,,	,,	,,
३६	,,	,,	,,	,,
३७	,,	,,	,,	,,
३८	,,	,,	,,	,,
३९	,,	,,	,,	,,
४०	,,	,,	,,	,,
४१	,,	,,	,,	,,
४२	,,	,,	,,	,,
४३	,,	,,	,,	,,
४४	,,	,,	,,	,,
४५	,,	,,	,,	,,
४६	,,	,,	,,	,,
४७	,,	,,	,,	,,
४८	,,	,,	,,	,,
४९	,,	,,	,,	,,
५०	,,	,,	,,	,,

कण्डक का असंख्यातवां भाग	५१	का जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे						
	५२	,,	,,	,,	,,						
	५३	,,	,,	,,	,,						
	५४	,,	,,	,,	,,						
	५५	,,	,,	,,	,,						
	५६	,,	,,	,,	,,						
	५७	,,	,,	,,	,,	—११	का	उत्कृष्ट	अनु.	अनन्तगुण	उससे
कण्डक का अवशिष्ट एकभाग	५८					१२	,,	,,	,,	,,	,,
	५९					१३	,,	,,	,,	,,	,,
	६०					१४	,,	,,	,,	,,	,,
						१५	,,	,,	,,	,,	,,
						१६	,,	,,	,,	,,	,,
						१७	,,	,,	,,	,,	,,
						१८	,,	,,	,,	,,	,,
						१९	,,	,,	,,	,,	,,
						२०	,,	,,	,,	,,	,,
	५८	का जघन्य	अनु.	अनन्तगुण	उससे	—२१	,,	,,	,,	,,	,,
						२२	,,	,,	,,	,,	,,
						२३	,,	,,	,,	,,	,,
						२४	,,	,,	,,	,,	,,
						२५	,,	,,	,,	,,	,,
						२६	,,	,,	,,	,,	,,
						२७	,,	,,	,,	,,	,,
						२८	,,	,,	,,	,,	,,
						२९	,,	,,	,,	,,	,,
						३०	,,	,,	,,	,,	,,
	५९	का जघन्य	अनु.	अनन्तगुण	उससे	—३१	,,	,,	,,	,,	,,
						३२	,,	,,	,,	,,	,,
						३३	,,	,,	,,	,,	,,
						३४	,,	,,	,,	,,	,,
						३५	,,	,,	,,	,,	,,
						३६	,,	,,	,,	,,	,,
						३७	,,	,,	,,	,,	,,
						३८	,,	,,	,,	,,	,,
						३९	,,	,,	,,	,,	,,
						४०	,,	,,	,,	,,	,,
	६०	का जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	—४१	,,	,,	,,	,,	,,
						४२	,,	,,	,,	,,	,,
						४३	,,	,,	,,	,,	,,
						४४	,,	,,	,,	,,	,,
						४५	,,	,,	,,	,,	,,
						४६	,,	,,	,,	,,	,,
						४७	,,	,,	,,	,,	,,
						४८	,,	,,	,,	,,	,,
						४९	,,	,,	,,	,,	,,
						५०	,,	,,	,,	,,	,,

६१	का	जघन्य अनु.	अनंतगुण	उससे	—५१	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
६२	,,	,,	,,	,,	—५२	,,	,,	,,	,,	,,
६३	,,	,,	,,	,,	—५३	,,	,,	,,	,,	,,
६४	,,	,,	,,	,,	—५४	,,	,,	,,	,,	,,
६५	,,	,,	,,	,,	—५५	,,	,,	,,	,,	,,
६६	,,	,,	,,	,,	—५६	,,	,,	,,	,,	,,
६७	,,	,,	,,	,,	—५७	,,	,,	,,	,,	,,
६८	,,	,,	,,	,,	—५८	,,	,,	,,	,,	,,
६९	,,	,,	,,	,,	—५९	,,	,,	,,	,,	,,
७०	,,	,,	,,	,,	—६०	,,	,,	,,	,,	,,
७१	,,	,,	,,	,,	—६१	,,	,,	,,	,,	,,
७२	,,	,,	,,	,,	—६२	,,	,,	,,	,,	,,
७३	,,	,,	,,	,,	—६३	,,	,,	,,	,,	,,
७४	,,	,,	,,	,,	—६४	,,	,,	,,	,,	,,
७५	,,	,,	,,	,,	—६५	,,	,,	,,	,,	,,
७६	,,	,,	,,	,,	—६६	,,	,,	,,	,,	,,
७७	,,	,,	,,	,,	—६७	,,	,,	,,	,,	,,
७८	,,	,,	,,	,,	—६८	,,	,,	,,	,,	,,
७९	,,	,,	,,	,,	—६९	,,	,,	,,	,,	,,
८०	,,	,,	,,	,,	—७०	,,	,,	,,	,,	,,
					७१	,,	,,	,,	,,	,,
					७२	,,	,,	,,	,,	,,
					७३	,,	,,	,,	,,	,,
					७४	,,	,,	,,	,,	,,
					७५	,,	,,	,,	,,	,,
					७६	,,	,,	,,	,,	,,
					७७	,,	,,	,,	,,	,,
					७८	,,	,,	,,	,,	,,
					७९	,,	,,	,,	,,	,,
					८०	,,	,,	,,	,,	,,

अनुभाग कण्डक

स्पष्टीकरण गाथा ६७ के अनुसार

१. परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का जघन्य अनुभाग सर्वस्तोक (अल्प) है। जिसे प्रारूप में २१ के अंक से बतलाया है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय, यावत् सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण तक सर्वस्तोक जानना। जिसे प्रारूप में २१ के अंक से लेकर ५० के अंक पर्यन्त बताया है।

२. उसके बाद उपरितन स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा है। इसी प्रकार आगे की द्वितीय आदि स्थितियों में कण्डक के असंख्येय भाग तक अनन्तगुणा कहना चाहिये। असत्कल्पना से कण्डक का संख्याप्रमाण १० अंक समझना चाहिये और उसका असंख्यातवां भाग ७ अंक, जिसे प्रारूप में ५१ से ५७ तक के अंक द्वारा बतलाया है तथा 'एकोऽवतिष्ठते' से तीन अंक (५८,५९,६०) लिये हैं।

३. परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति के उत्कृष्ट पद में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय आदि कण्डक प्रमाण स्थितियों में अनन्तगुण, अनन्तगुण जानना। जिन्हें प्रारूप में अंक ११ से २० तक के अंक पर्यन्त बतलाया है।

४. जिस स्थिति के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उसकी उपरितन स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप में ५८ के अंक से प्रदर्शित किया है।

५. प्रागुक्त उत्कृष्ट अनुभाग रूप कण्डक से ऊपर की प्रथम, द्वितीय, तृतीय यावत् कण्डक प्रमाण स्थितियों में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में २१ के अंक से ३० के अंक पर्यन्त बतलाया है।

६. इसके पश्चात् जिस स्थितिस्थान के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए, उससे ऊपर की जघन्य स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण होता है। जिसे प्रारूप में ५९ के अंक से बतलाया है।

७. इसके बाद पुनः प्रागुक्त कण्डक से ऊपर की कण्डकप्रमाण स्थितियों में उत्कृष्ट अनुभाग क्रमशः अनन्तगुण, अनन्तगुण जानना चाहिये। जिसे प्रारूप में ३१ से ४० के अंक पर्यन्त बतलाया है।

८. इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कण्डकमात्र स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण तब तक कहना चाहिये, यावत् जघन्य अनुभाग संबंधी एक-एक स्थितियों की 'तानि अन्यानि च–वही और अन्य' रूप अनुकृष्टि से कण्डक पूर्ण हो जाये अर्थात् कण्डक पर्यन्त अनन्तगुण कहना चाहिये। प्रारूप में जघन्य अनुभाग विषयक एक स्थिति ६० के अंक से अनन्तगुणी बताई है और उत्कृष्ट अनुभाग विषयक स्थितियां कण्डक प्रमाण अनन्तगुणी ४१ से ५० के अंक पर्यन्त बतलाई हैं। इस प्रकार सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग ५० के अंक पर्यन्त कहना चाहिये।

९. इसके पश्चात् परस्पर आक्रान्त स्थितिस्थान हैं। अतः उसके ऊपर एक स्थिति, एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थिति से उपरितन स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण कहना। जिसे प्रारूप में क्रमशः ६१-५१ के अंक से बताया है। इसके ऊपर पुनः प्रागुक्त स्थिति की उपरितन स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है और सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण से ऊपर की द्वितीय स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण कहना। जिसे प्रारूप में क्रमशः ६२-५२ के अंक से बताया है।

१०. इस प्रकार एक जघन्य और एक उत्कृष्ट का अनुभाग अनन्तगुण तब तक कहना यावत् असातावेदनीय के जघन्य अनुभाग की सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। जिसे प्रारूप में ६३-५३, ६४-५४, ६५-५५ आदि लेते हुए ८० के अंक तक जघन्य स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग बताया है।

११. अभी जो उत्कृष्ट अनुभाग की कण्डक मात्र स्थितियां अनुक्त हैं। वे भी यथोत्तर अनन्तगुणी जानना। जिसे प्रारूप में ७१-८० के अंक पर्यन्त उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग से बताया है।

त्रसचतुष्क की तीव्रता–मन्दता

(त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक)

ये चारों प्रकृतियां परावर्तमान शुभ प्रकृतियां हैं। अतः इनकी तीव्रता-मंदता का विचार उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ करके जघन्यस्थिति पर्यन्त किया जायेगा।

इनकी तीव्रता-मंदता दर्शक प्रारूप इस प्रकार है–

निवर्तन कंडक	९०	का	जघन्य	अनुभाग	अल्प अनन्तगुण	उससे					
	८९	,,	,,	,,		,,					
	८८	,,	,,	,,	,,	,,					
	८७	,,	,,	,,	,,	,,					
	८६	,,	,,	,,	,,	,,					
	८५	,,	,,	,,	,,	,,					
	८४	,,	,,	,,	,,	,,					
	८३	,,	,,	,,	,,	,,					
	८२	,,	,,	,,	,,	,,					
	८१	,,	,,	,,	,,	,,	—९०	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण उससे
१८ कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण	८०	,,	,,	,,	,,	,,	—८९	,,	,,	,,	,, ,,
	७९	,,	,,	,,	,,	,,	—८८	,,	,,	,,	,, ,,
	७८	,,	,,	,,	,,	,,	—८७	,,	,,	,,	,, ,,
	७७	,,	,,	,,	,,	,,	—८६	,,	,,	,,	,, ,,
	७६	,,	,,	,,	,,	,,	—८५	,,	,,	,,	,, ,,
	७५	,,	,,	,,	,,	,,	—८४	,,	,,	,,	,, ,,
	७४	,,	,,	,,	,,	,,	—८३	,,	,,	,,	,, ,,
	७३	,,	,,	,,	,,	,,	—८२	,,	,,	,,	,, ,,
	७२	,,	,,	,,	,,	,,	—८१	,,	,,	,,	,, ,,
	७१	,,	,,	,,	,,	,,	—८०	,,	,,	,,	,, ,,
	७०	,,	,,	,,	,,	,,	—७९	,,	,,	,,	,, ,,
	६९	,,	,,	,,	,,	,,	—७८	,,	,,	,,	,, ,,
	६८	,,	,,	,,	,,	,,	—७७	,,	,,	,,	,, ,,
	६७	,,	,,	,,	,,	,,	—७६	,,	,,	,,	,, ,,
	६६	,,	,,	,,	,,	,,	—७५	,,	,,	,,	,, ,,
	६५	,,	,,	,,	,,	,,	—७४	,,	,,	,,	,, ,,
	६४	,,	,,	,,	,,	,,	—७३	,,	,,	,,	,, ,,
	६३	,,	,,	,,	,,	,,	—७२	,,	,,	,,	,, ,,
	६२	,,	,,	,,	,,	,,	—७१	,,	,,	,,	,, ,,
	६१	,,	,,	,,	,,	,,	—७०	,,	,,	,,	,, ,,

अभव्यप्रायोग्य अनुभागबंधस्थिति

६० का जघन्य अनभाग अनन्तगुण उससे
५९ ,, ,, ,, ,, ,,
५८ ,, ,, ,, ,, ,,
५७ ,, ,, ,, ,, ,,
५६ ,, ,, ,, ,, ,,
५५ ,, ,, ,, ,, ,,
५४ ,, ,, ,, ,, ,,
५३ ,, ,, ,, ,, ,,
५२ ,, ,, ,, ,, ,,
५१ ,, ,, ,, ,, ,,
५० ,, ,, ,, ,, ,,
४९ ,, ,, ,, ,, ,,
४८ ,, ,, ,, ,, ,,
४७ ,, ,, ,, ,, ,,
४६ ,, ,, ,, ,, ,,
४५ ,, ,, ,, ,, ,,
४४ ,, ,, ,, ,, ,,
४३ ,, ,, ,, ,, ,,
४२ ,, ,, ,, ,, ,,
४१ ,, ,, ,, ,, ,,
४० ,, ,, ,, ,, ,,

भाग — कंडक का असंख्यातवां

३९ ,, ,, ,, ,, ,,
३८ ,, ,, ,, ,, ,,
३७ ,, ,, ,, ,, ,,
३६ ,, ,, ,, ,, ,,
३५ ,, ,, ,, ,, ,,
३४ ,, ,, ,, ,, ,,
३३ ,, ,, ,, ,, ,,—६९ का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण उससे

एक भाग — कंडक का अवशिष्ट

३२
३१
३०

६८ ,, ,, ,, ,, ,,
६७ ,, ,, ,, ,, ,,
६६ ,, ,, ,, ,, ,,
६५ ,, ,, ,, ,, ,,
६४ ,, ,, ,, ,, ,,
६३ ,, ,, ,, ,, ,,
६२ ,, ,, ,, ,, ,,
६१ ,, ,, ,, ,, ,,
६० ,, ,, ,, ,, ,,

३२ का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण उससे —५९ ,, ,, ,, ,, ,,
५८ ,, ,, ,, ,, ,,
५७ ,, ,, ,, ,, ,,
५६ ,, ,, ,, ,, ,,
५५ ,, ,, ,, ,, ,,

						५४	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
						५३	,,	,,	,,	,,	,,
						५२	,,	,,	,,	,,	,,
						५१	,,	,,	,'		
						५०	,,	,,	,,		
३१	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	—४९	,,	,,	,,		
						४८	,,	,,	,,		
						४७	,,	,,	,,		
						४६	,,	,,	,,		
						४५	,,	,,	,,		
						४४	,'	,,	,,		
						४३	,,	,,	,'		
						४२	,,	,,	,'	..	..
						४१	,,	,,	,,	,,	,,
३०	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	—४०	,,	,'	,,		
२९	,,	,,	,,	,,	,,	—३९	,,	,,	,'	,,	,,
२८	,,	,,	,,	,,	,,	—३८	,,	,,	,,	,,	,,
२७	,,	,,	,,	,,	,,	—३७	,,	,,	,,	,,	,,
२६	,,	,,	,,	,,	,,	—३६	,,	,,	,,	,,	,,
२५	,,	,,	,,	,,	,,	—३५	,,	,,	,,	,,	,,
२४	,,	,,	,,	,,	,,	—३४	,,	,,	,,	,,	,,
२३	,,	,,	,,	,,	,,	—३३	,,	,,	,,	,,	,,
२२	,,	,,	,,	,,	,,	—३२	,,	,,	,,	,,	,,
२१	,,	,,	,,	,,	,,	—३१	,,	,,	,,	,,	,,
२०	,,	,,	,,	,,	,,	—३०	,,	,,	,,	,,	,,
१९	,,	,,	,,	,,	,,	—२९	,,	,,	,,	,,	,,
१८	,,	,,	,,	,,	,,	—२८	,,	,,	,,	,,	,,
१७	,,	,,	,,	,,	,,	—२७	,,	,,	,,	,,	,,
१६	,,	,,	,,	,,	,,	—२६	,,	,,	,,	,,	,,
१५	,,	,,	,,	,,	,,	—२५	,,	,,	,,	,,	,,
१४	,,	,,	,,	,,	,,	—२४	,,	,,	,,	,,	,,
१३	,,	,,	,,	,,	,,	—२३	,,	,,	,,	,,	,,
१२	,,	,,	,,	,,	,,	—२२	,,	,,	,,	,,	,,
११	,,	,,	,,	,,	,,	—२१	,,	,,	,,	,,	,,

अबाधोत्तर कण्डक प्रमाण स्थिति	२०	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण उससे
	१९	,,	,,	,,	,, ,,
	१८	,,	,,	,,	,, ,,
	१७	,,	,,	,,	,, ,,
	१६	,,	,,	,,	,, ,,
	१५	,,	,,	,,	,, ,,
	१४	,,	,,	,,	,, ,,
	१३	,,	,,	,,	,, ,,
	१२	,,	,,	,,	,, ,,
	११	,,	,,	,,	,, ,,

स्पष्टीकरण गाथा ६७ के अनुसार

१. त्रस आदि नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति के जघन्यपद में जघन्य अनुभाग सर्वस्तोक है, जिसे प्रारूप में ९० के अंक से बतलाया है।

२. तदनन्तर समयोन, समयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, अनन्तगुण कण्डक मात्र तक जानना। जिसे प्रारूप में ८९ से ८१ के अंक तक बताया है।

३. इसके बाद उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप में ८१ के अंक के सामने के ९० के अंक द्वारा बतलाया है।

४. ततः कण्डक से नीचे प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। ततः समयोन उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा है। जिसे प्रारूप में क्रमशः ८९ से ८० के अंक तक से बताया है।

५. इसके बाद कण्डक की अधस्तनी द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण और द्विसमयोन उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में क्रमशः ७९, ८८ के अंक से जानना। यह तब तक कहना यावत् १८ कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। जिसे प्रारूप में ७९-८८, ७८-८७ आदि अंक बतलाते हैं। यह क्रम ६१-७० के अंक तक जानना।

६. १८ कोडाकोडी सागरोपम से ऊपर कण्डक मात्र स्थिति अनुक्त है। उसकी प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। उससे समयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग पूर्ववत् है, द्विसमयोन उत्कृष्ट स्थिति का भी पूर्ववत् है (अर्थात् अनन्तगुण है)। इस प्रकार अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति बंध तक जानना। जिसे प्रारूप में ६० से ४० के अंक तक बतलाया है।

७. उसके बाद अधस्तन प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। इस प्रकार नीचे कण्डक के असंख्येय भाग तक जानना चाहिये। जिसे प्रारूप में ३९ से ३३ के अंक तक बतलाया है।

'एकोऽवतिष्ठते' इस संकेत से ३२,३१,३० अंक जानना।

८. अठारह कोडाकोडी सागरोपम से ऊपर कण्डक मात्र स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ६९ से ६० के अंक तक बताया है।

९. जिस जघन्य स्थितिस्थान के अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उससे नीचे के स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे ३२ के अंक से बताया है।

१०. उसके बाद पुनः १८ कोडाकोडी सागरोपम सम्बन्धी अन्त्यस्थिति से लेकर नीचे कण्डक प्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण कहना, जिसे प्रारूप में ५९ से ५० के अंक तक बताया है।

११. उसके बाद जिस स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए थे, उससे नीचे के स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ३१ के अंक से प्रदर्शित किया है।

१२. उससे भी पुनः पूर्वोक्त कण्डक (५९-५०) से नीचे कण्डक प्रमाण स्थितियों का अनुक्रम से नीचे-नीचे उतरते-उतरते उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण-अनन्तगुण कहना। जिसे ४९ से ४० के अंक तक बताया है।

१३. इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कण्डकमात्र स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग तब तक कहना चाहिये यावत अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के विषय में जघन्य स्थिति आती है।

१४. जिस स्थितिस्थान के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उसके अधोवर्ती स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ३० के अंक से बताया है। इसके बाद अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के नीचे प्रथम स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ३० के अंक के सामने ४० के अंक से बताया है।

१५. इसके बाद पुनः प्रागुक्त जघन्य अनुभागबंध की स्थिति के नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे २९ के अंक से बताया है। उसके बाद अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग से नीचे द्वितीय स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे २९ के अंक के सामने ३९ के अंक से बताया है।

इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और एक स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग तब तक कहना चाहिए यावत जघन्यस्थिति आती है। जिसे प्रारूप में २८-३८, २७-३७, २६-३६, २५-३५ आदि के क्रम को लेते हुए जघन्य स्थिति को २१ के अंक से बताया है।

१६. जो उत्कृष्ट स्थिति में कण्डक प्रमाण अनुभाग अनुक्त है, उसे प्रारूप में २० से ११ के अंक तक जानना। वह उत्तरोत्तर अनन्तगुण, अनन्तगुण है।

तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की तीव्रता-मंदता

इनकी तीव्रता-मंदता का विचार जघन्य स्थिति से प्रारंभ कर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त किया जायेगा। इनकी तीव्रता-मंदता इस प्रकार है—

निवर्तन कण्डक

११	का	जघन्य	अनुभाग	स्तोक	उससे							
१२	,,	,,	,,	अनन्तगुण	,,							
१३	,,	,,	,,	,,	,,							
१४	,,	,,	,,	,,	,,							
१५	,,	,,	,,	,,	,,							
१६	,,	,,	,,	,,	,,							
१७	,,	,,	,,	,,	,,							
१८	,,	,,	,,	,,	,,							
१९	,,	,,	,,	,,	,,							
२०	,,	,,	,,	,,	,,	—११	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	
२१	,,	,,	,,	,,	,,	—१२	,,	,,	,,	,,	,,	
२२	,,	,,	,,	,,	,,	—१३	,,	,,	,,	,,	,,	
२३	,,	,,	,,	,,	,,	—१४	,,	,,	,,	,,	,,	
२४	,,	,,	,,	,,	,,	—१५	,,	,,	,,	,,		
२५	,,	,,	,,	,,	,,	—१६	,,	,,	,,			

अस्थाप

२६	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	—१७	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
२७	,,	,,	,,	,,	,,	—१८	,,	,,	,,	,,	,,
२८	,,	,,	,,	,,	,,	—१९	,,	,,	,,	,,	,,
२९	,,	,,	,,	,,	,,	—२०	,,	,,	,,	,,	,,
३०	,,	,,	,,	,,	,,	—२१	,,	,,	,,	,,	,,
३१	,,	,,	,,	,,	,,	—२२	,,	,,	,,	,,	,,
३२	,,	,,	,,	,,	,,	—२३	,,	,,	,,	,,	,,
३३	,,	,,	,,	,,	,,	—२४	,,	,,	,,	,,	,,
३४	,,	,,	,,	,,	,,	—२५	,,	,,	,,	,,	,,
३५	,,	,,	,,	,,	,,	—२६	,,	,,	,,	,,	,,
३६	,,	,,	,,	,,	,,	—२७	,,	,,	,,	,,	,,
३७	,,	,,	,,	,,	,,	—२८	,,	,,	,,	,,	,,
३८	,,	,,	,,	,,	,,	—२९	,,	,,	,,	,,	,,
३९	,,	,,	,,	,,	,,	—३०	,,	,,	,,	,,	,,
४०	,,	,,	,,	,,	,,						
४१	,,	,,	,,	,,	,,						
४२	,,	,,	,,	,,	,,						
४३	,,	,,	,,		,,						
४४	,,	,,	,,	,,	,,						
४५	,,	,,	,,	,,	,,						
४६	,,	,,	,,	,,	,,						
४७	,,	,,	,,	,,	,,						
४८	,,	,,	,,	,,	,,						
४९	,,	,,	,,	,,	,,						
५०	,,	,,	,,	,,	,,						
५१	,,	,,	,,	,,	,,						
५२	,,	,,	,,	,,	,,						
५३	,,	,,	,,	,,	,,						
५४	,,	,,	,,	,,	,,						
५५	,,	,,	,,	,,	,,						
५६	,,	,,	,,	,,	,,						
५७	,,	,,	,,	,,	,,						
५८	,,	,,	,,	,,	,,						
५९	,,	,,	,,	,,	,,						
६०	,,	,,	,,	,,	,,						
६१	,,	,,	,,	,,	,,						
६२	,,	,,	,,	,,	,,						
६३	,,	,,	,,	,,	,,						
६४	,,	,,	,,	,,	,,						
६५	,,	,,	,,	,,	,,						
६६	,,	,,	,,	,,	,,						
६७	,,	,,	,,	,,	,,	—३१	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
६८						३२	,,	,,	,,	,,	,,
६९						३३	,,	,,	,,	,,	,,
७०						३४	,,	,,	,,	,,	,,

प्रायोग्य जघन्य अनु. बंध

सागरोपम शतपृथक्त्वप्रमाण (परावर्तमान जघ. अनु. बंधप्रायोग्य)

निवर्तन कंडक का असं. भाग

कंडक का अवशिष्ट भाग

						३५	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
						३६	,,	,,	,,	,,	,,
						३७	,,	,,	,,	,,	,,
						३८	,,	,,	,,	,,	,,
						३९	,,	,,	,,	,,	,,
						४०	,,	,,	,,	,,	,,
६८	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	—४१	,,	,,	,,	,,	,,
						४२	,,	,,	,,	,,	,,
						४३	,,	,,	,,	,,	,,
						४४	,,	,,	,,	,,	,,
						४५	,,	,,	,,	,,	,,
						४६	,,	,,	,,	,,	,,
						४७	,,	,,	,,	,,	,,
						४८	,,	,,	,,	,,	,,
						४९	,,	,,	,,	,,	,,
						५०	,,	,,	,,	,,	,,
६९	का		जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	—५१	,,	,,	,,	,,	,,
						५२	,,	,,	,,	,,	,,
						५३	,,	,,	,,	,,	,,
						५४	,,	,,	,,	,,	,,
						५५	,,	,,	,,	,,	,,
						५६	,,	,,	,,	,,	,,
						५७	,,	,,	,,	,,	,,
						५८	,,	,,	,,	,,	,,
						५९	,,	,,	,,	,,	,,
						६०	,,	,,	,,	,,	,,
७०	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	—६१	,,	,,	,,	,,	,,
७१	,,	,,	,,	,,	,,	—६२	,,	,,	,,	,,	,,
७२	,,	,,	,,	,,	,,	—६३	,,	,,	,,	,,	,,
७३	,,	,,	,,	,,	,,	—६४	,,	,,	,,	,,	,,
७४	,,	,,	,,	,,	,,	—६५	,,	,,	,,	,,	,,
७५	,,	,,	,,	,,	,,	—६६	,,	,,	,,	,,	,,
७६	,,	,,	,,	,,	,,	—६७	,,	,,	,,	,,	,,
७७	,,	,,	,,	,,	,,	—६८	,,	,,	,,	,,	,,
७८	,,	,,	,,	,,	,,	—६९	,,	,,	,,	,,	,,
७९	,,	,,	,,	,,	,,	—७०	,,	,,	,,	,,	
८०	,,	,,	,,	,,	,,	—७१	,,	,,	,,	,,	

८१	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	—७२	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
८२	,,	,,	,,	,,	,,	—७३	,,	,,	,,	,,	,,
८३	,,	,,	,,	,,	,,	—७४	,,	,,	,,	,,	,,
८४	,,	,,	,,	,,	,,	—७५	,,	,,	,,	,,	,,
८५	,,	,,	,,	,,	,,	—७६	,,	,,	,,	,,	,,
८६	,,	,,	,,	,,	,,	—७७	,,	,,	,,	,,	,,
८७	,,	,,	,,	,,	,,	—७८	,,	,,	,,	,,	,,
८८	,,	,,	,,	,,	,,	—७९	,,	,,	,,	,,	,,
८९	,,	,,	,,	,,	,,	—८०	,,	,,	,,	,,	,,
९०	,,	,,	,,	,,	,,	८१	,,	,,	,,	,,	,,
						८२	,,	,,	,,	,,	,,
						८३	,,	,,	,,	,,	,,
						८४	,,	,,	,,	,,	,,
						८५	,,	,,	,,	,,	,,
						८६	,,	,,	,,	,,	,,
						८७	,,	,,	,,	,,	,,
						८८	,,	,,	,,	,,	,,
						८९	,,	,,	,,	,,	,,
						९०	,,	,,	,,	,,	,,

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति

स्पष्टीकरण गाथा ६७ के अनुसार.

१. सप्तम नरक में वर्तमान नारक के सर्वजघन्य स्थितिस्थान के जघन्यपद में अनुभाग सर्वस्तोक है। जिसे प्रारूप में ११ के अंक से बतलाया है।

२. द्वितीयादि निवर्तनकण्डक तक के स्थान में जघन्य अनुभाग क्रमशः अनन्तगुण जानना चाहिये। जिसे प्रारूप में १२ से २० के अंक पर्यन्त बताया है।

३. उसके बाद जघन्य स्थिति के उत्कृष्ट पद में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप में २० के अंक के सामने के ११ के अंक से बतलाया है।

४. इससे निवर्तनकण्डक से ऊपर के प्रथम स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे १२ के अंक से बताया है। द्वितीय स्थिति के उत्कृष्ट पद में अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे २१ के अंक के सामने १२ के अंक से बतलाया है। इस प्रकार एक जघन्य, एक उत्कृष्ट अनुभाग तब तक जानना चाहिये जब तक कि अभव्य प्रायोग्य जघन्य अनुभाग के नीचे की चरम स्थिति आती है। जिसे प्रारूप में २२-१३, २३-१४, २४-१५ आदि क्रम लेते हुए अंत में ३९-३० के अंक से बताया है।

५. अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग की चरम स्थिति ४० के अंक से बताई है।

६. अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध विषयक प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। द्वितीयादि स्थितियों (सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थितियों) पर्यन्त तावन्मात्र-तावन्मात्र अर्थात अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ४१ से ६० अंक पर्यन्त बतलाया है।

इन स्थितियों को परावर्तमान जघन्य अनुभागबंधप्रायोग्य भी कहते हैं।

७. इससे ऊपर प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे भी द्वितीय जघन्य स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण, इस प्रकार निवर्तनकण्डक के असंख्येयभाग पर्यन्त जानना। जिसे प्रारूप में ६१ से ६७ के अंक पर्यन्त बताया है।

'एकोऽवतिष्ठते' इस नियम के अनुसार निवर्तनकण्डक के एक अवशिष्ट भाग को बताने के लिए ६८, ६९, ७० ये तीन अंक बतलाये हैं।

८. जिस उत्कृष्ट स्थितिस्थान के अनुभाग का कथन कर निवृत्त हुए, उससे उपरितन स्थितिस्थान में अनन्तगुण, अनन्तगुण अभव्यप्रायोग्य अनुभागबंध की चरम स्थिति के नीचे तक कहना चाहिये। जिसे प्रारूप में ३१ से ४० तक के अंक पर्यन्त बतलाया है।

९. जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग का कथन करके निवृत्त हुए थे, उससे उपरितन स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ६८ के अंक से बताया है।

१०. अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध विषयक प्रथम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। द्वितीयादि स्थितिस्थान तब तक कहना यावत कण्डकमात्र स्थितियां अतिक्रांत होती हैं। जिसे प्रारूप में ४१ से ५० के अंक तक बताया है।

११. जिस स्थितिस्थान के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उससे उपरितन जघन्य स्थितिस्थान का अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ६९ के अंक से बताया है।

१२ अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग विषयक स्थितिस्थान से ऊपर कण्डकमात्र स्थितिस्थान अनन्तगुण जानना चाहिये। जिसे प्रारूप में ५१ से ६० के अंक पर्यन्त बताया है।

१३. इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कण्डकमात्र स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण तब तक जानना, जब तक कि अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग की चरम स्थिति आती है। जिसे प्रारूप में ७० के अंक से जानना।

१४. अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के ऊपर प्रथम स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ६१ के अंक से जानना। प्रागुक्त जघन्य अनुभागबंध के ऊपर का जघन्य स्थितिस्थान अनन्तगुण, जिसे प्रारूप में ७१ के अंक से बताया है और प्रागुक्त उत्कृष्ट अनुभाग से ऊपर के स्थितिस्थान का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे ६२ के अंक से समझना।

इस प्रकार एक स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग और एक स्थितिस्थान का उत्कृष्ट अनुभाग परस्पर आक्रान्त रूप में तब तक कहना यावत उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्त गुण आता है। जिसे प्रारूप में ६३-७३, ६४-७४, ६५-७५ आदि लेते हुए ९०-८१ अंक पर्यन्त कहना। यह ९० के उत्कृष्ट स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग हुआ।

१५ अब जो उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग की कण्डक मात्र स्थितियां अनुक्त हैं, उसे क्रमशः अनन्तगुण कहना। जिसे प्रारूप में ८१ से ९० के अंक पर्यन्त बताया है।

२६. पल्योपम और सागरोपम का स्वरूप

क्षुल्लकभव का प्रमाण बतलाने के प्रसंग में जैन दृष्टिकोण से प्राचीन कालगणना का कुछ निर्देश किया गया है कि कालगणना की आद्य इकाई 'समय' है और उसके पश्चात् आवलिका, उच्छ्वास, स्तोक, लव आदि का क्रम चलता है। इस मुहूर्त के बाद कालगणना की ऐसी संज्ञायें चालू हो [illegible]

हैं। जैसे कि ३० मुहूर्त का एक दिन-रात, पन्द्रह दिन-रात का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष प्रसिद्ध ही है।

इन वर्षों के समुदाय का संकेत करने के लिए युग, दशक, शताब्दि आदि संज्ञाओं का भी प्रयोग देखने में आता है। लेकिन काल का प्रवाह अनन्त है। इसलिए वर्षों की अमुक-अमुक संख्या को लेकर प्राचीन काल में जो संज्ञायें शास्त्रों में निर्धारित की गई हैं, वे इस प्रकार हैं—पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित, अडडांग, अडड इत्यादि। इसी क्रम से कहते हुए अंतिम संज्ञा का नाम शीर्षप्रहेलिका है। ये सभी उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणी होती हैं। इन संज्ञाओं को बताकर अनुयोगद्वारसूत्र में कहा है कि शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करने पर १९४ अंक प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है, उतनी ही राशि गणित का विषय है। अर्थात् संख्यात संख्या की यहां तक छद्मस्थ गणना कर सकते हैं। इसके आगे उपमा प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

आशय यह है कि समय की जो अवधि वर्षों के रूप में गिनी जा सकती है, उसके लिये पूर्वांग, पूर्व आदि संज्ञायें मान लीं, लेकिन समय की अवधि इतनी लंबी है कि उसकी गणना वर्षों में नहीं की जा सकती है, उसे उपमा-प्रमाण द्वारा जाना जाता है।

उपमा प्रमाण के दो भेद हैं—पल्योपम और सागरोपम। समय की जिस लंबी अवधि को पल्य की उपमा दी जाती है, वह काल पल्योपम कहलाता है। अनाज वगैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं।

पल्योपम के तीन भेद हैं—उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्रपल्योपम। इसी प्रकार उद्धार, अद्धा और क्षेत्र के भेद से सागरोपम के भी तीन भेद हैं। इन पल्योपम और सागरोपम के तीन-तीन भेद भी दो प्रकार के हैं—बादर और सूक्ष्म। इनका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—

उत्सेधांगुल द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लंबा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य-गड्ढा बनाना चाहिये। जिसकी परिधि कुछ कम ३$\frac{1}{2}$ योजन होगी। इसमें एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे हुए बालाग्रों को इतना ठसाठस भरना चाहिये कि न इन्हें आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल का ही प्रवेश हो सके। उस पल्य से प्रति समय एक-एक बालाग्र निकालें। इस तरह करते-करते जितने समय में वह पल्य खाली हो, उस काल को बादर उद्धारपल्योपम कहते हैं और दस कोटाकोटी बादर उद्धारपल्योपम का एक बादर उद्धार-सागरोपम होता है।

इस बादर उद्धारपल्योपम के एक-एक केशाग्र के बुद्धि से असंख्यात, असंख्यात खण्ड करो। क्षेत्र की अपेक्षा यदि इनकी अवगाहना का विचार करें तो सूक्ष्म पनक जीव का शरीर जितने क्षेत्र को रोकता है, उससे असंख्यात-गुणी अवगाहना वाले होंगे। इन केशाग्र खण्डों को भी पूर्व की तरह पल्य में ठसाठस भर देना चाहिये और पहले की तरह प्रति समय उस केशाग्रखण्ड को निकालें। इस प्रकार निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली हो, उतने काल को सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहेंगे और दस कोटाकोटी सूक्ष्म उद्धारपल्योपम का एक सूक्ष्म उद्धार-सागरोपम होता है।

पूर्वोक्त बादर उद्धारपल्य से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक केशाग्र निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली हो, उतने समय को बादर अद्धापल्योपम काल कहते हैं और दस कोटाकोटी बादर अद्धापल्योपम काल का एक बादर अद्धासागरोपम होता है।

पूर्वोक्त सूक्ष्म उद्धारपल्य में से सौ-सौ वर्ष के बाद केशाग्र का एक-एक खण्ड निकालने पर, जितने समय में वह पल्य खाली हो, उतने समय को सूक्ष्म अद्धापल्योपम काल कहते हैं और दस कोटाकोटी सूक्ष्म अद्धापल्योपम का एक सूक्ष्म अद्धासागरोपम होता है।

पूर्व की तरह एक योजन लंबे, चौड़े और गहरे गड्ढे में एक दिन से लेकर सात दिन तक उगे हुए बालाग्रों को ठसाठस भरो। वे बालाग्र आकाश के जिन प्रदेशों को स्पर्श करें, उनमें से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में समस्त प्रदेशों का अपहरण हो जाये, उतने समय को बादर क्षेत्रपल्योपम काल कहते हैं। दस कोटाकोटी बादर क्षेत्रपल्योपम का एक बादर क्षेत्रसागरोपम होता है।

बादर क्षेत्रपल्य के बालाग्रों में से प्रत्येक के असंख्यात खण्ड करके पल्य में ठसाठस भर दो। उक्त पल्य में वे खण्ड आकाश के जिन प्रदेशों को स्पर्श करें और जिन प्रदेशों को स्पर्श न करें, उनमें से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशों का अपहरण किया जा सके, उतने समय का एक सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम होता है। दस कोटाकोटी सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम होता है।

पल्योपम और सागरोपम के उक्त तीन-तीन भेदों के बादर और सूक्ष्म का उपयोग यह है कि अपने उत्तर भेद का बोध हो सके। जैसे—बादर उद्धार पल्योपम और सागरोपम से सूक्ष्म उद्धार पल्योपम और सागरोपम सरलता से समझ में आ जाते हैं। सूक्ष्म उद्धार पल्योपम और सागरोपम से द्वीप, समुद्रों की गणना की जाती है तथा सूक्ष्म अद्धा पल्योपम और सागरोपम द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकों की आयु, कर्मों की स्थिति आदि जानी जाती है। सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम और सागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है।

इन पल्योपम और सागरोपम के स्वरूप को विशेष रूप से समझने के लिए अनुयोगद्वार, जीवसमास, प्रवचन-सारोद्धार, द्रव्यलोकप्रकाश, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम एवं ग्रंथ देखिए।

दिगम्बर साहित्य में पल्योपम का जो वर्णन है, वह पूर्वोक्त वर्णन से कुछ भिन्न है। उसमें क्षेत्र पल्योपम नामक कोई भेद नहीं है और न प्रत्येक पल्योपम के बादर और सूक्ष्म भेद किये हैं। इसके लिए सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थराजवार्तिक और त्रिलोकसार ग्रंथ देखिए।

२७. आयुबंध और उसकी अबाधा सम्बन्धी पंचसंग्रह में आगत चर्चा का सारांश

आयुकर्म के सिवाय शेष ज्ञानावरणादि सात मूल और उनकी उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबंध में उनका अबाधा-काल निश्चित है और वह उसमें गर्भित है। वैसा आयुकर्म के स्थितिबंध में नहीं है। आयुबंध तथा उसकी अबाधा के सम्बन्ध में मतभेद दर्शाते हुए पंचसंग्रह, पंचम बंधविधिद्वार गाथा ३७-४१ तक जो चर्चा की गई है, उसका सारांश इस प्रकार है—

'देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम और तिर्यंचायु एवं मनुष्यायु की तीन पल्योपम है तथा चारों आयुओं की पूर्वकोटि की त्रिभाग प्रमाण अबाधा है।

प्रश्न—आयु के दो भाग बीत जाने पर जो आयु का बंध कहा है, वह असम्भव होने से चारों आय में घटित नहीं होता है। क्योंकि भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंच तो कुछ अधिक पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक आयु शेष रह जाने पर परभव की आयु नहीं बांधते हैं परन्तु पल्य का असंख्यातवां भाग बाकी रहने पर ही परभव की आयु बांधते हैं, लेकिन उनकी आयु का त्रिभाग बहुत बड़ा होता है। जैसे कि तिर्यंच, मनुष्यों की आयु का त्रिभाग एक पल्य और देव एवं नारकों की आयु का त्रिभाग ग्यारह सागरोपम होता है।

उत्तर—उक्त कथन तभी संगत होता यदि हमारे दृष्टिकोण को समझा होता। क्योंकि यहां जिन [illegible] और मनुष्यों की आयु एक पूर्वकोटि होती है, उनकी अपेक्षा ही एक पूर्वकोटि के [illegible] है और यह अबाधा भी भुज्यमान आयु में ही जानना चाहिये, परभव सम्बन्धी [illegible]

सम्बन्धी आयु की दलिकरचना उस भव में पहुंचने के प्रथम समय से ही हो जाती है, उसमें अबाधाकाल सम्मिलित नहीं है। अतः पूर्वकोटि की आयु वाले मनुष्य, तिर्यंचों की परभव की आयु की उत्कृष्ट अबाधा पूर्वकोटि के त्रिभाग प्रमाण होती है और शेष देव, नारक और भोगभूमिजों की परभव की आयु की अबाधा छह मास होती है। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों के अपनी-अपनी आयु के त्रिभाग प्रमाण उत्कृष्ट अबाधा होती है। अन्य आचार्य भोगभूमिजों के परभव की आयु की अबाधा पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण मानते हैं।

इसी बात को चन्द्रसूरि ने संग्रहणीसूत्र गाथा ३०१, ३०२ में और अधिक स्पष्ट किया है। दिगम्बर कर्मग्रंथ गो. कर्मकांड में आयुबंध के सम्बन्ध में सामान्य से तो यही विचार प्रगट किये हैं, लेकिन देव, नारक और भोगभूमिजों की छह माह प्रमाण अबाधा को लेकर मतभेद है। वहां बताया है कि छह माह शेष रहने पर आयुबंध नहीं होता है, किन्तु उसके त्रिभाग में आयुबंध होता है और उस त्रिभाग में भी यदि आयुबंध न हो तो छह माह के नौवें भाग में बंध होता है। अर्थात् कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों की तरह जैसे उनकी पूरी आयु के त्रिभाग में बंध होता है, वैसे ही इनको भी छह माह के त्रिभाग में बंध होता है। भोगभूमिजों को लेकर स्वयं वहीं एक मतभेद और है कि नौ मास शेष रहने पर उसके त्रिभाग में परभव की आयु का बंध होता है। यदि आठों त्रिभागों में आयुबंध न हो तो अनुभूयमान आयु का एक अंतर्मुहूर्त काल बाकी रहने पर परभव की आयु नियम से बंध जाती है। किन्हींने भज्यमान आयु का काल आवली का असंख्यातवां भाग बाकी रहने पर नियम से परभव की आयु का बंध माना है (देखो गो. कर्मकाण्ड गाथा १५८, ६४० और इनकी टीका)।

२८. मूल एवं उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबंध एवं अबाधाकाल का प्रारूप

मूलकर्म प्रकृतियां

कर्मप्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति	उत्कृष्ट अबाधा	जघन्य स्थिति	जघन्य अबाधा
ज्ञानावरण	३० को. को. सागर	३००० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
दर्शनावरण	,,	,,	,,	,,
वेदनीय	,,	,,	१२ मुहूर्त	,,
मोहनीय	७० को. को. सागर	७००० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त	,,
आयु	३३ सागरोपम	$\frac{1}{3}$ पूर्व कोटि वर्ष	,,	,,
नाम	२० को. को. सागर	२००० वर्ष	८ मुहूर्त	,,
गोत्र	,,	,,	,,	,,
अन्तराय	३० ,,	३००० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त	,,
		उत्तर कर्मप्रकृतियां		
ज्ञानावरणपंचक	३० को. को. सागर	३००० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
दर्शनावरणवर्ग (४)	,,	,,	,,	,,
निद्रापंचक	,,	,,	$\frac{3}{7}$ सागर पल्यासंख्यभाग-हीन	,,

कर्मप्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति	उत्कृष्ट अबाधा	जघन्य स्थिति	जघन्य अबाधा
सातावेदनीय	१५ को. को. सागरो.	१५०० वर्ष	१२ मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
असातावेदनीय	३० ,, ,, ,,	३००० ,,	$\frac{1}{7}$ सागर पल्यासंख्य-भागहीन	,,
मिथ्यात्वमोहनीय	७० को. को. सागरो.	७००० वर्ष	१ सागरोपम पल्यासंख्य-भागहीन	,,
अनन्तानुबंधी आदि आद्य १२ कषाय	४० को. को. सागरो.	४००० वर्ष	$\frac{4}{7}$ सागरो. पल्यासंख्य-भागहीन	,,
संज्वलन क्रोध	,,	,,	२ मास	,,
,, मान	,,	,,	१ ,,	,,
,, माया	,,	,,	१ पक्ष	,,
,, लोभ	,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,
स्त्रीवेद	१५ को. को. सागरो.	१५०० वर्ष	$\frac{2}{7}$ सागरोपम पल्यासंख्य-भागहीन	,,
नपुंसकवेद	२० ,, ,, ,,	२००० ,,	,,	,,
पुरुषवेद	१० ,, ,, ,,	१००० ,,	८ वर्ष	,,
हास्य-रति	१० ,, ,, ,,	१००० ,,	$\frac{2}{7}$ सागरोपम पल्यासंख्य-भागहीन	,,
शोक-अरति, भय-जगुप्सा	२० कोडाकोडी सागरोपम	२००० वर्ष	$\frac{2}{7}$ सागरोपम पल्यासंख्य-भागहीन	,,
नरकायु	३३ सागरोपम	$\frac{1}{3}$ पूर्वकोटि वर्ष	१०००० वर्ष	,,
तिर्यंचायु	३ पल्योपम	,,	क्षुल्लकभव (२५६ आवली)	,,
मनुष्यायु	,,	,,	,,	,,
देवायु	३३ सागरोपम	,,	१०००० वर्ष	,,
नरकगति-आनुपूर्वी	२० को. को. सागरो.	२००० वर्ष	२८५ $\frac{5}{7}$ सागरोपम पल्या-संख्यभागहीन	अन्तर्मुहूर्त
तिर्चंयगति-आनुपूर्वी	,, ,, ,,	,,	$\frac{2}{7}$ सागरोपम पल्यासंख्य-भागहीन	,,
मनुष्यगति ,,	१५ ,, ,, ,,	१५०० वर्ष	,,	,,
देवगति ,,	१० ,, ,, ,,	१००० वर्ष	२८५ $\frac{5}{7}$ सागरोपम पल्या-संख्य भागहीन	,,

कर्मप्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति	उत्कृष्ट अबाधा	जघन्य स्थिति	जघन्य अबाधा
एकेन्द्रियजाति	२० को. को. सागरो	२००० वर्ष	$\frac{2}{7}$ सागरोपम पल्यासंख्य-भागहीन	अन्तर्मुहूर्त
विकलेन्द्रियजातित्रिक	१८ ,, ,, ,,	१८०० वर्ष	,,	,,
पंचेन्द्रियजाति	२० ,, ,, ,,	२००० वर्ष	,,	,,
औदारिकसप्तक	२० ,, ,, ,,	२००० वर्ष	,,	,,
वैक्रियसप्तक	२० ,, ,, ,,	,, ,,	२८५$\frac{5}{7}$ सागरोपम पल्या-संख्य भागहीन	,,
आहारकसप्तक	अन्तः को. को. सागरो.	अन्तर्मुहूर्त प्रमाण	संख्यातगुणहीन अन्तः को. को. सागरो.	,,
तैजस-कार्मणसप्तक	२० को. को. सागरो.	२००० वर्ष	$\frac{2}{7}$ सागरोपम पल्यासंख्य-भागहीन	,,
वज्रऋषभना. संहनन समचतुरस्रसंस्थान	१० को. को. सागरोपम	१००० वर्ष	,,	,,
ऋषभना. संहनन न्यग्रोध. संस्थान	१२ को. को. सागरोपम	१२०० वर्ष	,,	,,
नाराचसंहनन सादिसंस्थान	१४ को. को. सागरोपम	१४०० वर्ष	,,	,,
अर्धनाराचसंहनन वामनसंस्थान	१६ को. को. सागरोपम	१६०० वर्ष	,,	,,
कीलिकासंहनन कुब्जकसंस्थान	१८ को. को. सागरोपम	१८०० वर्ष	,,	,,
सेवार्तसंहनन हुण्डकसंस्थान	२० को. को. सागरोपम	२००० वर्ष	,,	,,
श्वेतवर्ण, सुरभिगंध, मधुररस, स्निग्ध-उष्ण-मृदु-लघु स्पर्श	१० को. को. सागरोपम	१००० वर्ष	$\frac{2}{7}$ सागरोपम पल्या-संख्य भागहीन	,,
कृष्णवर्ण, दुरभिगंध, [illegible]रस, रूक्ष-शीत-गुरु- [illegible]	२० को. को. सागरोपम	२००० वर्ष	,,	,,

कर्मप्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति	उत्कृष्ट अबाधा	जघन्य स्थिति	जघन्य अबाधा
नीलवर्ण-तिक्तरस	१७।। को. को. सागरोपम	१७५० वर्ष	$\frac{2}{7}$ सागरोपम पल्यासंख्य-भागहीन	अन्तर्मुहूर्त
रक्तवर्ण-कषायरस	१५ को. को. सागरोपम	१५०० वर्ष	,,	,,
पीतवर्ण-अम्लरस	१२।। को. को. सागरोपम	१२५० वर्ष	,,	,,
शुभविहायोगति	१० को. को. सागरो.	१००० वर्ष	,,	,,
अशुभ ,,	२० ,, ,, ,,	२००० वर्ष	,,	,,
अगुरूलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-आतप-उद्योत-निर्माण नाम	२० को. को. सागरोपम	२००० वर्ष	,,	,,
तीर्थंकरनाम	अन्तः को. को. सागरो.	अन्तर्मुहूर्त	संख्यात गुणहीन अंतः को. को. सागरो.	,,
त्रस,बादर,पर्याप्त,प्रत्येक	२० को. को. सागरोपम	२००० वर्ष	$\frac{2}{7}$ सागरोपम पल्यासंख्यभागहीन	,,
स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय	१० को. को. सागरोपम	१००० वर्ष	,,	,,
यशःकीर्ति	१० को. को. सागरो.	१००० वर्ष	८ मुहूर्त	,,
अयशःकीर्ति	२० ,, ,, ,,	२००० वर्ष	$\frac{3}{7}$ सागरोपम पल्या-संख्य भागहीन	,,
स्थावरनाम	,, ,, ,, ,,	,,	,,	,,
सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त	१८ कोडाकोडी सागरोपम	१८०० वर्ष	$\frac{2}{7}$ सागरोपम पल्यासंख्य-भागहीन	अन्तर्मुहूर्त
अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय	२० को. को. सागरोपम	२००० वर्ष	,,	,,
उच्चगोत्र	१० को. को. सागरोपम	१००० वर्ष	८ मुहूर्त	,,
नीचगोत्र	२० को. को. सागरो.	२००० वर्ष	$\frac{2}{7}$ सागरो. पल्यासंख्य-भागहीन	,,
अन्तरायपंचक	३० ,, ,, ,,	३००० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त	,,

२९. स्थितिबंध, अबाधा और निषेकरचना का स्पष्टीकरण

स्थितिबंध–योग और कषाय कर्मबंध के कारण हैं। सांसारिक जीवों के योगानुसार ग्रहण किये गये कर्मदलिकों का काषायिक अध्यवसाय के द्वारा आत्मा के साथ संबद्ध रहने के नियत काल को स्थितिबंध कहते हैं। इस प्रकार का स्थितिबंध प्रतिसमय ग्रहण किये जा रहे कर्मदलिकों में होता रहता है।

कर्मों के इस स्थितिबंध का प्रमाण जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागरोपम है।

एक समय में जीव जिन कर्मदलिकों को ग्रहण करता है, उन सबकी स्थिति समान नहीं बंधती है, किन्तु हीनाधिक बंधती है। जैसे कि किसी जीव ने जिस समय मिथ्यात्वमोहनीय की जो ७० कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति बांधी, वह उस समय में ग्रहीत सर्वकर्मदलिकों की स्थिति नहीं है, किन्तु तत्समयबद्ध लता के अंतिम निषेक की है।

बद्धलता––एक समय में ग्रहण किये गये कर्मदलिकों को स्थिति के अनुसार अनुक्रम से रखने पर चढ़ाव-उतार के मोतियों की माला के समान आकार होता है, उसे यहां लता नाम से एवं एक-एक समय में बद्ध कर्मदलिकों की एक-एक कर्मलता समझना।

इस लता के प्रथम निषेक की ७००० वर्ष अबाधा (७० कोडाकोडी सागरोपम स्थिति की अपेक्षा) और एक समय प्रमाण जघन्य स्थिति होती है। एक साथ एक समय में उदयमान/निर्जीर्ण होने वाले कर्मदलिकों के विभाग को निषेक कहते हैं। जिसका आशय इस प्रकार है––

जीव द्वारा बांधी हुई ७० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कर्मलताओं का अबाधाकाल ७००० वर्ष प्रमाण होता है। अर्थात् इतने समय तक तत्समयबद्ध वे कर्म जीव को कोई बाध नहीं करते–उदय में नहीं आते हैं। अबाधा-काल के बीतने पर अनन्तर समय में उस लता के जितने प्रदेश उदय में आते हैं––निर्जीण होने वाले हैं, उन्हें प्रथम निषेक जानना चाहिये।

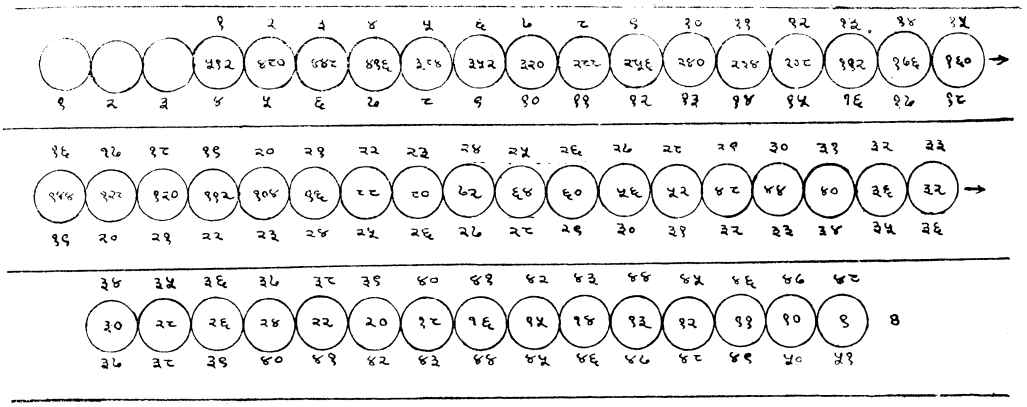
प्रथम निषेक का अबाधाकाल सात हजार वर्ष प्रमाण है। जिस समय जीव ने सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति बांधी, उस समय उस लता के दलिकों का एक विभाग सात हजार वर्ष और एक समय की स्थिति प्रमाण होता है। यह प्रथम निषेक है। इस स्थिति वाले दलिकों का प्रदेशपरिमाण अनन्तरवर्ती निषेकों की अपेक्षा सबसे अधिक जानना और उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थिति वाले दलिक स्वभावतः हीन-हीन प्रदेशप्रमाण वाले होते हैं। अर्थात् द्वितीय निषेक सात हजार वर्ष और दो समय की स्थिति वाला है। इस निषेक में प्रथम निषेक से विशेषहीन दलिक और सात हजार वर्ष एवं एक समय प्रमाण अबाधाकाल होता है। तीसरा निषेक सात हजार वर्ष और तीन समय की स्थिति वाला होता है। इसमें पूर्व की अपेक्षा दलिक विशेषहीन और अबाधा ७००० वर्ष एवं दो समय प्रमाण है। इस प्रकार एक-एक समय अधिक स्थिति के बढ़ते-बढ़ते सबसे अंतिम निषेक ७० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति वाला और अबाधाकाल एक समय कम सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण जानना चाहिये।

यहां सात हजार वर्ष उत्कृष्ट अबाधाकाल मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की अपेक्षा बताया है। यह सामान्य से समझना। अन्यथा तो वह उस लता के प्रथम निषेक का अबाधाकाल होने से जघन्य अबाधाकाल है और अंतिम निषेक का उत्कृष्ट काल तो एक समय कम सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है।

यदि कोई यहां यह तर्क प्रस्तुत करे कि जीव प्रतिसमय कर्मबंध करता है तो उसके साथ ही समय-समय स्थितिबंध भी होता रहता है तो इस प्रकार उत्तरोत्तर कर्मदलिकों की वृद्धि की तरह स्थिति में वृद्धि होते जाना चाहिये। जैसे कि किसी एक जीव ने अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में अनन्तानुबंधी की विसंयोजना की और तत्पश्चात् वही जीव पुनः मिथ्यात्व गुणस्थान में आकर अनन्तानुबंधी का बंध करता है और तब यदि वह उसकी उत्कृष्ट स्थिति का बंध करता है तो प्रथम समय में ४० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण बंध करे, पुनः दूसरे समय में-४० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति बंध करे तो उस अनन्तानुबंधी की स्थितिसत्ता ८० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण मानी जाना चाहिये।

समाधान—प्रथम समयबद्ध अनन्तानुबंधी के दलिकों के साथ द्वितीय समयबद्ध अनन्तानुबंधी के समान स्थिति वाले निषेकों के दलिक मिल जाने से स्थिति नहीं बढ़ती है, केवल निषेकों में दलिकों की अधिकता होती जाती है। अनन्तानुबंधी की प्रथम लता के प्रत्येक निषेक की स्थिति में दूसरे समय एक समय स्थिति के घट जाने से अंतिम निषेक की स्थिति एक समय कम ४० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण रहती है और उस समय जो चालीस कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति बंधी, उससे दूसरे समयबद्धलता का अंतिम निषेक जिसकी ४० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति है, उसके सिवाय शेष सर्वनिषेक प्रथम समय बद्धलता के समय ही ४० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति के समस्थितिक निषेकों के साथ मिल जाने से उतनी ही स्थिति रहती है। इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ इत्यादि समयबद्ध दलिकों के लिये भी समझ लेना चाहिये।

असत्कल्पना से बद्धलता के निषेकों की रचना का प्रारूप इस प्रकार है—



रचनाप्रारूप का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. यथार्थरूपेण आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मदलिक प्रतिसमय उदय में आकर निर्जीर्ण होते रहते हैं। निर्जीर्ण होने की क्रमव्यवस्था होने से उनका आकार एक समयबद्ध कर्मदलिकों की निषेकापेक्षा (उदय में आने के क्रम से) रचना करने पर पूर्वोक्त प्रमाण लता का आकार हो जाता है।

२. असत्कल्पना से बद्धलता की स्थिति ५१ समय है। उसमें आदि के तीन समय अबाधाकाल हैं।

३. असत्कल्पना से एक समय में बंधने वाले कर्मदलिकों का प्रमाण ६३०० है। यद्यपि एक समय में बंधने वाले कर्मदलिकों का प्रमाण अनन्तानन्त है और उनकी स्थिति उत्कृष्ट से सत्तर, तीस आदि कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। लेकिन समझने के लिए असत्कल्पना से कर्मदलिकों का उपर्युक्त प्रमाण माना है।

४. गोलाकार ○ बिन्दु रूप एक-एक बिन्दु एक-एक समय रूप निषेक का सूचक है तथा बिन्दु के मध्य में दी हुई संख्या उस समय उदय में आने वाले कर्मदलिकों की संख्याप्रमाण की सूचक है।

५. संख्यारहित तीन गोलाकार बिन्दु अबाधाकाल के सूचक हैं।

६. बिन्दु के ऊपर दिये गये अंक निषेक संख्या के क्रम के तथा बिन्दु के नीचे दिये गये अंक स्थितिकाल के सूचक हैं।

७. इस लता की निषेकरचना की प्ररूपणा की विधा के दो प्रकार हैं—१. अनन्तरोपनिधा, २. परंपरोपनिधा। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा—प्रथम समय से द्वितीय समय में विशेषहीन, द्वितीय समय से तृतीय समय में विशेषहीन, यावत बंधे हुए कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त अनुक्रम से प्रतिसमय उत्तरोत्तर विशेषहीन कहना चाहिये। अतः अबाधाकाल को छोड़कर प्रथम समय में बहुत द्रव्य (५१२) दिया गया है और आगे के उत्तरोत्तर प्रत्येक स्थितिसमय में ४८०,४४८,४१६ इत्यादि रूप से विशेषहीन, विशेषहीन दलिक प्रक्षेप किये गये हैं।

परंपरोपनिधाप्ररूपणा—इस विधा में बीच के स्थानों का अतिक्रमण करने के पश्चात् जो स्थान आता है, उसमें द्विगुणवृद्धि या द्विगुणहानि का दिग्दर्शन कराया जाता है। प्रस्तुत में हानि का क्रम निर्देश किया है कि पल्योपम के असंख्येयभाग प्रमाण स्थितियों का उल्लंघन करने पर द्विगुणहानि होगी। जैसे कि प्रकृत लता में प्रथम स्थान से ८ स्थान रूप पल्योपम के असंख्यातवें भाग आगे जाने पर २५६ और उससे आगे पुनः ८ स्थानरूप पल्योपम के असंख्यातवें भाग आगे जाने पर १२८ रूप द्विगुणहानि होती है। इसी प्रकार आगे-आगे ८-८ स्थान रूप पल्योपम के असंख्यातवें भाग जाने पर क्रमशः ६४, ३२, १६ संख्यारूप द्विगुणहानि लता में दिखाई है।

बंधनकरण : गाथाओं की अकारादि-अनुक्रमणिका

गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ	गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ
अग्गहणंतरियाओ	१९	६६	जवमज्झकंडगोवरि	५०	१३३
अणगारप्पाउग्गा	९६	२००	जवमज्झुवरि विसेसो	५१	१३३
अप्पबहुमणंतरओ	४३	१२३	जा अभवियपाउग्गा	६३	१४७
अमणाणुत्तरगेविज्ज	१६	६३	जाणि असायजहन्ने	६१	१४५
अविभागवग्गफड्डग	५	५३	जेसिं पएसाण समा	७	५४
आइदुगुक्कोसो सिं	१५	६३	जोगेहिं तयणुरूवं	१७	६५
आउचउक्कुक्कोसो	७४	१६७	जं सव्वघाइपत्तं	२५	९२
आवलि असंखभागो	४५	१२९	ठाणाणि चउट्ठाणा	९७	२००
उवरिं मिस्साणि जहन्नगो	९८	२००	ठिइदीहयाए कमसो	८९	१९२
एक्केक्कम्मि कसाओ	५२	१३५	ठिइबंधट्ठाणाइं	६८	१५९
एगमवि गहणदव्वं	२१	७८	ठिइबंधे ठितिबंधे	८७	१९०
एग समयं जहन्नं	१३	६१	तणुतुल्ला तित्थयरे	६५	१५०
एगं असंखभागे	३३	१०९	तसबायरपजत्तग	६४	१४९
एगं संखेज्जुत्तर	३४	१०९	ताणन्नाणि त्ति परं	६७	१५३
एत्तो अंतर तुल्लं	३२	१०७	ताणि य अन्नाणेवं	६०	१४३
एत्तो तीयाणि अइत्थि	३५	१०९	तिट्ठाणे अजहण्णं	९२	१९५
एमेव विसोहीओ	७०	१६२	तित्थगराहारदुगे	७३	१६५
एवं तिट्ठाणकरा	९४	१९७	तिविहे मोहे सत्तरि	७१	१६४
एवं बंधणकरणे	१०२	२०६	थावर जीवाणंता	४४	१२७
एसेगिंदियडहरो	८०	१७५	थिरसुभपंचग उच्चे	७२	१६५
अंतो कोडाकोडी	१००	२००	थोवा जहन्नठाणे	४६	१३०
कडजुम्मा अविभागा	४२	१२३	थोवा जहन्नियाए	९३	१९७
कमसो विगलअसन्नीण	८१	१७५	थोवाणि कसा उदये	५३	१३६
खुड्डागभवो आउसु	७८	१७१	दुसु जवमज्झं थोवा	४०	११९
गहणसमयम्मि जीवो	२९	१०२	दो मासा अद्धद्धं	७७	१६९
गंतूणमसंखेज्जे	४७	१३०	नाणंतराणि आवलिय	४८	१३१
गंतूणमसंखेज्जे	५४	१३७	नामप्पओगपच्चय	२३	८५
घाईणमसुभवण्ण	५७	१४०	निव्वत्तणा उ एक्किक्कस्स	६६	१५१
चउराई जावट्ठग	१२	६०	नेहप्पच्चयफड्डग	२२	८४
चउराई जावट्ठग	३९	११८	पण्णाछेयणछिन्ना	६	१८

गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ	गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ
पत्तेगतणुसु बायर	२०	६६	मोहे दुहा चउद्धा	२६	९४
परघाउज्जोउस्सा	५९	१४३	वग्गुक्कोसठिईणं	७९	१७३
परमाणु संखऽसंखा	१८	६६	वाससहस्समबाहा	७५	१६८
परिणामालंबणगहण	४	५०	विरियंतरायदेस	३	४९
पल्लासंखियभागो	५८	१४०	वुड्ढी हाणि चउक्कं	११	५९
पल्लासंखियभागं	५६	१३७	वुड्ढी हाणि छक्कं	३८	११७
पल्लासंखियभागं	८४	१८२	सत्तेक्कारविगप्पा	२८	९५
पल्लासंखियभागं	८८	१९१	सन्नीपज्जत्तियरे	८२	१७५
पल्लासंखियमूलानि	९५	१९९	सव्वजियाणमसंखे	३७	१११
पिंडपगईसु बज्झं	२७	९४	सव्वत्थोवो जोगो	१४	६३
फड्डगमणंतगुणियं	३१	१०५	सव्वप्पगुणा ते पढमा	३०	१०४
फासणकालो तीए	४९	१३३	सव्वविसुद्धा बंधंति	९१	१९५
बिइयं ताणि समाइं	३६	१०९	सव्वासुभपगईणं	५५	१३७
बिट्ठाणे जवमज्झा	९९	२००	सिद्धं सिद्धत्थसुयं	१	४
बंधण संकमणुव्वट्टणा	२	४८	सुहुमगणिपवेसणया	४१	१२१
बंधाबाहाणुक्कसि	८६	१८४	सेकाले सम्मत्तं	६२	१४७
बंधंती धुवपगडी	९०	१९३	सेढि असंखि अमित्ता	८	५५
भिन्नमुहुत्तं आवरण	७६	१६९	सेढि असंखि अमेत्ताइं	९	५६
मूलुत्तर पगईणं	२४	९१	सेढि असंखिय भागं	१०	५८
मोत्तूण आउगाइं	८५	१८३	संखेज्जगुणा जीवा	१०१	२०५
मोत्तूण सगमबाहे	८३	१८१	संखेज्जगुणाणि कम्मा	६९	१५९

बंधनकरण : विशिष्ट एवं पारिभाषिक शब्दसूची

अकाषायिक अध्यवसाय
अगुरुलघुचतुष्क
अगुरुलघु/नामकर्म
अग्रहणयोग्य
अग्रहणवर्गणा
अग्रहणप्रायोग्यवर्गणा
अघातिनी प्रकृति/प्रकृतियां
अग्निकायप्रवेशक
अग्निकायिक
अग्निकायस्थितिकाल
अचक्षुदर्शन
अचक्षुदर्शनावरणकर्म
अजघन्य
अतिचार
अधस्तनस्थानप्ररूपणा
अध्यवसाय
अध्यवसायस्थान
अर्थकंडक
अर्धच्छेद
अर्धनाराचसंहनन/नामकर्म
अर्धविशुद्ध
अध्रुवबंधित्व
अध्रुवबंधिनी प्रकृति/प्रकृतियां
अध्रुवाचित्तवर्गणा
अध्रुवोदयत्व
अध्रुवोदया प्रकृति/प्रकृतियां
अध्रुवसत्ताकत्व
अध्रुवसत्ताका प्रकृति/प्रकृतियां
अनन्त
अनन्तगुणहीन
अनन्तभागहीन
अनन्तगुण हानि/वृद्धि
अनन्तभाग हानि/वृद्धि
अनन्तानुबंधीकषाय
अनन्तानुबंधीचतुष्क
अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा
अनपवर्तनीय आयु
अनभिसंधिज-वीर्य
अनाकारोपयोगयोग्य
अनादेय/नामकर्म
अनिकाचित
अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान
अनुकृष्टि
अनुग्रह
अनुत्कृष्ट
अनुत्तरोपपातिक
अनुदयप्राप्त
अनुदयवती प्रकृति/प्रकृतियां
अनुदयबंधोत्कृष्टा प्रकृति/प्रकृतियां
अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृति/प्रकृतियां
अनुभवयोग्य स्थिति
अनुभवप्रायोग्य
अनुभाग (स्वभाव)
अनुभाग (रस)
अनुभागबंध
अनुभागस्थान
अनुभागबंधस्थान
अनुभागबंधाध्यवसायस्थान
अपर्याप्त/नामकर्म
अपर्याप्तप्रायोग्य
अपरावर्तमान प्रकृति/प्रकृतियां
अपवर्तना/करण
अपूर्वकरणगुणस्थान
अप्रतिपक्ष प्रकृति/प्रकृतियां
अप्रमत्तविरतगुणस्थान
अप्रत्याख्यानावरणकषाय/चतुष्क

अप्रशस्त विहायोगति/नामकर्म
अबाधाकाल
अबाधाकंडक/प्ररूपणा
अबाधाकंडकस्थान
अबाधास्थान
अबंध्यफल
अभव्य
अभव्यप्रायोग्य
अभिसंधिज-वीर्य
अभ्युत्थान
अम्लरस/नामकर्म
अयशःकीर्ति/नामकर्म
अयोगिकेवली/गुणस्थान
अरतिमोहनीय
अल्पबहुत्वप्ररूपणा
अलेश्यवीर्य
अवधिदर्शन
अवधिदर्शनावरण
अवधिज्ञान
अवधिज्ञानावरण
अवस्थित
अविभाग/प्ररूपणा
अविभागप्रतिच्छेद
अविभागवृद्धि
अविभागी अंश
अशुभनामकर्म
अशुभ (पाप) प्रकृति/प्रकृतियां
अश्वत्थ
अष्टसामयिक
असातवेदनीय
अस्थिर नामकर्म
असंख्यातगुणहीन
असंख्यातभागहीन
असंख्यातगुण वृद्धि/हानि
असंख्यातभाग वृद्धि/हानि
आकाशप्रदेश
आतप/नामकर्म
आदानकाल
आदेय/नामकर्म
आनुपूर्वी/नामकर्म
आनुपूर्वीचतुष्क
आयु/कर्म
आयुचतुष्क
आवरणद्विक
आहारक-आहारकबंधन/नामकर्म
आहारक-कार्मणबंधन/नामकर्म
आहारकांगोपांग/नामकर्म
आहारकचतुष्क
आहारक-तैजसबंधन/नामकर्म
आहारक-तैजसकार्मणबंधन/नामकर्म
आहारकद्विक
आहारकवर्गणा
आहारकशरीर/नामकर्म
आहारकशरीरप्रायोग्य
उच्चगोत्र/कर्म
उच्छ्वास नामकर्म
उच्छ्वास-निःश्वासलब्धि
उत्कृष्ट
उत्कृष्ट पद
उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदय प्रकृति/प्रकृतियां
उत्तर प्रकृति/प्रकृतियां
उत्साह
उदय
उदयबंधोत्कृष्ट प्रकृति/प्रकृतियां
उदयवती प्रकृति/प्रकृतियां
उदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृति/प्रकृतियां
उदयावलिका
उदीरणा/करण
उपघात/नामकर्म
उपनिधा
उपनिधान
उपभोगान्तरायकर्म
उपशमना/करण
उभयबंधिनी प्रकृति/प्रकृतियां
उद्योतनामकर्म
उद्वर्तना/करण
उद्वलन प्रकृति/प्रकृतियां
उद्वेलना

उष्णस्पर्श/नामकर्म
ऋषभनाराचसंहनन/नामकर्म
एकस्थानक
एकान्तरितमार्गणा
एकान्तसाकारोपयोगयोग्य
एकेन्द्रियजाति/नामकर्म
एकेन्द्रियप्रायोग्य
ओजोयुग्मप्ररूपणा
औदयिकभाव
औदारिक-औदारिकबंधन/नामकर्म
औदारिक-कार्मणबंधन/नामकर्म
औदारिक-अंगोपांगनामकर्म
औदारिकचतुष्क
औदारिक-तैजसबंधन/नामकर्म
औदारिक-तैजसकार्मणबंधन/नामकर्म
औदारिकद्विक
औदारिकवर्गणा
औदारिकशरीर/नामकर्म
औदारिकशरीरप्रायोग्य
औदारिकसप्तक
औपपातिक
अंगोपांग/नामकर्म
अंगोपांगत्रिक
अंजलिप्रग्रह
अन्तरप्ररूपणा
अंतरस्थान/प्ररूपणा
अंतरायकर्म
अंतरायपंचक
अंतरायप्रकृतिवर्ग
कटुरस/नामकर्म
कपित्थ
करणाष्टक
कर्कशस्पर्श/नामकर्म
कर्मदलिक
कर्मदलिकनिषेक
कर्मप्रायोग्य
कर्मरूपतावस्थानलक्षणास्थिति
कर्ष (मापविशेष)
कल्योज
कषाय/मोहनीय
कषायरस/नामकर्म
कषायोदयस्थान
कार्मण-कार्मणबंधन/नामकर्म
कार्मणवर्गणा
कार्मणशरीर/नामकर्म
कार्यद्रव्याभ्यास
कीलिकासंहनन/नामकर्म
कुब्जसंस्थान/नामकर्म
कृतयुग्म
कृष्णवर्ण/नामकर्म
केवलदर्शन
केवलदर्शनावरण
केवलद्विक
केवलज्ञान
केवलज्ञानावरण
केवलिक
केवली
कोडाकोडी
कंडक
कंडकप्ररूपणा
कंडकवर्ग
कंडकस्थान
क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदय प्रकृति/प्रकृतियां ख्याति
गति/नामकर्म
गतिचतुष्क
गलवृन्द
गुणनिष्पन्न
गुणपरमाणु
गुणप्रत्यय
गुणहानि/स्थान
गुरुस्पर्श/नामकर्म
गृह्यमाण
गोत्र/कर्म
गोत्रद्विक
गंध/नामकर्म
ग्रहणवर्गणा
ग्रहणप्रायोग्यवर्गणा

घाति प्रकृति/प्रकृतियां
घनाकार लोक
चतुःस्थानगत
चतुःस्थानक
चतुः सामयिक
चतुरिन्द्रियजाति/नामकर्म
चक्षुदर्शन
चक्षुदर्शनावरण
चारित्रमोहनीय
चारित्रमोहनीयवर्ग
चारित्रलब्धि
चेष्टा
चौरदन्त
छद्मस्थ
छाद्मस्थिक
छेदनक
जघन्य
जघन्यपद
जघन्यस्थिति
जातिपंचक
जीवभेद
जीवविपाकित्व
जीवविपाकिनी प्रकृति/प्रकृतियां
जीवसमुदाहार
जुगुप्सामोहनीय
डायस्थिति
तिक्तरस/नामकर्म
तिर्यग्गतिप्रायोग्य
तिर्यग्द्विक
तिर्यंचगति/नामकर्म
तिर्यंचगत्यानुपूर्वी/नामकर्म
तिर्यंचद्विक
तिर्यंचत्रिक
तिर्यंचायु
तीर्थंकर/नामकर्म
तेजस्काय
तैजस्कायिक
तैजसकार्मणबंधन/नामकर्म
तैजसकार्मणसप्तक
तैजस-तैजसबंधन/नामकर्म
तैजसवर्गणा
तैजसशरीर/नामकर्म
तैजसशरीरप्रायोग्य
त्वक्
दलिक
दलिकनिक्षेप
दर्शनमोहनीय/वर्ग
दर्शनलब्धि
दर्शनावरणकर्म
दर्शनावरणचतुष्क
दर्शनावरणनवक
दर्शनावरणवर्ग
दर्शनावरणषट्क
दाता
दानान्तरायकर्म
दुर्भगनामकर्म
दुरभिगंध/नामकर्म
दुःस्वर/नामकर्म
देवगति/नामकर्म
देवगतिद्विक
देवगतित्रिक
देवगत्यानुपूर्वी/नामकर्म
देवायु/कर्म
देशघातित्व
देशघातिनी प्रकृति/प्रकृतियां
देशविरतगुणस्थान
देशविरतद्विक
देशक्षय
द्वापरयुग्म
द्विगुणवृद्धिस्थान
द्विगुणहानिस्थान
द्विगुणित
द्विपरमाणुवर्गणा
द्विस्थानक
द्विस्थानगत
द्विसामयिक
द्वीन्द्रियजाति/नामकर्म
ध्रुवबंधित्व

ध्रुवबंधिनी प्रकृति/प्रकृतियां
ध्रुवबंधिनी नामनवकप्रकृतियां
ध्रुवशून्यवर्गणा
ध्रुवसत्ताकत्व
ध्रुवसत्ताका प्रकृति/प्रकृतियां
ध्रुवाचित्तवर्गणा
ध्रुवोदयत्व
ध्रुवोदया प्रकृति/प्रकृतियां
नरकगति/नामकर्म
नरकगत्यानुपूर्वी/नामकर्म
नरकद्विक
नरकत्रिक
नरकानुपूर्वी/नामकर्म
नरकायु
नपुंसकवेद
नाना जीव-कालप्रमाणप्ररूपणा
नामकर्म
नामकर्मवर्ग
नामनवक
नामप्रत्ययस्पर्धक/प्ररूपणा
निकाचना/करण
निकाचित
निद्रा
निद्रा-निद्रा
निद्रापंचक
निधत्ति/करण
निर्धौतसर्वकर्ममल
निरंतरबंधिनी प्रकृति/प्रकृतियां
निरंतरस्थानप्ररूपणा
निर्माणनामकर्म
निवर्तनकंडक
निसर्ग
निषेक
निषेकरचना
निषेकप्ररूपणा
निषेकस्थान
नीचगोत्र/कर्म
नीलवर्ण/नामकर्म
नोकषायमोहनीय
नोकषाय-मोहनीयवर्ग
न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान/नामकर्म
परमाणुवर्गणा
पराक्रम
पराघात/नामकर्म
परावर्तमानत्व
परावर्तमान जघन्य अनुभागबंधप्रायोग्य
परावर्तमान प्रकृति/प्रकृतियां
परिस्पन्दन
परंपरोपनिधाप्ररूपणा
पिण्डप्रकृति/प्रकृतियां
पीतवर्ण/नामकर्म
पीलू
पुद्गलविपाकित्व
पुद्गलविपाकिनी प्रकृति/प्रकृतियां
पुद्गलस्कन्ध
पुरुषवेद
पूजातिशय
पूर्व
पूर्वगृहीत
पृथक्त्व
पृथ्वीकायिक जीव
पंचसामयिक
पंचेन्द्रिय जाति/नामकर्म
पर्यवसानप्ररूपणा
पर्याप्तनामकर्म
पर्याप्तक
पर्याप्तप्रायोग्य
पर्याप्त सूक्ष्मनिगोदिया जीव
पर्याप्ति
पल्य
पल्योपम
पश्चानुपूर्वीक्रम
प्रगणनाप्ररूपणा
प्रचला
प्रचला-प्रचला
प्रकृति/बंध
प्रकृतिसमुदाय
प्रकृतिसमुदाहारप्ररूपणा

प्रतर
प्रमाणानुगम
प्रशस्तविहायोगति/नामकर्म
प्रज्ञा
प्राणापानप्रायोग्य
प्राणापानवर्गणा
प्रतिजिह्वा
प्रतिलोमक्रम
प्रत्याख्यान
प्रत्याख्यानावरणकषाय/चतुक
प्रत्येक प्रकृति/प्रकृतियां
प्रत्येक शरीर/नामकर्म
प्रत्येकशरीरीवर्गणा
प्रदेश
प्रदेशबंध
प्रदेशसंक्रमण
प्रदेशाग्र
प्रदेशोदय
बद्धडायस्थिति
बध्यमान
बादर/नामकर्म
बादरनिगोदवर्गणा
बादर पर्याप्तक
बंधनकरण
बंधननामकर्म
भजनीयबंध
भयमोहनीय
भव्यत्वभाव
भवविपाकित्व
भवविपाकिनी प्रकृति/प्रकृतियां
भावपरमाणु
भाषाप्रायोग्य
भाषावर्गणा
भोगभूमिज
भोगान्तरायकर्म
मतिज्ञान
मतिज्ञानावरणकर्म
मधुररस/नामकर्म
मनपर्यायज्ञान
मनपर्यायज्ञानावरण
मनुष्यगति/नामकर्म
मनुष्यगत्यानुपूर्वी/नामकर्म
मनुष्यद्विक
मनुष्यायु/कर्म
मनुष्यत्रिक
मनोवर्गणा
मन:प्रायोग्य
मिथ्यात्व/गुणस्थान
मिथ्यात्वमोहनीय
महाप्रातिहार्य
मूल
मूल प्रकृति/प्रकृतियां
मृदुस्पर्श/नामकर्म
मध्यमसंस्थानचतुष्क
मध्यमसंहननचतुष्क
मोहनीयकर्म
यवमध्य/प्ररूपणा
यश:कीर्ति/नामकर्म
योग
योगप्रत्यय
योगस्थान
रक्तवर्ण/नामकर्म
रस (अनुभाग)
रस/नामकर्म
रसयवमध्य
रसविपाक
रसविपाका प्रकृतियां
रसस्पर्धक
रसस्पर्धकसंघातविशेष
रसाणु
रसाविभाग
रतिमोहनीय
रूक्षस्पर्श/नामकर्म
लब्धि-अपर्याप्त
लाभान्तरायकर्म
लोकाकाश
लंबक
वचनातिशय

वर्ग
वर्गणा
वर्गणाप्ररूपणा
वर्ण/नामकर्म
वर्णादिचतुष्क
वर्णादिबीस
वज्रऋषभनाराचसंहनन/नामकर्म
वामनसंस्थान/नामकर्म
वायुकायिक
विकलत्रिक
विपाकवेद्य
विपाकोदय
विपाकोदयविष्कम्भ
विशुद्धिस्थान
विशुद्धयमान
विशेषहीन
विशेषाधिक
विश्रसापरिणाम
विहायोगति/नामकर्म
विहायोगतिद्विक
वीर्य
वीर्याविभाग
वीर्यान्तरायकर्म
वृद्धिप्ररूपणा
वेदनीयकर्म
वेदनीयद्विक
वेदनीयवर्ग
वेदत्रिक
वैक्रियअंगोपांगनामकर्म
वैक्रिय-कार्मणबंधन/नामकर्म
वैक्रियचतुष्क
वैक्रिय-तैजसबंधन/नामकर्म
वैक्रिय-तैजसकार्मणबंधन/नामकर्म
वैक्रियवर्गणा
वैक्रिय-वैक्रियबंधन/नामकर्म
वैक्रियद्विक
वैक्रियशरीर/नामकर्म
वैक्रियशरीरप्रायोग्य
वैक्रियषट्क
शक्ति
शरीर/नामकर्म
शरीरपंचक
शीतस्पर्श/नामकर्म
शुद्धपुंज
शुभनामकर्म
शुभ (पुण्य) प्रकृति/प्रकृतियां
शुभत्व
श्रुतज्ञान
श्रुतज्ञानावरणकर्म
श्रेणी
श्लेषद्रव्य
श्वेतवर्ण/नामकर्म
शोकमोहनीय
षट्सामयिक
षट्स्थानप्ररूपणा
सजातीय प्रकृति/प्रकृतियां
सत्ता
सप्तसामयिक
सप्रतिपक्ष प्रत्येक प्रकृति/प्रकृतियां
समकव्यवच्छिद्यमानबंधोदय प्रकृति/प्रकृतियाँ
समचतुरस्रसंस्थान/नामकर्म
समय/प्ररूपणा
सम्यक्त्वचतुष्क
सम्यक्त्वमोहनीय
सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय
सयोगिकेवली/गुणस्थान
सर्व अविशुद्ध
सर्वघातित्व
सर्वघातिनीप्रकृति/प्रकृतियां
सर्वक्षय
सलेश्यवीर्य
साकारोपयोगयोग्य
सागरोपम
सातवेदनीय
साचिसंस्थान
साधारणशरीर/नामकर्म
सासादनगुणस्थान
सादिसंस्थान/नामकर्म
सान्तर-निरंतरबंधिनी प्रकृति/प्रकृतियां
सान्तरबंधिनी प्रकृति/प्रकृतियां
सामर्थ्य
सिद्ध
सिद्धार्थसुत
स्थिति-अपवर्तना
स्थिति-उद्वर्तना
स्थिति-उदीरणा
स्थितिविशेष
स्थिति/बंध
स्थितिबंधस्थान
स्थितिबंधाध्यवसायस्थान
स्थितिसमुदाहार
स्थितिस्थान/प्ररूपणा

स्थितिसंक्रमण
स्थिर/नामकर्म
स्थिरषट्क
स्निग्धस्पर्श/नामकर्म
सुभगनामकर्म
सुरभिगंध/नामकर्म
सुरद्विक
सुस्वर/नामकर्म
सुस्वरत्रिक
सूत्रधार
सूक्ष्म/नामकर्म
सूक्ष्मअद्धापल्योपम
सूक्ष्मनिगोदवर्गणा
सूक्ष्म पर्याप्त
सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान
सूक्ष्मसंपराययति
सूक्ष्मत्रिक
सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम
सेवार्तसंहनन/नामकर्म
संक्रम/करण
संक्रमणकाल
संघातन/नामकर्म
संख्यातगुणहीन
संख्यातगुण वृद्धि/हानि
संख्यातभागहीन
संख्यातभाग वृद्धि/हानि
संज्वलनकषाय/त्रिक/चतुष्क
संस्थान/नामकर्म
संस्थानषट्क
संक्लिश्यमान
संहनन/नामकर्म
संहननषट्क
संक्लेशस्थान
स्कन्ध
स्थान/प्ररूपणा
स्थावर/नामकर्म
स्थावरत्रिक
स्थावरदशक
स्थावरप्रायोग्य
श्याम
स्नेहप्रत्ययिक
स्नेहप्रत्ययस्पर्धक/प्ररूपणा
स्नेहाविभाग
स्पर्धक/प्ररूपणा
स्पर्श/नामकर्म
स्पर्शनाप्ररूपणा
स्वप्रत्यय
स्वानुदयबंधिनी प्रकृति/प्रकृतियां
स्वोदयबंधिनी प्रकृति/प्रकृतियां
स्त्रीवेद
स्त्यानर्द्धि (स्त्यानगृद्धि)/त्रिक
क्षपक
क्षपकश्रेणि
क्षयोपशम
क्षायिकभाव
क्षायोपशमिकभाव
क्षीणमोहगुणस्थान
क्षुल्लकभव
क्षेत्रविपाकित्व
क्षेत्रविपाकिनी प्रकृति/प्रकृतियां
त्रस/नामकर्म
त्रस चतुष्क/त्रिक
त्रसजीवप्रायोग्य
त्रसदशक
त्रसबीस
त्रिपरमाणुवर्गणा
त्रिस्थानगत
त्रिस्थानकरस
त्रिसामयिक
त्रीन्द्रियजाति/नामकर्म
त्रेतोज
ज्ञान
ज्ञानातिशय
ज्ञानावरणकर्म
ज्ञानावरणपंचक
ज्ञानावरणवर्ग
हास्यमोहनीय
हास्यादियुगलद्विक
हास्यादिषट्क
हेतुविपाका प्रकृति/प्रकृतियां
हुंडसंस्थान/नामकर्म

बंधनकरण : कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. मंगलाचरणात्मक पदों की व्याख्या करके स्पष्ट कीजिये कि उन पदों द्वारा ग्रंथकार ने किस-किसको नमस्कार किया है।

२. नोकषायों को कषायसहचारी मानने के कारण को स्पष्ट करके गति और जाति नामकर्म को पृथक् मानने की युक्ति का निर्देश कीजिये।

३. संघात और बंधन नामकर्म में क्या अन्तर है और उनको पृथक्-पृथक् मानने का क्या कारण है ?

४. प्रकृतियों के वर्गीकरण द्वारों का नामोल्लेख करके इन प्रकृतियों का किन-किन द्वारों में वर्गीकरण संभव है तथा उन द्वारों की परिभाषा भी लिखिये—
ज्ञानावरणपंचक, संहननषट्क, तैजसकार्मणसप्तक, वेदनीयद्विक, अंगोपांगत्रिक, संज्वलनकषायचतुष्क, देवगतिद्विक, युगलद्विक, स्थिरषट्क।

५. संसारी जीव की वीर्यशक्ति द्वारा होने वाले कार्यों का निर्देश कीजिये।

६. योगविभागों की उत्पत्ति का कारण लिखकर यह बताइये कि वे जीव के एक एक प्रदेश पर जघन्य और उत्कृष्ट से कितने पाये जाते हैं।

७. योगविषयक निम्नलिखित प्ररूपणाओं का संक्षेप में सारांश लिखिये—
१. वृद्धिप्ररूपणा, २. समयप्ररूपणा, ३. जीवाल्पबहुत्वप्ररूपणा।

८. पौद्गलिक वर्गणाओं का संक्षेप में विवेचन करके यह स्पष्ट कीजिये कि जीव द्वारा ग्रहण की जाने वाली वर्गणायें कौन-कौन हैं।

९. पुद्गलद्रव्य के परस्पर संबन्ध होने का कारण क्या है ? और उससे बन्धित प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा की व्याख्या कीजिये।

१०. असत्कल्पना द्वारा योगस्थानप्ररूपणा को स्पष्ट करके यथार्थरूप में उसका आशय स्पष्ट कीजिये।

११. मूल प्रकृतियों में प्रदेशविभाजन के सामान्य नियम का निर्देश करके निम्नलिखित उत्तरप्रकृतियों के प्रदेश-विभाग एवं उत्कृष्ट और जघन्य पदभावी प्रदेशों के अल्पबहुत्व का निरूपण कीजिये—
१. ज्ञानावरणपंचक, २. वेदनीयद्विक, ३. सोलह कषाय, ४. जातिपंचक, ५. वर्णनामकर्म, ६. संहननषट्क, ७. अंतराय-पंचक।

१२. योग एवं अनुभागबंध संबन्धी समानतंत्रीय प्ररूपणाओं को छोड़कर शेष अनुभागबंधसंबन्धी प्ररूपणाओं का सारांश लिखिये।

१३. अनुभागबंध में अनुकृष्टि और तीव्रता-मंदता के संबन्ध को स्पष्ट करके निम्नलिखित प्रकृतियों की अनुकृष्टि तथा तीव्रता-मंदताप्ररूपणा कीजिये—

१. अशुभवर्णनवक, २. पराघात, ३. उच्चगोत्र, ४. नरकद्विक ।

१४. निम्नलिखित प्रकृतियों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति बतलाइये—

१. पुरुषवेद, २. चतुर्थ संस्थान-संहनन, ३. तीर्थंकर नामकर्म, ४. सूक्ष्मत्रिक, ५. मनुष्यायु, ६. वैक्रियषट्क, ७. वर्णचतुष्क ८. निद्रापंचक, ९. देवगतिद्विक ।

१५. जीवभेदों में स्थितिस्थानों का निरूपण कीजिये ।

१६. कर्मों के उत्कृष्ट अबाधाकाल का परिमाण जानने विषयक नियम का आशय स्पष्ट कीजिये ।

१७. एकेन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध होने की प्रक्रिया का आशय स्पष्ट कीजिये ।

१८. जीवभेदों में स्थितिबंध के अल्पबहुत्व का आशय स्पष्ट कीजिये ।

१९. स्थितिस्थानों में निषेकरचना के क्रम को स्पष्ट कीजिये ।

२०. संज्ञी-असंज्ञी पर्याप्त रहित शेष जीवभेदों का आयुव्यतिरक्त सात कर्मों में स्थितिबंध आदि का अल्पबहुत्व बतलाइये ।

२१. स्थितिबंध के अध्यवसायस्थानों के कितने अनुयोगद्वार हैं ? उनको संक्षेप में समझाइये ।

२२. रसयवमध्य से प्रकृतियों के स्थितिस्थानादिकों का अल्पबहुत्व स्पष्ट कीजिये ।

२३. निम्नलिखित शब्दों की परिभाषायें लिखिये—

१. स्पर्धक, २. कंडक, ३. स्नेहप्रत्ययस्पर्धक, ४. अनुकृष्टि, ५. निवर्तनकंडक, ६. डायस्थिति, ७. अबाधाकंडक, ८. क्षुद्रकभव, ९. निषेक, १०. स्थान, ११. रसाविभाग, १२. कल्योजराशि, १३. अनन्तरोपनिधा ।